ॐ अर्हं

जिनागम-ग्रन्थमाला : ग्रन्थाङ्क—३२ अ

[परमश्रद्धेय गुरुदेव पूज्य श्री जोरावरमलजी महाराज की पुण्यस्मृति में आयोजित]

निशीथसूत्र

[मूलपाठ, हिन्दी अनुवाद-विवेचन-टिप्पण युक्त]

□

प्रेरणा
(स्व.) उपप्रवर्तक शासनसेवी स्वामी श्री ब्रजलालजी महाराज

□

आद्य संयोजक तथा प्रधान सम्पादक
(स्व०) युवाचार्य श्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर'

□

अनुवादक-विवेचक-सम्पादक
अनुयोग-प्रवर्तक मुनि श्री कन्हैयालालजी म० 'कमल'
गीतार्थ श्री तिलोक मुनिजी म०

□

प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)

☐ निर्देशन
साध्वी श्री उमरावकुंवर 'अर्चना'

☐ सम्पादकमण्डल
अनुयोगप्रवर्तक मुनि श्री कन्हैयालालजी 'कमल'
उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री
श्री रतनमुनि

☐ सम्प्रेरक
मुनि श्री विनयकुमार 'भीम'
श्री महेन्द्रमुनि 'दिनकर'

☐ प्रथम संस्करण
वीर निर्वाण सं० २५१७
विक्रम सं० २०४८
जुलाई १९९१ ई०

☐ प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशन समिति
श्री ब्रज-मधुकर स्मृति भवन,
पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)
पिन—३०५९०१

☐ मुद्रक
सतीशचन्द्र शुक्ल
वैदिक यंत्रालय,
केसरगंज, अजमेर—३०५००१

☐ मूल्य : [redacted] 100/-

Published at the Holy Remembrance occasion
of
Rev. Guru Shri Joravarmalji Maharaj

NISHITHA SŪTRA

[Original Text with Variant Readings, Hindi Version,
Notes, and Annotations etc.]

Proximity
(Late) Up-pravartaka Shasansevi Rev. Swami Sri Brijlalji Maharaj

Convener & Founder Editor
(Late) Yuvacharya Sri Mishrimalji Maharaj 'Madhukar'

Translator-Annotator-Editor
Anuyoga Pravartaka Muni Shri Kanhaiyalalji 'Kamal'
Geetarth Shri Tilokmuniji

Publishers
Shri Agam Prakashan Samiti
Beawar (Raj.)

Jinagam Granthmala Publication No. 32 A

☐ *Direction*
Sadhwi Shri Umrav Kunwar 'Archana'

☐ **Board of Editors**
Anuyoga-pravartaka Muni Shri Kanhaiyalalji 'Kamal'
Upacharya Sri Devendra Muni Shastri
Sri Ratan Muni

☐ **Promotor**
Muni Sri Vinayakumar 'Bhima'
Sri Mahendra Muni 'Dinakar'

☐ **First Edition**
Vir-Nirvana Samvat 2517
Vikram Samvat 2048, July 1991.

☐ **Publishers**
Sri Agam Prakashan Samiti,
Brij-Madhukar Smriti Bhawan,
Pipalia Bazar, Beawar (Raj.)
Pin 305 901

☐ *Printer*
Satish Chandra Shukla
Vedic Yantralaya
Kaiserganj, Ajmer

☐ Price : [redacted] 100/-

समर्पण

निरतिचार संयम साधना में
सतत संलग्न रहने वाले
अतीत अनागत और वर्तमान
के सभी श्रुतधर स्थविरों के
कर कमलों में

समर्पक

अनुयोग-प्रवर्तक मुनि कन्हैयालाल 'कमल'
गीतार्थ तिलोकमुनि

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

(कार्यकारिणी समिति)

अध्यक्ष	श्री किशनलालजी बैताला	मद्रास
कार्यवाहक अध्यक्ष	श्री रतनचन्दजी मोदी	ब्यावर
उपाध्यक्ष	श्री धनराजजी विनायकिया	ब्यावर
	श्री पारसमलजी चोरड़िया	मद्रास
	श्री हुक्मीचन्दजी पारख	जोधपुर
	श्री एस. किशनचन्दजी चोरड़िया	मद्रास
	श्री जसराजजी पारख	दुर्ग
महामंत्री	श्री जी० सायरमलजी चोरड़िया	मद्रास
मंत्री	श्री अमरचन्दजी मोदी	ब्यावर
	श्री ज्ञानराजजी मूथा	पाली
सहमंत्री	श्री ज्ञानचन्दजी विनायकिया	ब्यावर
कोषाध्यक्ष	श्री जंवरीलालजी शिशोदिया	ब्यावर
	श्री अमरचन्दजी बोथरा	मद्रास
सदस्य	श्री एस. बादलचन्दजी चोरड़िया	मद्रास
	श्री मूलचन्दजी सुराणा	नागौर
	श्री दुलीचन्दजी चोरडिया	मद्रास
	श्री प्रकाशचन्दजी चौपड़ा	ब्यावर
	श्री मोहनसिंहजी लोढ़ा	ब्यावर
	श्री सागरमलजी बैताला	इन्दौर
	श्री जतनराजजी मेहता	मेड़तासिटी
	श्री भंवरलालजी श्रीश्रीमाल	दुर्ग
	श्री चन्दनमलजी चोरड़िया	मद्रास
	श्री सुमेरमलजी मेड़तिया	जोधपुर
	श्री आसूलालजी बोहरा	जोधपुर
परामर्शदाता	श्री जालमसिंहजी मेड़तवाल	ब्यावर
	श्री प्रकाशचन्दजी जैन	नागौर

अर्हम्

अप्रकाश्यों का प्रकाशन

प्रायश्चित्त प्ररूपक आगमों को अप्रकाश्य मानने का एवं रखने का प्रमुख कारण था, उन्हें अपात्र या कुपात्र न पढ़े, क्योंकि वे उसका अनुचित उपयोग या दुरुपयोग करते हैं। अतः उन्हें अप्रकाश्य रखना सर्वथा उचित था।

आगमों की वाचना के आदान-प्रदान में जब तक श्रुत-परम्परा प्रचलित रही तब तक सभी आगम अप्रकाश्य रहे।

चाणक्य ने स्वरचित सूत्र में कहा है—"न लेख्या गुप्तवार्ता" जिस बात को गुप्त रखना चाहते हो उसे लिखो मत। तात्पर्य यह है कि जो रहस्य लिखा जाता है वह रहस्य नहीं रहता, किसी न किसी प्रकार से प्रकट हो ही जाता है।

षट्कर्णो भिद्यते मंत्र—जो बात छः कानों में चली जाती है वह बात भी सब जगह फैल जाती है। कहने वाला एक और सुनने वाला भी एक हो, इस प्रकार जब बात दो तक सीमित रहती है तब तक वह गुप्त रहती है। जब कहने वाला एक हो और सुनने वाले दो हों या दो से अधिक हों तब कहने वाले की बात गुप्त नहीं रह पाती है, गुप्त रखने के लिये चाहे जितने प्रयास करें सफल नहीं होते।

जैनों में और वैदिकों में जब तक श्रुत परम्परा प्रचलित रही तब तक भी अप्रकाश्य आगम अप्रकाश्य नहीं रहे थे। क्योंकि उस समय भी स्व-सिद्धान्त और पर (अन्य)। सिद्धान्त के ज्ञाता होते थे।

जैन, जैनेतर दर्शनों का अध्ययन करते थे और जैनेतर, जैनदर्शन का अध्ययन करते थे। अतः यह स्पष्ट है कि जैनों और जैनेतरों में श्रुत परम्परा प्रचलित थी। उस समय भी आगम अप्रकाश्य नहीं रहे थे।

अवसर्पिणी काल के प्रभाव से धारणा शक्ति या स्मरण शक्ति शनैः शनैः क्षीण होने लगी तो आगमों और ग्रन्थों का लेखन प्रारम्भ हो गया। ज्यों-ज्यों आगमों का लेखन कार्य प्रगति करने लगा तो प्रायश्चित्त प्रतिपादक आगम भी लिखे जाने लगे, इस प्रकार अप्रकाश्य आगम प्रकाश्य हो गए। मुद्रण युग की प्रगति होने पर तो अप्रकाश्य आगम और अधिक प्रकाश्य हो गए।

संस्कृत या प्राकृत में रचित प्रायश्चित्त विषयक आगमों का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित न करवाने का प्रमुख कारण यही है कि उन्हें सर्व साधारण से गुप्त रखा जाए। किन्तु जिसको जिज्ञासा उत्कट होती है वह तो प्रयत्न करके अपनी जिज्ञासा जैसे-तैसे पूरी कर ही लेता है।

अद्यावधि प्रकाशित निशीथादि चारों आगमों के हिन्दी अनुवाद सहित संस्करण वर्तमान में अनुपलब्ध होने से स्वर्गीय युवाचार्य श्री मिश्रीमलजी म. सा. "मधुकरजी" की प्रेरणा से आयोजित आगम प्रकाशन समिति द्वारा चारों आगम प्रकाशित किए गए हैं।

युवाचार्यश्री ने मेरे द्वारा सम्पादित दसा, कल्प, व्यवहार को देखकर निशीथादि चारों आगमों का पुनः सम्पादन करने के लिए सन्देश भेजा था किन्तु बहुत लम्बे समय से मेरा स्वास्थ्य अनुकूल न रहने से मैंने श्री तिलोकमुनिजी म. से चारों आगमों का अनुवाद एवं विवेचन लिखने के लिए कहा—आपने उदार हृदय से अनुवाद एवं विवेचन स्वयं की भाषा में लिखा है—साधारण पढ़े लिखे भी इनका स्वाध्याय करके प्रायश्चित्त विधानों को आसानी से समझ सकते हैं।

उपाध्याय श्री पुष्करमुनिजी की शारीरिक सेवा में अहर्निश व्यस्त रहते हुए भी उपाचार्य श्री ने निशीथ की भूमिका लिखकर के जो अनुपम श्रुतसेवा की है, उसके लिए सभी सुज्ञ पाठक तथा आगम समिति के सभी कार्यकर्ता हृदय से आभारी हैं।

निशीथ आदि चारों आगमों के संशोधन, सम्पादन कार्यों में श्री विनयमुनिजी तथा महासतीजी श्री मुक्तिप्रभाजी आदि का निरन्तर यथेष्ट सहयोग प्राप्त होता रहा। अतः इन सबका मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ।

अक्षय तृतीया, २०४८
आबू पर्वत

—अनुयोग प्रवर्तक मुनि कन्हैयालाल "कमल"

प्राक्कथन

निशीथसूत्र का स्थान—आगमों में

उपलब्ध आगमों में चार आगमो को छेदसूत्र की संज्ञा दी गई है। यह संज्ञा आगमकालीन नही है अर्थात् नन्दीसूत्र आदि किसी भी आगम में यह संज्ञा, यह नामकरण नहीं मिलता है। अतः यह संज्ञा देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के बाद अर्थात् वीर निर्वाण के हजार वर्ष बाद दी गई है, जो परम्परा से आज तक चली आ रही है।

इन छेदसूत्रों के क्रम में कई विभिन्नताएँ प्रचलित हैं। कहीं दशाश्रुतस्कंध को तो कहीं व्यवहारसूत्र को प्रथम स्थान दिया जाता है।

व्यवहारसूत्र के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि इन चार छेदसूत्रों में निशीथसूत्र का स्थान अध्ययन की अपेक्षा प्रथम है, उसके बाद क्रम से दसा-कप्प-ववहार का स्थान है।

आगम पुरुष की रचना करने वाले पूर्वाचार्यों ने एवं ४५ आगमो का संक्षिप्त परिचय लिखने वाले विद्वानों ने भी निशीथसूत्र को छेदसूत्र में प्रथम स्थान दिया है।

निशीथसूत्र की उत्पत्ति का निर्णय—आगमाधार से

रचनाकाल या रचनाकार की अपेक्षा दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प और व्यवहारसूत्र के रचयिता (निर्यूढकर्ता) चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहुस्वामी हैं, किन्तु निशीथसूत्र की रचना के विषय मे अनेक विकल्प हैं। जो इतिहासज्ञों और चिंतकों के भ्रमकारक वातावरण का परिणाम है। उस ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर आज तक भी अन्वेषक विद्वान् निश्चित रूप से कहने का अधिकार नहीं रखते कि "निशीथसूत्र अमुक आचार्य की ही रचना है।"

वस्तुस्थिति कुछ और ही है। इतिहास-परंपरा से अलग होकर यदि आगमपाठों के चिंतन से निर्णय किया जाय तो वह ठोस एवं प्रामाणिक निर्णय हो सकता है।

इस सूत्र को पूर्वों से उद्धृत कहने की परंपरा सूत्रानुकूल नहीं है। इसका कारण यह है कि चौदह पूर्वी भद्रबाहुस्वामी ने व्यवहारसूत्र की रचना की है, यह निर्विवाद है। उस सूत्र में उन्होने एक बार भी 'निशीथसूत्र' यह नाम नहीं दिया है। आचारप्रकल्प या आचारप्रकल्प-अध्ययन यह नाम सोलह बार दिया है। जिसका अध्ययन करना एवं कण्ठस्थ धारण करना प्रत्येक योग्य साधु-साध्वी के लिए आवश्यक है। इसे कंठस्थ धारण नही करने वाले साधु-साध्वी को संघाडाप्रमुख या आचार्य, उपाध्याय आदि पदों की प्राप्ति का निषेध किया है और उसे भूल जाने वाले युवक संत-सतियों को प्रायश्चित्त का पात्र बताया है।

आगम के अनेक वर्णनों से यह स्पष्ट है कि साध्वियों को पूर्वश्रुत का अध्ययन नहीं कराया जाता है। जब कि आचारप्रकल्प साध्वियों को कंठस्थ धारण करने का एवं याद रखने का आचार्य भद्रबाहुस्वामी ने व्यवहारसूत्र में स्पष्ट विधान किया है।

इससे स्पष्ट है कि चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहुस्वामी के पहले भी यह "आचारप्रकल्प" या आचारप्रकल्प-अध्य विद्यमान था, जो पूर्वों में नहीं किन्तु अंगसूत्रों में था और साध्वियों को कठस्थ रखना भी आवश्यक था। भूल ज पर उन्हें भी प्रायश्चित्त आता था।

अतः इस सूत्र का गणधरग्रथित आचारांग के अध्ययन होने का जो-जो वर्णन सूत्रों में, उनकी व्याख्य में और ग्रन्थों मे मिलता है, उसे ही सत्य समझना उचित है। अन्य ऐतिहासिक विकल्पों को महत्त्व देना आग सम्मत नहीं है।

आगमों में आचारप्रकल्प

चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहुस्वामी से पूर्व भी जिनशासन के प्रत्येक साधु-साध्वी के लिए आचारप्रक अध्ययन को कंठस्थ धारण करना आवश्यक था, उस आचारप्रकल्प-अध्ययन का परिचय सूत्रों एवं उनकी व्याख्या में जो मिलता है, वह वर्तमान में उपलब्ध इस निशीथसूत्र का ही परिचायक है, यथा—

(१) पंचविहे आयारपकप्पे पण्णत्ते, तं जहा—१. मासिए उग्घाइए, २. मासिए अणुग्घाइए, ३. चाउम सिए उग्घाइए, ४. चाउमासिए अणुग्घाइए, ५. आरोवणा।

टीका—आचारस्य प्रथमांगस्य पदविभागसमाचारी लक्षणप्रकृष्टकल्पाऽभिधायकत्वात्प्रकल्प आचा प्रकल्प निशीथाध्ययनम्। स च पंचविधः, पंचविधप्रायश्चित्ताभिधायकत्वात्। —स्थाना.

२. आचारः प्रथमांग. तस्य प्रकल्पो अध्ययनविशेषो, निशीथम् इति अपराभिधानस्य ''''''।

—समवायांग २

३. अष्टाविंशतिविधः आचारप्रकल्पः, निशीथाध्ययनम् आचारांगम्, इत्यर्थः। स च एवं—(१) सत्थ परिण्णा जाव (२५) विमुत्ती (२६) उग्घाइ (२७) अणुग्घाइ (२८) आरोवणा तिविहमो निसीहं तु, इति अट्ठ वीसविहो आयारपकप्पनामोत्ति।

—राजेन्द्र कोश भा. २ पृ. ३४९ "आयारपकप्प श

—प्रश्नव्याकरण सूत्र अ. १

(४) आचारः आचारागम्, प्रकल्पो—निशीथाध्ययनम्, तस्येव पंचमचूला। आचारेण सहितः प्रकल्प आचारप्रकल्प, पंचविंशति अध्ययनात्मकत्वात् पंचविंशति विधः आचारः १. उद्घातिमं २. अनुद्घातिमं ३. आरोवण इति त्रिधा प्रकल्पोमीलने अष्टाविंशतिविधः।

—अभि. रा. को. भाग २, पृ. ३५० आयारपकप्प श

यहां समवायांगसूत्र एवं प्रश्नव्याकरणसूत्र के मूल पाठ में अट्ठाईस प्रकार के आचारप्रकल्प का कथ किया गया है, जिसमें संपूर्ण आचारांगसूत्र के २५ अध्ययन और निशीथसूत्र के तीन विभाग का समावेश करके अट्ठाईस का योग बताया है। इससे स्पष्ट है कि आगमों में निशीथ को आचारांगसूत्र का ही विभाग या अध्ययन बताया गया है।

निष्कर्ष यह है कि आगमिक वर्णनों को प्रमुखता देकर ऐतिहासिक उल्लेखों को गौण[1] किया जाय तो य सहज समझ में आ सकता है—"निशीथ-अध्ययन" आचारांगसूत्र के एक अध्ययन का नाम था। उसमें बीस उद्देशक

---

१. आगम वर्णन से जो निर्णय स्पष्ट हो जाता हो, उस विषय में इतिहास या परम्परा से उलझना नैयायिक नहीं होता है। आगमवर्णित विषय के पोषक तत्त्वों से सुलझना ही उपयुक्त होता है।

अपेक्षा तीन विभाग थे—(१) लघु (२) गुरु (३) आरोपणा।

इन तीन को आचारांग के २५ अध्ययन के साथ जोड़कर ही समवायांगसूत्र में २८ आचारप्रकल्प कहे हैं।

जब इसे अलग किया गया तब आचारांग से अलग किया हुआ होने से इसका नाम आचारप्रकल्प रखा गया। यही नाम आचार्य भद्रबाहु के समय प्रसिद्ध था, इसीलिए उन्होंने व्यवहारसूत्र में अनेकों विधान आचार-प्रकल्प के नाम से किए हैं। समवायांग, प्रश्नव्याकरण आदि अंग आगमों में भी "आचारप्रकल्प" के नाम से वर्णन उपलब्ध है।

आचारप्रकल्प और निशीथः नामपरिवर्तन

नंदीसूत्र में जो आगम गणना दी गई है, उसमें आचारप्रकल्प का नाम नहीं है, किन्तु निशीथ का नाम है और व्यवहारसूत्र में निशीथ का नाम ही नहीं किन्तु आचारप्रकल्प नाम अनेक बार है। व्यवहारसूत्र की रचना पहले हुई है और नंदीसूत्र की सैकड़ों (८००) वर्ष बाद रचना हुई है। इससे यह स्पष्ट होता है कि भद्रबाहुस्वामी के सामने यह सूत्र आचारप्रकल्प नाम से था और उनके बाद देवर्धिगणी तक इस सूत्र का आचारप्रकल्प नाम प्रसिद्धि में नहीं रह सका किन्तु आचारांग के अध्ययन का जो मौलिक नाम निशीथ अध्ययन था, वही नाम निशीथ-सूत्र इस रूप से प्रसिद्धि में आया और नंदी-रचनाकार श्री देववाचक पदविभूषित देवर्धिगणी क्षमाश्रमण ने उसी प्रसिद्ध नाम को स्थान दिया।

तात्पर्य यह है कि प्रारम्भ में यह आचारांग का अध्ययन "निशीथ-अध्ययन" इस नाम से था। भद्रबाहु-स्वामी के सामने आचारप्रकल्प या आचारप्रकल्प-अध्ययन के नाम से था और उनके बाद कभी यह निशीथसूत्र के नाम से प्रसिद्धि पाया। फिर भी व्यवहारसूत्र के मूलपाठ में आज भी आचारप्रकल्प के नाम से किये गये अनेक विधान उसी रूप में विद्यमान हैं और उसी के आधार पर निर्युक्ति, भाष्य, टीका भी विद्यमान हैं।

निर्युक्ति, भाष्य, टीका आदि व्याख्याकारों ने निशीथसूत्र को अथवा आचारांग सहित निशीथ-अध्ययन को "आचारप्रकल्प" नाम से ग्रहण किया है।

वैकल्पिक पांच नाम

इसे आचारांगसूत्र का अध्ययन कहो, आचारप्रकल्प कहो या आचारप्रकल्प-अध्ययन अथवा निशीथसूत्र कहो, सभी निशीथसूत्र के पर्यायवाची नाम हैं। इनकी संख्या पांच है, यथा—

१. आचारांगसूत्र का अध्ययन—"निसीहज्झयणं," २. आचारप्रकल्प-अध्ययन, ३. आचारप्रकल्प (सूत्र), ४. निशीथसूत्र, ५. आचारांगसूत्र की पंचम चूला।

इस प्रकार समय-समय पर परिवर्तित नाम वाला यह शास्त्र है। नन्दीसूत्र की रचना के बाद इसका नाम "निशीथसूत्र" यह निश्चित हो गया, जो आज तक चल रहा है।

व्याख्याएं—व्याख्याकार और व्याख्याकाल

इस सूत्र पर द्वितीय भद्रबाहुस्वामी ने निर्युक्ति नामक व्याख्या की है। सूत्र और निर्युक्ति के आधार पर भाष्य नामक व्याख्या आचार्य सिद्धसेनगणी ने की, ऐसा चूर्णिकार ने अनेक बार निर्देश किया है। मतांतर से आचार्य संघदासगणी भी कहे जाते हैं, किन्तु यह कथन चूर्णि के अनुसार इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है।

सूत्र और निर्युक्ति एवं भाष्य गाथाओं के आधार पर चूर्णि नामक व्याख्या आचार्य जिनदासगणी महत्तर ने की है। इस निशीथसूत्र का चूर्णि सहित भाष्य, निर्युक्ति का प्रकाशन आगरा से हुआ, जिसके सम्पादक उपाध्याय कवि पं. रत्न श्री अमरमुनिजी म. सा. एवं पं. रत्न श्री कन्हैयालालजी म. सा. "कमल" हैं। उक्त तीनों व्याख्याएं प्राकृत भाषा में हैं। जिसमें चूर्णि गद्यमय व्याख्या है और भाष्य, निर्युक्ति गाथामय व्याख्या हैं।

निर्युक्तिकार वीर निर्वाण की ग्यारहवीं शताब्दी में हुए हैं। इन निर्युक्तिकार के भाई वराहमिहिर थे। उन्होंने "वराहीसंहिता" ग्रन्थ की रचना की, जिसमें उसका रचना समय अंकित है। उसी संवत् के आधार से इन भद्रबाहुस्वामी और वराहमिहिर का समय ज्ञात होता है, जो विक्रम की छठ्ठी शताब्दी का और वीर निर्वाण की ग्यारहवीं शताब्दी का अर्थात् देवर्धिगणी क्षमाश्रमण के ३०-४० वर्ष बाद का समय था, जो कि विक्रम संवत् ५६२ का समय है। तदनन्तर विक्रम की सातवीं सदी में भाष्यकार एवं करीब आठवीं सदी में चूर्णिकार के होने का समय है।

इस प्रकार इस सूत्र का व्याख्यासाहित्य भी कम से कम १३०० वर्ष प्राचीन है।

इस सूत्र पर संस्कृत व्याख्या इसी इक्कीसवीं शताब्दी में श्रीमज्जैनाचार्य आगमोद्धारक पं. रत्न श्री घासीलालजी म. सा. ने की है।

मूलस्पर्शी हिन्दी, गुजराती अनुवाद श्रीमज्जैनाचार्य आगमोद्धारक पं. रत्न श्री अमोलकऋषिजी म. सा. आदि अनेक विद्वानों द्वारा समय-समय पर हुआ है। किन्तु हिन्दी भाषा में व्याख्या-विवेचन सहित मूल एवं अनुवाद के सम्पादन का यह प्रथम प्रयास है।

विवेचन का आधार एवं उससे अतिरिक्त कथन

निशीथसूत्र का यह संपादन निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि के आधार से या प्रमुखता से किया गया है। मूलपाठ के संपादन में एवं सूत्र की अर्थरचना में उपलब्ध अनेक प्रतियों को गौण करके निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि के आधार को प्रमुखता दी गई है। विवेचन करने में भी उक्त व्याख्याओं को प्रमुखता दी गई है, तथापि कुछ स्थानों में आगमआशयों को प्रमुखता देकर इन व्याख्याओं से भिन्न या विपरीत विवेचन भी किया गया है। इस निशीथसूत्र के अतिरिक्त व्यवहारसूत्र में भी कुछ स्थानों में ऐसा किया गया है, वे सभी स्थल निम्न हैं—

(१)	निशीथसूत्र	उ. २	सू. १	"पादप्रोंछन"
(२)	निशीथसूत्र	उ. २	सू. ८	"विभूषावेइ"
(३)	निशीथसूत्र	उ. ३	सू. ७३	"गोलेहणियासु"
(४)	निशीथसूत्र	उ. ३	सू. ८०	"अणुग्गए सूरिए"
(५-६)	निशीथसूत्र	उ. १९	सू. १ और ६	"वियड" और "गालेइ"
(७)	व्यवहार	उ. २	सू. १७	"अट्ठजाय"
(८)	व्यवहार	उ. ३	सू. १-२	"गणधारण"
(९)	व्यवहार	उ. ३१	सू. ३१	"सोडियसाला"
(१०)	व्यवहार	उ. १०	सू. २२	"तिवासपरियाए"
(११)	व्यवहार	उ. २	सू. १०	"पलामगंसि"
(१२-१३)	व्यवहार	उ. ३	सू. ९-१०	"निरुद्ध परियाए, निरुद्धवास परियाए"

इन शब्दों के अर्थ एवं विवेचन को प्राचीन व्याख्याओं से भिन्न करने का प्रमुख कारण आगम-आशय को सही समझाना ही रहा है। विशेष जानकारी के लिए अंकित स्थलों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करना चाहिए। वहां विषय और आशय को हेतु एवं आगम-प्रमाणों से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।

आचारप्रकल्प एवं प्रायश्चित्त की आरोपणा

समवायांगसूत्र में अट्ठाईस प्रकार की प्रायश्चित्त आरोपणा को भी आचारप्रकल्प कहा गया है। उसका कारण भी यही है कि वह २८ प्रायश्चित्त आरोपणा भी आचारप्रकल्प-अध्ययन से ही सम्बन्धित है, अतः उसे आचार-प्रकल्प कह दिया गया है।

२८ प्रकार की आरोपणा के मूलपाठ में वहां लिपिदोष से कुछ विकृति हुई है, जिसकी व्याख्याकारों ने भी चर्चा नहीं की है।

वहां आरोपणा का प्रारम्भ एक मास और पांच दिन से करके चार मास २५ दिन पर उसका अंत किया गया है, इस तरह बीच से प्रारम्भ कर बीच ही में पूर्ण करना संगत प्रतीत नहीं होता है।

वास्तव में पांच रात्रि के प्रायश्चित्त-आरोपणा से प्रारम्भ कर एक मास तक ६ विकल्प और चार मास तक २४ विकल्प करने चाहिए। यही प्रायश्चित्त देने की आरोपणा की विधि एवं क्रम भाष्यादि से भी स्पष्ट सिद्ध होता है। किन्तु एक मास पांच दिन से प्रारम्भ करके ४ मास २५ दिन तक ही ले जाकर २४ भंग करने की संगति का कोई भी आधार नहीं है एवं उसके कारण का स्पष्टीकरण भी नहीं हो सकता है। अतः पांच दिन से लेकर चार मास तक के २४ विकल्प करना ही उचित है। निशीथ में भी चार मास तक के ही प्रायश्चित्तस्थान कहे गये हैं और व्याख्याओं में पांच दिन से ही आरोपणा प्रारम्भ की जाती है। २४ विकल्प के बाद के अंतिम चार विकल्प तो निर्विवाद हैं—(१) लघु (२) गुरु (३) संपूर्ण (४) अपूर्ण। यों कुल अट्ठाईस आचारप्रकल्प कहे हैं। अपेक्षा से आचारांग और निशीथसूत्र के अध्ययन एवं विभागों की जोड़ को भी अट्ठाईस आचारप्रकल्प कहा जाता है।

निशीथसूत्र का प्रमुख विषय

अनिवार्य कारणों से या कारणों के बिना संयम की मर्यादाओं को भंग करके यदि कोई स्वयं आलोचना करे तब किस दोष का कितना प्रायश्चित्त होता है, यह इस छेदसूत्र का प्रमुख विषय है। जो बीस उद्देशों में इस प्रकार विभक्त है—

पहले उद्देशक में गुरुमासिक प्रायश्चित्त योग्य दोषों का प्ररूपण है।
उद्देशक २ से ५ तक में लघुमासिक प्रायश्चित्त योग्य दोषों का प्ररूपण है।
उद्देशक ६ से ११ तक में गुरुचौमासी प्रायश्चित्त योग्य दोषों का प्ररूपण है।
उद्देशक १२ से १९ तक में लघुचौमासी प्रायश्चित्त योग्य दोषों का प्ररूपण है।
बीसवें उद्देशक में प्रायश्चित्त देने एवं उसे वहन करने की विधि कही गई है।

अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार की शुद्धि आलोचना और मिच्छामि दुक्कडं के अल्प प्रायश्चित्त से हो जाती है। अनाचार दोष के सेवन का ही निशीथसूत्रोक्त प्रायश्चित्त होता है। यह स्थविरकल्पी सामान्य साधुओं की मर्यादा है।

जिनकल्पी या प्रतिमाधारी आदि विशिष्ट साधनावालों को अतिक्रम आदि का भी निशीथसूत्रोक्त गुरु प्रायश्चित्त आता है।

१. लघुमासिक प्रायश्चित्त जघन्य एक एकासना, उत्कृष्ट २७ उपवास है।
२. गुरुमासिक प्रायश्चित्त जघन्य एक निवी (दो एकासना), उत्कृष्ट ३० उपवास है।
३. लघुचौमासी प्रायश्चित्त जघन्य एक आयम्बिल (या एक एकासना), उत्कृष्ट १०८ उपवास है।
४. गुरुचौमासी प्रायश्चित्त जघन्य एक उपवास (चार एकासना), उत्कृष्ट १२० उपवास है।
५. उक्त दोषों के प्रायश्चित्तस्थानों का बारम्बार सेवन करने पर अथवा उनका सेवन लम्बे समय तक चलता रहने पर तप-प्रायश्चित्त की सीमा बढ़ जाती है, जो कभी दीक्षाछेद तक भी बढ़ा दी जा सकती है।
६. कोई साधक बड़े दोष को गुप्त रूप में सेवन करके छिपाना चाहे और दूसरा व्यक्ति उस दोष को प्रकट कर सिद्ध करके प्रायश्चित्त दिलवावे तो उसे दीक्षाछेद का ही प्रायश्चित्त आता है।
७. दूसरे के द्वारा सिद्ध करने पर भी अत्यधिक झूठ-कपट करके विपरीत आचरण करे अथवा उल्टा चोर कोतवाल को डांटने का काम करे किन्तु मजबूर करने पर फिर सरलता स्वीकार करके प्रायश्चित्त लेने के लिए तैयार होवे तो उसे नई दीक्षा का प्रायश्चित्त दिया जाता है।
८. यदि उस दुराग्रह में ही रहे एवं सरलता स्वीकार करे ही नहीं तो उसे गच्छ से निकाल दिया जाता है।

सूत्रों की गोपनीयता

कोई भी ज्ञान या आगम एकान्त गोपनीय नहीं होता है, किन्तु उसकी भी अपनी कोई सीमा अवश्य होती है।

मूल आगमों में कहीं भी किसी भी सूत्र को गोपनीय नहीं कहा गया है। केवल इतना अवश्य कहा गया है कि योग्यताप्राप्त शिष्य को क्रम से ही सूत्र एवं उनके अर्थ परमार्थ का अध्ययन कराना चाहिए।

अयोग्य को या क्रम-अप्राप्त को किसी भी शास्त्र का अध्ययन नहीं कराना चाहिए, क्योंकि उसे अध्ययन कराने पर अध्यापन कराने वाले को निशीथसूत्र उद्देशक १९ के अनुसार प्रायश्चित्त आता है, साथ ही योग्यताप्राप्त और विनीत शिष्यों को यथाक्रम से अध्ययन नहीं कराने पर भी उन्हें सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है।

इस प्रकार यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि योग्य साधु-साध्वियों की अपेक्षा कोई भी आगम गोपनीय नहीं होता है।

आगमों में १२ अंगसूत्रों में से साध्वियों को ग्यारह अंगसूत्रों का अध्ययन करने का वर्णन आता है। साधुओं को १२ ही अंगों का अध्ययन करने का वर्णन आता है एवं श्रावकों को भी श्रुत का अध्ययन एवं श्रुत के उपधान का वर्णन आता है। तीर्थंकरों की मौजूदगी में द्वादशांगी श्रुत ही था, शेष सूत्रों की संकलना कालांतर में हुई यह निर्विवाद है।

इस प्रकार आगम गोपनीय होते हुए भी तीर्थंकरों के समय भी अंग शास्त्रों का साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका चतुर्विध संघ अध्ययन करता था।

चौदहपूर्वी भद्रबाहु-रचित व्यवहारसूत्र में भी आचारप्रकल्प के अध्ययन-अध्यापन को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। प्रत्येक युवक संत सती को इसका कंठस्थ होना आवश्यक कहा है, इससे इसकी अतिगोपनीयता का जो वातावरण है, वह आवश्यक प्रतीत नहीं होता है। इस प्रकार निशीथसूत्र या अन्य सूत्रों का अध्ययन भी चतुर्विध संघ में प्राचीनकाल से प्रचलित था।

कालांतर में आगमलेखन-युग एवं फिर व्याख्यालेखन-युग और अब प्रकाशनयुग आया है। आगमों का लेखन और प्रकाशन समय-समय पर हुआ और हो रहा है। देश-विदेश में भी इनकी लिखित और प्रकाशित प्रतियाँ

का प्रचार हुआ है। अतः गोपनीयता का प्रचलित हुआ कथन अब केवल कथनमात्र रह गया है।

योग्य साधु-साध्वी के लिए अन्य आगम तो क्या छेदसूत्र भी गोपनीय नहीं है; अपितु यह कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि छेदसूत्रों का अध्ययन किए बिना या उनके अर्थ परमार्थ को समझे बिना साधक की साधना अधूरी है, पंगु है, परवश है तथा इनके सूक्ष्मतम अध्ययन के बिना संघव्यवस्था तो परिपूर्ण अंधकारमय ही होती है।

छेदसूत्रों के अर्थ परमार्थ के अध्ययन के बिना श्रमण श्रमणी जघन्य बहुश्रुत भी नहीं बन सकते और जघन्य बहुश्रुत के बिना वे हमेशा परवश ही विचरण कर सकते हैं। वे किसी भी प्रकार की प्रमुखता धारण नहीं कर सकते हैं, स्वतन्त्र विचरण एवं गोचरी भी नहीं कर सकते, सदा दूसरों के निर्णय और आधार पर ही जीवन जीते हैं। संघ-व्यवस्था का भार वहन करने वालों के लिए तो ये छेदसूत्र और इनका अर्थ परमार्थ समझना नितान्त आवश्यक है।

इन्हीं अनेक दृष्टिकोणों को नजर में रखते हुए छेदसूत्रों का यह हिन्दी विवेचनयुक्त संपादन कार्य किया गया है। आशा है इससे सामान्य साधकों को और विशेष कर सिंघाडाप्रमुख आदि पदवीधरों को बहुमुखी मार्ग-दर्शन प्राप्त होगा।

परम पूज्य श्रद्धेय श्री कन्हैयालालजी म. सा. "कमल" ने अपने इस महत्त्वशील छेदसूत्रों के सम्पादनकार्य में मेरा सहयोग लिया और मुझे आगमसेवा का अनुपम अवसर दिया, उसके लिए मैं अंतःकरण से उनका महान उपकार मानता हूं। उनके इस उपकार को जीवन भर नहीं भुलाया जा सकता है।

अंत में इस संपादन-सहयोग में अनजान में या समझभ्रम से किसी भी प्रकार की भाषा या प्ररूपणा की स्खलना हुई हो तो अन्तःकरण से "मिच्छामि दुक्कड" देता हूं। विद्वान् पाठकों से भी आशा करता हूं कि वे "छद्मस्थमात्र भूल का पात्र है" यह मान कर उन भूलों के लिये मुझे क्षमा प्रदान करेंगे एवं सही तत्त्व का आगमानुसार निर्णय कर उसे ही स्वीकार करेंगे।

श्री मरुधरकेसरी पावनधाम
जैतारण

—तिलोकमुनि

निशीथसूत्र : एक समीक्षात्मक अध्ययन

—उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनि

भारतीय साहित्य में जैन आगम साहित्य का अपना विशिष्ट स्थान है। आगम शब्द 'आ' उपसर्ग एवं गम् धातु से निर्मित हुआ है। 'आ' का अर्थ पूर्ण और गम् का अर्थ गति या प्राप्ति है। आचारांगसूत्र[1] में आगम शब्द जानने के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। भगवती[2] अनुयोगद्वार[3] और स्थानांग[4] में आगम शब्द शास्त्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मूर्धन्य महामनीषियों ने आगम शब्द की विविध परिभाषाएँ लिखी हैं। उन सभी परिभाषाओं को यहां पर उद्धृत करना सम्भव नहीं है। स्याद्वादमञ्जरी[5] की टीका में आगम की परिभाषा इस प्रकार की है—'आप्तवचन आगम है। उपचार से आप्तवचन-समुत्पन्न अर्थज्ञान भी आगम है।' आचार्य मलयगिरि[6] ने लिखा है—'जिससे पदार्थों का परिपूर्णता के साथ मर्यादित ज्ञान हो वह आगम है।' रत्नाकरावतारिका[7] वृत्ति में आगम की परिभाषा यह है—'जिससे पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो वह आगम है।'[8] जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने आगम की परिभाषा देते हुए लिखा है जिससे सही शिक्षा प्राप्त होती है, वह शास्त्र आगम या श्रुतज्ञान कहलाता है।

आगम साहित्य सर्वज्ञ-सर्वदर्शी महापुरुषों के विचारों का नवनीत है। यह आगमसाहित्य अक्षरदेह से जितना विशाल और विराट् है उससे भी अधिक अर्थगरिमा से मण्डित है। उसमें जहाँ दार्शनिक चिन्तन का प्राधान्य है, द्रव्यानुयोग का गम्भीर विश्लेषण है वहाँ उसमें श्रमणों और श्रावकों के आचार-विचार, व्रत-संयम, त्याग-तपस्या, उपवास, प्रायश्चित्त आदि का भी विस्तार से निरूपण किया गया है। धर्म और दर्शन के गुरु-गम्भीर रहस्यों को स्पष्ट करने हेतु कथाओं का भी समुचित उपयोग हुआ है। इनके अतिरिक्त आध्यात्मिक जीवन के जीते-जागते

---

१. (क) "आगमेत्ता आणवेज्जा"—आचारांगसूत्र १।५।४
   (ख) "लाघवं आगममाणे"—आचारांगसूत्र १।६।३
२. भगवतीसूत्र ५।३।१९२
३. अनुयोगद्वारसूत्र ४२
४. स्थानांगसूत्र ३३८
५. "आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः, उपचारादाप्तवचनं च।" —स्याद्वादमञ्जरी टीका श्लोक ३८
६. "आ—अभिविधिना सकलश्रुतविषयव्याप्तिरूपेण, मर्यादया वा यथावस्थितप्ररूपणारूपया गम्यन्ते—परिच्छिद्यन्ते अर्थाः येन सः आगमः।" —आवश्यक (वृत्ति) मलयगिरि
७. "आगम्यन्ते मर्यादयाऽवबुद्ध्यन्तेऽर्थाः अनेनेत्यागमः —रत्नाकरावतारिकावृत्ति
८. "सासिज्जइ जेण तयं सत्थं तं वा विवेसियं नाणं।
   आगम एव य सत्थं आगम सत्थं तु सुयनाणं॥ —विशेषावश्यकभाष्य गा. ५५९

प्रतीक श्रमण भगवान् महावीर प्रभृति तीर्थंकरों के जन्म, तपस्या, उपदेश और विहारचर्या, शिष्यपरम्परायें, आर्य और अनार्य क्षेत्र की सीमाएँ, तात्कालिक राजा, राजकुमार और मत-मतान्तरों का विशेष निरूपण है। आगम साहित्य ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे अभिनव चेतना का संचार किया। जीवन का सजीव और यथार्थ दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए कहा कि जीवन का लक्ष्य विषयवासना के दल-दल में फंसने का नहीं, अपितु त्याग, वैराग्य और संयम से जीवन को चमकाना है। यही कारण है जैन आगमसाहित्य में सर्वत्र साधक को संयम-साधना तप-आराधना और मनोमन्थन की पावन प्रेरणा प्रदान की गई है।

आचार्य देववाचक ने नन्दीसूत्र मे आगमसाहित्य को दो भागों मे विभक्त किया है[1]—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। छेदसूत्र अंगबाह्य आगम हैं। छेदसूत्रों में जैन श्रमण और श्रमणियों के जीवन से सम्बन्धित आचार विषयक नियमोपनियम का विशद विश्लेपण है। यह विश्लेपण स्वयं भ. महावीर के द्वारा निरूपित है। जो बहुत ही अद्भुत और अनूठा है।

उसके पश्चात् उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी उसको विकसित किया। छेदसूत्रों में नियम भंग हो जाने पर श्रमण-श्रमणियों द्वारा अनुसरणीय विविध प्रायश्चित्त विधियों का विश्लेषण हुआ है। श्रमणजीवन की पवित्रता—निर्मलता बनाये रखने हेतु ही छेदसूत्रों का निर्माण हुआ। यही कारण है श्रमणजीवन के सम्यक् संचालन के लिए छेदसूत्रों का अध्ययन आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य माना गया है।

सर्वप्रथम छेदसूत्र शब्द का प्रयोग हमें आवश्यकनिर्युक्ति में मिलता है।[2] इसके पूर्व किसी भी प्राचीन साहित्य में 'छेदसूत्र' यह नाम नहीं आया है। उसके पश्चात् आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य में तथा संघदासगणि ने निशीथभाष्य[4] में छेदसूत्र का उल्लेख किया है। छेदसूत्रों का पृथक् वर्गीकरण क्यों किया गया ? क्यो निशीथ आदि को छेदसूत्र के अन्तर्गत रखा गया ? इसका स्पष्ट समाधान कहीं पर नहीं किया गया है। यह स्पष्ट है कि हम जिन आगमों को छेदसूत्र की संज्ञा प्रदान करते हैं, वे आगम मूलतः प्रायश्चित्त सूत्र हैं। व्यवहार, आलोचना, शोधि और प्रायश्चित्त ये चार शब्द व्यवहारभाष्य[5] में पर्यायवाची माने गये हैं। प्रस्तुत आधार से छेदसूत्रों को व्यवहारसूत्र, आलोचनासूत्र, शोधिसूत्र और प्रायश्चित्तसूत्र कह सकते हैं। छेदसूत्रों के लिए 'पदविभाग', 'समाचारी' शब्द का प्रयोग आचार्य मलयगिरि ने आवश्यकनिर्युक्ति[6] की वृत्ति में किया है। पदविभाग और छेद ये दोनों शब्द समान अर्थ को व्यक्त करते हैं। सम्भव है इस दृष्टि से छेदसूत्र यह नाम रखा गया हो। छेदसूत्रों में एक सूत्र का दूसरे सूत्र से सम्बन्ध नहीं है। छेदसूत्र के सभी सूत्र स्वतन्त्र हैं। उन सूत्रों की व्याख्या भी छेददृष्टि से या विभागदृष्टि से की जाती है।

---

१. नन्दीसूत्र ७२
२. जं च महाकप्प सुयं, जाणि असेसाणि छेअसुत्ताणि।
   चरणकरणाणुओगो त्ति कालियत्थे उवगयाणि॥ —आवश्यकनिर्युक्ति ७७७
३. जं च महाकप्प सुयं, जाणि असेसाणि छेअसुत्ताणि।
   चरणकरणाणुओगो त्ति कालियत्थे उवगयाणि॥ —विशेषावश्यकभाष्य २२९५
४. छेदसुत्तणिसीहादी अत्थो य गतो य छेदसुत्तादी।
   मंतनिमित्तोसहिपाहुडे, य गाहेंति अण्णत्थ॥ —निशीथभाष्य ५९४७
५. व्यवहारभाष्य २१९०
६. पदविभाग, समाचारी छेदसूत्राणि। —आवश्यकनिर्युक्ति ६६५ मलयगिरि वृत्ति

हम पूर्व पंक्तियों में लिख चुके हैं छेद-सूत्रों को प्रायश्चित्तसूत्र कहा गया है। स्थानांग मे श्रमणों के लिए पाच चारित्रों का उल्लेख है—१. सामायिक, २. छेदोपस्थापनीय, ३. परिहारविशुद्धि, ४. सूक्ष्मसंपराय, ५. यथाख्यात[1]। इनमें से वर्तमान में अन्तिम तीन चारित्र विच्छिन्न हो गये है। सामायिक चारित्र स्वल्पकालीन होता है, छेदोपस्थापनिक चारित्र ही जीवनपर्यन्त रहता है। प्रायश्चित्त का सम्बन्ध भी इसी चारित्र से है। सम्भवतः इसी चारित्र को लक्ष्य में रखकर प्रायश्चित्तसूत्रों को छेदसूत्र की संज्ञा दी गई हो।

दशाश्रुतस्कन्ध, व्यवहार और बृहत्कल्प ये सूत्र नौवें प्रत्याख्यान पूर्व से उद्धृत किये गये हैं।[2] उससे छिन्न अर्थात् पृथक् करने से उन्हें छेदसूत्र की संज्ञा दी गई हो, यह भी सम्भव है।[3]

निशीथसूत्र के उन्नीसवें उद्देशक के सत्रहवें सूत्र में छेदसूत्र को 'उत्तमश्रुत' कहा गया है। संघदासगणि ने निशीथभाष्य मे छेदसूत्र को उत्तमश्रुत माना है।[4] जिनदासगणि महत्तर ने निशीथचूर्णि मे यह प्रश्न उपस्थित किया है और पुनः उन्होंने ही प्रश्न का समाधान करते हुए लिखा है कि छेदसूत्र में प्रायश्चित्तविधि का निरूपण होने से वह चारित्र की विशुद्धि करता है, तदर्थ ही छेदसूत्रों को उत्तमश्रुत कहा गया है।[5]

उत्तमश्रुत शब्द पर चिन्तन करते हुए एक जिज्ञासा अन्तर्मानस में उद्बुद्ध होती है कि छेदसूत्र कही 'छेक' सूत्र तो नहीं है? छेकश्रुत का अर्थ है कल्याणश्रुत और उत्तमश्रुत। दशाश्रुतस्कन्ध की चूर्णि में दशाश्रुतस्कन्ध को 'छेक' सूत्र का प्रमुख ग्रन्थ माना है।[6] दशाश्रुतस्कन्ध प्रायश्चित्तसूत्र नहीं है। वह तो आचारसूत्र है। इसीलिए दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि में दशाश्रुतस्कन्ध को चरणकरणानुयोग में लिया गया है। यदि छेदसूत्र को छेकसूत्र मान भी लिया जाय तो किसी प्रकार की आपत्ति नहीं हो सकती। आचार्य शय्यंभव के दशवैकालिकसूत्र में—जं छेयं तं समायरे[7] पद प्राप्त है। यहां पर छेय शब्द से छेक होने की पुष्टि होती है।[8]

षट्खण्डागम,[9] सर्वार्थसिद्धि,[10] तत्त्वार्थराजवार्तिक,[11] गोम्मटसार जीवकाण्ड[12] प्रभृति दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थो में आगमसाहित्य के दो विभाग किये गये हैं—अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट। पर इनमें छेद इस

---

१. (क) स्थानांगसूत्र ५, उद्देशक २, सूत्र ४२८
(ख) विशेषावश्यकभाष्य गा. १२६०-७०

२. कतरं सुत्तं? दसाउकप्पो ववहारो य। कतरातो उद्धृतं? उच्यते पच्चक्खाणपुव्वाओ। —दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि, पत्र २

३. निशीथ. १९।१७

४. छेयसुयमुत्तमसुयं। —निशीथभाष्य, ६१८४

५. छेदसुयं कम्हा उत्तमसुतं? भण्णति—जम्हा एत्थं सपायच्छित्तो विधि भण्णति, जम्हा ये तेणच्चरणविसुद्धि करेति, तम्हा तं उत्तमसुतं। —निशीथभाष्य, ६१८४ की चूर्णि।

६. इमं पुण च्छेयसुत्तपमुहभूतं। —दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि, पत्र २

७. दशवैकालिक ४।११

८. निसीहज्झयणं प्रस्तावना। —आचार्य तुलसी

९. षट्खण्डागम, भाग १. पृ. ९६

१०. सर्वार्थसिद्धि: पूज्यपाद, १-२०

११. तत्त्वार्थराजवार्तिक: अकलंक, १-२०

१२. गोम्मटसार जीवकाण्ड: नेमीचन्द्र, पृ. १३४

प्रकार का विभाग प्राप्त नहीं है। पर बाद के ग्रन्थों में छेदशास्त्र और छेदपिण्ड ये नाम प्राप्त होते हैं। सम्भव है दिगम्बर परम्परा में भी प्रायश्चित्त के अर्थ में ही छेद शब्द व्यवहृत रहा हो। छेदशास्त्र और छेदपिण्ड दोनों ही ग्रन्थों में प्रायश्चित्त का निरूपण है। छेदपिण्ड में प्रायश्चित्त के आठ पर्यायवाची नामों का उल्लेख है[1]—(१) प्रायश्चित्त, (२) छेद, (३) मलहरण, (४) पापनाशन, (५) शोधि, (६) पुण्य, (७) पवित्र, (८) पावन। छेदशास्त्र में भी प्रायश्चित्त और छेद इन दोनों शब्दों को पर्यायवाची स्वीकार किया है।[2] सारांश यह है कि छेदसूत्र प्रायश्चित्तसूत्र हैं।

समाचारीशतक में आचार्य समयसुन्दरगणि ने छेदसूत्रों की संख्या छह बतलाई है[3] —(१) दशाश्रुतस्कन्ध, (२) व्यवहार, (३) बृहत्कल्प, (४) निशीथ, (५) महानिशीथ, (६) जीतकल्प। इनमें से पाँच-छह सूत्रों के नाम का उल्लेख आचार्य देववाचक ने नन्दीसूत्र में किया है।[4] विज्ञों का मन्तव्य है कि जीतकल्प जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की कृति है। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का समय वि. सं. ६५० के लगभग है। जिसका निर्माण नन्दीसूत्र की रचना के पश्चात् हुआ है। अतः उसे आगम की कोटि में स्थान नहीं दिया जा सकता। महानिशीथसूत्र को दीमक ने खाकर नष्ट कर दिया था। अतः वर्तमान में उसकी मूल प्रति अनुपलब्ध है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने पुनः उसका उद्धार किया था।[5] अतः वर्तमान में उपलब्ध महानिशीथ भी आगम की कोटि में नहीं आता। इस प्रकार मौलिक छेदसूत्र चार हैं—(१) दशाश्रुतस्कन्ध, (२) व्यवहार, (३) बृहत्कल्प, (४) निशीथ।

छेदसूत्रों में निशीथ का प्रमुख स्थान है। निशीथ का अर्थ अप्रकाश्य है।[6] यह सूत्र अपवादबहुल है। अतः हर किसी व्यक्ति को नहीं पढ़ाया जाता था। जिनदासगणि महत्तर ने तीन प्रकार के पाठक बताये हैं—(१) अपरिणामक, (२) परिणामक, (३) अतिपरिणामक। अपरिणामक का अर्थ है जिसकी बुद्धि अपरिपक्व है। परिणामक का अर्थ है जिसकी बुद्धि परिपक्व है। अतिपरिणामक का अर्थ है जिसकी बुद्धि कुतर्क पूर्ण है। अपरिणामक और अतिपरिणामक ये दोनों पाठक निशीथ पढ़ने के अनधिकारी हैं।[7] जो पाठक आजीवन रहस्य को धारण कर सकता है वही प्रबुद्ध पाठक निशीथ पढ़ने का अधिकारी है।[8] यहां पर जो रहस्य शब्द है वह इसकी गोपनीयता को प्रकट करता है। निशीथ का अध्ययन वही साधु कर सकता है जो तीन वर्ष का दीक्षित हो और गाम्भीर्य आदि गुणों से युक्त हो। प्रौढ़ता की दृष्टि से बगल में बाल वाला सोलह वर्ष का साधु ही निशीथ का वाचक हो सकता है।[9]

---

१. पायच्छित्तं छेदो मलहरणं पावणासणं सोही। पुण्ण पवित्तं पावणमिदि पायच्छित्तनामाइं—छेदपिण्ड, गाथा ३

२. छेदशास्त्र गाथा २

३. समाचारी शतकः आगम स्थापनाधिकार।

४. कालियं अणेगविहं पण्णत्तं, तं जहा—दसाओ, कप्पो, ववहारो, निसीहं, महानिसीहं। —नन्दीसूत्र ७०

५. महानिशीथ अध्ययन ३

६. जं होति अप्पगासं तं तु निसीहं ति लोग संसिद्धं।
जं अप्पगासधम्मं अण्णं पि तयं निसीधं ति॥ —निशीथभाष्य, श्लोक ६४

७. पुरिसो तिविहो परिणामगो, अपरिणामगो, अतिपरिणामगो, तो
एत्थ अपरिणामग अतिपरिणामगाणं पडिसेहो॥ —निशीथचूर्णि, पृ. १९५

८. निशीथभाष्य ६७०२-३

९. (क) निशीथचूर्णि, गाथा ६१९५
(ख) व्यवहारभाष्य, उद्देशक ७, गा. २०२-३
(ग) व्यवहारसूत्र, उद्देशक १०, गाथा २०-२१

निशीथ का ज्ञाता हुए बिना कोई भी श्रमण अपने सम्बन्धियों के यहां भिक्षा के लिए नहीं जा सकता[1] और न वह उपाध्याय आदि पद के योग्य ही माना जा सकता है।[2] श्रमण-मण्डली का अगुआ होने में और स्वतन्त्र विहार करने में भी निशीथ का ज्ञान आवश्यक है।[3] क्योंकि निशीथ का ज्ञाता हुए बिना कोई साधु प्रायश्चित्त देने का अधिकारी नहीं हो सकता। इसीलिए व्यवहारसूत्र में निशीथ को एक मानदण्ड के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

छेदसूत्र दो प्रकार के हैं। कुछ छेदसूत्र अंग के अन्तर्गत आते हैं तो और कुछ छेदसूत्र अंगबाह्य के अन्तर्गत आते हैं। निशीथसूत्र अंग के अन्तर्गत है और अन्य छेदसूत्र अंगबाह्य के अन्तर्गत हैं। आचार्य देववाचक ने यद्यपि आचारांग और निशीथ के पारस्परिक सम्बन्ध का उल्लेख नहीं किया है। वहां पर तो केवल आचारांग के पच्चीस अध्ययनों का ही उल्लेख है।[4] समवायांगसूत्र में आचारांग के नौ अध्ययन और आचारचूला के सोलह अध्ययन इस प्रकार आचारांग के पच्चीस अध्ययनों का वर्णन किया है।[5] नन्दीसूत्र में निशीथ का एक स्वतन्त्र कालिकसूत्र के रूप में वर्णन किया गया है। किन्तु आचारांग के पच्चीस अध्ययनों में उसकी गणना नहीं गई की है।[6] सम्भव है आचार्य देववाचक के सामने निशीथ आचारांग की ही एक चूला है, इस प्रकार की धारणा न रही हो। समवायांगसूत्र में चूलिका के साथ आचारांगसूत्र के ८५ उद्देशनकाल बतलाये हैं।[7] नवाङ्गी टीकाकार आचार्य अभयदेव ने चतुर्थ आचारचूला तक की प्रस्तुत संख्यापूर्ति का संकेत किया है।[8] वह इस प्रकार है—

आचारांग	उद्देशन-काल	आचार-चूला	उद्देशन-काल
१	७	१	११
२	६	२	३
३	४	३	३
४	४	४	२
५	६	५	२
६	५	६	२
७	८	७	२
८	४	८	१
९	७	९	१
		१०	१
		११	१
		१२	१
		१३	१
		१४	१
		१५	१
		१६	१

१. व्यवहारसूत्र, उद्देशक ६, सू. २, ३
२. व्यवहारसूत्र, उद्देशक ३, सू. ३
३. व्यवहारसूत्र, उद्देशक ३, सू. १
४. पणवीसं अज्झयणा। —नन्दी, सूत्र ८०
५. आयारस्स णं भगवओ सचूलियायस्स पणवीसं अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा—सत्थपरिण्णा लोगविजओ सीओस-णीअ सम्मत्तं। आवंति धुय विमोह उवहाणसुय महपरिण्णा पिंडेसण सिज्जिरिआ भासज्झयणा य वत्थ पाएसा। उग्गहपडिमा सत्तिक्कसत्तया भावण विमुत्ति॥ —समवायांग, समवाय २५
६. नन्दीसूत्र ७७
७. आयारस्स णं भगवओ सचूलियागस्स पंचासीइं उद्देसणकाला पण्णत्ता। —समवायांग, समवाय ८५ वृत्ति
८. तिण्हगणिपिडगाणं आयारचूलियावज्जाणं सत्तावन अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा—आयारे सूयगडे ठाणे। —समवायाग, समवाय ५७

प्रस्तुत अवतरण से यह स्पष्ट है आचारांग और निशीथ में किसी भी प्रकार का सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। समवायांग के ५७ अध्ययन में आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग के ५७ अध्ययन प्रतिपादित किये गये हैं।[1] यहां पर भी निशीथ की परिगणना नहीं की गई है।

आचारांगनिर्युक्ति से सर्वप्रथम हमें यह जानकारी प्राप्त होती है कि आचारांग का निशीथ के साथ सम्बन्ध है। आचारांग और पांच चूलाओं की संयुक्त निर्युक्ति बनाकर आचारांग और निशीथ में परस्पर सम्बन्ध स्थापित किया गया है। निर्युक्तिकार ने आचारांग की पांचवीं चूला के रूप में निशीथ की स्थापना कर आचारांग और निशीथ दोनों अंग हैं यह सिद्ध किया है।

संक्षेप में सारांश यह है कि निशीथ की रचना आचारांग की पांचवीं चूला के रूप में स्थापना नन्दीसूत्र के पश्चात् हुई है और निर्युक्ति की रचना के पूर्व हुई है।

पण्डित दलसुखभाई मालवणिया ने 'निशीथ : एक अध्ययन' ग्रन्थ में प्रस्तुत प्रश्न पर विस्तार से ऊहा-पोह किया है और उन्होंने यह विचार प्रस्तुत किया है कि 'निशीथ' किसी समय आचारांग के अन्तर्गत रहा होगा। किन्तु एक समय ऐसा भी आया कि उपलब्ध आचारांगसूत्र से निशीथ को पृथक् कर दिया गया। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि निशीथ आचारांग की अन्तिम चूला के रूप में था, मूल में नहीं। सम्भव है, कभी चूला के रूप में आचारांग में जोड़ा गया हो और विशेष कारण उपस्थित होने पर, जो निशीथ मौलिक रूप में आचारांग का अंग नहीं था, वह एक परिशिष्ट रह गया हो जो छेद अंगबाह्य था, उसमें निशीथ को सम्मिलित कर दिया गया। अंगबाह्य में निशीथ को सम्मिलित करने से निशीथ का महत्त्व कम नहीं हुआ। यहां पर भी यह स्मरण रखना होगा कि निशीथसूत्र को आचारांग का अंग श्वेताम्बर परम्परा ही मानती है, दिगम्बर परम्परा नहीं। दिगम्बर परम्परा की दृष्टि से निशीथ अंगबाह्य आगम ग्रन्थ ही है।[2] दिगम्बर परम्परा ने चौदह ग्रन्थों को अंगबाह्य माना है। उनमें छह तो आवश्यकसूत्र के अध्ययन ही हैं। इससे भी यह स्पष्ट है कि निशीथ कितना प्राचीन आगम है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्परा के भेद होने के पूर्व निशीथसूत्र था यह स्वतः सिद्ध होता है।

आचारांगनिर्युक्ति में निम्न गाथा आई है—

णवबंभचेरमइओ अट्ठारसपयसहस्सिओ वेओ।
हवइ य सपंचचूलो बहु-बहुतरओ पयग्गेण ॥[3]

यह सहज जिज्ञासा उद्भूत हो सकती है—पूर्वगत आचार नामक वस्तु के आधार पर निशीथ का निर्माण या निर्यूढ हुआ, उसका नाम आचारप्रकल्प था। विषयसाम्य होने के कारण उसे आचारांग में जोड़ दिया गया हो। आचारप्रकल्प में प्रायश्चित्त का विधान होने से यह अत्यधिक आवश्यक था कि तीर्थंकर की वाणी के समान ही वह भी प्रमाणभूत माना जाय। इसी दृष्टि से आचारांग की चूला के रूप में उसकी स्थापना की गई हो। आचारांगनिर्युक्ति[1] के आधार से यह स्पष्ट है कि आचारांग की प्रथम चार चूलाएं तो आचारांग के आधार पर निर्मित हुई हैं, किन्तु पांचवी चूला निशीथ का निर्माण प्रत्याख्यान नामक 'पूर्व' से हुआ था।[2] निशीथ का एक नाम आचार भी है।

आचारांगनिर्युक्ति में आचारांग की चूलिकाओं के विषय में स्पष्ट रूप से लिखा है कि आचारांग आचार-चूलिकाओं के विषय को स्थविरों ने आचार में से ही लेकर शिष्यों के हित के लिए चूलिकाओं में विभक्त किया।

आचारांगनिर्युक्ति गाथा २८७ में 'थेरेहिं' शब्द का प्रयोग हुआ है। स्थविर शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य शीलाङ्क ने लिखा है कि आचारांग को किसने निर्यूढ किया और वे कौन थे? स्थविर थे या चतुर्दशपूर्वधर थे?[3] किन्तु आचारांगचूर्णि में स्थविर शब्द का अर्थ गणधर किया है।[4] निशीथचूर्णि में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख है कि निशीथसूत्र के कर्ता अर्थ की दृष्टि से तीर्थंकर हैं और सूत्र की दृष्टि से गणधर हैं। निशीथचूर्णि के अनुसार भी निशीथ के कर्ता गणधर माने गये हैं। इसका मूल कारण निशीथ को अंगसाहित्य के अन्तर्गत गिना है। यहां पर स्थविर शब्द के अर्थ को लेकर परस्पर में मतभेद है। आचार्य शीलाङ्क ने स्थविर शब्द का अर्थ चतुर्दशपूर्वी तो किया है किन्तु गणधर नहीं किया। जबकि आचारांगचूर्णि और निशीथचूर्णि में स्थविर का अर्थ गणधर किया है। इसका मूल कारण यह हो सकता है कि निशीथ आचारांग का ही अंश है। आचारांग अंग-आगम है। अंगों के अर्थप्ररूपक तीर्थंकर होते हैं और सूत्ररचयिता गणधर होते हैं। इस दृष्टि से उन्होंने निशीथ को गणधरकृत माना हो।

यहां यह प्रश्न सहज ही समुत्पन्न हो सकता है कि निर्युक्ति तो चूर्णि के पूर्व बनी है। निर्युक्तिकार ने निशीथ को स्थविरकृत और चूर्णिकार ने गणधरकृत लिखा है। उसका प्रमुख कारण यही हो सकता है कि अंगों के रचयिता गणधर होते हैं, इसलिए गणधरकृत लिखा हो।

---

१. (क) "आयारपकप्पो पुण पच्चक्खाणस्स तइयवत्थूओ।
आयारनामधिज्जा वीसइमा पाहुडच्छेया॥" —आचारांगनिर्युक्ति गा. २८१

(ख) व्यवहारभाष्य गा. २००

२. "थेरेहिऽणुग्गहट्ठा सीसहिअं होउ पागडत्थं च।
आयाराओ अत्थो आयारग्गेसु पविभत्तो॥" —आचारांगनिर्युक्ति गा. २८७

३. स्थविरैः श्रुतवृद्धैश्चतुर्दशपूर्वविद्भि। —आचारांगनिर्युक्ति गा. २८७

४. एयाणि पुण आयारग्गाणि आयारा चेव निज्जूढाणि।
केण णिज्जूढाणि २ थेरेहिं २८७ थेरा-गणधराः॥ —आचारांगचूर्णि पृ. ३२६

निशीथ

प्रस्तुत आगम का नाम निशीथ है। आचाराङ्गनिर्युक्ति में 'आयारपकप्प' और 'निसीह' ये दो नाम प्राप्त होते है।[१] अन्य कई स्थलो पर ये दो नाम आये हैं। नन्दीसूत्र[२] और पक्खियसुत्त[३] ग्रन्थ में 'निसीह' शब्द का प्रयोग प्रस्तुत आगम के लिए हुआ है। धवला और जयधवला में क्रमशः 'णिसिहिय' और 'णिसीहीय' का प्रयोग हुआ है।[४] अंग-प्रज्ञप्तिचूलिका में 'णिसेहिय' शब्द आया है।[५]

निसीह शब्द का संस्कृत रूप निशीथ है। णिसीहिय और णिसीहीय का संस्कृत अर्थ निषिधक है। वेबर[६] ने निसीह शब्द पर चिन्तन करते हुए लिखा है कि निसीह शब्द का अर्थ निषेध होना चाहिए। उन्होंने अपने मन्तव्य को सिद्ध करने हेतु उत्तराध्ययन में व्यवहृत समाचारी प्रकरण मे 'निसीहिया' 'नैषेधिकी' शब्द समुपस्थित किया है और उन शब्दों की परिभाषा देकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि निसीह शब्द का अर्थ 'निशीथ' नहीं 'निषेध' है। दिगम्बर ग्रन्थों मे निसीह के स्थान मे निसीहिया शब्द का व्यवहार किया गया।[७] गोम्मटसार मे भी यही शब्द प्राप्त होता है।[८] गोम्मटसार की टीका मे निसीहिया का संस्कृत रूप निषीधिका किया है।[९] आचार्य जिनसेन ने हरिवंशपुराण में निशीथ के लिए 'निषद्यक' शब्द का व्यवहार किया[१०] है। तत्त्वार्थभाष्य में निसीह शब्द का संस्कृत रूप निशीथ माना है। निर्युक्तिकार को भी यही अर्थ अभिप्रेत है। इस प्रकार श्वेताम्बर साहित्य के अभिमतानुसार निसीह का संस्कृत रूप निशीथ और उसका अर्थ अप्रकाश्य है। दिगम्बर साहित्य की दृष्टि से निसीहिया का संस्कृत रूप निशीधिका है और उसका अर्थ प्रायश्चित्त-शास्त्र या प्रमाददोष का निषेध करने वाला शास्त्र है।

शास्त्रदृष्टि से निसीह शब्द पर चिन्तन किया जाय तो निसीह शब्द के संस्कृत रूप निशीथ और निषीध दोनों हो सकते हैं, क्योंकि 'थ' और 'ध' दोनो को प्राकृत भाषा मे हकार आदेश होता है। अतः णिसिहिया या णिसीहिया शब्द के संस्कृत निषिधिका और निशीथिका अर्थ की दृष्टि से चिन्तन करें तो निषिद्ध या निषिधिका की अपेक्षा निशीथ या निशीथिका अर्थ अधिक संगत प्रतीत होता है। क्योंकि यह आगम विधिनिषेध का प्रतिपादन

---

१. आचारांगनिर्युक्ति गा. २९१-३४७

२. नन्दीसूत्र, पृ. ४४।

३. पक्खियसुत्त, पृ. ६६।

४. षट्खण्डागम, भाग १ पृ. ९६, कसायपाहुड, भाग १ पृ. २५,१२१ टिप्पणी के साथ देखें।

५. अंगप्रज्ञप्तिचूलिका गाथा ३४।

६. इण्डियन एण्टीक्वेरी, भाग २१ पृ. ९७।
This Name (निसीह) is Explained Strangely Enough By Nishitha Though the Character of the Contents would lead us to Expect Nishitha. (निषेध)

७. षट्खण्डागम, प्रथम खण्ड, पृ. ९६।

८. गोम्मटसार जीवकाण्ड ३६७

९. निषेधनं प्रमाददोषनिराकरणं निषिद्धिः संज्ञायां 'क' प्रत्यये निषिद्धिका तच्च प्रमाददोषविशुद्धयर्थं बहुप्रकारं प्रायश्चित्तं वर्णयति। —गोम्मटसार जीवकाण्ड ३६७

१०. निषद्यकाख्यमाख्याति प्रायश्चित्तविधिं परम्। —हरिवंशपुराण १०।१३८

करने वाला नहीं अपितु प्रायश्चित्त का प्रतिपादन करने वाला है। इस कथन में श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों आचार्य एकमत हैं।[1]

चूर्णि में निशीथ को प्रतिषेधसूत्र या प्रायश्चित्तसूत्र का प्रतिपादक बताया है।[2] निशीथभाष्य में लिखा है कि आयारचूला में उपदिष्ट क्रिया का अतिक्रमण करने पर जो प्रायश्चित्त आता है उसका निशीथ में वर्णन है।[3] निशीथसूत्र में अपवादों का बाहुल्य है। इसलिए सभा आदि में इसका वाचन नहीं करना चाहिए। अनधिकारी के सम्मुख उसका प्रकाशन न हो। अतः रात्रि या एकान्त में पठनीय होने से निशीथ का अर्थ संगत होता है। निसिहिया का जो निषेधपरक अर्थ है उसकी संगति भी इस प्रकार हो सकती है कि जो अनधिकारी हैं उनको पढ़ाना निषेध है और जन से आकुल स्थान में भी पढ़ना निषिद्ध है। यह केवल स्वाध्यायभूमि में ही पठनीय है।

हरिवंशपुराण में 'निषद्यक' शब्द आया है। सम्भव है कि यह सूत्र विशेष प्रकार की निषद्या में पढ़ाया जाता होगा। इसलिए इसका नाम निषद्यक रखा गया हो। आलोचना करते समय आलोचक आचार्य के लिए निषद्या की व्यवस्था करता था।[4] सम्भव है प्रस्तुत अध्ययन के समय में भी निषद्या की व्यवस्था की जाती होगी। इसलिए निशीथभाष्य में इसका उल्लेख मिलता है।[5]

निशीथ के आचार, अग्र, प्रकल्प, चूलिका ये पर्याय हैं। प्रायश्चित्तसूत्र का सम्बन्ध चरणकरणानुयोग के साथ है। अतः इसका नाम आचार है। आचारांगसूत्र के पाँच अग्र हैं। चार आचारचूलाएँ और निशीथ ये पाँच अग्र हैं इसलिए निशीथ का नाम अग्र है। निशीथ का नौवें पूर्व आचारप्राभृत से रचना की गई है इसलिए इसका नाम प्रकल्प है। प्रकल्पन का द्वितीय अर्थ छेदन करने वाला भी है। आगम साहित्य में निशीथ का 'आयारपकप्प' यह नाम मिलता है। अग्र और चूला समान अर्थ वाले शब्द हैं।

संक्षेप में सार यह है कि निशीथ का अर्थ रहस्यमय या गोपनीय है। जैसे रहस्यमय विद्या, मन्त्र, तन्त्र, योग आदि अनधिकारी या अपरिपक्व बुद्धि वाले व्यक्तियों को नहीं बताते। उनसे छिपाकर गोप्य रखा जाता है। वैसे ही निशीथसूत्र भी गोप्य है। वह भी हर किसी के समक्ष उद्घाटित नहीं किया जा सकता।

निशीथ का स्थान

चार अनुयोगों में चरणकरणानुयोग का गौरवपूर्ण स्थान है। चरणानुयोग का अर्थ है आचार सम्बन्धी नियमावली, मर्यादा प्रभृति की व्याख्या। सभी छेदसूत्रों के विषय का समावेश चरणकरणानुयोग में किया जा सकता

१. (क) आयारपकप्पस्स उ इमाइं गोण्णाइं णामधिज्जाइं।
आयारमाइयाइं पायच्छित्तेणऽहीगारो॥ —निशीथभाष्य गाथा २
(ख) णिसिहियं बहुविहपायच्छित्तविहाणवण्णणं कुणइ। —षट्खण्डागम, भा. १ पृ. ९८

२. तत्र प्रतिसेधः चतुर्थचूडात्मके आचारे यत् प्रतिषिद्धं तं सेवंतस्स पच्छित्तं भवति त्ति काउं।
—निशीथचूर्णि, भा. १, पृ. ३

३. आयारे चउसु य, चूलियासु उवएसवितहकारिस्स।
पच्छित्तं मिहज्झयणे भणियं अण्णेसु य पदेसु॥ —निशीथभाष्य ७१

४. आयारे चउसु य, चूलियासु उवएसवितहकारिस्स।
पच्छित्त मिहज्झयणे भणियं अण्णेसु य पदेसु॥ —निशीथभाष्य ६३८९

५. सुत्तत्थतदुभयाणं गहणं बहुमाणविणयमच्छेरं।
उक्कुड-णिसेज्ज-अंजलि-गहितागहियम्मि य पणामो॥ —निशीथभाष्य सूत्र ६६७३

है।[1] श्रमण भगवान् महावीर प्रभु सर्वज्ञ सर्वदर्शी होने के कारण मानव मन की कमजोरियों को अच्छी तरह से जानते थे। वे अपने श्रमणसंघ को उन कमजोरियों से बचाकर रखना चाहते थे, इसलिए उन्होंने श्रमणसंघ की सुदृढ़ आचार संहिता पर बल दिया। कभी ज्ञात अवस्था में और कभी अज्ञानावस्था में दोष लग जाता है। क्योंकि व्रत भंग हो जाता है। व्रत भंग होने पर या दोष का सेवन होने पर उसकी शुद्धि हेतु प्रायश्चित्त संहिता का निर्माण किया। छेदसूत्रों में उन घटनाओं का निषेध किया है, जो संयमी जीवन को धूमिल बनाने वाली हैं तथा कुछ प्रायश्चित्त तात्कालिक घटनाओं पर भी आधारित हैं। पर हम गहराई से छेदसूत्रों का अध्ययन करते हैं तो लगता है कि वे सारे निषेध अहिंसा और अपरिग्रह को केन्द्र बनाकर समुपस्थित किये गये हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से पर्यवेक्षण करने पर यह भी सहज ज्ञात होता है कि भारतवर्ष में उस समय जो भिक्षु संघ थे उनमें इस प्रकार की प्रवृत्तियां प्रचलित रही होंगी। प्रवृत्तियां श्रमणसंघ के श्रमण और श्रमणियां देखादेखी न अपना लेवें इस दृष्टि से श्रमण-श्रमणियों को निषेध किया और कदाचित अपना लें तो उनके प्रायश्चित्त का भी विधान किया। इस प्रकार विविध दृष्टियों से निषेध और प्रायश्चित्त विधियाँ प्रतिपादित की गई हैं।

छेदसूत्रों में निशीथ का अपना मौलिक स्थान है। व्यवहारसूत्र में यह स्पष्ट वर्णन है कि जो श्रमण बहुश्रुत हो, उसे कम से कम आचारप्रकल्प का अध्ययन आवश्यक है। जो आचारप्रकल्प का परिज्ञाता हो उसे ही उपाध्याय पद प्रदान किया जा सकता है।[2] जिस भिक्षु ने गुरु के मुखारविन्द से आचारप्रकल्प का मूल अध्ययन किया हो और अर्थ की दृष्टि से अध्ययन करने का मन में दृढ़ संकल्प हो तो आचार्य और उपाध्याय का आकस्मिक स्वर्गवास हो जाने पर उस श्रमण को आचार्यपद या उपाध्यायपद प्रदान किया जा सकता है।[3] यदि युवक श्रमण किसी कारण से आचारप्रकल्प को विस्मृत हो गया है तो पुनः स्मरण करने पर उसे आचार्य आदि पद दिया जा सकता है।[4] पर कोई स्थविर सन्त आचारप्रकल्प विस्मृत हो जाय और उसकी स्मरण करने की शक्ति नहीं है तो भी उसे आचार्य पद दिया जा सकता है।[5] जिस श्रमणी को आचारप्रकल्प याद है उसे प्रवर्तिनी पद दिया जा सकता है। यदि प्रमादवश जो श्रमणी आचारप्रकल्प विस्मृत हो गई है किन्तु वह पुनः स्मरण करने का प्रयत्न कर रही हो तो उसे प्रवर्तिनी पद दिया जा सकता है।[6]

जो श्रमण और श्रमणियां स्थविर हैं। अवस्थाविशेष के कारण यदि वे आचारप्रकल्प विस्मृत हो गये तो वे सोये हुए या बैठे हुए किसी भी अवस्था में आचारप्रकल्प के सम्बन्ध में प्रतिप्रश्न कर सकते हैं और प्रतिस्मृति

---

१. जं च महाकप्पसुयं, जाणि य सेसाणि छेयसुत्ताणि।
चरणकरणाणुओगोत्ति, कालियत्थे उवगयाइं॥ —आवश्यकनिर्युक्ति, ७७८; निशीथभाष्य ६१९०

२. तिवासपरियाए समणे निग्गन्थे आयारकुसले संजमकुसले पवयणकुसले पण्णत्तिकुसले संगहकुसले उवग्गहकुसले अक्खयायारे अभिन्नायारे असंकिलिट्ठायारचित्ते बहुस्सुए बब्भागमे जहन्नेणं आयारपकप्पधरे कप्पइ उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए य —व्यवहार ३।३

३. निरुद्धवासपरियाए समणे निग्गन्थे कप्पइ आयरियउवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए, समुच्छेयकप्पंसि। तस्स णं आयारपकप्पस्स देसे अवट्ठिए, से य अहिज्जिस्सामिति अहिज्जेज्जा एवं से कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए, से य अहिज्जिस्सामिति नो अहिज्जेज्जा एवं से नो कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए।
—व्यवहार ३।१०

४. व्यवहार, ५।१५

५. व्यवहार, ५।१७

६. व्यवहार, ५।१६

भी कर सकते हैं, यह उनके लिए विशेष अनुज्ञा है। इन सभी विधानों से यह स्पष्ट है कि आचारप्रकल्प का कितना अधिक महत्त्व है। आचारप्रकल्पधर बहुश्रुत होता है, वह स्वतन्त्र विहार कर सकता है।

आचारप्रकल्पधर के तीन प्रकार हैं—(१) कितने ही केवल सूत्र को ही धारण करने वाले होते हैं। (२) कितने ही केवल अर्थ को धारण करने वाले होते हैं। (३) कितने ही सूत्र और अर्थ दोनों को धारण करने वाले होते हैं। जो केवल सूत्रधर है वह प्रायश्चित्त देने का अधिकारी नहीं। प्रायश्चित्त देने का सही अधिकारी वह श्रमण होता है जो सूत्र और अर्थ दोनों का धारक हो। सूत्र और अर्थ का धारक न हो तो जो केवल अर्थ के धारक हैं उनसे भी प्रायश्चित्त लिया जा सकता है।[1] अतीतकाल में यह प्रश्न बहुत ही चर्चित रहा कि केवलज्ञानी, मन:पर्यायज्ञानी और अवधिज्ञानी, चतुर्दशपूर्वी, दसपूर्वी, नौपूर्वी जब नहीं होते हैं तब प्रायश्चित्त कौन दे?[2] इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने लिखा है कि आज केवलज्ञानी आदि प्रत्यक्षज्ञानियों का अभाव है। पर प्रत्यक्षज्ञानियों के द्वारा पूर्वश्रुत से निबद्ध प्रायश्चित्तविधि आचारप्रकल्प में उद्धृत है। अतः आचारप्रकल्पधर आचार्य प्रायश्चित्त देने का अधिकारी है।[3]

प्रस्तुत विवेचन से यह स्पष्ट है कि जैन आगम साहित्य में निशीथ का अपना गौरवपूर्ण स्थान रहा है।

निशीथ के कर्त्ता

जैन आगमों की रचनाएँ दो प्रकार से हुई हैं—(१) कृत (२) निर्यूहण। जिन आगमों का निर्माण सर्वतन्त्र स्वतन्त्र रूप से हुआ है वे आगम कृत कहलाते हैं। जैसे—गणधरों के द्वारा द्वादशाङ्गी की रचना की गई है और भिन्न-भिन्न स्थविरों के द्वारा उपाङ्ग साहित्य का निर्माण किया गया है। वे सब कृत आगम हैं। निर्यूहण आगम ये माने गये हैं—

(१) दशवैकालिक (२) आचारचूला (३) निशीथ (४) दशाश्रुतस्कन्ध (५) बृहत्कल्प (६) व्यवहार। इन छह आगमों में दशवैकालिक आगम का निर्यूहण चतुर्दशपूर्वधर शय्यंभवसूरि ने किया और शेष पांच आगमों का निर्यूहण भद्रबाहु स्वामी ने किया।[4] आचारांगनिर्युक्ति के मन्तव्यानुसार आचार-चूला स्थविरों के द्वारा निर्यूढ है।[5] आचारांगवृत्ति में आचार्य शीलांक ने स्थविर का अर्थ चतुर्दशपूर्वी किया है।[6]

---

१. तिविहो य पकप्पधरो, सुत्ते अत्थे य तदुभए चेव।
सुत्तधरवज्जियाण, तिगदुगपरियट्टणा गच्छे॥ —निशीथभाष्य ६६६७

२. निशीथचूर्णि भाग ४, पृ. ४०३

३. उग्घायमणुग्घाया, मासचउमासिया उ पच्छित्ता।
पुव्वगते च्चिय एते, णिज्जूढा जे पकप्पम्मि॥ —निशीथभाष्य ६६७५

४. आयप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ धम्मपन्नत्ती।
कम्मप्पवायपुव्वा पिंडस्स उ एसणा तिविहा॥
सच्चप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ वक्कसुद्धि उ।
अवसेसा निज्जूढा नवमस्स उ तइयवत्थूओ॥ —दशवैकालिकनिर्युक्ति गाथा १६-१७

५. "थेरेहिऽणुग्गहट्ठा सीसहिअं होउ पागडत्थं च।
आयाराओ अत्थो आयारग्गेसु पविभत्तो॥" —आचारांगनिर्युक्ति २८७

६. आचारांगवृत्ति, पत्र २१०

प्रत्याख्यान नामक नौवें पूर्व से निशीथ का निर्यूहण हुआ है। उस पूर्व में बीस वस्तु हैं। अर्थात् बीस अर्थाधिकार हैं। उनमें तीसरे वस्तु का नाम आचार है। आचार के भी बीस प्राभृतच्छेद हैं। अर्थात् उपविभाग हैं। बीसवें प्राभृतच्छेद से निशीथ निर्यूहण किया गया है।[1]

दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि के मतानुसार दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प और व्यवहार ये तीनों आगम प्रत्याख्यान नामक पूर्व से निर्यूढ हैं[2] और उन तीनों आगमों के निर्यूहक चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहुस्वामी हैं? यह स्पष्ट उल्लेख प्राप्त है।[3] पञ्चकल्प महाभाष्य में भी दशा, कल्प और व्यवहार के निर्यूहक भद्रबाहु बतलाये गये हैं[4] और पञ्चकल्पचूर्णि में आचारप्रकल्प (निशीथ) दशा, कल्प और व्यवहार इन चारों आगमों के निर्यूहक भद्रबाहुस्वामी माने गये हैं।[5] यहां पर यह प्रश्न चिन्तनीय है कि निर्युक्ति और भाष्य में आचारप्रकल्प का नाम नहीं आया। पर पञ्चकल्पचूर्णि में आचारप्रकल्प का नाम कैसे आया? यह भी सम्भव है कि 'कल्प' शब्द से निर्युक्तिकार और भाष्यकार को बृहत्कल्प और आचारप्रकल्प ये दोनों ही ग्राह्य हों। जैसे निशीथभाष्य में 'कप्प' शब्द से उन्होंने दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प और व्यवहार इन तीनों आगमों को ग्रहण किया है।[6] सम्भव है आचारचूला और छेदसूत्रों के निर्माता चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु हों।

पूर्ववर्ती आचार्यों ने आगम के तीन प्रकार बताये हैं—सुत्तागम, अत्थागम और तदुभयागम। अन्य दृष्टि से आगम के तीन प्रकार और भी हैं—आत्मागम, अनन्तरागम और परम्परागम। व्याख्या ग्रन्थों में इनका विवेचन इस प्रकार प्राप्त होता है। तीर्थंकर के लिए अर्थ आत्मागम है। वही अर्थ गणधरों के लिए अनन्तरागम है। गणधरों के लिए सूत्र आत्मागम है और गणधरशिष्यों के लिए सूत्र अनन्तरागम और अर्थ परम्परागम है। गणधर शिष्य के लिए और उसके पश्चात् शिष्यपरम्परा के लिए अर्थ और सूत्र दोनों ही आगम परम्परागम हैं। इनमें आगम का मूल स्रोत, प्रथम उपलब्धि और पारम्परिक उपलब्धि इन तीन दृष्टियों से चिन्तन किया है। आचार्य जिनदासगणि महत्तर की दृष्टि से तीर्थंकर निशीथ के अर्थप्ररूपक हैं। उनके अर्थ की प्रथम उपलब्धि गणधरों को हुई और उस अर्थ की पारम्परिक उपलब्धि उनके शिष्य और प्रशिष्यों को हुई और वर्तमान में हो रही है।

---

१. स्थविरैः श्रुतवृद्धैश्चतुर्दशपूर्वविद्भिः। —आचारांगवृत्ति, पृ. २१०

२. णिसीहं णवमा पुव्वा पच्चक्खाणस्स ततियवत्थूओ।
आयार नामधेज्जा, वीसतिमा पाहुडच्छेदा॥ —निशीथभाष्य, ६५००

३. कतरं सुत्तं? दसाउकप्पो ववहारो य। कतरातो उद्धृतं? उच्यते पच्चक्खाणपुव्वाओ।
—दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि, पत्र २

४. वंदामि भद्दबाहुं, पाईणं चरिमसयलसुयनाणि।
सुत्तस्स कारगमिसिं, दसासु कप्पे य ववहारे॥ —दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति १।१

५. ततोच्चिय णिज्जूढं, अणुग्गहट्ठाए संपयजतीणं।
तो सुत्तकारतो खलु, स भवति दसकप्पववहारो॥
—पंचकल्पमहाभाष्य ११; बृहत्कल्पसूत्रम् षष्ठ वि. प्र. पृ. २

६. तेण भगवता आयारपकप्प-दसा-कप्प-ववहारा य नवमपुव्वनीसंदभूता निज्जूढा।
—पंचकल्पचूर्णि, पत्र १, बृहत्कल्प सूत्रम् षष्ठ वि. प्र. पृ ३

कप्प पकप्पा तु सुते..................।
चूर्णि—'कप्पो' त्ति दसाकप्पववहारा॥ —निशीथभाष्य, ६३९५

सूत्रागम की दृष्टि से निशीथ के सूत्र रचयिता गणधर हैं। उस सूत्र की प्रथम उपलब्धि गणधर के शिष्यों को हुई और पारम्परिक उपलब्धि गणधर के प्रशिष्यों को हुई।[1]

इस प्रकार आचार्य जिनदासगणि महत्तर के अनुसार निशीथ के कर्ता अर्थ की दृष्टि से तीर्थंकर और सूत्र की दृष्टि से गणधर सिद्ध होते हैं। फिर सहज ही यह प्रश्न उद्बुद्ध होता है कि भद्रबाहु को पञ्चकल्पचूर्णिकार ने निशीथ का कर्ता किस प्रकार माना। प्रस्तुत प्रश्न पर जब हम गहराई से चिन्तन करते हैं तो हमें दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति में इसका समाधान मिलता है। वहां पर निर्युक्तिकार ने दशाश्रुतस्कन्ध के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए लिखा है कि प्रस्तुत दशाएं अंगप्रविष्ट आगमों में प्राप्त दशाओं से लघु हैं। शिष्यों के अनुग्रह हेतु इन लघु दशाओं का निर्यूहण स्थविरों ने किया। पञ्चकल्पभाष्य चूर्णि के अनुसार वे स्थविर भद्रबाहु हैं। संक्षेप में यदि हम कहना चाहें तो यों कह सकते हैं कि अर्थ के प्ररूपक तीर्थंकर हैं। सूत्र के रचयिता गणधर हैं और वर्तमान संक्षिप्त रूप के निर्माता भद्रबाहु स्वामी हैं।

निशीथसूत्र के अन्त में प्रशस्ति में तीन गाथाएं प्राप्त होती हैं।[2] जिनके आधार पर विज्ञों में एक धारणा यह प्रचलित है कि निशीथ के कर्ता विशाखाचार्य हैं। श्वेताम्बर परम्परा की जितनी भी पट्टावलियाँ उपलब्ध हैं उनमें कहीं पर भी विशाखाचार्य का उल्लेख नहीं है। दिगम्बर परम्परा की पट्टावली में भद्रबाहु के पश्चात् विशाखाचार्य का नाम आया है। विशाखाचार्य दस पूर्वों के ज्ञाता थे। वीर निर्वाण के एक सौ बासठ वर्ष तक भद्रबाहु स्वामी थे। उसके पश्चात् ही विशाखाचार्य का युग प्रारम्भ हुआ। प्रशस्तिगाथाओं में विशाखाचार्य के लिए—'तस्स लिहियं निसीहं' यहां पर लिखित का अर्थ रचयिता और लेखक ये दोनों अर्थ निकल सकते हैं। पट्टावलियों में अन्य किसी विशाखाचार्य का उल्लेख नहीं है। जब प्रशस्ति में निशीथ के लेखक के रूप में विशाखाचार्य का नाम स्पष्ट रूप से उल्लिखित था, फिर चूर्णिकार ने निशीथ को गणधरकृत क्यों लिखा और आचार्य शीलांक ने निशीथ के रचयिता स्थविर को चतुर्दश पूर्वविद् क्यों लिखा? इसके उत्तर में स्पष्ट रूप से कुछ भी कहना सम्भव नहीं।

एक प्रश्न यह भी समुत्पन्न होता है कि निर्युक्तिकार, भाष्यकार और चूर्णिकार के समक्ष ये प्रशस्ति गाथाएँ थीं या नहीं? यदि यह माना जाय कि निशीथ के लेखक विशाखाचार्य थे तो दूसरा प्रश्न यह है कि क्या प्रशस्ति की गाथाएँ विशाखाचार्य ने बनाई? गाथाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि स्वयं विशाखाचार्य अपना परिचय इस प्रकार नहीं दे सकते, वे अपने गुणों का उत्कीर्तन कैसे कर सकते हैं। यदि विशाखाचार्य ने ये गाथाएँ मूल ग्रन्थ के अन्त में दी होतीं तो निर्युक्तिकार को विशाखाचार्य का उल्लेख करने में क्या आपत्ति हो सकती थी? वे फिर स्थविर शब्द से क्यों उल्लेख करते? अतः यह स्पष्ट है कि निर्युक्तिकार के समक्ष प्रशस्ति की ये तीन

---

१. "निसीहचूलज्झयणस्स तित्थगराणं अत्थस्स अत्तागमे, गणहराणं सुत्तस्स अत्तागमे, गणाणं अत्थस्स अणंतरागमे। गणहरसिस्साणं सुत्तस्स अणंतरागमे, अत्थस्स परंपरागमे। तेण परं सेसाणं सुत्तस्सवि अत्थस्सवि णो अत्तागमे, णो अणन्तरागमे, परंपरागमे।" —निशीथचूर्णि भाग १ पृ. ४

२. दंसणचरित्तजुत्तो जुत्तो गुत्तीसु सज्जणहिएसु।
नामेण विसाहगणी महत्तरओ गुणाण मंजूसा॥
कित्तीकंति पिणद्धो जसपत्तो पडहो तिसागर निरुद्धो।
पुणरुत्तं भमइ महिं ससिव्व गगणं गुणं तस्स॥
तस्स लिहियं निसीहं धम्मधुराधरणपवर पुज्जस्स।
आरोग्गं धारणिज्जं सिस्सपसिस्सोव भोज्जं च॥ —निशीथसूत्र भाग ४ पृ. ३९५

गाथाएं नहीं थीं। ये गाथाएं विशाखाचार्य की होतीं तो चूर्णिकार भी इन गाथाओं पर चूर्णि अवश्य लिखते और बीसवें उद्देशक की संस्कृत व्याख्या में भी इसका संकेत अवश्य करते। इसलिए यह स्पष्ट लगता है कि ये गाथाएं विशाखाचार्य के द्वारा लिखी हुई नहीं हैं। यदि यह कल्पना की जाय कि ये गाथाएं विशाखाचार्य के द्वारा ही लिखित हैं तो यहाँ पर 'लिहियं' शब्द का अर्थ रचना नहीं अपितु पुस्तक लेखन है। यदि यह माना जाय कि भद्रबाहु ने निशीथ की रचना की और उस रचना को विशाखाचार्य ने लिपिबद्ध किया, यह भी सम्भव नहीं लगता। यदि दिगम्बर परम्परा के विशाखाचार्य ने निशीथ को लिपिबद्ध किया होता तो दिगम्बर परम्परा में निशीथ को मान्यता प्राप्त होती, पर निशीथ की जो मान्यता श्वेताम्बर परम्परा में है वह दिगम्बर परम्परा में नहीं है। इसलिए ऐसा लगता है कि निशीथ के लिपिकर्त्ता विशाखाचार्य दिगम्बर परम्परा के नहीं, अपितु श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य होने चाहिए। यह अन्वेषणीय है कि वे कौन थे? कहां के थे? उनकी परिचय रेखाएं क्या थीं?[1] प्रशस्ति की इन तीन गाथाओं को किसने बनाया और किसने निशीथ के अन्त में लिखा। यह सही प्रमाण प्राप्त नहीं है। ऐसी स्थिति में इन गाथाओं के आधार पर निशीथ के कर्तृत्व का निर्णय करना उपयुक्त नहीं है। विशाखाचार्य के गुणों का उत्कीर्तन होने से ये गाथाएं विशाखाचार्य के द्वारा निर्मित नहीं हैं। विशाखाचार्य के किसी शिष्य-प्रशिष्य ने ही ग्रन्थ के अन्त में अंकित किया हो।

हम पूर्व पंक्तियों में यह अंकित कर आये हैं कि पञ्चकल्पचूर्णि के अनुसार निर्यूहक भद्रबाहु स्वामी हैं। इस मत का समर्थन आगम-प्रभाकर पुण्यविजयजी ने भी किया है। यह आज अन्वेषण के पश्चात् स्पष्ट हो चुका है कि आचारचूला चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु के द्वारा निर्यूहण की गई है। आचारांग से आचारचूला की रचनाशैली सर्वथा पृथक् है। उसकी रचना आचारांग के पश्चात् हुई है।

एक शिष्य के अन्तर्मानस में यह प्रश्न उद्‌भूत हुआ कि वर्तमान में तीर्थंकर प्रभु नहीं हैं, न श्रुतकेवली ही हैं न दसपूर्वी या नौपूर्वी ही हैं। ऐसी स्थिति में यदि कदाचित् दोष लग जाय तो उसका शुद्धिकरण कैसे होगा? विशिष्ट ज्ञानी के अभाव में कौन प्रायश्चित्त देकर साधना को निर्मल बनाएगा। आचार्य ने शिष्य के मुर्झाये हुए चेहरे को देखा। उसकी बात सुनी। आचार्य ने बहुत ही मधुर शब्दों में कहा—'वत्स! तुम्हारा चिन्तन उपयुक्त है। आज तीर्थंकर और चतुर्दश पूर्वी हमारे सामने नहीं हैं किन्तु चतुर्दशपूर्वधर द्वारा निबद्ध आचारप्रकल्प अध्ययन को धारण करने वाले आचार्य विद्यमान हैं। वे प्रायश्चित्त देकर शुद्धिकरण कर सकते हैं।[2]

जिनदासगणि महत्तर ने 'चोद्दसपुव्वणिबद्धो' शब्द के दो अर्थ किये हैं—'चतुर्दशपूर्वी द्वारा निबद्ध अथवा चतुर्दश पूर्वों से निर्यूढ'। हम पूर्व पंक्तियों में यह लिख चुके हैं कि निशीथ नौवें पूर्व से निर्यूढ किया गया है। अतः चतुर्दश पूर्वों निर्यूढ से कोई विशेष अर्थ प्रकट नहीं होता। इसलिए जिनदासगणि महत्तर ने निशीथ के कर्ता चतुर्दश-पूर्वी भद्रबाहु को माना है। यह संगत प्रतीत होता है।

महामनीषी पण्डित दलसुखभाई मालवणिया ने विस्तार से अपनी प्रस्तावना में विविध दृष्टियों से चिन्तन किया। पर वे स्वयं इस निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सके कि निशीथ के कर्ता कौन हैं। उनका यह मत अवश्य रहा कि भद्रबाहु नहीं होने चाहिए और न विशाखाचार्य ही। निशीथ की रचना श्वेताम्बर और दिगम्बर मतभेद के पूर्व होनी चाहिए। भद्रबाहु के पश्चात् ही श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में पार्थक्य हुआ है। निशीथ का

---

१. निशीथ एक अध्ययन : पं. दलसुख मालवणिया से सार ग्रहण —पृ. १८-२४
२. जायं जिणपुव्वधरा, करिंतु सोधिं तहा वि खलु एण्हिं।
चोद्दसपुव्वणिबद्धो, गणपरिरक्खी पकप्पधरो॥ —निशीथभाष्य, ६६७४

दोनों ही परम्पराओं में उल्लेख है, इसलिए संघभेद के पूर्व ही इसका निर्माण हो गया होगा। व्यवहारसूत्र जो आचार्य भद्रबाहु की ही कृति मानी जाती है, उसमें आचारप्रकल्प का अनेक बार उल्लेख हुआ है।[1] इससे स्पष्ट है कि भद्रबाहु के समक्ष निशीथ अवश्य था। भले ही आज जो निशीथ का रूप है वह न भी हो। इस आधार से निशीथ को भद्रबाहु के समय से पूर्व की रचना मानना तर्कसंगत है। श्रमण भगवान् महावीर के निर्वाण से १५० वर्ष के अन्तर्गत ही निशीथ का निर्माण हो चुका था। पञ्चकल्पचूर्णि के अनुसार आचार्य भद्रबाहु ने निशीथ की रचना की, उनका भी समय यही है। दूसरी परम्परा के अनुसार यदि मानते हैं तो भद्रबाहु के पश्चात् ही विशाखाचार्य होते हैं। तो भी वीर निर्वाण से १७५ वर्ष के बीच निशीथ का निर्माण हो चुका था, ऐसा असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है।[2]

पण्डित मुनि श्री कल्याणविजयजी गणि का स्पष्ट मन्तव्य है कि बृहत्कल्प और व्यवहार इन दोनों आगमों को पूर्वश्रुत से निर्यूढ करने वाले भद्रबाहु स्वामी हैं और निशीथाध्ययन के निर्यूढकर्ता भद्रबाहु न होकर आर्यरक्षित-सूरि हैं। भद्रबाहु स्वामी ने कल्प और व्यवहार में जो प्रायश्चित्त का विधान किया है वह तत्कालीन श्रमण-श्रमणियों के लिए पर्याप्त था किन्तु आर्यरक्षितसूरि के समय तक परिस्थिति में अत्यधिक परिवर्तन हो चुका था। मौर्यकालीन दुर्भिक्षादि की स्थिति समाप्त हो चुकी थी। राजा सम्प्रति मौर्य के समय श्रमण-श्रमणियों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हो चुकी थी। श्रमणों की संख्या की अभिवृद्धि के साथ अनेक नवीन समस्याएँ भी उपस्थित हो चुकी थीं। अतः कल्प और व्यवहार का प्रायश्चित्तविधान अपर्याप्त प्रतीत हुआ। एतदर्थ नवीन स्थितियों पर नियन्त्रण करने के लिए विस्तार से प्रायश्चित्तविधान बनाना आवश्यक था, अतः आर्यरक्षित ने पूर्व साहित्य से वह निर्यूढ किया। कल्पाध्ययन में छह उद्देशक थे, व्यवहार में दस उद्देशक थे तो निशीथाध्ययन में बीस उद्देशक हैं और लगभग १४२६ सूत्रों में प्रायश्चित्त का विधान है।

पञ्चकल्पभाष्य चूर्णिकार ने कल्प, व्यवहार आदि के साथ निशीथाध्ययन भी श्रुतधर भद्रबाहु स्वामी द्वारा पूर्वश्रुत से उद्धृत बताया है किन्तु सत्य-तथ्य यह नहीं है। बृहत्कल्प की भाषा और प्रतिपादित विषयों तथा निशीथाध्ययन के सूत्रों की भाषा और उसमें प्रतिपादित विषयों में स्पष्ट रूप से भिन्नता प्रतीत होती है। यह सत्य है कि बृहत्कल्प की भाषा और व्यवहार की भाषा में भी भिन्नता है पर वह भिन्नता व्यवहार में बाद में किये गये परिवर्तनों के कारण है। यही कारण है कि व्यवहारसूत्र में निशीथाध्ययन का प्रकल्पाध्ययन यह नाम प्राप्त होता है। यह परिवर्तन सम्भव है आर्यरक्षितसूरि के पश्चात् हुआ हो।[3]

निशीथ का आधार और विषय-वर्णन

निशीथ आचारांग की पांचवी चूला है। इसे एक स्वतन्त्र अध्ययन भी कहते हैं। इसीलिए इसका अपर नाम निशीथाध्ययन भी है। इसमें बीस उद्देशक हैं। पूर्व के उन्नीस उद्देशकों में प्रायश्चित्त का विधान है और बीसवें उद्देशक में प्रायश्चित्त देने की प्रक्रिया प्रतिपादित की गई है।

उद्देशक प्रथम में मासिक अनुद्घातिक (गुरु मास) लेकर पांचवें तक मासिक उद्घातिक (लघुमास) प्रायश्चित्त चातुर्मासिक अनुद्घातिक (गुरु चातुर्मास) प्रायश्चित्त का उद्घा-

१. व्य. उद्देश ३. १०; उद्देश ५, सूत्र १५;

२. निशीथ : एक अध्ययन पृ. २४-२५

३. प्रवन्ध पारिजात में 'निशीथसूत्र का

तिक (लघु चातुर्मास) प्रायश्चित्त का उल्लेख है। इन उद्देशकों का जो विभाजन किया गया है उसका आधार है मासिक उद्घातिक, मासिक अनुद्घातिक, चातुर्मासिक उद्घातिक, चातुर्मासिक अनुद्घातिक और आरोपणा, ये पाँच विकल्प हैं। स्थानांगसूत्र के पांचवें स्थान में आचारकल्प के पांच प्रकार बताये हैं।[1]

यदि हम गहराई से चिन्तन करें तो प्रायश्चित्त के दो ही प्रकार हैं—मासिक और चातुर्मासिक। शेष द्विमासिक, त्रिमासिक, पञ्चमासिक और छह मासिक, ये प्रायश्चित्त आरोपणा के द्वारा बनते हैं। बीसवें उद्देशक का प्रमुख विषय आरोपणा ही है। स्थानांगसूत्र के पांचवें स्थान में आरोपणा के पांच प्रकार बताये हैं। आरोपणा का अर्थ है एक दोष से प्राप्त प्रायश्चित्त में दूसरे दोष के आसेवन से प्राप्त प्रायश्चित्त का आरोपण करना। उसके पांच प्रकार हैं[2]—

१. प्रस्थापिता—प्रायश्चित्त में प्राप्त अनेक तपों में से किसी एक तप को प्रारम्भ करना।

२. स्थापिता—प्रायश्चित्त रूप से प्राप्त तपों को स्थापित किये रखना, वैयावृत्य आदि किसी प्रयोजन से प्रारम्भ न कर पाना।

३. कृत्स्ना—वर्तमान जैन शासन में तप की उत्कृष्ट अवधि छह मास की है। जिसे इस अवधि से अधिक तप (प्रायश्चित्त रूप में) प्राप्त न हो उसकी आरोपणा को अपनी अवधि में परिपूर्ण होने के कारण कृत्स्ना कहा जाता है।

४. अकृत्स्ना—जिसे छह मास से अधिक तप प्राप्त हो, उसकी आरोपणा अपनी अवधि से पूर्ण नहीं होगी। प्रायश्चित्त के रूप में छह मास से अधिक तप नहीं किया जाता। उसे उसी अवधि में समाहित करना होता है। इसलिए अपूर्ण होने के कारण इसे अकृत्स्ना कहा जाता है।

५. हाडहडा—जो प्रायश्चित्त प्राप्त हो उसे शीघ्र ही दे देना।

प्रायश्चित्त के (१) मासिक और (२) चातुर्मासिक ये दो प्रकार हैं। शेष द्विमासिक, त्रिमासिक, पञ्च-मासिक और षाण्मासिक प्रायश्चित्त आरोपणा से बनते हैं। निशीथ के बीसवें उद्देशक का मुख्य विषय आरोपणा ही है। स्थानांग में केवल आरोपणा के पांच प्रकार ही प्रतिपादित हैं। वहीं पर समवायांग में अट्ठाईस आरोपणा के प्रकार बतलाये हैं।[3] वे इस प्रकार हैं—(१) एक मास की (२) पंचीस दिन की (३) चालीस दिन की (४) पैंता-लीस दिन की (५) पचास दिन की (६) सत्तावन दिन की (७) दो मास की (८) पैंसठ दिन की (९) सत्तर दिन की (१०) पचहत्तर दिन की (११) अस्सी दिन की (१२) पचासी दिन की (१३) तीन मास की (१४) पञ्चानवें दिन की (१५) सौ दिन की (१६) एक सौ पांच दिन की (१७) एक सौ दस दिन की (१८) एक सौ पन्द्रह दिन की (१९) चार मास की (२०) एक सौ पच्चीस दिन की (२१) एक सौ तीस दिन की (२२) एक सौ पैंतीस दिन की

१. पंचविहे आयारकप्पे पन्नत्ते, तं जहा—
मासिए उग्घातिए मासिए अणुग्घातिए
चउमासिए उग्घातिए
चउमासिए अणुग्घातिए आरोवणा। —ठाणं ५. १४५ पृ. ५८८

२. आरोवणा पंचविहा पन्नत्ता, तं जहा—
पट्ठविया, ठविया, कसिणा,
अकसिणा, हाडहडा। —ठाणं ५. १४६. पृ. ५८९

३. समवायांग, समवाय २८

(२३) एक सौ चालीस दिन की (२४) एक सौ पैंतालीस दिन की (२५) उद्घातिकी आरोपणा (२६) अनुद्घातिकी आरोपणा (२७) कृत्स्ना आरोपणा (२८) अकृत्स्ना आरोपणा।

जिस तीर्थंकर के शासन में तीर्थंकर स्वयं उत्कृष्ट तप की जितनी आराधना करते हैं, उससे अधिक तप की आराधना उसके शासन में अन्य व्यक्ति नहीं कर पाते। प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने एक संवत्सर तक तप की आराधना की। उनके शासन में एक संवत्सर से अधिक तपस्या का विधान नहीं था। भगवान् अजितनाथ से लेकर भगवान् पार्श्वनाथ के शासन तक आठ मास के तप की आराधना साधक कर सकता था। भगवान् महावीर ने उत्कृष्ट तप की आराधना छह मास की की थी, इसलिए उनके शासन में तपस्या का विधान छह मास का है, उससे अधिक नहीं। इसलिए भ. महावीर के शासन में आरोपणा प्राप्त प्रायश्चित्त का विधान भी छह मासिक से अधिक नहीं है।[1] छेद प्रायश्चित्त भी उत्कृष्ट छह मास का होता है। वह अधिक से अधिक तीन बार तक दिया जा सकता है। उसके पश्चात् मूल प्रायश्चित्त दिया जाता है।

दशाश्रुतस्कन्ध, व्यवहार, बृहत्कल्प आदि छेदसूत्रों से निशीथ की रचना शैली पृथक् है। उन्नीस उद्देशकों तक प्रत्येक सूत्र साइज्जइ से पूर्ण होता है और प्रायश्चित्त विधान के साथ उद्देशक पूर्ण होता है। किन्तु बीसवें उद्देशक की रचनाशैली उन्नीस उद्देशकों से बिल्कुल अलग-थलग है। बीसवें उद्देशक में अनेक तथ्य दिये गये हैं। किन्तु सूत्र की शैली बहुत ही संक्षिप्त है। अतः सूत्र में रहे हुए गुरु गम्भीर रहस्य को बिना गुरुगम के या बिना व्याख्या साहित्य के समझना बहुत ही कठिन है। यही कारण है प्रस्तुत सूत्र पर अत्यधिक विस्तार से भाष्य चूर्णि आदि का निर्माण हुआ है। निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, सुबोध व्याख्या आदि में उत्सर्ग और अपवाद मार्ग की विस्तार से चर्चा है।

साधना के दो मार्ग : उत्सर्ग और अपवाद

जैनसंस्कृति में साधना का गौरवपूर्ण स्थान है। प्राचीन जैन साहित्य के पृष्ठ साधना के उज्ज्वल समुज्ज्वल आलोक से जगमगा रहे हैं। साधना को जीवन का प्राण कहा है। सम्यक् साधना से ही साधक अपने साध्य को प्राप्त करता है। साधक के जीवन के कण-कण में त्याग, तप, स्वाध्याय और ध्यान की सरस सरिता बहती है।

उत्सर्ग और अपवाद मार्ग

जैन साधना रूपी सरिता के दो तट हैं—एक 'उत्सर्ग' है और दूसरा 'अपवाद'। उत्सर्ग शब्द का अर्थ 'मुख्य' और अपवाद शब्द का अर्थ 'गौण' है। उत्सर्ग मार्ग का अर्थ है आन्तरिक जीवन, चारित्र और सद्गुणों की रक्षा, शुद्धि और अभिवृद्धि के लिए प्रमुख नियमों का विधान और अपवाद का अर्थ है आन्तरिक जीवन आदि की रक्षा

---

१. सुबहुहिं वि मासेहिं, छण्हं मासाण परं ण दायव्वं॥ ६५२४ चूर्णि—तवारिहेहिं बहुहिं मासेहिं छम्मासा परं ण दिज्जइ सव्वस्सेव एस णियमो, एत्थ कारणं जम्हा अम्हं वद्धमाणसामिणो एवं चेव परं पमाणं ठवितं॥

(ख) छम्मासोवरि जइ पुणो आवज्जइ तो तिण्णि वारा लहु चेव छेदो दायव्वो। एस अविसिट्ठो वा तिण्णि वारा छल्लहु छेदो।

अहवा—जं चेव तव तियं तं छेदतिय पि—मासब्भंतरं, चउमासब्भंतरं छम्मासब्भंतरं च, जम्हा एवं तम्हा भिण्णमासादि जाव छम्मासं, तेसु छिण्णेसु छेय तियं अतिक्कंतं भवति। ततो वि जति परं आवज्जति तो तिण्णि वारा मूलं दिज्जति। —निशीथ चूर्णि भाग ४, ५, ३५१-५२.

हेतु उसकी शुद्धि वृद्धि के लिए बाधक नियमों का विधान। उत्सर्ग और अपवाद दोनों का लक्ष्य एक है और वह है साधक को उपासना के पथ पर आगे बढ़ाना। सामान्य साधक के मानस में यह विचार उद्भूत हो सकते हैं कि जब उत्सर्ग और अपवाद इन दोनों का लक्ष्य एक है तो फिर दो रूप क्यों हैं?

उत्तर में निवेदन है कि जैन संस्कृति के मर्मज्ञ महामनीषियों ने मानव की शारीरिक और मानसिक दुर्बलता को लक्ष्य में रखकर तथा संघ के समुत्थान को ध्यान में रखकर उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का निरूपण किया है। निशीथभाष्यकार ने लिखा है कि समर्थ साधक के लिए उत्सर्ग स्थिति में जिन द्रव्यों का निषेध किया गया है, असमर्थ साधक के लिए अपवाद की परिस्थिति में विशेष कारण से वह वस्तु ग्राह्य भी हो जाती है।[1]

उत्सर्ग और अपवाद, विरोधी नहीं

आचार्य जिनदासगणि महत्तर[2] ने लिखा है कि जो बातें उत्सर्ग मार्ग में निषिद्ध की गई हैं वे सभी बातें कारण सम्मुख होने पर कल्पनीय व ग्राह्य हो जाती हैं। इसका कारण यह है कि उत्सर्ग और अपवाद दोनों का लक्ष्य एक है, वे एक-दूसरे के पूरक हैं। साधक दोनों के सुमेल से ही साधना पथ पर सम्यक् प्रकार से बढ़ सकता है। यदि उत्सर्ग और अपवाद दोनों एक-दूसरे के विरोधी हों तो वे उत्सर्ग और अपवाद नहीं हैं किन्तु स्वच्छन्दता का पोषण करने वाले हैं। आगम साहित्य में दोनों को मार्ग कहा है। एक मार्ग राजमार्ग की तरह सीधा है तो दूसरा जरा घुमावदार है।

सामान्य विधि : उत्सर्ग

उत्सर्ग मार्ग पर चलना यह साधक के जीवन की सामान्य पद्धति है। एक व्यक्ति राजमार्ग पर चल रहा है, किन्तु राजमार्ग पर प्रतिरोध-विशेष उत्पन्न होने पर वह राजमार्ग को छोड़कर सन्निकट की पगडण्डी को ग्रहण करता है। कुछ दूर चलने पर जब अनुकूलता होती है तो पुनः राजमार्ग पर लौट आता है। यही स्थिति साधक की उत्सर्ग मार्ग से अपवाद मार्ग को ग्रहण करने के सम्बन्ध में है और पुनः यही विधि अपवाद से उत्सर्ग में आने की है।

उत्सर्ग मार्ग सामान्य विधि है। इस विधि पर वह निरन्तर चलता है। बिना विशेष परिस्थिति के उत्सर्ग मार्ग नहीं छोड़ना चाहिये। जो साधक बिना कारण ही उत्सर्ग मार्ग को छोड़कर अपवाद मार्ग को अपनाता है वह आराधक नहीं, अपितु विराधक है। पूर्ण स्वस्थ व्यक्ति यदि औषधि ग्रहण करता है या रोग मिट जाने पर भी बीमारी का अभिनय कर औषधि आदि ग्रहण करता है तो वह अपने कर्त्तव्य से च्युत होता है। विशेष कारण के अभाव में अपवाद का सेवन नहीं करना चाहिए। साथ ही जिस कारण से अपवाद का सेवन किया है, उस कारण के समाप्त होते ही उसे पुनः उत्सर्ग मार्ग को अपनाना चाहिए।

विशिष्ट विधि : अपवाद

हम पूर्व में बता चुके हैं कि अपवाद एक विशिष्ट मार्ग है। उत्सर्ग के समान ही वह संयम साधना का ही मार्ग है। पर अपवाद वास्तविक अपवाद होना चाहिए। यदि अपवाद के पीछे दम्भिकपोषण की भावना है तो वह अपवाद मार्ग नहीं है। अतः साधक को अपवाद मार्ग में सतत जागरूक रहने की आवश्यकता है। जितना अति आवश्यक हो, उतना ही अपवाद का सेवन किया जा सकता है, निरन्तर नहीं। अपवाद मार्ग पर तो किसी विशेष स्थिति

---

१. उस्सग्गेण णिसिद्धाणि जाणि दव्वाणि संथरे मुणिणो।
   कारणजाए जाते, सव्वाणि वि ताणि कप्पंति ॥ —निशीथभाष्य ५२४५

२. जाणि उस्सग्गे पडिसिद्धाणि उप्पण्णे कारणे सव्वाणि वि ताणि कप्पंति। ण दोसो....। —निशीथचूर्णि ५२४५

परिस्थिति में ही चला जाता है। अपवाद का मार्ग चमचमाती हुई तलवार की तीक्ष्ण धार के सदृश है। उस पर प्रत्येक साधक नहीं चल सकता। जिस साधक ने आचारांग आदि आगम साहित्य का गहराई से अध्ययन किया है, छेदसूत्रों के गम्भीर रहस्यों को समझा है, उत्सर्ग मार्ग और अपवाद मार्ग का जिसे स्पष्ट परिज्ञान है, वह गीतार्थ महान् साधक ही अपवाद को अपना सकता है। जिसे देश, काल और स्थिति का परिज्ञान नहीं है, ऐसा अगीतार्थ यदि अपवाद मार्ग को अपनाता है तो वह साधना से च्युत हो सकता है। कुशल व्यापारी आय और व्यय को सम्यक् प्रकार से समझकर ही व्यापार करता है, वह अल्प व्यय कर अधिकाधिक लाभ उठाता है। वैसे ही गीतार्थ श्रमण परिस्थिति विशेष में दोष का सेवन करके भी अधिक सद्गुणों की वृद्धि करता है।

आचार्य भद्रबाहु[१] ने गीतार्थ के सद्गुणों का विवेचन करते हुए लिखा है—आय-व्यय, कारण-अकारण, आगाढ़ (ग्लान)-अनागाढ, वस्तु-अवस्तु, युक्त-अयुक्त, समर्थ-असमर्थ, यतना-अयतना का सम्यक् ज्ञान गीतार्थ को रहता है और वह कर्तव्य और कार्य का परिणाम भी जानता है।

गीतार्थ पर जिम्मेदारी होती है कि वह अपवाद स्वयं सेवन करे या दूसरों को अपवाद सेवन की अनुमति दे। अगीतार्थ श्रमण अपवाद सेवन करने का स्वयं निर्णय नहीं ले सकता। गीतार्थ को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का परिज्ञान होता है, जिससे वह साधना के पथ पर बढ़ सकता है।

आचार्य संघदासगणि[२] ने सुन्दर रूपक के द्वारा उत्सर्ग और अपवाद मार्ग को बताया है। एक यात्री अपने लक्ष्य की ओर द्रुत गति से चल रहा है। वह कभी तेजी से कदम बढ़ाता है तो कभी जल्दी पहुँचने के लिए वह दौड़ता भी है। पर जब वह बहुत ही थक जाता है और आगे उसे विषम मार्ग दिखाई देता है, तब विश्रान्ति के लिए कुछ क्षणों तक बैठता है, क्योंकि बिना विश्राम किये एक कदम भी चलना उसके लिए कठिन है। लेकिन उस यात्री का विश्राम आगे बढ़ने के लिए है। उसकी विश्रान्ति, विश्रान्ति के लिए नहीं; अपितु प्रगति के लिए है।

साधक भी उसी तरह उत्सर्ग मार्ग पर चलता है; किन्तु कारणवशात् उसे अपवाद मार्ग का अवलम्बन लेना पड़ता है। वह अपवाद उत्सर्ग की रक्षा के लिए ही है, उसके ध्वंस के लिए नहीं है। कल्पना कीजिए—शरीर में एक भयंकर जहरीला फोड़ा हो चुका है। शरीर की रक्षा के लिए उस फोड़े की शल्यचिकित्सा की जाती है। शरीर का जो छेदन-भेदन होता है वह शरीर के विनाश के लिए नहीं, अपितु शरीर की रक्षा के लिए है।

यदि साधक पूर्ण समर्थ है और विशिष्ट स्थिति उत्पन्न होने पर वह सहर्ष भाव से मृत्यु का वरण कर सकता हो तो वह समाधिपूर्वक वरण करे। यदि मृत्यु को वरण करने में समाधिभाव भंग होता है तो वह जीवन को बचाने हेतु संयम की रक्षा के लिए प्रयत्न करे।

ओघनिर्युक्ति की टीका में आचार्य द्रोण[३] ने लिखा है—अपवाद सेवन करने वाले साधक के परिणाम पूर्ण विशुद्ध हैं और पूर्ण विशुद्ध परिणाम मोक्ष का कारण है, संसार का नहीं। साधक का शरीर संयम के लिए है।

---

१. आयं कारण गाढं वत्थु जुत्तं ससत्ति जयणं च।
सव्वं च सपडिवक्खं फलं च विधिवं वियाणाइ॥ —बृहत्कल्पनिर्युक्तिभाष्य ९५१

२. धावंतो उव्वाओ मग्गन्नू किं न गच्छइ कमेणं।
किं वा मउई किरिया, न कीरए असहुओ तिक्खं॥ —बृहत्कल्पभाष्य पीठिका, ३२०

३. न याऽविरई किं कारणं? तस्याशयशुद्धतया विशुद्धपरिणामस्य च मोक्षहेतुत्वात्।
—ओघनिर्युक्ति टीका गा. ४६

यदि शरीर ही नहीं रहा तो वह संयम की आराधना किस प्रकार कर सकेगा ? संयम की साधना के लिए शरीर का पालन आवश्यक है।[1] साधक का लक्ष्य न जीवित रहना है और न मरना है। न वह जीवित रहने की इच्छा करता है और न मरने की इच्छा करता है। वह जीवित इसलिए रहना चाहता है कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र की वृद्धि हो सके। जिस कार्य से ज्ञान, दर्शन, चारित्र की सिद्धि और वृद्धि हो, संयम-साधना में निर्मलता आवे, उस कार्य को वह करना पसन्द करता है। जब देखता है कि शरीर ज्ञान-दर्शन-चारित्र की वृद्धि में बाधक बन रहा है तो वह सस्नेह मरण को स्वीकार कर लेता है।

स्वस्थान और परस्थान

एक शिष्य ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन् ! बताइए, साधक के लिए उत्सर्ग स्वस्थान है या अपवाद ? समाधान प्रदान किया गया कि जिस साधक का शरीर पूर्ण स्वस्थ है और समर्थ है उसके लिए उत्सर्ग मार्ग ही स्वस्थान है और अपवाद परस्थान है। पर जिसका शरीर रुग्ण है, असमर्थ है, उसके लिए अपवाद स्वस्थान है और उत्सर्ग परस्थान है।[2]

साधक में जहाँ संयम का जोश होता है वहाँ उसमें विवेक का होश भी होना है। अपवाद मार्ग का निरूपण सिर्फ स्थविरकल्प[3] की दृष्टि से किया गया है। जिनकल्पी श्रमण तो केवल उत्सर्ग मार्ग पर ही चलते हैं।[4]

अपवाद यानी रहस्य

निशीथचूर्णि में उत्सर्ग के लिए 'प्रतिषेध' शब्द का प्रयोग हुआ है और अपवाद के लिए 'अनुज्ञा'। उत्सर्ग प्रतिषेध है और अपवाद विधि है। संयमी श्रमण के लिए जितने भी निषिद्ध कार्य बताये गये हैं, वे प्रतिषेध के अन्तर्गत आ जाते हैं और परिस्थिति-विशेष में जब उन निषिद्ध कार्यों के करने की अनुज्ञा दी जाती है तब वे निषिद्ध कार्य विधि बन जाते हैं।[5] परिस्थिति विशेष से अकर्तव्य भी कभी कर्तव्य बन जाता है। साधारण साधक प्रतिषेध को विधि में परिणत करने की शक्ति नहीं रखता। वह औचित्य-अनौचित्य का परीक्षण भी नहीं कर सकता। इसीलिए अपवाद, अनुज्ञा या विधि प्रत्येक साधक को नहीं बताई जाती। एतदर्थ ही निशीथचूर्णि में अपवाद का पर्यायवाची रहस्य भी है।[6]

जैसे प्रतिषेध (उत्सर्ग) का पालन करने से आचार विशुद्ध रहता है, उसी तरह अपवाद मार्ग का अवलम्बन करने पर भी आचरण विशुद्ध ही मानना चाहिए।[7]

अपवाद क्यों और किसलिए ?

अपवाद मार्ग ग्रहण करने से पूर्व अनेक शर्तें रखी गई हैं। उन शर्तों की ओर लक्ष्य न दिया गया तो अपवाद मार्ग पतन का कारण बन जाएगा। एतदर्थ ही प्रतिसेवना के दो भेद हैं—अकारण अपवाद का सेवन 'दर्पप्रतिसेवना'

---

१. संजमहेउ देहो धारिज्जइ सो कओ उ तदभावे ।
संजम फाइनिमित्तं, देह परिपालना इट्ठा ॥ —ओघनिर्युक्ति ४७

२. संथरओ सट्ठाणं उस्सग्गो असहुणो परट्ठाणं ।
इय सट्ठाण परं वा, न होइ वत्थु-विणा किंचि ॥ —बृहत्कल्पभाष्य पीठिका ३२४

३. निशीथभाष्य गा० ८३

४. निशीथभाष्य गा० ६६९८ उत्थानचूर्णि

५. निशीथभाष्य गा० ५२४५

६. निशीथचूर्णि गा० ४९५

७. निशीथचूर्णि गा० २८७, १०२२, १०६८, ४१०३

है और कारण से प्रतिसेवना "कल्प" है। हम पूर्व में बता चुके हैं कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र की साधना व आराधना करता हुआ साधक मोक्षमार्ग की ओर बढ़ता है। चारित्र का पालन ज्ञान और दर्शन की वृद्धि के लिए है। जिस चारित्र की आराधना से ज्ञान-दर्शन की हानि होती हो, वह चारित्र नहीं। चारित्र वही है जो ज्ञान-दर्शन को पुष्ट करता हो। ज्ञान-दर्शन के कारण चारित्र में अपवाद सेवन करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। वे सभी अपवाद कल्पप्रतिसेवना में इसलिए लिए जाते हैं कि वे साधक को साधना से च्युत नहीं करते। जो भी अपवाद सेवन किया जाय उसमे ज्ञान और दर्शन ये दो मुख्य लक्ष्य होने चाहिए। यदि उन दोनों में से कोई भी कारण नही है तो वह प्रतिसेवनादर्प है। साधक का कर्तव्य है कि दर्प का परित्याग कर कल्प को ग्रहण करे। क्योंकि दर्प साधक के लिए निषिद्ध माना गया है।[1]

एक जिज्ञासा हो सकती है—निशीथ भाष्य[2] व चूर्णि आदि में दुर्भिक्ष आदि की स्थिति में भी अपवाद सेवन किये जाते रहे हैं, ऐसा उल्लेख है। फिर ज्ञान और दर्शन से ही अपवाद सेवन की बात कैसे कही गयी? समाधान है—ज्ञान और दर्शन ये दो मुख्य कारण हैं ही। दुर्भिक्ष आदि में साक्षात् ज्ञान और दर्शन की हानि नही होती, किन्तु परम्परा से ज्ञान और दर्शन की हानि होने से उन्हें लिया गया है।

दुर्भिक्ष में आहार की प्राप्ति नहीं हो सकती और विना आहार स्वाध्याय आदि नही हो सकता। इसलिए उसे अपवाद के कारणों में गिना है।

निशीथभाष्य में दर्पप्रतिसेवना और कल्पप्रतिसेवना को प्रमाद-प्रतिसेवना और अप्रमाद-प्रतिसेवना भी बताया गया है। क्योंकि प्रमाद दर्प है और अप्रमाद कल्प है। जिस आचरण में प्रमाद है वह दर्पप्रतिसेवना है और अप्रमाद है वह कल्पप्रतिसेवना है।[3]

अहिंसा की दृष्टि से उत्सर्ग व अपवाद

जैन आचार की मूल भित्ति अहिंसा पर आधृत है। अन्य चारों महाव्रत अहिंसा के विस्तार हैं। जिस कार्य में प्रमाद है, वह हिंसा है। संयमी साधक के जीवन में अप्रमाद का प्राधान्य होता है। अप्रमाद-प्रतिसेवना के भी दो भेद किये गये हैं—अनाभोग और सहसाकार।[4] अप्रमादी होने पर भी ईर्या आदि समिति की विस्मृति हो जाय, किसी कारण से स्वल्प काल के लिए उपयोग न रहे तो वह अनाभोग है। उसमें प्राणातिपात नही है, पर विस्मृति है। प्रवृत्ति हो जाने के पश्चात् यह ज्ञात हो कि हिंसा की सम्भावना है तो वह प्रतिसेवना सहसाकार है। जैसे संयमी साधक विवेकपूर्वक गमन कर रहा है। पहले जीव दिखाई न दिया हो पर ज्यों ही कदम उठाया कि जीव पर दृष्टि पड़ी। बचाने का प्रयत्न करने पर भी सहसा जीव के ऊपर पैर पड़ गया और वह प्राणी मर गया तो यह 'सहसा-प्रतिसेवना' है। अप्रमाद होने के कारण वह कर्मबन्धन नही है। अहिंसा का आराधन करना श्रमण का उत्सर्ग मार्ग है। वह मन, वचन, काया से किसी भी प्रकार की जीव-हिंसा नही करता। आचारांग, दशवैकालिक तथा अन्य आगम साहित्य में अहिंसा महाव्रत का सूक्ष्म विश्लेषण है। श्रमण किसी भी सचित्त वस्तु का स्पर्श नहीं कर सकता। पर आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में यह स्पष्ट बताया है। एक श्रमण अन्य रास्ते के अभाव में किसी

---

१. निशीथभाष्य गा० ८८ उसकी चूर्णि तथा गा० १४४, ३६३, ४६३।

२. निशीथभाष्य गा० १७५, १६२, १८८, २२०, २२१, २४४, २५३, ३२१, ३४२, ३८४, ३९१, ४१९, ४२५, ४५३, ४५८, ४८१ ४८४, ४८५, आदि।

३. निशीथभाष्य गा० ९१।

४. निशीथभाष्य गा० ९०-९५

ऊँचे-नीचे, टेढ़े-मेढ़े, ऊबड़-खाबड़ मार्ग या जहाँ पर सेना के पड़ाव पड़े हों, रथ और गाड़ियाँ पड़ी हों, धान्य के ढेर पड़े हों, प्रथम तो ऐसे विषम और संकटापन्न मार्ग से श्रमण को नहीं जाना चाहिए। यदि अनिवार्य कारणवश ऊँचे-नीचे मार्ग से आवश्यक ही हो तो वनस्पति अथवा किसी पथिक के हाथ का सहारा ले सकता है।

उत्सर्ग मार्ग में श्रमण हरित वनस्पति को स्पर्श नहीं कर सकता, पर जो यहाँ पर अपवाद में हरित वनस्पति आदि पकड़ने का विधान है, वह विधान वनस्पतिकाय के जीवों की विराधना करने के लिए नहीं है, अपितु अहिंसा के लिए ही यह विधान है। यदि श्रमण गिर जाता है तो उसका अंग भंग भी हो सकता है और मन में संकल्प-विकल्प भी हो सकता है। साथ ही गिरने से दूसरे जीवों की विराधना भी हो सकती है। अतः स्व और पर दोनों प्रकार की हिंसा को लक्ष्य में रखकर ही अहिंसा में अपवाद का उल्लेख किया गया है।[1]

इसी तरह सचित्त पानी को श्रमण स्पर्श नहीं कर सकता पर उमड़-घुमड़कर घटायें आ रही हों और जोर से वर्षा हो रही हो, उस समय उच्चार-प्रस्रवण के लिए वह बाहर जा सकता है।[2] बलात् मल-मूत्र का निरोध करना निषिद्ध है। क्योंकि मल-मूत्र के निरोध से शरीर में आकुलता-व्याकुलता पैदा हो सकती है, रोग भी उत्पन्न हो सकते हैं, जो स्वास्थ्य और शरीर तथा संयम के लिए हानिप्रद है।

सत्य व अन्य महाव्रतों की दृष्टि से उत्सर्ग-अपवाद

अहिंसा महाव्रत की भांति ही सत्य भी श्रमण का जीवनव्रत है। आचारांग में यह भी विधान है कि एक श्रमण विहार करके जा रहा है, सामने से व्याध आदि आ जाय और वह श्रमण से पूछे क्या तुमने इधर किसी पशु आदि को जाते देखा है? श्रमण ऐसे प्रसंग में मौन रहे। यदि मौन रहने की स्थिति न हो तो जानता हुआ भी नहीं जानता हूँ, इस प्रकार कहे। यह सत्य का अपवाद मार्ग है।[3]

सूत्रकृतांगसूत्र की वृत्ति में आचार्य शीलांक[4] ने स्पष्ट लिखा है कि जिसमें पर-वंचना की बुद्धि नहीं है, केवल संयम-गुप्ति के लिए कल्याण भावना से बोला गया असत्य दोष रूप नहीं है किन्तु जो मृषावाद कपटपूर्वक दूसरों को ठगने के लिए बोला जाता है वह दोष रूप है।[5] अतः हेय है।

सत्य की तरह अस्तेय महाव्रत की साधना में बिना दी हुई वस्तु को श्रमण ग्रहण नहीं करता। पर इस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न हो कि श्रमण किसी ऐसे स्थान पर पहुँचा है जहाँ पर स्थान की सुविधा नहीं है, भयंकर शीत और वर्षा है, ऐसी स्थिति में श्रमण पहले बिना आज्ञा ग्रहण किये ठहर जाय। उसके पश्चात् आज्ञा प्राप्त करने का प्रयास करे।[6]

इसी तरह श्रमण ब्रह्मचर्य महाव्रत की रक्षा के लिए नवजात कन्या को भी स्पर्श नहीं कर सकता पर वही श्रमण नदी में डूब रही भिक्षुणी को पकड़कर निकाल सकता है।[7]

---

१. आचारांग २ श्रुत० ईर्याध्ययन उ० २।
२. योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्ति, तीसरा प्रकाश, ८७ वां श्लोक।
३. (क) आचारांग २-१-३-३-१२९ वृत्ति भी देखें।
   (ख) निशीथ चूर्णि भाष्य, गाथा ३२२
४. सूत्रकृतांग वृत्ति १-८-१९
५. सादियं ण मुसं बूया, एसधम्मे वुसीमओ। —सूत्रकृतांग १-८-१९
६. व्यवहारसूत्र ९-११
७. बृहत्कल्पसूत्र, उ. ६ सूत्र—७-१२

इसी तरह अपरिग्रह महाव्रत में चौदह उपकरणों के अतिरिक्त उपकरण रखना आदि भी परिग्रह में ही है। किन्तु पुस्तक, लेखन-सामग्री आदि ज्ञान के साधन रूप समझकर ग्रहण किये जाते हैं।[1] अतः उन्हें परिग्रह नहीं माना जाता।

दशवैकालिक[2] आदि में यह स्पष्ट विधान है कि श्रमण किसी गृहस्थ के यहाँ पर न बैठे, क्योंकि बैठना अनाचार माना गया है, किन्तु दशवैकालिक में यह भी बताया है कि जो श्रमण अत्यन्त वृद्ध हो चुका है, अस्वस्थ है या जो तपस्वी है वह गृहस्थ के घर पर बैठ सकता है।[3] उसे गृह-निषिद्या का दोष नहीं लगता।

आगम साहित्य में श्रमण के आहार की चर्चा करते हुए यह स्पष्ट विधान किया है कि वह आधाकर्मी आहार ग्रहण नहीं कर सकता। वह पिण्डैषणा के नियमों का सम्यक् प्रकार से पालन करे। आचार्य शीलांक[4] ने सूत्रकृतांगवृत्ति में लिखा है कि अपवाद स्थिति में शास्त्र के अनुसार आधाकर्म आहार का सेवन करता है तो वह साधक शुद्ध है। वह कर्म से लिप्त नहीं होता।

निशीथभाष्य मे ऐसे अनेक प्रसंग हैं जिनमें यह बताया गया है कि दुर्भिक्ष आदि की स्थिति में अपवाद मार्ग से श्रमण आधाकर्म आदि आहार ग्रहण कर सकता है।[5]

जैन श्रमण के लिए यह विधान है कि वह चिकित्सा की इच्छा न करे।[6] रोग हो जाने पर उसे शान्त भाव से सहन करे। किन्तु जब देखा गया कि श्रमण रोग होने पर समाधिस्थ नहीं रह सकता तो उसकी चिकित्सा के सम्बन्ध में भी चिन्तन हुआ। श्रमण किस प्रकार वैद्यों के वहां पर जाये, किस प्रकार औषधि आदि ग्रहण करे, भयंकर कुष्ठ आदि रोग होने पर किस तरह उनका उपचार किया जाये आदि पर निर्युक्ति, चूर्णि और भाष्य में विस्तार से विवेचन है। साथ ही यह भी स्पष्ट किया है कि उन अपवादों का सेवन करने पर विरोधियों को टीका-टिप्पणी करने का अवसर न मिले, यदि विरोधी आलोचना-प्रत्यालोचन करेंगे तो उससे जिनधर्म की अवहेलना होगी। अतः उसे गुप्त रखने का[7] भी संकेत किया गया है।

अतिचार और अपवाद :

एक बात यहां समझनी चाहिए कि अतिचार और अपवाद में अन्तर है।[8] यद्यपि अतिचार और अपवाद में बाह्य दृष्टि से दोष सेवन एक सदृश प्रतीत होता है, पर अतिचार व अपवाद में बहुत अन्तर है। अतिचार में मोह का उदय होता है और मोह के उदय से या वासना से उत्प्रेरित होकर तथा कषायभाव के कारण उत्सर्ग मार्ग को छोड़कर जो संयमविरुद्ध प्रवृत्ति की जाती है वह अतिचार है और अतिचार से संयम दूषित होता है।

---

१. निशीथचूर्णि भाष्य ३, प्रस्तावना—उपाध्याय अमरमुनिजी।
२. दशवैकालिक ३-४-६, ■
३. तिण्हमन्नयरागस्स, निसिज्जा जस्स कप्पइ।
जराए अभिभूयस्स वाहिअस्स तवस्सिणे ॥ —दश. ६-६०
४. सूत्रकृतांग २-५, ८-९
५. निशीथभाष्य गा. २६८४
६. (क) उत्तराध्ययन २-२३ (ख) दशवैकालिक ३-४ (ग) निशीथसूत्र ३-२८-४०; १३।४२-४५
७. निशीथचूर्णि गा. ३४५-४७
८. निशीथचूर्णि भा. ३ प्रस्तावना (उपा. अमरमुनि)

अतः साधक को यह ज्ञात हो जाय कि मैंने दोष का सेवन किया है जो अकरणीय था, तो उसे यथायोग्य प्रायश्चित्त लेकर उस दोष की विशुद्धि करनी चाहिए। जो उस दोष की विशुद्धि नहीं करता है वह धर्मतः विराधक होता है।

अपवाद में दोष का सेवन होता है, पर वह सेवन विवशता के कारण होता है। सेवन करते समय साधक यह अच्छी तरह से जानता है कि यदि मैं अपवाद का सेवन नहीं करूंगा तो मेरे ज्ञान आदि गुण विकसित नहीं हो सकेंगे। इसी दृष्टि से वह अपवाद का सेवन करता है। अपवाद के सेवन करने में सद्गुणों का अर्जन और संरक्षण प्रमुख होता है। अपवाद में प्रमादभाव नहीं होता, किन्तु संयमभाव प्रमुख होता है। इसलिए वह अपवाद अतिचार की तरह दूषण नहीं है। अतिचार में कषाय का प्राधान्य होने से प्रचुर कर्मबन्धन होता है।

उत्सर्ग और अपवाद में विवेक आवश्यक

उत्सर्ग मार्ग और अपवाद मार्ग दोनों ही मार्ग साधक के लिए तब तक श्रेयस्कर हैं जब तक उनमें विवेक की ज्योति जगमगाती हो। मूल आगम साहित्य में उत्सर्ग मार्ग की प्रधानता रही, अपवाद मार्ग का वर्णन आया किन्तु बहुत ही स्वल्प मात्रा में। लेकिन ज्यों-ज्यों परिस्थितियों में परिवर्तन होता गया त्यों-त्यों आचार्यों ने आगम साहित्य के व्याख्या-साहित्य में अपवादों का विस्तार से निरूपण किया है। अपवादों के निरूपण में कहीं पर अति भी हो गई है जो उस युग की स्थिति का प्रभाव है।

हमने बहुत ही संक्षेप में उत्सर्ग व अपवाद के सम्बन्ध में विचार प्रस्तुत किया है। उत्सर्ग और अपवाद के मर्म को समझना अत्यन्त कठिन है। जब उत्सर्ग और अपवाद में परिणामीपना और शुद्ध वृत्ति नष्ट हो जाती है तो वह अनाचार बन जाता है। एतदर्थ ही भाष्यकार ने परिणामी, अपरिणामी और अतिपरिणामी शिष्यों का निरूपण किया है। जो वस्तुस्थिति को सम्यक् प्रकार से समझता है वही साधक उत्सर्ग व अपवाद मार्ग की आराधना कर सकता है और अपने अनुयायी वर्ग को भी सही पथ पर बढ़ने के लिए उत्प्रेरित कर सकता है। जब परिणामी भाव नष्ट हो जाता है तो स्वार्थ की वृत्ति पनपने लगती है स्वच्छन्दता बढ़ने लगती है, जिससे साधक वीतरागधर्म की आराधना सम्यक् प्रकार से नहीं कर सकता।

बृहत्कल्पभाष्य में आचार्य संघदासगणि ने लिखा है कि जितने उत्सर्ग के नियम हैं उतने ही अपवाद के भी नियम हैं। उत्सर्ग मार्ग के अधिकारी के लिए उत्सर्ग, उत्सर्ग है और अपवाद, अपवाद है, किन्तु अपवाद मार्ग के अधिकारी के लिए अपवाद उत्सर्ग है और उत्सर्ग अपवाद है। इस प्रकार उत्सर्ग और अपवाद अपनी-अपनी स्थिति और परिस्थिति के कारण श्रेयस्कर, कार्यसाधक और बलवान हैं।

उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का इतना समन्वयात्मक सूक्ष्म दृष्टिकोण जैनदर्शन के अनेकान्त की अपनी विशेषता है। उत्सर्ग मार्ग जीवन की सबलता का प्रतीक है तो अपवाद मार्ग जीवन की निर्बलता का प्रतीक है। दोनों ही मार्गों में साधक को अत्यन्त जागरूकता रखनी चाहिए। आचार्यों ने स्पष्ट कहा है कि अपवाद मार्ग का सेवन करने वाला जैसे कोई फोड़ा चीर रहा है, उसकी रगों पर छुरी है तो वह किस तरह से कम कष्ट हो यह ध्यान रखकर यथावत् सावधान निकालता है और उसी तरह सावधानीपूर्वक अपवाद मार्ग का सेवन किया जाय। सेवन करते समय यही यह ध्यान रखना होता कि संयम और तप में कम से कम दोष लगे। विशेष परिस्थिति में और कोई मार्ग न हो तो अपवाद का सेवन किया जाय, अन्यथा नहीं। एतदर्थ ही गीतार्थ का उल्लेख है और वही अपवाद का सेवन करने का अधिकारी माना गया है, शेष नहीं।

प्रायश्चित्त और दण्ड

छेदसूत्र प्रायश्चित्तसूत्र है। प्रायश्चित्त का अर्थ है पाप का विशोधन करना। पाप को शुद्ध करने की क्रिया का नाम प्रायश्चित्त है। अपराध 'प्राय:' कहलाता है और 'चित्त' का अर्थ शोधन है, जिस प्रक्रिया से अपराध की शुद्धि हो वह प्रायश्चित्त है। प्राकृत भाषा में प्रायश्चित्त के लिए "पायच्छित्त" शब्द आया है। 'पाय' का अर्थ 'पाप' है। जो पाप का छेदन करता है वह 'पायच्छित्त' है। साधक छद्मस्थ है, इसलिए ज्ञात और अज्ञात रूप में उससे भूल हो जाती है। पाप उसके जीवन में लग जाते हैं। भूल होना जितना बुरा नहीं है, उतना बुरा है भूल को भूल न समझना। भूल को भूल समझकर उसकी शुद्धि के लिए प्रयास करना और भविष्य में पुन: उस प्रकार का दोष न लगे, उसके लिए दृढ़संकल्प करना तथा भूल की शुद्धि के लिए जो प्रक्रिया है, वह प्रायश्चित्त है।

प्रायश्चित्त और दण्ड में अन्तर है। प्रायश्चित्त में साधक अपने दोष को अपनी इच्छा से प्रकट कर उसे स्वीकार करता है। प्रमादवश यदि दोष लग गया है तो वह साधक उस दोष को गुरुजनों के समक्ष प्रकट कर देता है और उनसे प्रायश्चित्त प्रदान करने के लिए प्रार्थना करता है। गुरुजन उस दोष से मुक्त होने के लिए विधि बताते हैं। इसके विपरीत व्यक्ति स्वयं दण्ड को अपनी इच्छा से नहीं किन्तु विवशता से स्वीकार करता है। उसके मन में दुष्कृत्य के प्रति किसी भी प्रकार की ग्लानि नहीं होती। अपराधी अपराध को स्वेच्छा से नहीं किन्तु दूसरों के भय से स्वीकार करता है। इस तरह दण्ड ऊपर से थोपा जाता है, किन्तु प्रायश्चित्त अन्तर्हृदय से स्वीकार किया जाता है। इसी कारण राजनीति में दण्ड का विधान है तो धर्मनीति में प्रायश्चित्त का विधान है।

जिसका अन्तर्मानस सरल हो, जो पापभीरु हो, जिसके हृदय मे आत्म-शुद्धि की तीव्र भावना हो उसी के मन मे प्रायश्चित्त लेने की भावना जागृत होती है। यदि मन में माया का साम्राज्य होगा तो प्रायश्चित्त से शुद्धिकरण नहीं हो सकता। भूलें अनेक प्रकार की होती हैं। कितनी ही भूलें सामान्य होती हैं और कितनी ही असाधारण होती हैं। सामान्य भूलें भी देश-काल और परिस्थिति के कारण असामान्य हो जाती हैं। अत: सभी प्रकार की भूलों का प्रायश्चित्त एक-सा नहीं होता। भूलों और परिस्थितियों के अनुसार प्रायश्चित्त के भी विविध प्रकार बताये गए हैं।

स्थानांग, निशीथ, बृहत्कल्प, व्यवहार, जीतकल्प प्रभृति ग्रन्थो मे विविध प्रकार के प्रायश्चित्तों का उल्लेख है। समवायांग आदि में प्रायश्चित्त के प्रकारों का उल्लेख है तो निशीथ आदि आगमों में प्रायश्चित्त योग्य अपराधों का भी विस्तार से निरूपण है। बृहत्कल्पभाष्य, निशीथभाष्य, व्यवहारभाष्य, निशीथचूर्णि, जीतकल्पभाष्य आदि में प्रायश्चित्त सम्बन्धी विविध सिद्धान्त और समस्याओं का सटीक विवेचन है। दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ मूलाचार, जयधवला तथा तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं में प्रायश्चित्त के विविध प्रकार प्रतिपादित हैं। सभी प्रकार के प्रायश्चित्तों का समावेश दस प्रकार के प्रायश्चित्तों में हो जाता है।[१]—(१) आलोचना, (२) प्रतिक्रमण, (३) उभय, (४) विवेक, (५) व्युत्सर्ग, (६) तप, (७) छेद, (८) मूल, (९) अनवस्थाप्य और (१०) पारांचिक। मूलाचार में प्रथम आठ नाम ये ही हैं, किन्तु अनवस्थाप्य के स्थान पर परिहार और पारांचिक के स्थान पर श्रद्धान शब्द व्यवहृत हुआ है। तत्त्वार्थसूत्र में पारांचिक प्रायश्चित्त का उल्लेख नहीं है, उसमें मूल नामक प्रायश्चित्त के स्थान पर उपस्थापन और अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त के स्थान पर परिहार-प्रायश्चित्त का उल्लेख किया है। स्थानांग और जीत-

---

१. (क) स्थानांग १०।७३
(ख) जीतकल्प सूत्र ४
(ग) धवला १३।५, २३।६३।१

कल्प में जिन दस प्रायश्चित्तों का वर्णन है, वैसा ही वर्णन दिगम्बर ग्रन्थ जयधवला में भी है। प्रायश्चित्त का जो सर्वप्रथम रूप है उसमें साधक के अन्तर्मानस में अपराध के कारण आत्मग्लानि समुत्पन्न होती है। अपराध को अपराध के रूप में स्वीकार कर लेता है। वह विशुद्ध हृदय से अपने द्वारा किये गये अपराध व नियमभंग को आचार्य या गीतार्थ श्रमण के समक्ष निवेदन कर उस दोष से मुक्त होने के लिए प्रायश्चित्त स्वीकार करता है। आलोचना क्यों और कैसे करनी चाहिए और किनके समक्ष करनी चाहिए, स्थानांग आदि में विस्तार से निरूपण है। "जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप" ग्रन्थ में मैंने विस्तार से लिखा है, अतः विशेष जिज्ञासु उसका अवलोकन करें।

विशिष्ट दोषों की विशुद्धि के लिए तप प्रायश्चित्त का उल्लेख है। निशीथ, बृहत्कल्प, जीतकल्प और उनके भाष्यों में किस प्रकार का दोष सेवन करने पर किस प्रकार का प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिए, यह बताया गया है। प्रस्तुत आगम मे तप प्रायश्चित्त के योग्य सविस्तृत सूची दी गई है, और तप प्रायश्चित्त के विविध प्रकारों की चर्चा करते हुए मास लघु, मास गुरु, चातुर्मास लघु, चातुर्मास गुरु से लेकर षट्मास लघु और षट्मास गुरु प्रायश्चित्तों का उल्लेख है। बृहत्कल्पभाष्य में मास, दिवस आदि तपों की संख्या के प्रायश्चित्त का विवेचन मिलता है, वह इस प्रकार है—

यथागुरु—छह मास तक निरन्तर पांच-पांच उपवास
गुरुतर—चार मास तक निरन्तर चार-चार उपवास
गुरु—एक मास तक निरन्तर तीन-तीन उपवास (तेले)
लघु—१० बेले १० दिन पारणे (एक मास तक निरन्तर दो-दो उपवास)
लघुतर—२५ दिन तक निरन्तर एक दिन उपवास और एक दिन भोजन
यथालघु—२० दिन निरन्तर आयम्बिल (रूखा-सूखा भोजन)
लघुष्यक—१५ दिन तक निरन्तर एकासन (एक समय भोजन)
लघुष्यकतर—१० दिन तक निरन्तर दो पोरसी अर्थात् १२ बजे के बाद भोजन ग्रहण
यथालघुष्यक—पांच दिन निरन्तर निर्विकृति (घी, दूध आदि रहित भोजन)

संक्षिप्त सारांश

प्रथम उद्देशक

प्रथम उद्देशक में ५८ सूत्र हैं। ४९७-८१५ गाथाओं तक का सविस्तृत भाष्य भी है। सर्वप्रथम भिक्षु के लिए हस्तकर्म का निषेध किया गया है। काष्ठ, अंगुली अथवा शलाका आदि से अंगादान के संचालन का निषेध है। अंगादान को तेल, घृत, नवनीत प्रभृति से मर्दन करने, शीत या उष्ण जल से प्रक्षालन करने और ऊपर से त्वचा हटाकर उसे सूंघने आदि का निषेध किया गया है। इस निषेध के कारण पर चिन्तन करते हुए आचार्य संघदासगणि ने सिंह, आसीविष-सर्प, व्याघ्र और अजगर आदि के दृष्टान्त देकर यह बताने का प्रयास किया है कि जैसे प्रसुप्त सिंह जागृत होने पर जगाने वाले को ही समाप्त कर देता है, वैसे ही अंगादान आदि को संचालित करने से तीव्र मोह का उदय हो जाने पर वह साधक भी साधना से च्युत हो सकता है। शुक्र पुद्गल निकालना, सुगन्धित पदार्थों को सूंघना, मार्ग में कीचड़ आदि से बचने हेतु पत्थर आदि रखवाना, ऊँचे स्थान पर चढ़ने के लिए सीढ़ी रखवाना, पानी को निकालने के लिए नाली आदि बनवाना, सूई आदि को तेज करवाना, कैंची, नखछेदक, कर्णशोधक आदि को साफ करना, निष्प्रयोजन इन वस्तुओं की याचना करना, अविधि पूर्वक सूई आदि की याचना करना, स्वयं के लिए लाई हुई वस्तु में से दूसरों को देना, वस्त्र सीने के लिए लाई हुई सूई आदि से कांटा निकालना। पात्रों को गृहस्थों से ठीक करवाना। वस्त्र पर गृहस्थों से कारी लगवाना। वस्त्र पर तीन से अधिक कारी लगवाना।

निर्दोष आहार में सदोष आहार मिला हो, उसे ग्रहण करना। इस प्रकार प्रथम उद्देशक में साधक को सतत जागरूक रहने का सन्देश दिया है। प्रतिपल—प्रतिक्षण साधक को उस प्रकार की प्रवृत्ति करनी चाहिये जो विवेक से मण्डित हो। अविवेकयुक्त की गई छोटी-सी-छोटी प्रवृत्ति भी कर्मबन्धन का कारण है। इसलिए सूई आदि नन्ही-सी वस्तु भी अविधि से रखने का निषेध किया है। विवेक में ही धर्म है। यह इन उल्लेखों से स्पष्ट है।

यह सत्य है कि महाव्रतों की परिगणना में ब्रह्मचर्य का चतुर्थ स्थान है। पर वह अपनी महिमा और गरिमा के कारण सभी व्रतों में प्रथम है। प्रश्नव्याकरणसूत्र में ब्रह्मचर्य के महिमा का वर्णन करते हुए लिखा है कि जैसे श्रमणों में तीर्थंकर श्रेष्ठ है वैसे व्रतों में ब्रह्मचर्य। एक ब्रह्मचर्य व्रत की जो आराधना कर लेता है वह समस्त नियमोपनियम की आराधना कर लेता है। जितने भी व्रत नियम हैं, उनका मूल आधार ब्रह्मचर्य है। वह व्रतों का सरताज है। मुकुटमणि है। अतः ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले साधक को हर क्षण जागरूक रहकर उस नियम का दृढ़ता से पालन करना बहुत ही आवश्यक है। प्रस्तुत आगम के प्रारम्भ में सर्वप्रथम यह सूचन किया गया है।

दूसरा उद्देशक

दूसरे उद्देशक में ५७ सूत्र हैं। किसी-किसी प्रति में ५९ सूत्र भी मिलते हैं। जिस पर ८१६ से १४३७ गाथाओं तक का भाष्य है। पादप्रोंछन के सम्बन्ध में प्रथम आठ सूत्रों में चिन्तन किया गया है। पुराना और फटे हुए कम्बल का एक हाथ लम्बा-चौड़ा खण्ड पादप्रोंछन कहा जाता है। विवेचनकार पण्डित मुनि श्री ने इस पर विस्तार से विवेचन लिखा है और उस विवेचन में उन्होंने स्पष्ट किया है कि पादप्रोंछन और रजोहरण ये दोनों पृथक्-पृथक् उपकरण हैं। रजोहरण से परिमार्जन होता है और पादप्रोंछन से केवल पैर आदि पोंछे जाते है। दोनों के अर्थ और उपयोगिता भिन्न-भिन्न है। पादप्रोंछन से पैर पोंछने के अतिरिक्त आवश्यकता पड़ने पर मलविसर्जन हेतु उस वस्त्र का उपयोग किया जा सकता है। आवश्यकता होने पर उस पर बैठा भी जा सकता है, पर रजोहरण आदि का उपयोग इस प्रकार नहीं होता। पादप्रोंछन आवश्यकता होने पर स्वयं के पास न हो तो श्रमण दूसरे से ले सकता है। पर रजोहरण तो स्वयं का ही होता है। जिनकल्पी श्रमणों को भी रजोहरण रखना आवश्यक माना गया है। रजोहरण फलियों के समूह से बना हुआ एक औघिक उपकरण है जबकि पादप्रोंछन वस्त्र का एक टुकड़ा होता है। उसे कभी काष्ठदंड में बांध कर भी रखा जाता है। यह औपग्रहिक उपकरण है। उस काष्ठदंड युक्त पादप्रोंछन औपग्रहिक उपकरण को जिस क्षेत्र में और जितने समय के लिए आवश्यकता हो, उतने समय तक रख सकते हैं। आवश्यकता के अभाव में काष्ठदण्ड युक्त पादप्रोंछन को खोलकर रख लेना चाहिए। जो विधि युक्त बांधा गया हो वही पादप्रोंछन सुप्रतिलेख्य होता है। वह पादप्रोंछन डेढ मास तक अधिक से अधिक रख सकते हैं। यदि रखना आवश्यक हो तो खोलकर और परिवर्तन कर रख सकते है।

उसके पश्चात् इत्रादि सुगन्धित पदार्थों को सूंघने का निषेध है। पदमार्ग आदि बनाने का निषेध है। पानी निकालने की नाली, छींके का ढक्कन, चिलमिली आदि बनाने का निषेध है। श्रमण को कठोर भाषा का उपयोग नहीं करना चाहिए। कठोर भाषा के उपयोग से सुनने वाले के अन्तर्मानस में संक्लेश पैदा होता है। भाषा सत्य भी हो और सुन्दर भी हो। जिस भाषा के प्रयोग से दूसरों का हृदय व्यथित हो तो उस प्रकार की भाषा एक प्रकार से हिंसा है। अल्प-असत्य भाषा का प्रयोग भी श्रमण के लिए निषिद्ध है। अदत्तवस्तु ग्रहण करना भी निषिद्ध है। शरीर को सजाना व संवारना बहुमूल्यवान श्रेष्ठतम वस्तुओं को धारण करना आदि निषिद्ध है। भिक्षुओं को चर्म रखने का निषेध है। तथापि भाष्यकार ने आपवादिक स्थिति में चर्म धारण करने का जो उल्लेख किया है—

मार्ग कण्टकाकीर्ण हो। सर्प, भयंकर सर्दी, रुग्ण अवस्था, अर्श की व्याधि से पीड़ित, सुकुमाल आदि हो या पैरों में जख्म आदि हो तो विशेष परिस्थिति में चर्म उपकरणों का उपयोग किया जा सकता है। पर उत्सर्ग मार्ग में नहीं।

नित्य अग्र-पिण्ड, दान-पिण्ड आदि का निषेध है। भिक्षा के पूर्व या बाद में दाता की प्रशंसा करना। भिक्षा के लिए समय से पूर्व गृहस्थों के घरों में जाना। अन्यतीर्थिक के साथ, गृहस्थ के साथ, पारिहारिक व अपारिहारिक के साथ भिक्षा के लिए जाना। इनके साथ स्वाध्याय भूमि और उच्चार-प्रश्रवण भूमि में प्रवेश करना। इन तीनों के साथ ग्रामानुग्राम विहार करना। मनोज्ञ आहार पानी का उपयोग करना, अमनोज्ञ को परठना, बचा हुआ आहार साम्भोगिक साधुओं को पूछे बिना ही परठना। सागारिक-पिण्ड ग्रहण करना व उसका उपयोग करना। सागारिक के यहाँ—बिना घर जाने भिक्षा के लिए जाना। शय्या संस्तारक की अवधि का शेषकाल और वर्षाकाल में उल्लंघन करना। वर्षा से भीगते हुए शय्या संस्तारक को छाया में न रखना। दूसरी बार बिना आज्ञा लिये अन्यत्र ले जाना। प्रातिहारिक शय्या संस्तारक को बिना लौटाये विहार करना। शय्या संस्तारक गुम हो जाने पर उसकी अन्वेषणा न करना। अल्प उपधि की भी प्रतिलेखना न करना। इस प्रकार दूसरे उद्देशक में विविध प्रवृत्तियों का लघुमासिक प्रायश्चित्त बतलाया है।

इस उद्देशक में जिन बातों का निषेध किया गया है उन बातों के निषेध का वर्णन बृहत्कल्प, आचारांग, दशवैकालिक, पिण्डनिर्युक्ति आदि में भी है। इन सब प्रायश्चित्त के योग्य स्थानों का लघुमास प्रायश्चित्त का निरूपण द्वितीय उद्देशक में हुआ है। विवेचन में इन सभी विषयों पर संक्षिप्त और सारगर्भित प्रकाश भी डाला है।

तृतीय उद्देशक

तृतीय उद्देशक में ८० सूत्र हैं। जिन पर १४३८-१५५४ तक भाष्य की गाथाएँ हैं। एक सूत्र से लेकर बारह सूत्र तक धर्मशाला, मुसाफिरखाना, आरामगार या गृहपति के कुल आदि में उच्च स्वर से आहार आदि मांगने का, गृहस्वामी के मना करने पर पुनः पुनः उसके घर आहारादि के लिए जाने का, सामूहिक भोज में जाकर अशन पान ग्रहण करने का, पैरों के परिमार्जन, परिमर्दन, प्रक्षालन आदि का व शरीर के परिमार्जन, परिमर्दन, संवाहन आदि का निषेध है। बढ़े हुए बाल, नाखून आदि काटने का, विहार करते हुए मस्तक ढकना, श्मशान भूमि में, खदान में, जहाँ कोयले आदि निर्मित होते हों उस स्थान में, फल संग्रह के स्थान में, सब्जी आदि रखने के स्थान में, उपवन, धूप न आने के स्थान में मलविसर्जन का निषेध है और इन प्रवृत्तियों को करने वाले साधक के लिए लघुमासिक प्रायश्चित्त का वर्णन है।

प्रस्तुत आगम के अतिरिक्त आवश्यकसूत्र, आचारांगसूत्र, दशवैकालिकसूत्र, प्रश्नव्याकरण आदि में भी अनेक कार्य श्रमणों के लिए अकरणीय हैं ऐसा वर्णन प्राप्त होता है।

चतुर्थ उद्देशक

चतुर्थ उद्देशक में १२८ सूत्र हैं। इन सूत्रों पर १५५५-१८९४ गाथाओं तक का भाष्य है। इस उद्देशक में राजा को, राजा के रक्षक को, नगररक्षक को, सर्वरक्षक को, ग्रामरक्षक को, राज्यरक्षक को, देशरक्षक को, सीमारक्षक को वश में करना और वश में करने के लिए उनके गुणानुवाद करना। सचित्त धान्य आदि का आहार करना। आचार्य आदि की अनुमति के बिना दूध आदि विकृतियाँ ग्रहण करना। स्थापनाकुल जाने बिना भिक्षा के लिए जाना। अविधि से निर्ग्रन्थियों के उपाश्रय में प्रवेश करना। निर्ग्रन्थियों के आने के रास्ते में दण्ड आदि रख देना। नवीन कलह उत्पन्न करना। उपशान्त कलह को पुनः जागृत करना। ठहाका मारकर हंसना। पार्श्वस्थ,

अवसन्न, कुशील, संसक्त, नित्यक इन पाँच प्रकार के श्रमणों को अपने सन्त को देना और लेना। अप्काय, पृथ्वीकाय प्रभृति सचित्त पदार्थों से लिप्त हाथों द्वारा आहार आदि लेना। शरीर परिकर्म करना। सन्ध्या के समय तीन उच्चार-प्रस्रवण भूमि का प्रतिलेखन न करना। संकीर्ण स्थान में मल-मूत्र का विसर्जन करना। मल-मूत्र के त्याग करने के पश्चात् उसका शुद्धिकरण न करना। प्रायश्चित्त वहन करने वाले के साथ भिक्षा के लिए जाना इत्यादि विषयों पर प्रायश्चित्त का चिन्तन किया गया है और यह कार्य न करने के लिए निषेध किया गया है। उसके लिए मासिक उद्घातिक परिहारस्थान अर्थात् लघुमासिक (मास-लघु) प्रायश्चित्त का विधान है। श्रमण और श्रमणियों को अपनी साधना के प्रति तल्लीन रहना चाहिए। साधना को विस्मृत कर यदि राजा आदि को वश में करने के लिए प्रयास करेगा तो साधना में बाधाएँ उपस्थित होंगी। राजा आदि जहाँ प्रसन्न होते हैं वहाँ वे शीघ्र ही नाराज भी हो जाते हैं। इसलिए प्रतिकूल होने पर उपसर्ग भी दे सकते हैं। अतः प्रस्तुत आगम में उन्हें प्रसन्न करने के लिए और आकर्षित करने के लिए निषेध किया गया है। साधक को अपनी मस्ती में ही रहकर के साधना करनी चाहिए।

प्रस्तुत उद्देशक में साधक को विवेकयुक्त प्रवृत्ति करने का संकेत किया है। श्रामण्य जीवन का सार क्षमा है। क्रोध में विचारक्षमता और तर्कशक्ति प्रायः शिथिल हो जाती है। क्रोध मानसिक आवेश है। उस आवेश से शत्रुता जन्म लेती है और उसमें अनुज्ञा ग्रहण करने का संकल्प होता है। कलह के मूल में कषाय है। अतः कलह करने का और पुराने कलह को पुनः जगाने का निषेध किया है। दियासलाई दूसरों को जलाने के पूर्व स्वयं जल जाती है। दूसरा जले या न जले पर वह स्वयं तो जलती ही है। वैसे ही कलह करने वाला स्वयं कर्मबन्धन करता ही है। कलह पाप है अतः उससे साधक को बचना चाहिए।

श्रमणों को अट्टहास करने का भी निषेध किया गया है। श्रमण का अनमोल समय स्वाध्याय और ध्यान में लगाने का है। हँसी-मजाक और अट्टहास से कई बार बात-बात में कलह हो जाता है। द्रौपदी के खिल-खिलाकर हंसने का परिणाम ही महाभारत का युद्ध है। इस प्रकार चतुर्थ उद्देशक में बताया है कि श्रमणों को वे प्रवृत्तियाँ नहीं करनी चाहिए जिससे साधना का मार्ग धूमिल हो। मल-मूत्र का विसर्जन भी ऐसे स्थान पर नहीं करना चाहिए जहाँ पर जीवों की विराधना होने की सम्भावना हो। साथ ही लोकापवाद होने की सम्भावना हो।

पांचवां उद्देशक

पांचवें उद्देशक में ५२ सूत्र हैं। किन्हीं-किन्हीं प्रतियों में ७७ सूत्र भी प्राप्त होते हैं। जिन पर १८९५-२१९४ गाथाओं में सविस्तृत भाष्य है। सर्वप्रथम सचित्त वृक्ष के मूल के निकट बैठकर कायोत्सर्ग करना, बैठना, खड़ा रहना, शयन करना, आहार करना, लघुशंका करना, शौच आदि करना और स्वाध्याय आदि करने का निषेध है। अपनी चादर अन्य तीर्थिक या गृहस्थ से सिलाने का, मर्यादा से अधिक लम्बी चादर रखने का भी निषेध है। पलास, नीम आदि के पत्तों को अचित्त पानी या शीत पानी से धोकर रखने का निषेध है। पादप्रोंछन, दण्ड, यष्टि, सूई, लौटाने योग्य वस्तुओं को नियत अवधि के भीतर लौटा देने का विधान है। सन, कपास आदि कातने का, सचित्त रंगीन और विविध रंगों से आकर्षक दण्ड बनाने और रखने का, मुख, दन्त, ओष्ठ, नासिका आदि को वीणा के समान बजाने का निषेध है। औद्देशिक उद्दिष्ट शय्या का उपयोग करने का, रजोहरण प्रमाण से अधिक बड़ा बनाना, फलियाँ सूक्ष्म बनाना, फलियों को आपस में सम्बद्ध करना। अविधि से बाँधकर रखना। अनावश्यक एक भी बन्धन कराना और आवश्यक भी तीन बन्धन से अधिक बन्धन करना। पाँच प्रकार के अतिरिक्त अन्य जाति के रजोहरण बनाना दूर रखना। पाँव आदि से दबाना, सिर के नीचे रखना इत्यादि सभी प्रवृत्तियों का लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है। अतः साधक को इन सब प्रवृत्तियों से बचना चाहिए।

छठा उद्देशक

छठे उद्देशक में ७८ सूत्र हैं। जिन पर २१९९-२२८६ गाथाओं तक का सविस्तृत भाष्य है। कुशीलसेवन की भावना से किसी भी स्त्री का अनुनय-विनय करना, हस्तकर्म करना, अंगादान संचालन तथा कलह आदि करना। चित्र-विचित्र वस्त्र रखना, धारण करना। पौष्टिक आहार करना आदि कार्य करने पर गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है। ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए साधक को सभी प्रवृत्तियों के लिए निषेध किया गया है। दिल में जब विकार भावनाएँ जागृत होती हैं तब कामेच्छा से व्यक्ति किस-किस प्रकार की प्रवृत्तियाँ करता है, उसका मनोवैज्ञानिक वर्णन प्रस्तुत अध्याय में किया गया है।

सातवां उद्देशक

सातवें उद्देशक में ९२ सूत्र हैं। जिस पर २२८७-२३४० गाथाओं में भाष्य लिखा गया है। प्रस्तुत अध्याय में भी मैथुन सम्बन्धी निषेध बताया गया है। कामेच्छा के संकल्प से उत्प्रेरित होकर विविध प्रकार की मालाएँ, विविध प्रकार के कड़े, विविध प्रकार के आभूषण, विविध प्रकार के चर्मवस्त्र बनाना रखना और पहनना, कामेच्छा से स्त्री के अंगोपांग का संचालन करना, शरीर-परिकर्म करना, सचित्त पृथ्वी पर सोना बैठना, परस्पर चिकित्सा आदि करना। पशु-पक्षी के अंगोपांग को स्पर्श करने का निषेध किया गया है। इन प्रवृत्तियों को करने वालों को गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

छठे और सातवें दोनों उद्देशकों में कामेच्छा से किए गये कार्यों के लिए प्रायश्चित्त का विधान है। इनमें कुछ बातें ऐसी भी हैं जो बिना कामेच्छा के भी करनी नहीं कल्पती, जैसे सचित्त भूमि आदि पर बैठना।

आठवां उद्देशक

आठवें उद्देशक मे १८ सूत्र हैं। जिन पर २३४१-२४९५ गाथाओं तक भाष्य है। धर्मशाला, उद्यान, अट्टालिका, दगमार्ग, शून्यगृह, तृणगृह, पानशाला, दुकान, गोशाला में एकाकी श्रमण, एकाकी महिला के साथ रहे, आहार आदि करे, स्वाध्याय करे, शौचादि साथ जाये, विकारोत्पादक वार्तालाप करे। रात्रि के समय स्त्रीपरिषद् या स्त्री-पुरुषयुक्त परिषद् में अपरिमित कथा करे तथा श्रमणियों के साथ विहारादि करे। उपाश्रय मे रात्रि के समय मे महिलाओं को रहने देवे, मना न करे। उनके साथ बाहर आना-जाना करे आदि प्रवृत्तियों का निषेध है। स्त्री संसर्ग का निषेध दशवैकालिक उत्तराध्ययन आदि अन्य आगमों में भी यत्र-तत्र है। सर्वत्र साधक को यही प्रेरणा दी गई है कि वह महिलाओं का अधिक सम्पर्क न रखे। अधिक सम्पर्क से साधक च्युत हो सकता है।

प्रस्तुत अध्याय में मूर्द्धाभिषिक्त राजा के अनेक प्रकार के महोत्सवों में आहार ग्रहण करने का निषेध है। मूर्द्धाभिषिक्त राजा जब उत्तरशाला यानी मण्डप में रहता हो तब भी आहार ग्रहण करने का निषेध है। इसी प्रकार अश्वशाला, हस्तिशाला, मन्त्रणागृह, गुप्तविचारगृह आदि में रहे हुए राजा के आहार ग्रहण का निषेध है। पांच सूत्रों में राजपिण्ड ग्रहण करने का निषेध किया है और ग्रहण करने पर गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर राजपिण्ड ग्रहण करने का निषेध है। जिसका राज्याभिषेक हुआ हो वह राजा कहलाता है। उसका भोजन राजपिण्ड है।[1] जिनदासगणि महत्तर के अभिमतानुसार सेनापति,

---

१. (क) दशवैकालिक अगस्त्यसिंहचूर्णि
(ख) दशवैकालिक जिनदासचूर्णि ११२-१३ (ग) कल्पदर्पणम् गा. ९ पृ. १.
(घ) कल्पसूत्र कल्पलता ४ पृ. २ समयसुन्दर (ङ) कल्पार्थबोधिनी ४ पृ. २

अमात्य, पुरोहित, श्रेष्ठी और सार्थवाह सहित जो राजा राज्य का उपभोग करता है, उसका पिण्ड ग्रहण नहीं करना चाहिए। अन्य राजाओं के लिए नियम नही है। यदि दोष की सभावना है तो ग्रहण नही करना चाहिए और निर्दोष है तो ग्रहण किया जा सकता है।[1]

राजपिण्ड का तात्पर्य राजकीय भोजन से है। राजकीय भोजन सरस, मधुर व मादक होता है, जिसके सेवन से रसलोलुपता बढने की सम्भावना रहती है। ऐसा सरस आहार सर्वत्र सुलभ नहीं होता। अतः रसलोलुप बनकर मुनि कही अनेषणीय आहार ग्रहण न करे इसीलिए राजपिण्ड का निषेध किया है। एषणाशुद्धि ही प्रस्तुत विधान की आत्मा है। यदि कोई इस विधान को विस्मृत करके राजपिण्ड को ग्रहण करता है या राजपिण्ड का उपयोग करता है तो श्रमण को चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।[2] राजपिण्ड के निषेध के पीछे अन्य तथ्य भी रहे हुए हैं।[3] जिनका उल्लेख निशीथभाष्य और चूर्णि मे किया गया है। राजभवन में प्रायः सेनापति आदि का आवागमन रहता है। कभी शीघ्रता आदि के कारण श्रमण के चोट लगने की और पात्रादि फूटने की भी सम्भावना रहती है।[4] वे अपशकुन भी समझ सकते हैं अतः राजपिण्ड को अनाचीर्ण माना है।[5]

भगवान् महावीर और ऋषभदेव के श्रमणों के लिए ही राजपिण्ड का निषेध है पर बावीस तीर्थंकरों के श्रमणों के लिए नही।[6] राजपिण्ड मे चार प्रकार के आहार, वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण—ये आठ वस्तुएं परिगणित की गई हैं और आठो ही अग्राह्य मानी हैं।[7]

नौवां उद्देशक

नौवें उद्देशक मे २५ सूत्र हैं। जिन पर २४९६-२६०५ गाथाओ में भाष्य लिखा है। इस उद्देशक में भी राजपिण्ड ग्रहण करने का निषेध किया गया है। श्रमण को राजा के अन्त पुर में प्रवेश नही करना चाहिए। भाष्यकार ने तीन अन्तःपुरो का उल्लेख किया है—जीर्ण अन्त पुर, नवअन्त.पुर और कन्या-अन्तःपुर। अन्तःपुर में एक से एक सुन्दर स्त्रियां रहती थी। राजा अन्तःपुर को अधिक से अधिक समृद्ध और सुन्दर बनाने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र ग्रन्थ मे वृद्धा स्त्रियों को और नपुंसकों को अन्त पुर की रक्षा के लिए तैनात रखें ऐसा विधान किया है। अन्त.पुर मे सगे-सम्बन्धी या नौकर-चाकर के अतिरिक्त कोई भी व्यक्ति प्रवेश नही करता था। राजा अन्तःपुर की सुरक्षा अत्यधिक सावधानी से करता था। श्रमण के अन्त.पुर मे जाने से राजा के अन्तर्मानस में कुशंकाएँ उत्पन्न होना स्वाभाविक था, अतः श्रमण के लिए अन्त.पुर में जाने का निषेध किया गया है।

स्वयं श्रमण तो अन्त पुर मे प्रवेश न करे किन्तु अन्तःपुर के द्वार पर जो महिला नियुक्त की गई हो उससे भी आहारादि मंगवाना और ग्रहण करना निषिद्ध है। राजा के द्वारपाल, अन्य अनुचर, सैनिक, दास, दासी, घोड़ों व हाथी के निमित्त, अटवी के यात्रियों के लिए, दुर्भिक्ष और दुष्काल पीड़ित व्यक्तियों के लिए, गरीब व्यक्तियों के लिए,

---

१. निशीथभाष्य गा. २४८७ चूर्णि
२. निशीथ९।१।२
३. (क) कल्पार्थबोधिनी, कल्प ४, पृ. २ (ख) कल्प समर्थन १०।१
४. निशीथभाष्य, गा. २५०३-२५१०
५. दशवैकालिक ३।३
६. (क) कल्पलता टीका (ख) कल्पद्रुमकलिका, पृ. २
७. कल्पसमर्थन, गा. ११, प. २

रोगियों के लिए, वर्षा से पीड़ित व्यक्तियों के लिए व महमानों के लिए जो भोजन राजकुलों में बनता है उसे लेने के लिए निषेध किया है और लेने पर गुरु चौमासी का प्रायश्चित्त बताया है। दण्डधर, दण्डरक्षक, दौवारिक, वर्षधर, कंचुकिपुरुष और महत्तर प्रभृति व्यक्ति अन्तःपुर की सुरक्षा के लिए नियुक्त रहते थे। राजा-रानी को देखने के लिए जाने का भी निषेध है। शिकार आदि के लिए गये हुये राजा का आहार ग्रहण न करें। जहां राजा भोजन करने गये हों वहां भिक्षा के लिए भी न जावें। राजा की सर्वालंकार विभूषित स्त्रियों के पांव तक भी देखने का विचार नहीं करना चाहिए। राज्यसभा के विसर्जित होने के पूर्व आहार आदि के लिए गवेषणा नहीं करना चाहिए। राजा के निवासस्थान के पास स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। प्राचीन काल में चम्पा, मथुरा, वाराणसी, श्रावस्ती, साकेत, कम्पिल, कौशाम्बी, मिथिला, हस्तिनापुर और राजगृह ये दस राजधानियां मानी जाती थी। जहां पर सदैव राज्योत्सव होते रहते थे। इसलिए श्रमणों को बार-बार वहां जाने के लिये प्रस्तुत उद्देशक में निषेध किया गया है। निषेध की अवहेलना करने पर गुरु चातुर्मासी प्रायश्चित्त का विधान है। विस्तारभय से हम उन राजधानियों का परिचय यहां नहीं दे रहे हैं। अतीत काल में उनकी अवस्थिति कहां थी ? वर्तमान में उनकी अवस्थिति कहां है, प्रस्तुत उद्देशक में राजपिण्ड के अतिरिक्त राजा से सम्बन्धित अनेक प्रसंगों का भी प्रायश्चित्त बताया गया है। इसका मूल कारण यही है कि आज्ञा की अवहेलना के साथ ही अन्य अनेक हानियां भी हो सकती हैं।

दसवां उद्देशक

दसवें उद्देशक में ४१ सूत्र हैं। किन्हीं-किन्हीं प्रतियों में ४७ सूत्र भी मिलते हैं। जिन पर २६०६-३२७५ गाथाओं का भाष्य है। आचार्य श्रमण संघ का अनुशास्ता है। अनन्त आस्था का केन्द्र है। तीर्थंकर के अभाव में आचार्य ही तीर्थ का संचालन करता है। अतः उसके प्रति अत्यधिक बहुमान रखना प्रत्येक साधक का परम कर्तव्य है। आचार्य के प्रति बहुमान युक्त शब्दों का ही प्रयोग होना चाहिए। जो भिक्षु आचार्य आदि को रोष युक्त वचन बोलता है, स्नेह रहित रूक्ष वचन बोलता है, आशातना करता है, उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है। दशाश्रुतस्कन्ध में ३३ आशातनाओं का निर्देश किया गया है। भाष्य में आशातनाओं के अपवाद का भी उल्लेख है। जो द्रव्य क्षेत्र काल भाव विवेक पर आधारित हैं। अपवाद में जैसे मार्ग में अत्यधिक कांटे बिछे हुए हों, उन कांटों को अलग-अलग करने के लिए शिष्य गुरु से भी आगे चलता है तो आशातना नहीं है।

प्रस्तुत उद्देशक में अनन्तकाय संयुक्त आहार ग्रहण करने का निषेध किया गया है। आधाकर्मी आहार का निषेध किया गया है। आधाकर्म उपधि का भी निषेध है। श्रमणों को लाभालाभ निमित्त नहीं बताना चाहिए। किसी भी निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थी को बहकाना भी नहीं चाहिए और न उनका अपहरण करना चाहिए। न दीक्षार्थी, गृहस्थ, गृहस्थिनी को बहकाना चाहिए। बाहर से आने वाले श्रमण को आने का कारण जानने के पश्चात् ही आश्रय दे। क्योंकि कहीं से वह लड़ाई-झगड़ा आदि करके तो नहीं आया है, कलह को उपशान्त न करने वाले या प्रायश्चित्त न करने वाले के साथ आहार न करे। उनके साथ आहार करने पर तथा प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में विपरीत प्ररूपणा करने पर, सूर्योदय या सूर्यास्त की संदिग्ध स्थिति में भी आहार करने पर, रात्रि के समय मुख में आये हुए उद्गाल को निगल जाने पर, ग्लान की विधिपूर्वक सेवा न करने पर, वर्षावास में विहार करने पर, निश्चित दिन पर्युषण न करने पर, अनिश्चित दिन पर्युषण करने पर, पर्युषण के दिन चौविहार उपवास न करने पर, लोच न करने पर, वर्षावास में वस्त्र ग्रहण करने पर चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का वर्णन है। दशाश्रुतस्कन्ध,[1] उत्तराध्ययन,[2] दशवैकालिक[3] और अन्य आगमों में भी आशातना करने का निषेध किया गया है।

---

१. दशाश्रुतस्कन्ध दशा १ व ३

२. उत्तराध्ययन अ. १ व ७

३. दशवैकालिक में अध्ययन ९

आचारांग[1] के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में अनन्तकाय युक्त आहार आ जाय तो उसे 'परिस्थापन कर दिया जाय' ऐसा कथन है।

आगम साहित्य मे आचारांग[2] सूत्रकृतांग[3] आदि में अनेक स्थानों पर आधाकर्म दोषयुक्त आहार श्रमण ग्रहण न करे, ऐसा विधान है। निमित्त कथन भी इसीलिए वर्ज्य है कि उसमें असत्य लगने की सम्भावना रहती है। महावीर के शासन की अनेक विशेषताओ में ये दो मुख्य विशेषताएँ हैं। रात्रिभोजनविरति पर उन्होंने अत्यधिक बल दिया और ब्रह्मचर्य की साधना पर भी उनका अत्यधिक बल था।

वैदिक परम्परा मे वानप्रस्थाश्रम आदि में पत्निया साथ रहती थी पर महावीर ने पूर्ण निषेध किया था। इसका मूल अहिंसा की उदात्त साधना में रहा हुआ है। आधुनिक वैज्ञानिको ने भी रात्रिभोजन से होने वाली हानियों का उल्लेख किया है।[4] हमने विस्तार के साथ जैन आचार सिद्धान्त स्वरूप और विश्लेषण ग्रन्थ में प्रकाश डाला है। बृहत्कल्प में वर्षावास में विहार करने का और वस्त्र ग्रहण करने का निषेध किया है। ग्लान श्रमणों की सेवा पर विशेष बल दिया गया है और न करने पर प्रायश्चित्त का विधान है। पर्युषण महापर्व के सम्बन्ध में भी विशेष विधान और प्रायश्चित्त प्रस्तुत उद्देशक में किये गये हैं। इन सबके लिए चौमासी प्रायश्चित्त का उल्लेख किया गया है।

ग्यारहवां उद्देशक

ग्यारहवें उद्देशक मे ९१ सूत्र हैं। जिन पर ३२७६-३९७५ गाथाओं का भाष्य है। प्रस्तुत उद्देशक मे लोहे, तावे, शीशे, सीग, चर्म, वस्त्र प्रभृति के पात्र रखने, उसमें आहार करने का निषेध है। धर्म की निन्दा और अधर्म की प्रशंसा करने का निषेध है। गृहस्थ के शरीर का परिकर्म करना। स्वयं को या अन्य को डराना, स्वयं या अन्य को विस्मृत करना, स्वयं को या अन्य को विपरीत दिखाना। जो व्यक्ति सामने है उसके धर्म प्रमुख के सिद्धान्तों की आचारादि की मिथ्या प्रशंसा करना। दो विरोधी राज्यों के मध्य पुन: पुन: गमनागमन करना। दिवस-भोजन की निन्दा, रात्रिभोजन की प्रशसा। मद्य-मांस आदि के ग्रहण का निषेध। स्वच्छन्दाचारी की प्रशंसा करने का निषेध। अयोग्य व्यक्तियों को दीक्षा देने का निषेध। अयोग्य से सेवा कराने का निषेध। अचेल या सचेल साधु का अचेल या सचेल साध्वियो के साथ रहना निषिद्ध है। चूर्ण, नमक आदि को रात्रि में रखना, आत्मघात करने वालों की प्रशंसा करना आदि दोषों के सेवन करने वालों को गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है। प्रस्तुत उद्देशक में जिन-जिन विषयों की चर्चाएँ हुई हैं, अन्य आगमों में उसका निर्देश है। विवेचक मुनिप्रवर ने अपने विवेचन मे यत्र-तत्र उन स्थलो का निर्देश किया है। विस्तारभय से उन सभी विषयो पर हम जानकर नही लिख रहे हैं।

बारहवां उद्देशक

बारहवें उद्देशक में ४४ सूत्र हैं और ३९७६-४२२५ गाथाओं मे भाष्य लिखकर उन-उन सूत्रों पर विस्तार से विवेचन किया गया है। पहले सूत्र में करुणा से उत्प्रेरित होकर श्रमण न त्रस जीवों को रस्सी से बांधे और न बन्धनमुक्त करे। यह सहज जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है कि अनुकम्पा, करुणा यह सम्यक्त्व का लक्षण है फिर इसका निषेध क्यों? उसका मूल कारण है कि उसे निस्पृहभाव से संयमसाधना करनी है। यदि वह संयम साधना

१. आचारांग २, १।१
२. आचाराग २।१।९
३. सूत्रकृताग १।१०।८-१७
४. जैन आचार सिद्धान्त स्वरूप और विश्लेषण, पृ. ८।६।६

को विस्मृत कर इस प्रकार की प्रवृत्तियां करेगा तो उसकी साधना में विघ्न आयेंगे। यहां पर करुणाभाव या अनुकम्पाभाव का प्रायश्चित्त नहीं है अपितु गृहस्थों की सेवा और संयम विरुद्ध प्रवृत्ति का प्रायश्चित्त है।

जो श्रमण पुनः पुनः प्रत्याख्यान भंग करता है और करने वाले का अनुमोदन करता है उसे लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है। भाष्य में प्रत्याख्यान भंग करने से अनेक दोष पैदा होते हैं। रोम युक्त चर्म रखने का निषेध है। गृहस्थ के वस्त्राच्छादित तृणपीठ आदि पर बैठने का निषेध है। साध्वी की चादर अन्यतीर्थिक या किसी गृहस्थ से सिलवाने का निषेध है। पृथ्वीकाय आदि पांचों स्थावरों के जीवों की किञ्चित् भी विराधना करने का निषेध है। सचित्त वृक्ष पर चढ़ने का निषेध है। गृहस्थ के पात्र में भोजन करने का निषेध है। गृहस्थ का वस्त्र पहनना और उसकी शय्या पर सोने का निषेध है। वापी, सर, निर्झर, पुष्करिणी आदि का सौन्दर्यदृष्टि से निरीक्षण करने का निषेध है। सुन्दर ग्राम, नगर, पट्टन आदि को देखने की अभिलाषा रखने का निषेध है। अश्वयुद्ध, हस्ति-युद्ध आदि में सम्मिलित होने का निषेध है। काष्ठकर्म, चित्रकर्म, लेपकर्म, दन्तकर्म आदि देखने का निषेध है। प्रथम प्रहर में ग्रहण किया हुआ आहार-पानी का उपयोग चतुर्थ प्रहर में करने का निषेध है। दो कोश के आगे आहार-पानी ले जाने का निषेध है। गोबर या अन्य लेप्य पदार्थ रात्रि में लगाना या रात्रि में रखकर दिन में लगाने का निषेध है। गंगा, यमुना, सरयू, ऐरावती और मही नाम की बड़ी नदियों को महीने में दो या तीन बार पार करने का निषेध है। इन निषेध प्रवृत्तियों को करने पर लघुचौमासी प्रायश्चित्त का उल्लेख है।

प्रस्तुत उद्देशक में जिन बातों का निषेध किया गया है उनका निषेध दशाश्रुतस्कन्ध आचारांग बृहत्कल्प दशवैकालिक सूत्रकृतांग प्रभृति आगमों में मिलता है। साधक को इस प्रकार की प्रवृत्तियां नहीं करनी चाहिए जो उसकी साधना को धूमिल करने वाली हों।

तेरहवां उद्देशक

तेरहवें उद्देशक में ७८ सूत्र हैं। जिन पर ४२२६-४४७२ गाथाओं का विस्तृत भाष्य है। सचित्त, सस्निग्ध, सरजस्क आदि पृथ्वी पर सोने, बैठने व स्वाध्याय करने का, देहली, स्नानपीठ, भित्ति, शिला आदि पर बैठने का, अन्यतीर्थिक या गृहस्थ आदि को शिल्प आदि सिखाने का, कौतुककर्म, भूतिकर्म, प्रश्न, प्रश्नादि प्रश्न, निमित्त, लक्षण आदि के प्रयोग करने का, गृहस्थ को मार्गभ्रष्ट होने पर रास्ता बताने का, धातुविद्या या निधि बताने का, पानी से भरे हुए पात्र, दर्पण, मणि, तेल, मधु, घृत आदि में मुंह देखने का, वमन, विरेचन तथा बल आदि के लिए व बुद्धि के लिए औषध आदि सेवन का, पार्श्वस्थ आदि शिथिलाचारियों को वन्दन करने का तथा उत्पादन के दोषों का सेवन कर आहार ग्रहण करने का निषेध है, इत्यादि प्रवृत्तियां करने वाले साधक को लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

तेरहवें उद्देशक में जिन-जिन निषेधों की चर्चा की है उनमें से कुछ बातों पर आचारांग सूत्रकृतांग दशवैकालिक उत्तराध्ययन आदि में भी निषेध है। पिण्डनिर्युक्ति में उत्पादन दोष आदि पर विस्तार से विवेचन है। सारांश यही है कि साधक प्रतिपल प्रतिक्षण जागरूक रहे। दोषयुक्त कोई भी प्रवृत्ति न करे।

चौदहवां उद्देशक

चौदहवें उद्देशक में ४१ सूत्र है। किन्हीं-किन्हीं प्रतियों में ४५ सूत्र भी मिलते हैं। जिन पर ४४७३-४६८९ गाथाओं का विस्तृत भाष्य है। यहाँ पर पात्र को खरीदने, उधार लेने, पात्र परिवर्तन करने, छीन करके पात्र लेना। पात्र के हिस्सेदार की आज्ञा लिये बिना पात्र लेना। सामने लाया हुआ पात्र लेना। आचार्य की आज्ञा लिये बिना

किसी अन्य को अतिरिक्त पात्र देना। अविकलांग या समर्थ को अतिरिक्त पात्र देना। विकलांग व असमर्थ को अतिरिक्त पात्र न देना। उपयोग में आने योग्य पात्र को न रखना और उपयोग में न आने योग्य पात्र को रखना। नवीन सुरभिगन्ध या दुरभिगन्ध युक्त पात्र को विशेष चित्ताकर्षक बनाने का, गृहस्थ से पात्र ग्रहण करते समय उस पात्र में से त्रस जीव, बीज, कन्दमूल, पुष्प, पत्र आदि निकालकर लेने का, परिषद् से निकलकर पात्र की याचना करने का तथा पात्र के लिए मासकल्प और चातुर्मास रहने का निषेध है, इत्यादि प्रवृत्तियाँ करने पर लघुचौमासी प्रायश्चित्त का विधान है।

प्रस्तुत उद्देशक में विस्तार के साथ पात्र के सम्बन्ध में विविध दृष्टियों से चिन्तन किया गया है। आचाराङ्गसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में श्रमणों को क्रीत, प्रामृत्य, आच्छेद्य, अनिसृष्ट और अभिहृत पात्र लेने का निषेध किया गया है और यह भी सूचन किया गया है जो पात्र उपयोग में आवे उसे श्रमण ग्रहण करे और पात्रों को रंग-बिरंगे नहीं बनावे तथा ऐसे स्थान पर भी पात्रों को नहीं सुखाना चाहिए जहाँ पर पात्र गिरने की सम्भावना हो।

पन्द्रहवां उद्देशक

पन्द्रहवें उद्देशक में १५४ सूत्र हैं। जिन पर ४६९०-५०९४ का विस्तृत भाष्य है। प्रथम चार सूत्रों में सामान्य श्रमणों की आसातना करने का और आठ सूत्रों में सचित्त आम्र, आम्रपेशी, आम्रचोयक आदि खाने का लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त बताया है। उसके पश्चात् गृहस्थ से परिकर्म करवाने का, अकल्पनीय स्थानों में मल-मूत्र परठने का और पार्श्वस्थ आदि को आहार, वस्त्र आदि देने और उनसे लेने का निषेध किया गया है। विभूषा की दृष्टि से शरीर का परिकर्म करना, वस्त्र आदि का परिमार्जन प्रक्षालन करना निषिद्ध है। ये प्रवृत्तियाँ करने पर लघुचौमासी प्रायश्चित्त बतलाया गया है।

प्रस्तुत उद्देशक में जिन-जिन बातों की चर्चा है उसकी चर्चा आचाराङ्ग द्वितीय श्रुतस्कन्ध में भी आई है। वहाँ पर भी सचित्त आम आदि फलों को खाने का निषेध किया गया है। गृहस्थ से शरीर परिकर्म करवाने का निषेध किया गया है और अकल्पनीय स्थानों पर मल-मूत्र विसर्जन का भी निषेध किया गया है। उत्तराध्ययन व दशवैकालिक में विभूषा की दृष्टि से प्रवृत्ति करने का निषेध किया गया है। विभूषावृत्ति को तालपुटविष से उपमित किया गया है।

सोलहवां उद्देशक

सोलहवें उद्देशक में ५० सूत्र हैं। जिन पर ५०९५-५९०३ गाथाओं का विस्तृत भाष्य है। भिक्षु को सागारिक आदि की शैय्या में प्रवेश करने का, सचित्त ईख, गण्डेरी आदि खाना या चूसने का, अरण्य में रहने वाले, वन में जाने वाले, अटवी की यात्रा करने वालों का अशन-पान लेने, असयमी को संयमी, सयमी को असंयमी कहने का तथा कलह करने वाले तीर्थिकों से अशन-पान आदि ग्रहण करने का निषेध किया गया है। भाष्यकार ने सप्तनिह्नवों का वर्णन किया है। क्रोध में आकर जो अपने ही दांतों से दूसरों को काट लेते हों ऐसे दस्यु, अनार्य, म्लेच्छ और प्रत्यन्त देशवासियों के जनपदों में विहार करने का निषेध किया है। ये देश अनार्य देश थे। मगध, कौशाम्बी, थूणा, कुणाला आदि पच्चीस देशों को आर्य देश माना गया है। जुगुप्सित कुलों से अशन, पान, वस्त्र, कम्बल आदि ग्रहण करने का और वहाँ पर स्वाध्याय आदि करने का भी निषेध है। अन्यतीर्थिक या गृहस्थों के साथ भोजन ग्रहण करने का निषेध है। आचार्य, उपाध्याय आदि के आसन पर पैर लग जाने पर विनय किये बिना चले

जाना। प्रमाण और आगमोक्त परिमाण से अधिक उपधि रखने का निषेध किया गया है। सचित्त भूमि पर और अन्य विराधना वाले स्थानों पर मल-मूत्र विसर्जन करने का निषेध है।

सोलहवें उद्देशक में जिन-जिन बातों की चर्चा की गई है और जिन-जिन कार्यों का निषेध किया गया है, उसकी चर्चा आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प और दशाश्रुतस्कन्ध में भी है। आगम-साहित्य में यत्र-तत्र साधक को सावधान किया गया है कि वह इस प्रकार की प्रवृत्ति न करे जो संयमी जीवन को विकृत बनाये।

सत्रहवां उद्देशक

सत्रहवें उद्देशक में १५२ सूत्र हैं। किन्हीं-किन्हीं प्रतियों में १५१ सूत्र मिलते हैं। जिन पर ५९०४-५९९६ गाथाओं का भाष्य है। कुतूहल से त्रस प्राणियों को रस्सी आदि से बांधने और खोलने का निषेध है। कुतूहल से अनेक प्रकार की मालाएँ, विविध प्रकार की मालाएं, कड़े, आभूषण बनाने रखने का निषेध है। विविध प्रकार के वस्त्रों का भी इसमें उल्लेख हुआ है। श्रमण को कुतूहलवृत्ति से रहित गम्भीर स्वभाव वाला होना चाहिए। कुतूहलवृत्ति से लोकापवाद भी होता है। श्रमण और श्रमणियों का गृहस्थों के द्वारा परिकर्म करवाने का, बन्द बर्तन आदि खुलवाकर आहार लेने का, सचित्त पृथ्वी पर रखे हुए आहार को लेने का, तत्काल बने हुए अचित्त शीतल जल लेने का और आचार्य पद योग्य मेरे शारीरिक लक्षण हैं, इस प्रकार कहने का निषेध किया गया है। विविध वाद्य बजाना, हंसना, नृत्य करना, पशुओं की तरह आवाज निकालना, विविध प्रकार के वाद्यों को सुनने के लिए जाना, शब्दश्रवण के प्रति आसक्ति रखना इसके लिए प्रस्तुत उद्देशक में लघुचौमासी प्रायश्चित्त का उल्लेख है।

आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में इस प्रकार की संयमसाधना-विरुद्ध प्रवृत्ति करने का निषेध है। प्रत्येक अध्याय में इसी बात पर बल दिया गया है। सर्वत्र संयमी साधक के लिए बहुत ही निष्ठा के साथ नियमोपनियम के पालन पर बल दिया गया है।

अठारहवां उद्देशक

अठारहवें उद्देशक में ७३ सूत्र हैं। किन्हीं-किन्हीं प्रति में ७४ सूत्र भी हैं। जिन पर ५९९७-६०२७ गाथाओं का भाष्य है। एक से लेकर बत्तीस सूत्र तक नौकाविहार के सम्बन्ध में विविध दृष्टियों से चिन्तन किया गया है। यों तो श्रमण अप्काय के जीवों की विराधना का पूर्ण रूप से त्यागी होता है फिर वह नौकाविहार कैसे कर सकता है? पर आचारांगसूत्र, बृहत्कल्प और दशाश्रुतस्कन्ध में अपवाद रूप से नौकाविहार करने का भी विधान है। पर यह स्मरण रखना होगा कि वह नौका परमित जलमार्ग के लिए ही है। आगम में बताये हुए या आगमों में निर्दिष्ट कारणों से ही वह उसका उपयोग करता है। प्रस्तुत ग्रन्थ के विवेचन में विवेचनकार ने उस पर विस्तार से चर्चा की है। आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध में भी नौकाविहार के विधि-निषेध हैं। सूत्र ३३ से ७३ तक वस्त्र सम्बन्धी दोषों के सेवन का उल्लेख है। इत्यादि प्रवृत्तियों का लघुचौमासी प्रायश्चित्त कहा गया है। नौका और वस्त्र इन दो के सम्बन्ध में ही प्रस्तुत उद्देशक के चर्चा है।

उन्नीसवां उद्देशक

उन्नीसवें उद्देशक में ३५ सूत्र हैं। किन्हीं-किन्हीं प्रतियों में ४० सूत्र भी मिलते हैं। जिन पर ६०२८-६२७१ गाथाओं का भाष्य है। औषध के लिए क्रीत आदि दोष लगाना, विशिष्ट औषध की तीन मात्रा से अधिक लाना, उसे विहार में साथ रखना, औषध के परिकर्म सम्बन्धी दोषों का सेवन करना, पूर्व सन्ध्या, पश्चिम सन्ध्या,

अपराह्न मध्याह्न का समय और अर्धरात्रि के समय चार महामहोत्सव और उसके पश्चात् चार प्रतिपदा के दिन स्वाध्याय करने का निषेध है। कालिकसूत्र की चार प्रहरों में स्वाध्याय करने का वर्णन है। बत्तीस प्रकार के अस्वाध्याय के समय स्वाध्याय करना। शारीरिक अस्वाध्याय के समय स्वाध्याय करना। आगमोक्त क्रम से सूत्रों की वाचना न देना, आचारांग आदि की वाचना पूर्ण किये बिना ही निशीथ आदि छेदसूत्रों की वाचना प्रारम्भ करना अपात्र को वाचना देना पात्र को वाचना नही देना समान योग्य व्यक्तियों को वाचना देने में पक्षपात करना आचार्य, उपाध्याय द्वारा वाचना लिए बिना ही स्वयं वाचना ग्रहण करना अन्य मिथ्यात्वियो को अन्य-तीर्थियो को पार्श्वस्थादि को वाचना देने आदि का निषेध किया गया है।

प्रस्तुत उद्देशक के प्रथम सात सूत्रों में औषध आदि के सम्बन्ध में बताया है। उसके पश्चात् आठवें सूत्र से पैंतीसवें सूत्र तक स्वाध्याय अध्ययन और अध्यापन के सम्बन्ध में वर्णन है। स्थानांग, आवश्यकसूत्र, व्यवहारसूत्र और बृहत्कल्प में भी इन बातों के सम्बन्ध में विविध स्थानों पर प्रकाश डाला गया है। अदत्त वाचना का इसमे स्पष्ट रूप से निषेध किया गया है। इस प्रकार उन्नीसवें उद्देशक में केवल दो ही विषयों की चर्चा है।

बीसवां उद्देशक

बीसवें उद्देशक मे ५१ सूत्र हैं। जिन पर ६२७२-६७०३ गाथाओ में भाष्य है। कपटयुक्त और निष्कपट आलोचना के लिए विविध प्रकार के प्रायश्चित्तो का विधान है। जो साधक निष्कपट आलोचना करता है उस साधक को जितना प्रायश्चित्त आता है उससे कपटयुक्त आलोचना करने वाले को एक मास अधिक प्रायश्चित्त आता है। भगवान् महावीर के शासन मे उत्कृष्ट छह मास के प्रायश्चित्त का ही विधान है। इन सूत्रों में प्रथम बीससूत्र-व्यवहारसूत्र से मिलते-जुलते हैं। इसमे विविध भंग बताकर प्रायश्चित्त का निरूपण किया है। प्रायश्चित्त स्थानों की आलोचना प्रायश्चित्त देने पर और उसके वहन काल में सानुग्रह निरनुग्रह स्थापित और प्रस्थापित का स्पष्ट निरूपण किया गया है।

यह स्मरण रखना होगा कि निशीथ निर्युक्ति और भाष्य के अनुसार निशीथ की सूत्र संख्या २०२२ है। पर प्रस्तुत संस्करण मे सम्पूर्ण सूत्र संख्या १४०१ है। निशीथसूत्र की जितनी भी प्रतियां उपलब्ध होती हैं उनमें सूत्र संख्या एक सदृश नहीं है। ६२१ सूत्रों का निर्युक्ति और भाष्य की प्रति में जो अन्तर है, वह शोधार्थियो के लिए अन्वेषणीय है।

अपराध व प्रायश्चित्त विधान—बौद्धदृष्टि से

श्रमणसंस्कृति की दो धाराएँ हैं—एक जैनसंस्कृति और दूसरी बौद्धसंस्कृति। हम उपर्युक्त पंक्तियो मे यह बता चुके हैं कि जैन साधनापद्धति में स्खलनाएँ होने पर उस स्खलना से मुक्त होने के लिए निशीथ आदि छेदसूत्रों में प्रायश्चित्त आदि का निरूपण है। सर्वप्रथम जिन स्खलनाओं की सम्भावना है उनकी एक लम्बी सूची दी गई है और फिर उन स्खलनाओं की शुद्धि हेतु प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। जैन परम्परा मे जो स्थान निशीथ का है वैसा ही स्थान बौद्धपरम्परा में विनयपिटक का है। विनयपिटक में बौद्ध भिक्षुसंघ का संविधान दिया गया है। भिक्षु जीवन मे आचार का गौरवपूर्ण स्थान है। तथागत बुद्ध ने समय-समय पर भिक्षु और भिक्षु-णियो के पालन योग्य नियमों का उपदेश दिया। प्रस्तुत सन्दर्भ में अपराधों, दोषों और प्रायश्चित्तों का भी वर्णन है। समाज और जीवन का दिग्दर्शन करने हेतु प्रस्तुत ग्रन्थ का अपना महत्त्व है। विनय पिटक में विनयवस्तु की दृष्टि से वह तीन विभागों में विभक्त है—(१) सुत्तविभंग, (२) खन्धक, (३) परिवार।

सुत्तविभंग मे दोषों का निरूपण है। उन नियमों के उल्लंघन का भी उल्लेख है जिन्हें भिक्षु प्रत्येक मही की अमावस्या और पूर्णिमा के दिन स्मरण करता था। इसे दूसरे शब्द में प्रातिमोक्ष भी कहा जाता है। भिक्षु और भिक्षुणी की दृष्टि से प्रातिमोक्ष के दो विभाग हैं। इनमें भिक्षु और भिक्षुणी के द्वारा नियमोल्लंघन का वर्णन है। ज प्रातिमोक्ष का पाठ प्रारम्भ होता है तब उनमें जिन-जिन अपराधों का वर्णन आता है, उन अपराधों में से सभा उपस्थित भिक्षु और भिक्षुणी ने जो-जो अपराध किये हैं, वे भिक्षु और भिक्षुणी अपने स्थान से खड़े होक उन अपराधों को स्वीकार करते हैं। अपराध स्वीकार करने के पीछे यही उद्देश्य रहा हुआ है कि भविष्य में व पुनः इस प्रकार के अपराध की पुनरावृत्ति नहीं करेगा। मज्झिमनिकाय में तथागत बुद्ध ने स्पष्ट शब्दों में कह कि प्रातिमोक्ष कुशलधर्मों का आदि है अर्थात् मुख है।[1] प्रातिमोक्ष शब्द पर टीका करते हुए एक आचार्य ने लिख है कि जो उस प्रातिमोक्ष की रक्षा करता है, उसके नियमों का परिपालन करता है, यह (प्रातिमोक्ष) उसे अपा असद्गति आदि दुःखों से मुक्त करता है अतः यह प्रातिमोक्ष है।

खन्धक भी दो भागों में विभक्त है? एक महावग्ग और दूसरा चुल्लवग्ग। भिक्षु का संघीय जीवन किस प्रकार का होना चाहिए, उसे किन-किन नियमों का पालन करना चाहिए, यह महावग्ग में वर्णन है। सुत्तविभं मे मुख्य रूप से निषेधात्मक शैली है तो महावग्ग में विधेयात्मक शैली है। उपसम्पदा, वर्षावास, प्रातिमोक्ष (पाति मोक्खं), प्रवारणा, चिवरंगना आदि विधि क्रम और नियमों का विस्तार से वर्णन है।

चुल्लवग्ग मे दैनन्दिन अर्थात् प्रतिदिन क्या करने योग्य है? क्या करने योग्य नहीं है? किस प्रका चलना, किस प्रकार बोलना आदि का विवेचन है। इसके अतिरिक्त बौद्ध इतिहास की अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओं का भी संकलन है।

प्रारम्भ में विनयपिटक में वर्णित विषयों की अनुक्रमणिका दी गई है।

तथागत बुद्ध ने अपने प्रधान शिष्य आनन्द को कहा था कि छोटी-छोटी गलतियों को क्षमा कर दिया जाय पर आनन्द बुद्ध से यह पूछना भूल गये कि छोटी-छोटी गलतियाँ कौन-सी हैं? तथागत बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् संघ विच्छिन्न न हो जाय, धर्मसंघ की मर्यादा को अक्षुण्ण रखने की दृष्टि से प्रथम बौद्धसंगति मे कठोर नियमों का गठन किया गया। इसका मूल उद्देश्य भिक्षु-भिक्षुणी बुरे कार्यों से दूर रहेंगे। बौद्धसंघ मे दो प्रकार के दण्ड थे— कठोर दण्ड और नरम दण्ड। कठोर दण्ड में पाराजिक एवं संघादि शेष दण्ड आते थे। यह दुट्ठुलापत्ति, गरुकापत्ति, अदेसनागामिनी आपत्ति, थुल्लवज्जा आपत्ति, अनवसेसापत्ति विविध नामों से जाना और पहचाना जाता है।

नरम दण्ड, इसमें पूर्वापेक्षया नरम दण्ड दिया जाता है। इसे अदुट्ठुल्लापत्ति, लहुकापत्ति, अथुल्लवज्जा आपत्ति, सावसेसापत्ति, देसनागामिनी आपत्ति आदि नामों से जानते-पहचानते हैं।

यहाँ यह एक विशेष रूप से बात स्मरण मे रखनी होगी कि जैन परम्परा में हर स्थान पर भिक्षु और भिक्षुणी निग्गन्थ या निग्गन्थिनी के लिए विभिन्न प्रायश्चित्तों का विधान है और इसी प्रकार बौद्ध परम्परा में भी दोनों के लिए अलग-अलग विधान है। बौद्ध संघ मे भिक्खुपाति मोक्ख और भिक्खुनीपाति मोक्ख ये दो विभाग हैं। भिक्खुपाति मोक्ख के नियमों की संख्या अधिक है। वर्तमान में हमारे सामने भिक्खुपाति मोक्ख के सम्बन्ध मे ग्रन्थ उपलब्ध न होने से भिक्खुनीपाति मोक्ख के आधार से ही यहां चर्चा कर रहे हैं।

---

१. पातिमोक्खं ति आदिमेतं मुखमेतं पामुखमेतं कुसलानं धम्मानं तेन वुच्चति पातिमोक्खं ति।
—गोपक मोग्गल्लानसुत्त मज्झिमनिकाय ३।१।८

भिक्षु-भिक्षुणियों को जिस अपराध के कारण दण्ड दिया जाता है वह आपत्ति के नाम से विश्रुत है। भिक्षुणीपातिमोक्ष के अनुसार पाँच प्रकार की आपत्तियाँ हैं—(१) पाराजिक, (२) संघादिदेस, (३) निस्सग्गिय पाचित्तिय, (४) पाचित्तिय, (५) पाटिदेसनीय। इनके अतिरिक्त तीन आपत्तियों का वर्णन और मिलता है। (१) थुल्लच्चय, (२) दुक्कट, (३) दुब्भासित।

पाराजिक यह सबसे कठोर अपराध है। प्रस्तुत अपराध करने वाले को संघ से बहिष्कृत कर दिया जाता था। संघ में प्रवेश करने का उसे पुनः अधिकार नहीं था।[1] जो सद्धर्म के मार्ग से च्युत हो गया है उस अपराधी की तुलना उस वृक्ष के मुर्झाये हुये पत्ते से की गई है जिसका सम्बन्ध वृक्ष से कट गया हो।[2] पाराजिक का अपराधी धर्म ज्ञान से च्युत माना जाता था।[3] पाराजिक आठ प्रकार के हैं—(१) मैथुन सेवन करना (२) चोरी करना (३) मानव की हत्या करना, शस्त्र की अन्वेषणा करना, मृत्यु की प्रशंसा करना (४) दिव्य शक्ति प्राप्त न होने पर भी दिव्य शक्ति मुझे प्राप्त है इस प्रकार दावा करना (५) कामासक्त होकर भिक्षुणी का कामुक पुरुष के जानु भाग के ऊपर और कटिभाग से निचले भाग का स्पर्श करना (६) पाराजिक दोष वाले को जानते हुए भी न स्वयं उसे रोकना और न गण को सूचित करना (७) जो समग्र संघ के द्वारा निष्कासित धर्म विनय और बुद्ध के उपदेश पर जो श्रद्धा रहित है उसका अनुगमन करना, तीन बार मना करने पर भी नहीं मानना (८) कामासक्त होकर भिक्षुणी का कामुक पुरुष का हाथ पकड़ना और उसके संकेत के अनुसार स्थान पर जाना। इसी प्रकार भिक्षुणी या महिला का हाथ पकड़ना और उसके संकेतानुसार कार्य करना।

इन आठ पाराजिक में गम्भीरतम अपराध मैथुन का है। बिना रागभाव के मैथुन नहीं हो सकता। इसलिए सतत संघ सावधान रहता था।

पाराजिक अपराध के सदृश संघादिदेस अपराध भी है। इसमें भी मुख्य रूप से ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए ही विशेष सावधानी हेतु निर्देश दिया गया है। साथ ही संघभेद न करना, दुर्वचन न बोलना, संघ की निन्दा न करना, एक दूसरे का उपहास नहीं करना, एक दूसरे के अपराध को जो गोपनीय हैं उन्हें प्रकट न करना। संघादिदेस के अपराधी को मानत नामक दण्ड दिया जाता था। संघादिदेस अपराध करने पर भिक्षु को शीघ्र ही संघ को सूचित करता होता था। जो शीघ्र सूचित करता था उसे छह रात का मानत दण्ड दिया जाता था। और जो अपराध को छिपाता था उसके लिए परिवास का दण्ड अर्थात् निष्कासित का विधान था। जितने दिन छिपाता उतने दिन उसे परिवास का दण्ड दिया जाता था।[4] परिवास के पश्चात् उसे पुनः छह रात का मानत प्रायश्चित्त करना पड़ता था। इस प्रकार के अपराधी भिक्षु को संघ से बाहर रहने का विधान था और प्रायश्चित्त काल तक उसे अन्य अधिकारों से वञ्चित कर दिया जाता था।

जो भिक्षु परिवास दण्ड का प्रायश्चित्त कर रहा हो उसके लिए कुछ विशेष नियम थे। वह उपसम्पदा और निस्सय प्रदान नहीं कर सकता था। भिक्षुणियों को उपदेश भी नहीं दे सकता था। वह भिक्षुओं के साथ भी

---

१. समन्तपासादिका भाग तृतीय पृ. १४५
२. पाचित्तिय पालि पृ. २८७, २९१
३. "पाराजिकेति पारं नामोच्यते धर्मज्ञानम्। ततोजीना ओजीना संजीना परिहीणा तेनाह पाराजिकेति।"
—भिक्षुणी विनय, १२३
४. चुल्लवग्ग पालि पृ. ४००

नही रह सकता था। उपोसथ और प्रवारणा को रोक नही सकता था और न वह किसी पर दोष लगा सकता था और न किसी को दण्ड भी दे सकता था।[1] भिक्षुणी के लिए परिवास दण्ड का विधान नहीं था। ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी के अशोक के अभिलेखों मे संघभेद करने पर भिक्षु और भिक्षुणी दोनों को आनावासस्थान में प्रेषित करने देने का वर्णन है।[2] बुद्धघोष[3] के मन्तव्यानुसार चेतियघर (श्मशान-स्थल), बोधिघर (बोधिगृह), सम्मज्जनी अट्टक (स्नानगृह), दारू-अट्टक (लकड़ी बनाने का स्थान), पानीयमाल (छज्जा), वच्चकुटी (शौचालय) तथा द्वार कोट्ठक (द्वारकोष्ठक) ये अनावासस्थान था।[4]

डॉ. अरुणप्रतापसिंह की यह कल्पना है कि बौद्धसंघ मे पहले भिक्षुणियो के लिए भी परिवास दण्ड का विधान था। यह सम्राट् अशोक के अभिलेखो से स्पष्ट होता है। पर बाद में संघ ने देखा होगा अनावास स्थान मे रहने से भिक्षुणियो की शीलरक्षा की समस्या उपस्थित होगी। इसलिए उस विधान मे परिवर्तन किया गया हो।

थेरवादीनिकाय में भिक्षुणियों के लिए १६६ पाचित्तिय (प्रायश्चित्त) नियम बताये गये हैं, तो महासांघिकनिकाय में पाचित्तिय धर्म की संख्या ९४९ है। वहाँ पर उसे शुद्ध पाचत्तिक धर्म कहा गया है। दोनों में ही पाचित्तय नियम प्रायः समान हैं। इन नियमों में कुछ नियम दुष्कृत्य से सम्बन्धित हैं। अन्तर्मानस मे बुरी भावना आने पर या बुरे कार्य करने पर प्रायश्चित्त दिया जाता था। कुछ नियम बुद्ध धर्म और संघ या अन्य किसी भी व्यक्ति को कटुवचन कहने पर प्रायश्चित्त देने के थे। कुछ नियम मैथुन सम्बन्धी अपराध के लिए प्रायश्चित्त देने के थे। हस्तकर्म करना, गुप्तेन्द्रिय को तेल घृत आदि लगाकर संचालित करना, कृत्रिम मैथुन आदि से सम्बन्धित अपराध करने पर प्रायश्चित्त दिये जाते थे। कुछ नियम हिंसा सम्बन्धी अपराधों के प्रायश्चित्त देने के थे। कुछ नियम किसी को मारना, पीटना तथा ताड़ना, तर्जना, आत्मघात करना और शस्त्र आदि से सम्बन्धित थे। कुछ नियम चोरी सम्बन्धी अपराध के लिये प्रायश्चित्त देने के थे। कुछ नियम संघ संबंधित अपराधों के प्रायश्चित्त देने के थे। संघ से निष्कासित व्यक्ति के साथ सम्बन्ध करना। संघीय आचारसंहिता का पालन न करना। कितने ही नियम आहार सम्बन्धी अपराध से सम्बन्धित हैं। रात्रिभोजन करना। स्वस्थ भिक्षुणी का घृत, तेल, मधु, मांस, मछली, मक्खन, लहसुन का सेवन करना। कच्चे अनाज को भूनकर खाना। गृहस्थ या परिव्राजक को अपने हाथ से खिलाना। विकाल में भोजन करना, स्वादिष्ट भोजन के लिए गृहस्थों के यहाँ भटकना। कुछ नियम वस्त्रों से सम्बन्धित है। वस्त्रों को नाप से अधिक बड़ा या छोटा रखना। सूत कातना आदि का निषेध है और कुछ नियम स्वाध्याय से सम्बन्धित हैं।

मन्त्र आदि विद्याओं को सीखने का निषेध किया गया है। उसे धर्म के सार को ही ग्रहण करना है अन्य निरर्थक बातें नही।

सारांश यह है कि चाहे जैन परम्परा रही हो, चाहे बौद्ध परम्परा रही हो, चाहे वैदिक परम्परा रही हो, सभी ने मैथुन, चोरी और हिंसा को गम्भीरतम अपराध माना है। जैन और बौद्ध दोनो परम्पराओं ने संघ को अत्यधिक महत्व

---

१. चुल्लवग्ग पाट्टि पृ. ६७-८१

२. ए चुं खो भिखु वा भिखुनि वा संघं भाखति से ओदातानि दुसानि
सनं धापयिया अनावाससि आवाससिये।

3. *Corpus Inscriptionum Indicarum Vol. I. P. 161.*

४. समन्तपासादिका भाग तृतीय पृ. १२४४

दिया। संघ और संघनायक की अवहेलना करना भी महान् अपराध है। एक जैनाचार्य ने तो यहाँ तक लिखा है कि जब तीर्थंकर समवसरण में विराजते हैं तब 'नमो संघस्स' कहकर संघ को अभिवन्दना करते हैं। जैन और बौद्ध दोनों ही परम्पराओं ने बहुत ही सतर्कता रखी है कि कोई भी अयोग्य पात्र दीक्षा ग्रहण न करे। क्योंकि अयोग्य पात्र के संघ में प्रवेश हो जाने से दुराचार बढ़ सकता है। जैन और बौद्ध श्रमण और श्रमणियों की आचारसंहिता में अनेक स्थानों पर समानता है और प्रायश्चित्त-व्यवस्था मे भी अनेक स्थानों पर समानता है। प्रायश्चित्त की जो सूचियाँ दोनों परम्पराओं में हैं उसमें भी काफी समानता है। यह सत्य है कि बौद्ध परम्परा मध्यममार्गीय रही इसलिए उसकी आचारसंहिता भी मध्यम मार्ग पर ही आधारित है। जैन परम्परा उग्र और कठोर साधना पर बल देती रही है। इसलिए उसकी आचारसंहिता भी कठोरता को लिये हुए है।

विशेषता यह है कि जैनशासन में परिस्थिति के अनुसार अपराध को देखकर प्रायश्चित्त दिया जाता है। यदि कोई साधक स्वेच्छा से अपराध करता है, बार-बार अपराध करता है, अपराध करके भी गुरुजनों के समक्ष उस अपराध को स्वीकार नही करता या माया का सेवन करता है तो उसके लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था थी और वही अपराध अनजान में या परिस्थिति विशेष के कारण हो गया है। गुरुजनो के समक्ष निष्कपट भाव से यदि वह आलोचना करता है। अपराध को स्वीकार करता है तो उसको प्रायश्चित्त कम दिया जाता है। पर बौद्धशासन में इस प्रकार प्रायश्चित्त की व्यवस्था नहीं थी। जैनशासन मे जो दस प्रायश्चित्त हैं उनमें से आलोचना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग आदि ऐसे प्रायश्चित्त हैं जो साधक को प्रातःकाल और सन्ध्याकाल करने होते हैं। गुरु के समक्ष उन पापो को निवेदन करने होते हैं। पर बौद्धशासन में इस प्रकार प्रतिदिन आलोचना, प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग करने का और प्रायश्चित्त से मुक्त होने का आवश्यक नियम नहीं था। वहाँ तो पन्द्रहवें दिन उपोसथ के समय पातिमोक्ख नियमों का वाचन होता था अतः बौद्धसंघ में अपराध की सूचना पन्द्रह दिन के पश्चात् मिलती थी और वर्ष में एक बार प्रवारणा के समय देखा हुआ, सुना हुआ और शंका किये हुए अपराध की अन्वेषणा होती थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपराध करना मानव का स्वभाव है। जरा-सी असावधानी से स्खलनाएँ हो जाती हैं पर उन स्खलनाओं की विशुद्धि हेतु जैन और बौद्ध परम्परा में जो प्रायश्चित्तविधान हैं उनमें सहजता है, सुगमता है। पर वैदिक परम्परा के प्रायश्चित्तविधानों में दण्डव्यवस्था भी सम्मिलित हो गई। जिसके फलस्वरूप अंगच्छेदन आदि का भी विधान हुआ। जबकि जैन और बौद्ध परम्परा में इस प्रकार के विधान नहीं हैं।

अपराध व प्रायश्चित्त विधान : वैदिक दृष्टि से

भारतीय संस्कृति की एक धारा वैदिक परम्परा है। एक ही धरती पर श्रमणसंस्कृति और वैदिकसंस्कृति धाराएँ प्रवाहित हुई हैं। वैदिकसंस्कृति के महामनीषियों ने भी पापपंक से मुक्त होने के लिए विविध विधान किये हैं। ऋग्वेद के महर्षियों के अन्तर्मानस में भी पापरहित होने की प्रबल भावना पाई जाती है। पापों की संख्या, उनके विविध प्रकारो के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टियो से चिन्तन किया गया है। ऋग्वेद में कहा गया कि बुद्धिमान या विज्ञों के लिए सात मर्यादाएँ बताई गई हैं। उनमे से किसी एक का भी जो अतिक्रमण करता है वह पापी है।[1] तैत्तिरीयसंहिता[2] शतपथब्राह्मण और अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों में ब्राह्मणहत्या को सबसे बड़ा पाप माना है।[3] काठक[4]

१. ऋग्वेद १०/५/६
२. तैत्तिरीयसंहिता (२/५/९/२, ५/३/१२/१-२)
३. शतपथब्राह्मण (१३/३/१/१)
४. *काठक* (१३/७)

में भ्रूणहत्या को ब्रह्महत्या से भी विशेष पाप माना है। बृहदारण्यकोपनिषद् में[1] चोर और भ्रूण-हत्यारे को महापापी में गिना है। वसिष्ठसूत्र ने पापियों को तीन कोटि में बांटा है—१. एनस्वी, २. महापातकी, ३. उपपातकी। एनस्वी साधारण पापी को कहते हैं। उसके लिए विशिष्ट प्रायश्चित्त की व्यवस्था की गई है। वसिष्ठ के मतानुसार महापातक पाँच हैं (१) गुरु की शय्या को अपवित्र करना (२) सुरापान (३) भ्रूण की हत्या (४) ब्राह्मण के हिरण्य की चोरी (५) पतित का संसर्ग। उपपातकी वह है जो अग्निहोत्र का त्याग कर देता है। अपने अपराध से गुरु को कुपित करता है। नास्तिकों के यहाँ जीविका का अर्जन करता है। यह सत्य है इन पापों की कोटियों के सम्बन्ध में भी विभिन्न मत रहे हैं, विस्तारभय से हम उन सबकी चर्चा और मतों का उल्लेख यहाँ नहीं कर रहे हैं। ब्रह्महत्या, सुरापन, चोरी, गुरु की पत्नी के साथ सम्भोग आदि के वर्णन अग्निपुराण, प्रायश्चित्तविवेक, आपस्तम्ब धर्मसूत्र, मनुस्मृति आदि में विस्तार से है।[2] नारद का कथन है कि यदि व्यक्ति माता, मौसी, सास, मामी, फूफी, चाची, मित्रपत्नी, शिष्यपत्नी, बहिन, बहिन की सखी, पुत्रवधू, आचार्यपत्नी, सगोत्रनारी, दाई, व्रतवती नारी एवं ब्राह्मणनारी के साथ सम्भोग करता है वह गुरुतल्प नामक व्यभिचार के पाप का अपराधी हो जाता है। ऐसे दुष्कृत्य के लिए शिश्न-कर्तन के अतिरिक्त कोई और दण्ड नहीं है।

विभिन्न प्रकार के पाप करने के पश्चात् उस पाप से अपने आपको बचाने के लिए अदिति, मित्र, वरुण आदि की स्तुतियाँ करने का क्रम चालू हुआ। अपने अपराध के परिणामों से भयभीत होकर उन्होंने विविध प्रकार के व्रत आदि भी करने प्रारम्भ किये। ऋग्वेद[3] के अनुसार सर्वप्रथम पाप के फल को दूर करने हेतु दया के लिए प्रार्थना पाप से बचने के लिए स्तुतियाँ तथा गम्भीर पापों के फल से छुटकारा पाने हेतु यज्ञ का विधान किया। तैत्तिरीयसंहिता[4] शतपथब्राह्मण[5] का मन्तव्य है कि अश्वमेध करने से देवतागण राजा को पाप मुक्त कर देते थे। पाप से मुक्त होने का एक अन्य साधन था पाप की स्वीकारोक्ति।

गौतम धर्मसूत्र,[6] वसिष्ठस्मृति[7] का कथन है—जप-तप-होम-उपवास एवं दान ये दुष्कृत्य के प्राय-श्चित्त हैं। आचार्य मनु[8] ने लिखा है कि अपराध को स्वीकार कर पश्चात्ताप तप, गायत्री मन्त्रों के जाप से पापी अपराध से मुक्त हो जाता है। यदि वह यह कार्य न कर सके तो दान से मुक्त हो जाता है। यही बात पाराशर[9] शातातपस्मृति[10] भविष्यपुराण[11] में बताई गई है। शतपथब्राह्मण[12] में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जो

---

१. बृहदारण्यकोपनिषद् ४/३/२२
२. नारदस्मृति श्लोक ७३-७५
३. ऋग्वेद ७/८६/४-५, ८/८८/६-७, ७/८९/१-४
४. तैत्तिरीयसंहिता ५/३/१२/१-२
५. शतपथब्राह्मण १३/३/१/१
६. गौतमधर्मसूत्र १९/११
७. वसिष्ठस्मृति २२/८
८. मनुस्मृति ३/२२७
९. पराशर माधवीय १०/४०
१०. शातातपस्मृति १/४
११. भविष्यपुराण प्राय० विवेक पृ० ३१
१२. शतपथब्राह्मण २/५/२/२०

व्यक्ति पाप को स्वीकार कर लेता है उसका पाप कम हो जाता है। पापमोचन के लिए
करना सर्वप्रथम आवश्यक था। इसे ही जैनपरम्परा में आलोचना कहा है। गौतमधर्म
लिखा है कि ब्रह्मचर्याश्रम में विद्यार्थी के द्वारा सम्भोग का अपराध होने पर सात घरों में
दोष की घोषणा करनी चाहिए।

पाप होना उतना बुरा नहीं जितना पाप को पाप न समझना। मनुस्मृ
ब्रह्मपुराण[3] में स्पष्ट रूप से लिखा है कि व्यक्ति का मन जितना ही अपने दुष्कर्म को
ही उसका शरीर पाप से मुक्त हो जाता है। यदि व्यक्ति पापकृत्य करने के पश्चात् भी पश्
पाप से मुक्त नहीं हो सकता। उसे मन में यह संकल्प करना चाहिए कि मैं पुनः यह कार्य न
विवेक ग्रन्थ[4] में अंगिरा की एक युक्ति दी है—पापों को करने के उपरान्त यदि व्यक्ति
और रातदिन पश्चात्ताप कर रहा हो तो वह प्राणायाम से पवित्र हो जाता है। प्राय
केवल पश्चात्ताप पापों को दूर करने के लिए पर्याप्त नहीं, अपितु उससे पापी प्राय
जाता है।

मनुस्मृति,[6] बोधायनधर्मसूत्र,[7] वसिष्ठस्मृति,[8] अभिशंखस्मृति[9] आदि मे
व्यक्ति ओंकार के साथ सोलह प्राणायाम करे तो एक मास के उपरान्त भ्रूणहत्
जाता है। विष्णुधर्मसूत्र[10] में यह भी लिखा है कि तीन प्राणायामों के सम्यक् सम्पादन
गये सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। छान्दोग्योपनिषद्[11], मुण्डकोपनिषद्[12] में तप को
गौतम[13] ने पाप के स्वरूप के अनुसार तप की निम्न अवधियाँ बताई हैं—एक वर्ष,
मास, एक मास, चौबीस दिन, बारह दिन, छह दिन, तीन दिन और एक रात। आचा

---

१. मनुस्मृति ११/२२९-३०
२. विष्णुधर्मोत्तर २/७३/२३१-३३
३. ब्रह्मपुराण २१८/५
४. प्रायश्चित्तविवेक ग्रन्थ, पृ० ३०
५. प्रायश्चित्तविवेक, पृ० ३०
६. मनुस्मृति ११/२४८
७. बोधायनधर्मसूत्र ४/१/३१
८. वसिष्ठस्मृति २६/४
९. अभिशंखस्मृति२/५, १२/१८-१९
१०. विष्णुधर्मसूत्र ५५/२
११. छान्दोग्योपनिषद् ५/१०/१-२
१२. मुण्डकोपनिषद् १०/१५४/२
१३. गौतमधर्मसूत्र १७/१७
१४. मनुस्मृति ११/२३९-२४१

कि जो महापातकों एवं अन्य दुष्कर्मों के अपराधी होते हैं वे सम्यक् तप से पापमुक्त हो जाते है। जैन साधना[1] पद्धति में भी पाप से मुक्त होने के लिए विविध प्रकार के तपों का उल्लेख किया गया है।

वैदिक ऋषियों ने पाप से मुक्त होने के लिए होम, जप की साधना, दान, उपवास, तीर्थयात्रा आदि अनेक प्रकार बताये हैं।

वैदिक साहित्य में प्रायश्चित्ति और प्रायश्चित्त ये दो शब्द व्यवहृत हुए हैं। तैत्तिरीयसंहिता[2] में प्रायश्चित्ति शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है। यह शब्द वहाँ पर पाप के प्रायश्चित्त के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। अथर्ववेद[3] वाजसनेयीसंहिता,[4] ऐत्तिरीयब्राह्मण,[5] शतपथब्राह्मण[6] कौषीतकिब्राह्मण[7] में प्रायश्चित्त शब्द का प्रयोग हुआ है। आपस्तंबश्रौतसूत्र[8] शांखायनश्रौतसूत्र[9] में प्रायश्चित्ति और प्रायश्चित्त ये दोनों शब्द दिये है। प्रायश्चित्तविवेक[10] ग्रन्थ में प्रायश्चित्त की व्युत्पत्ति प्रायः—तप और चित्त—संकल्प अर्थात् प्रायश्चित्त का सम्बन्ध पापमोचन हेतु तप का संकल्प करना। बागृभट्टी याज्ञवल्क्यस्मृति[11] में प्रायः का अर्थ पाप और चित्त का अर्थ शुद्धिकरण है। हेमाद्रि[12] ने एक अज्ञात भाष्यकार की व्याख्या को उद्धृत कर लिखा है प्रायः का अर्थ विनाश है और चित का अर्थ संधान है। अर्थात् प्रायश्चित्त का अर्थ हुआ जो नष्ट हो गया है उसकी पूर्ति करना। अतः पापक्षय के लिए नैमित्तिक कार्य है।

बृहस्पति[13] आदि विज्ञों ने पाप के दो प्रकार किये हैं। एक कामकृत है अर्थात् जो जान-बूझकर किया जाता है। दूसरा अकामकृत है जो बिना जाने-बूझे हो जाय। अकामकृत पापों प्रायश्चित्त के द्वारा नष्ट किया जा सकता है। पर कामकृत पाप को प्रायश्चित्त के द्वारा नष्ट किया जा सकता है या नहीं? इस सम्बन्ध में विज्ञों में अत्यधिक मतभेद रहा है। मनुस्मृति[14] में और याज्ञवल्क्यस्मृति[15] में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि प्रायश्चित्त या विद्याध्ययन से अनजान में किये गये पापों का विनाश होता है। याज्ञवल्क्यस्मृति[16] में लिखा है कि जान-

१. उत्तराध्ययन ३०/२७
२. तैत्तिरीयसंहिता २/१/२/४, २/१/२/४, ३/१/३/२-३, ५/१/९/३, एवं ५/३/१२/१
३. अथर्ववेद १४/१/३०
४. वाजसनेयीसंहिता ३९/१२
५. ऐत्तिरीयब्राह्मण५/२७
६. शतपथब्राह्मण ४/५/७/१, ७/१/४/९, ९/५/३/८ एवं १२/५/१/९
७. कौषीतकिब्राह्मण ५/९/६/१२
८. आपस्तबश्रौतसूत्र ३/१०/३८
९. शांखायनश्रौतसूत्र ३/१९/१
१०. प्रायश्चित्तविवेक पृ० २
११. याज्ञवल्क्यस्मृति ३/२०६
१२. हेमाद्रि प्रायश्चित्तविवेक पृ० ९९९
१३. धर्मशास्त्र का इतिहास भाग ३ पृ० १०४५
१४. मनुस्मृति ११/४५
१५. याज्ञवल्क्यस्मृति ३/२२६
१६. याज्ञवल्क्यस्मृति ३/२२६

बूझकर किये गये पापों को प्रायश्चित्त नष्ट नहीं करता अपितु पापी प्रायश्चित्त कर लेता है तो अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क में आ जाने के योग्य हो जाता है। मनु[1] ने भी लिखा है—जब तक प्रायश्चित्त नहीं कर लेता तब तक उसे विज्ञजनों के सम्पर्क में नहीं आना चाहिए। स्मृतियों मे यत्र-तत्र पापमोचन के लिए प्रायश्चित्तों की व्यवस्था दी है। गौतमधर्मसूत्र,[2] वसिष्ठस्मृति,[3] मनुस्मृति,[4] याज्ञवल्क्यस्मृति[5] मे उन महामनीषियों ने माता, बहिन, पुत्रवधू आदि के साथ व्यभिचार सेवन करने वाले को अण्डकोष एवं लिंग काट दिये जाने पर दक्षिण-दिशा में या दक्षिण-पश्चिम दिशा मे तब तक चलते रहना है जब तक उसका शरीर भूमि पर लुढ़क न पड़े। आचार्य मनु[6] ने लिखा है कि चोर को कोई मूसल या गदा या दुधारी-शक्ति जो एक प्रकार की बरछी होती थी अथवा लोहदण्ड लेकर राजा के पास जाना चाहिए और अपने अपराध की घोषणा करे। राजा के एक बार मारने से वह मृत हो जाय या अर्धमृत होकर जीवित रहे तो वह चोरी के अपराध से मुक्त हो जाता है।

वैदिक परम्परा में प्रायश्चित्त सम्बन्धी साहित्य अत्यधिक विशाल रहा है। इसका कारण यह था कि प्राचीन युग में प्रायश्चित्तो का जन-साधारण में बड़ा महत्त्व था। देखिए, गौतमधर्मसूत्र के २८ अध्यायो में से १० अध्याय मे प्रायश्चित्त का वर्णन है। वसिष्ठधर्मसूत्र में जो ३० अध्याय मुद्रित हुए हैं, उनमें से ९ अध्याय प्रायश्चित्त सम्बन्धी वर्णन से भरे पड़े हैं। मनुस्मृति में कुल २२२ श्लोक प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में हैं। याज्ञ-वल्क्यस्मृति अध्याय ३ मे १००९ श्लोक हैं। उसमें १२२ श्लोक प्रायश्चित्त पर आधारित हैं। शातातपस्मृति के २७४ श्लोको में केवल प्रायश्चित्त का ही वर्णन है। उतने ही पुराणों मे भी प्रायश्चित का उल्लेख हुआ है। जैसे—अग्नि-पुराण (अध्याय १६८-१७४) गरुड़पुराण ५२, कूर्मपुराण (उत्तरार्ध ३०-३४), वराहपुराण (१३१-१३६), ब्रह्माण्ड-पुराण (उपसंहारपाद अध्याय ९), विष्णुधर्मोत्तरामृत (२, ७३, ३/२३४-२३७) में प्रायश्चित्तों का वर्णन है। मिता-क्षर, अपरार्क पाराशरमाधवीय प्रभृति टीकाओ मे भी विस्तार से प्रायश्चित्त के ऊपर चिन्तन किया गया है। इनके अतिरिक्त प्रायश्चित्तप्रकरण, प्रायश्चित्तविवेक, प्रायश्चित्ततत्त्व, स्मृतिमुक्ताफल (प्रायश्चित्त वाला प्रकरण), प्रायश्चित्तसार, प्रायश्चित्तमयूख, प्रायश्चित्तप्रकाश, प्रायश्चित्तेन्दुशेखर मे प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में विस्तार से वर्णन है।

यह भी स्मरण रखना होगा कि सभी व्यक्तियों के लिए एक समान प्रायश्चित्त नहीं था। समान अपराध होने पर भी प्रायश्चित्त देने मे अन्तर था। प्रायश्चित्तों की कठोरता और अवधि व्यक्ति के द्वारा प्रथम बार अपराध करने पर या अनेक बार अपराध करने पर प्रायश्चित्त प्रदान करने वाली एक परिषद् होती थी। जो अपराधी के अपराध की गुरुता एवं स्वभाव को देखकर उसके अनुसार प्रायश्चित्त की व्यवस्था करते। प्रायश्चित्त के मुख्य चार स्तर थे। (१) परिषद् के पास जाना या (२) परिषद् द्वारा उचित प्रायश्चित्त उद्घोष, (३) प्रायश्चित्त का सम्पादन, (४) पापी के पाप की मुक्ति का प्रकाशन।

---

१. मनुस्मृति ११/४७
२. गौतमधर्मसूत्र २३/१०-११
३. वसिष्ठस्मृति २०/१३
४. मनुस्मृति ११/१०४
५. याज्ञवल्क्यस्मृति ३/२५९
६. मनुस्मृति ८/३१४-३१५

वैदिक ग्रन्थों में अनेक प्रकार के प्रायश्चित्तों के नाम भी आये हैं और उन ग्रन्थों में प्रायश्चित्तों की वि
भी बताई गई है। हम उनमे से कुछ प्रायश्चितों का संकेत कर रहे हैं। यह प्रायश्चित्त जल में खड़े रहकर दिन
तीन बार अघमर्षण मन्त्रो का पाठ किया जाता है। इस प्रायश्चित्त का उल्लेख ऋग्वेद,[1] बोधायनधर्मसूत्र
वसिष्ठस्मृति,[3] मनुस्मृति,[4] याज्ञवल्क्यस्मृति,[5] विष्णुपुराण,[6] शंखस्मृति[7] आदि मे हुआ है।

दूसरा अतिकृच्छ्र प्रायश्चित्त का उल्लेख है। आचार्य मनु[8] के अभिमतानुसार तीन दिन तक केवल प्रात
काल एक कौर भोजन और सन्ध्याकाल भी एक कौर भोजन और बिना मांगे पुनः तीन दिन तक एक कौर भो
और अन्त मे तीन दिन तक उपवास करने का उल्लेख है।

अतिसान्तपन[9] इस प्रायश्चित्त की अवधि अठारह दिनों की है। इसमें छह दिनों तक गोमूत्र और अ
पांच वस्तुओं का भोजन करते हैं।

अर्धकृच्छ्र[10] यह छह दिनों का प्रायश्चित्त है। जिसमें एक दिन में केवल एक बार भोजन, एक दिन सन्ध्
काल और दो दिन तक बिना मांगे भोजन और फिर पूर्ण उपवास।

गोमूत्रकृच्छ्र[11] एक गाय को जौ और गेहूं खिलाया जाता है, फिर गाय के गोबर में से जितने दाने निक
गोमूत्र में उसके आटे की लापसी और माड़ें बनाकर पीना चाहिए।

चान्द्रायण[12] चन्द्र के बढ़ने और घटने के अनुरूप जिसमें भोजन किया जाय उसे चान्द्रायण-व्रत कहते हैं
चान्द्रायण-व्रत के यवमध्य जौ के समान बीच में मोटा और दोनों छोरों से पतला, पीपिलिकामध्य चींटी के सं
बीच मे पतला और दोनो छोर में मोटा ये दो प्रकार बोधायनधर्मसूत्र में दिए हैं। मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृ
और वसिष्ठस्मृति में चान्द्रायण यवमध्य की परिभाषा इस प्रकार की है—शुक्ल पक्ष के प्रथम दिन एक ग्रा

---

१. ऋग्वेद १०/१९०/१-३
२. बोधायनधर्मसूत्र ४/२/१९/२०
३. वसिष्ठस्मृति २६/८
४. मनुस्मृति ११/२५९-२६०
५. याज्ञवल्क्यस्मृति ३/३०१
६. विष्णुपुराण ५५/७
७. शंखस्मृति १८/१-२
८. मनुस्मृति ११/२१३
९. विष्णुपुराण ४६/२१
१०. आपस्तंबस्मृति ९/४३-४४
११. प्रायश्चित्तसार पृ. १८७
१२. (क) मिताक्षरा याज्ञवल्क्यस्मृति टीका ३/३२३
(ख) बोधायनधर्मसूत्र ३/८/३३
(ग) वसिष्ठस्मृति २७/१
(घ) मनुस्मृति ११/२७

दूसरे दिन दो, इस प्रकार क्रमशः पूर्णिमा को पन्द्रह ग्रास का भोजन लिया जाता है। इसी प्रकार कृष्णपक्ष में प्रथम दिन चौदह ग्रास, एक-एक ग्रास कम करते हुए चतुर्दशी को एक ग्रास खाया जाता है और अमावस्या को उपवास किया जाता है। यदि कोई कृष्णपक्ष की प्रथम तिथि से व्रत प्रारम्भ करता है तो प्रथम दिन चौदह ग्रास खाता है और क्रमशः ग्रासों को कम करता जाता है। चतुर्दशी को एक ग्रास खाता है और अमावस्या को एक ग्रास भी नहीं खाता, फिर शुक्लपक्ष के प्रथम दिन एक ग्रास लेता है और बढ़ता-बढ़ता पूर्णमासी को पन्द्रह ग्रास खाता है। इस स्थिति में मास पूर्णिमान्त होता है। इस क्रम में व्रत के मध्य में एक भी ग्रास नहीं होता। अधिक ग्रासों की संख्या प्रारम्भ और अन्त में होती है। इससे यह प्रायश्चित्त पीपिलिकामध्य चन्द्रायन कहा जाता है। चन्द्रायन-व्रत के सम्बन्ध में विविध प्रकारों का उल्लेख है।

इस प्रकार विविध प्रायश्चित्त उतारने हेतु विविध प्रकार के तपों का उल्लेख ग्रन्थों में प्रतिपादित है। हम उन सबका यहाँ उल्लेख न कर डॉ. पाण्डुरंग वामन काणे के द्वारा लिखित धर्मशास्त्र का इतिहास भाग ३ को पढ़ने का कष्ट करें, यह संकेत कर रहे हैं। जहाँ इस पर विस्तार से विवेचन और चर्चा है।

व्याख्या साहित्य

निशीथनिर्युक्ति

छेदसूत्रों में निशीथ का बहुत ही गौरवपूर्ण स्थान रहा है। उसमें रहे हुए रहस्यों को व्यक्त करने हेतु समय-समय पर इस पर व्याख्या साहित्य का निर्माण हुआ है। सर्वप्रथम इस पर प्राकृत भाषा में पद्यबद्ध टीका लिखी गई। वह टीका निशीथनिर्युक्ति के नाम से विश्रुत है। इसमें मूल ग्रन्थ के प्रत्येक पद पर व्याख्या न कर मुख्य रूप से पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या की गई है। यह व्याख्याशैली निक्षेपपद्धतिपरक है। निक्षेपपद्धति में किसी एक पद के सम्भावित अनेक अर्थ करने के पश्चात् उनमें से अप्रस्तुत अर्थों का निषेध कर प्रस्तुत अर्थ को ग्रहण किया जाता है। न्यायशास्त्र में यह पद्धति अत्यन्त प्रिय रही है। भद्रबाहुस्वामी ने निर्युक्ति के लिए यह पद्धति उपयुक्त मानी है। उन्होंने आवश्यकनिर्युक्ति में लिखा है कि एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं पर कौनसा अर्थ किस प्रसंग के लिए उपयुक्त है। श्रमण भगवान् महावीर के उपदेश के समय कौनसा अर्थ किस शब्द से सम्बद्ध रहा है प्रभृति सभी बातों को ध्यान में रखते हुए सही दृष्टि से अर्थ निर्णय करना। और उस अर्थ का मूल सूत्र के शब्दों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना निर्युक्ति का प्रयोजन है।[१] अपर शब्दों में कहा जाय तो सूत्र और अर्थ का निश्चित सम्बन्ध बताने वाली व्याख्या निर्युक्ति है[२] अथवा निश्चय से अर्थ का प्रतिपादन करने वाली युक्ति निर्युक्ति है।[३] सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् सारपेण्टियर ने निर्युक्ति की परिभाषा करते हुए लिखा है कि 'निर्युक्तियाँ अपने प्रधान भाग के केवल इंडेक्स का काम करती हैं। वे सभी विस्तारयुक्त घटनावलियों का संक्षेप से उल्लेख करती हैं।[४]

निशीथनिर्युक्ति में भी सूत्रगत शब्दों की व्याख्या निक्षेपपद्धति से की गई है। प्रस्तुत निर्युक्ति की गाथाएँ

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति, गा. ८८

२. सूत्रार्थयोः परस्परं निर्योजनं सम्बन्धनं निर्युक्तिः।
—आवश्यकनिर्युक्ति गा. ८३

३. निश्चयेन अर्थप्रतिपादिकयुक्तिः निर्युक्तिः।
—आचारांगनि. १/२/१

४. उत्तराध्ययन की भूमिका, पृ. ५०-५१

भाष्य से मिल गई हैं। जहाँ पर चूर्णिकार यह संकेत करते हैं वहीं पर यह पता चलता है कि यह निर्युक्ति की गाथा है और यह भाष्य की गाथा है। इस निर्युक्ति में श्रमणाचार का ही निरूपण हुआ है।

निशीथभाष्य

निर्युक्तियों की व्याख्याशैली अत्यन्त गूढ़ और संक्षिप्त थी। उसका मुख्य लक्ष्य पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करना था। निर्युक्तियों के गम्भीर रहस्यों को प्रकट करने हेतु निर्युक्तियों की तरह ही प्राकृत भाषा में पद्यात्मक व्याख्या लिखी गई जो भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। निर्युक्तियों के शब्दों में छिपे हुए अर्थबाहुल्य को अभिव्यक्त करने का सर्वप्रथम श्रेय भाष्यकारों को है। निशीथ के भाष्य-रचयिता श्री संघदासगणि हैं। प्रस्तुत भाष्य की अनेक गाथाएँ बृहत्कल्प और व्यवहारभाष्य में हैं। अनेक रसप्रद सरस कथाएँ भी हैं। विविध दृष्टियों से श्रमणाचार का निरूपण हुआ है। जैसे पुलिंद आदि अनार्य अरण्य में जाते हुए श्रमणों को आर्य समझ कर मार देते थे। सार्थवाह व्यापारार्थ दूर-दूर देशों में जाते थे। उस युग में अनेक प्रकार के सिक्के प्रचलित थे। भाष्य में बृहत्कल्प, नन्दीसूत्र, सिद्धसेन और गोविन्द-वाचक आदि के नामों का उल्लेख हुआ है।

निशीथचूर्णि

भाष्य के पश्चात् जैनाचार्यों ने गद्यात्मक व्याख्या साहित्य लिखने का निश्चय किया। उन्होंने शुद्ध प्राकृत में और संस्कृत मिश्रित प्राकृत में व्याख्याओं की रचना की। जो व्याख्या चूर्णि के नाम से विश्रुत है। निशीथ पर दो-दो चूर्णियाँ निर्मित हुई, किन्तु वर्तमान में उस पर एक ही चूर्णि उपलब्ध है। निशीथचूर्णि के रचयिता जिनदास-गणि महत्तर हैं। इस चूर्णि को विशेष चूर्णि कहते हैं। इस चूर्णि में मूल सूत्र, निर्युक्ति व भाष्य गाथाओं का विवेचन है। इस चूर्णि की भाषा संस्कृत मिश्रित प्राकृत है।

हमने पूर्व पंक्तियों में निशीथ के बीस उद्देशकों का संक्षिप्त सार प्रस्तुत किया है। वह सार निशीथ मूल आगम के अनुसार दिया गया है। निशीथचूर्णि में निशीथ के मूल भावों को स्पष्ट करने के लिए कुछ नये तथ्य चूर्णिकार ने अपनी ओर से दिये हैं। अतः हम प्रबुद्ध पाठकों को निशीथचूर्णि में जो वर्णन आया है उसका सार यहाँ दे रहे हैं, इसलिए यह पुनरावृत्ति नहीं है। पाठक स्वयं अनुभव करेंगे कि चूर्णिकार ने किस प्रकार विषय को स्पष्ट किया है।

चूर्णिकार ने सर्वप्रथम अरिहन्त, सिद्ध और साधुओं को नमस्कार किया है और अर्थप्रदाता प्रद्युम्न महाश्रमण को भी नमस्कार किया है। आचार्य, अग्र, प्रकल्प, चूलिका और निशीथ इन सबका निक्षेपपद्धति से चिन्तन किया गया है। निशीथ का अर्थ है अप्रकाश+अन्धकार। अप्रकाशित वचनों के सही निर्णय हेतु निशीथसूत्र है। लोक-व्यवहार में निशीथ का प्रयोग रात्रि के अन्धकार के लिये होता है। निशीथ के अन्य अर्थ भी दिये गये हैं। जिससे आठ प्रकार के कर्मपंक नष्ट किये जायें वह निशीथ है।

प्रथम पुरुष प्रतिसेवक का वर्णन है। उसके पश्चात् प्रतिसेवना और प्रतिसेवितव्य का स्वरूप बताते हुए अप्रमाद-प्रतिसेवना, सहसाकरण, प्रमादप्रतिसेवना, क्रोध आदि कषाय, ज्ञान-दर्शन-चारित्र की विराधना, विकथा, इन्द्रिय, निद्रा आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का विवेचन किया गया है। आलस्य, मैथुन, निद्रा, क्षुधा और आक्रोश इन पाँचों का जितना सेवन किया जाय, उतना ही वे द्रौपदी के दुकूल की तरह बढ़ते रहते हैं।

स्त्यानर्द्धिनिद्रा वह है जिसमें तीव्र दर्शनावरणकर्म का उदय होता है, जिस निद्रा में चित्त स्त्यान कठिन या जम जाय वह स्त्यानर्द्धि है। उसके स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए चूर्णिकार ने पुद्गल, मोदक, कुम्भकार और हस्तीदन्त के उदाहरण दिये हैं।

षट्जीवनिकाय की यतना, उसमें लगने वाले दोष, अपवाद और प्रायश्चित्त का पीठिका में विवेचन किया गया है। अशन, पान, वसन, वसति, हलन-चलन-शयन, भ्रमण, भाषण, गमन, आगमन आदि पर विचार किया गया है।

प्राणातिपात का विवेचन करते हुए मृषावाद को लौकिक और लोकोत्तर इन दो भागों में विभक्त किया गया है। लौकिक मृषावाद में शशक, एलाषाढ मूलदेव, खिण्डपाणा इन चार धूर्तों के आख्यान है। इस धूर्ताख्यान का मूल आधार आचार्य हरिभद्रकृत धूर्ताख्यान की प्राचीन कथा है। इसके बाद लोकोत्तर मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह और रात्रिभोजन का वर्णन है, जो दर्पिका सम्बन्धी और कल्पिका सम्बन्धी दो भागों में विभक्त है। दर्पिका में उन विषयों में लगने वाले दोषों का वर्णन है और उन दोषों के सेवन का निषेध किया गया है। कल्पिका मे उनके अपवादों का वर्णन है। मूलगुणप्रतिसेवना के पश्चात् उत्तरगुणप्रतिसेवना का वर्णन है। उसमें पिण्डविशुद्धि आदि का वर्णन है। पीठिका के उपसंहार में इस बात पर प्रकाश डाला है कि निशीथपीठिका का सूत्रार्थ बहुश्रुत को ही देना चाहिए, अयोग्य पुरुष को नही।

प्रथम उद्देशक मे चतुर्थ महाव्रत पर विस्तार से विश्लेषण है। इसमे पाच प्रकार की चिलिमिलिकाओ को ग्रहण करना, उसका प्रमाण और उपयोग पर प्रकाश डाला है। लाठी और उसकी उपयोगिता पर भी विचार किया गया है। वस्त्र फाड़ने, सीने आदि के नियमोपनियम भी बताये हैं।

द्वितीय उद्देशक मे पादप्रोंछन के ग्रहण, सुगन्धित पदार्थों के सूघने, कठोर भाषा का उपयोग करने तथा स्नान आदि करने का निषेध है और दाता की पूर्व व पश्चात् स्तुति का भी निषेध किया गया है। द्रव्यसंस्तव ६४ प्रकार का है। उसमे जव, गोधूम, शालि आदि २४ प्रकार के धान्य; सुवर्ण, तंब, रजत, लोह, शीशक, हिरण्य, पाषाण, बेर, मणि, मौक्तिक, प्रवाल, शंख, तिनिश, अगरु, चन्दन, अभिलात वस्त्र, काष्ठ, दन्त, चर्म, बाल, गन्ध, द्रव्य औषध ये २४ प्रकार के रत्न; भूमि, घर, तरु ये तीन प्रकार के स्थावर; शकट आदि और मनुष्य ये दो प्रकार के द्विपद; गौ, उष्ट्री, महिषी, अज, मेष, अश्व, अश्वतर, घोटक, गर्दभ, हस्ती ये दस प्रकार के चतुष्पद और ६४वां कुप्य उपकरण है।

शय्यातर का पिण्ड अग्राह्य है। उसे ग्रहण करने पर मासलघु का प्रायश्चित्त आता है। (१) सागारिक कौन होता है, (२) वह शय्यातर कब बनता है, (३) उसके पिण्ड के प्रकार, (४) अशय्यातर कब बनता है, (५) सागारिक किस संयत द्वारा परिहर्तव्य है, (६) सागारिक-पिण्ड के ग्रहण से दोष, (७) किस परिस्थिति मे सागारिक-पिण्ड ग्रहण किया जा सकता है, (८) यतना से ग्रहण करना, (९) एक या अनेक सागारिकों से ग्रहण करना आदि विषयों पर चिन्तन किया गया है। सागारिक के सागारिक, शय्यातर, दाता, घर तर ये पांच प्रकार हैं। शय्या और संस्तारक का अन्तर बताते हुए कहा है कि शय्या पूरे शरीर के बराबर होती है और संस्तारक ढाई हाथ लम्बा होता है। उसके भी भेद-प्रभेद का विस्तार से वर्णन है।

उपधि का विवेचन करते हुए उसके अवधियुक्त और उपगृहीत ये दो प्रकार बताये हैं। जिनकल्पिकों के लिए बारह प्रकार की, स्थविरकल्पिकों के लिए चौदह प्रकार की और साध्वियों के लिए पच्चीस प्रकार की उपधि अवधियुक्त है। जिनकल्पिक पाणिपात्र भोजी और प्रतिग्रहधारी ये दो प्रकार के होते हैं। जिनकल्पिक की अवधि की आठ कोटियां हैं। उनके दो, तीन, चार, पांच, नौ, दस, ग्यारह, बारह ये भेद हैं। निर्वस्त्र पाणिपात्र की जघन्य

उपधि रजोहरण और मुखवस्त्रिका ये दो होती हैं। यदि पाणिपात्र-सवस्त्र है और एक कपड़ा ग्रहण करता है तो उसके तीन प्रकार हैं।

तृतीय उद्देशक में भिक्षाग्रहण में लगने वाले दोषों और उनकी शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त का विधान है। अन्य दोषों के सम्बन्ध में भी चिन्तन किया है।

चतुर्थ उद्देशक में अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्ग, कायोत्सर्ग के विविध प्रकार, समाचारी, निर्ग्रन्थी के स्थान पर श्रमण का प्रवेश, राजा, अमात्य, श्रेष्ठि, पुरोहित, सार्थवाह, ग्राममहत्तर, राष्ट्रमहत्तर, गणधर के लक्षण, ग्लान श्रमणी की सेवा, संरंभ, समारम्भ और आरम्भ के भेद-प्रभेद, हास्य और उसके उत्पन्न होने के विविध कारणों का वर्णन है।

पंचम उद्देशक में प्राभृतिक शय्या, छादन आदि भेद, सपरिकर्मशय्या, उसके चौदह प्रकारों का वर्णन है। जैन श्रमणों में परस्पर आहार आदि का जो व्यवहार होता है वह जैन पारिभाषिक शब्द में संभोग कहलाता है और उस सम्बन्ध को सांभोगिक सम्बन्ध कहते हैं। चूर्णिकार ने सांभोगिक सम्बन्ध को समझाने के लिए कुछ ऐतिहासिक आख्यान दिये हैं, यथा—भगवान महावीर, उनके शिष्य सुधर्मा, उनके जम्बू, उनके प्रभव, उनके शय्यंभव, उनके यशोभद्र, उनके संभूत, उनके स्थूलभद्र, स्थूलभद्र के आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती ये दो युगप्रधान शिष्य हुए। चन्द्रगुप्त का पुत्र बिन्दुसार, उसका अशोक और उसका पुत्र कुणाल हुआ।

छठे उद्देशक में गुरुचातुर्मासिक का वर्णन है। इसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय मैथुन सम्बन्धी दोष और प्रायश्चित्त है।

सप्तम उद्देशक विकृत आहार, कुण्डल, गुण, मणि तुडिय, तिसरिय, वालंभा, पलंबाहार, अर्द्धहार, एकावली, मुक्तावली, कनकावली, रत्नावली, पट्ट, मुकुट आदि आभूषण का स्वरूप बताकर उनको धारण करने का निषेध है व आलिङ्गनादि का निषेध किया गया है।

अष्टम उद्देशक में उद्यान, उद्यानगृह, उद्यानशाला, निर्याण, निर्याणगृह, निर्याणशाला, अट्ट, अट्टालक, चरिका, प्राकार, द्वार, गोपुर, दक, दकमार्ग, दकपथ, दकतीर, दकस्थान, शून्यगृह, शून्यशाला, भिन्नगृह, भिन्नशाला, कूटागार, कोष्ठागार, तृणगृह, तृणशाला, तुषगृह, तुषशाला आदि का अर्थ स्पष्ट कर श्रमण को सूचित किया है कि इन सभी स्थानों में अकेली महिला के साथ विचरण न करे।

निशा में स्वजन-परिजन आदि के साथ भी न रहे और रहने पर प्रायश्चित्त का विधान है। साथ ही रात्रि में भोजन आदि की अन्वेषणा करना, ग्रहण करना आदि के लिए भी प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

नौवें उद्देशक में बताया है कि जो मूर्धाभिषिक्त है अर्थात् अभिषेक हो चुका है, जो सेनापति, अमात्य, पुरोहित, श्रेष्ठी और सार्थवाह सहित राज्य का उपभोग करता है, उसका पिण्ड श्रमण के लिए वर्ज्य है। जो मूर्धाभिषिक्त नहीं हैं उसके लिए यह नियम नहीं है। अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल और पादप्रोञ्छन ये आठ वस्तुएँ राजपिण्ड में आती हैं।

श्रमण को जीर्णान्तःपुर, नवान्तःपुर और कन्यकान्तःपुर में नहीं जाना चाहिए। कोष्ठागार, भाण्डागार, पानागार, क्षीरगृह, गंजशाला, महानसशाला आदि का भी स्वरूप बताया गया है।

दसवें उद्देशक में भाषा की प्रगाढ़ता, परुषता आदि का विवेचन कर उसके प्रायश्चित्त का वर्णन किया है। आधाकर्मिक आहार के दोष व प्रायश्चित्त, रुग्ण की वैयावृत्य, उसकी यतना, उपेक्षा करने पर प्रायश्चित्त का विधान है। वर्षावास पर्युषणा के एकार्थक शब्द दिये गये है। आर्य कालक की भगिनी सरस्वती जो अत्यन्त रूपवती थी—उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल द्वारा उसके अपहरण आदि की कथा दी गई है।

ग्यारहवें उद्देशक में पात्र-ग्रहण की चर्चा है। भय के पहले चार भेद किये हैं—(१) पिशाच आदि से उत्पन्न भय, (२) मनुष्यादि से उत्पन्न भय, (३) वनस्पति से उत्पन्न भय और (४) अकस्मात् उत्पन्न होने वाला भय। फिर इहलोक, परलोक आदि सात भय बताये है।

अयोग्यदीक्षा का निषेध करते हुए कहा है कि अठारह प्रकार के पुरुष, बीस प्रकार की स्त्रियाँ और दस प्रकार के नपुंसक ये अयोग्य हैं। बालदीक्षा के तीन भेद किये हैं—(१) सात-आठ वर्ष का बालक उत्कृष्ट बाल है, (२) पाँच-छह वर्ष की आयु वाला मध्यम बाल है और (३) चार वर्ष तक की आयु वाला जघन्य बाल है। ये सभी दीक्षा के अयोग्य हैं। आठ वर्ष से अधिक आयु वाला बालक ही दीक्षा के योग्य माना गया है। वृद्ध, रोगी, उन्मत्त, मूढ आदि जो दीक्षा के अयोग्य हैं, उनका भी विविध भेदों से वर्णन किया है। प्रसंगानुसार सोलह प्रकार के रोग, आठ प्रकार की व्याधियों का भी निरूपण है। व्याधि और रोग में यही अन्तर है कि व्याधि का नाश शीघ्र होता है, किन्तु रोग का नाश लम्बे समय में होता है। बालमरण और पण्डितमरण पर भी विस्तार से विश्लेषण किया गया है।

बारहवें उद्देशक में त्रसप्राणी सम्बन्धी बन्धन व मुक्ति, प्रत्याख्यान, भंग आदि का वर्णन हुआ है।

तेरहवें उद्देशक में स्निग्ध पृथ्वी, शिला आदि पर कायोत्सर्ग, गृहस्थ को कटुक वचन, मन्त्र, लाभ व हानि, धातु का स्थान आदि बताना, वमन विरेचन प्रतिकर्म करना, पार्श्वस्थ कुशील की प्रशंसा व वन्दन, धात्रीपिण्ड, दूतीपिण्ड, निमित्तपिण्ड, चिकित्सापिण्ड, क्रोधादिपिण्ड का भोग करना ये सभी चतुर्लघु प्रायश्चित्त के योग्य हैं।

चौदहवें उद्देशक मे पात्र सम्बन्धी दोषों का निरूपण कर उससे मुक्त होने के लिए प्रायश्चित्त का विधान है।

पन्द्रहवें उद्देशक मे श्रमण-श्रमणियों को सचित्त आम खाने का निषेध किया है। द्रव्य आम के उस्सेतिम, संसेतिम, उवक्खड और पालिय ये चार भेद है और पलित आम के चार प्रकार बताये हैं। श्रमण-श्रमणियों की दृष्टि से तालप्रलम्ब के ग्रहण की विधि पर भी प्रकाश डाला है।

सोलहवें उद्देशक में श्रमण को देहविभूषा और अतिउज्ज्वल उपधि धारण का निषेध किया है। श्रमण-श्रमणियों को ऐसे स्थान पर रहना चाहिए जहाँ पर रहने से उनके ब्रह्मचर्य की विराधना न हो।

जुगुप्सित यानि घृणित कुल में आहार ग्रहण नहीं करना चाहिए। जुगुप्सित इत्वरिक और यावत्कथिक रूप में दो प्रकार हैं। सूतक आदि वाले घर कुछ समय के लिए जुगुप्सित होते हैं। लुहार, कलाल, चर्मकार, ये यावत्कथिक-जुगुप्सित कुल हैं।

पूर्व में मगध से लेकर पश्चिम में स्थूणा पर्यन्त और दक्षिण में कौशाम्बी से लेकर उत्तर में कुणाला पर्यन्त आर्यदेश है, जहाँ पर श्रमण को विचरना चाहिए। भाष्यकार की भी यही मान्यता रही है।

सत्रहवें उद्देशक में गीत, हास्य, वाद्य, नृत्य, अभिनय आदि का स्वरूप बताकर श्रमण के लिए उनका आचरण करना योग्य नहीं माना गया है और प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

विषय-सूची

उद्देशक २

उद्देशक ३

सूत्रांक	विषय	पृष्ठांक
६७	शरीर से पसीना-मैल हटाने का प्रायश्चित्त शब्द व्याख्या, समर्थ-असमर्थ साधक की अपेक्षा विवेक।	८२
६८	आंख, कान, नाक और नख का मैल निकालने का प्रायश्चित्त कारण-अकारण का विवेक ज्ञान, मैल निकालने के अपवाद।	८२-८३
६९	मस्तक ढांक कर कहीं भी जाने का प्रायश्चित्त लिंग विपरीतता, अपवाद वर्णन, प्रचलित परम्परा, शरीर परिकर्म के कुल ५४ सूत्रों की तालिका, अन्य उद्देशकों मे नव बार ५४ सूत्र, सकारण-अकारण मे प्रायश्चित्त विकल्प, शरीर उपकरण सम्बन्धी आगम प्रमाणों से विश्लेषण, सकारण के निर्णय के अधिकारी की योग्यता एवं उसका स्वतन्त्र विचरण।	८३-८६
७०	वशीकरण करने का प्रायश्चित्त	८६-८७
७१-७९	अकल्पनीय स्थानों में मल-मूत्र परठने का प्रायश्चित्त सूत्र का मुख्य विषय, शब्दो के अर्थ, "गोलेहणिया" का विशिष्टार्थ, मूल पाठ की विचारणा, परठने के अविवेक से दोषोत्पत्ति, विवेक ज्ञान।	८७-९०
८०	धूप न आने वाले स्थान में मल-विसर्जन करने का प्रायश्चित्त "अणुग्गए सूरिए" शब्द का सही आशय, उपाश्रय मे या स्थंडिलभूमि में मल-त्याग का विवेक-ज्ञान, कृमिविवेक।	९१
—	उद्देशक का सूत्र क्रमांक युक्त सारांश	९२-९३
—	किन-किन सूत्रों का विषय अन्य आगमों में है अथवा नहीं है	९३-९४

उद्देशक—४

सूत्रांक	विषय	पृष्ठांक
१-५	राजा आदि को वश में करने का प्रायश्चित्त प्रशस्त-अप्रशस्त प्रयत्न, हानि और लाभ, इस विषय में सूत्रकृतांगसूत्र का विधान।	९५-९६
६-१०	राजा आदि की प्रशंसा करने का प्रायश्चित्त पूर्व सूत्रों मे सम्बन्ध एवं किसी को वश मे करने का एक तरीका।	९६
११-१५	राजा आदि को आकर्षित करने का प्रायश्चित्त 'अत्थीकरेइ' अनेक अर्थों में, प्रासगिक अर्थ, अन्य शब्दार्थ।	९७-९८
१६-३०	ग्राम-रक्षक आदि को वश में करने आदि का प्रायश्चित्त शब्दार्थ, सूत्र संख्या एवं क्रम की विचारणा।	९८-१००
३१	सचित्त धान्य या बीज आदि खाने का प्रायश्चित्त "कसिण" शब्द की व्याख्या, अचित्त अखण्ड धान्य खाने के आगम प्रमाण।	१००-१०१

उद्देशक ६

सूत्रांक	विषय	पृष्ठांक

उद्देशक—७

उद्देशक—८

उद्देशक—१०

उद्देशक—११

उद्देशक—१२

सूत्रांक विषय पृष्ठ

उद्देशक १४

उद्देशक १६

उद्देशक १६

णिसीहसुत्तं

निशीथसूत्र

प्राथमिक

प्रायश्चित्त स्वरूप तालिका

पराधीनता में या असावधानी में होनेवाले अतिचारादि का प्रायश्चित्त–

क्रम	प्रायश्चित्तनाम	जघन्य तप	मध्यम तप	उत्कृष्ट तप
१.	लघुमास	चार एकाशना	पन्द्रह एकाशना	सत्तावीस एकाशना
२.	गुरुमास	चार निर्विकृतिक	पन्द्रह निर्विकृतिक	तीस निर्विकृतिक
३.	लघु चौमासी	चार आयंबिल	साठ निर्विकृतिक	एक सौ आठ उपवास
४.	गुरु चौमासी	चार उपवास	चार छट्ठ (बेला)	एक सौ बीस उपवास या चार मास दीक्षा पर्याय छेद

आतुरता से लगनेवाले अतिचारादि का प्रायश्चित्त–

क्रम	प्रायश्चित्तनाम	जघन्य तप	मध्यम तप	उत्कृष्ट तप
१.	लघुमास	चार आयंबिल	पन्द्रह आयंबिल	सत्तावीस आयंबिल
२.	गुरुमास	चार आयंबिल एवं पारणे में धार विगय का त्याग	पन्द्रह आयंबिल एवं पारणे में धार विगय का त्याग	तीस आयंबिल, पारणे में धार विगय का त्याग
३.	लघु चौमासी	चार उपवास	चार छट्ठ (बेले)	एक सौ आठ उपवास
४.	गुरु चौमासी	चार छट्ठ या चार दिन का छेद	चार अट्ठम या छह दिन का छेद	एक सौ बीस उपवास या चार मास का छेद

तीव्र मोहोदय से (आसक्ति से) लगने वाले अतिचारादि के प्रायश्चित्त–

क्रम प्रायश्चित्तनाम	जघन्य तप	मध्यम तप	उत्कृष्ट तप
१. लघुमास	चार उपवास	पन्द्रह उपवास	सत्तावीस उपवास
२. गुरुमास	चार उपवास, चौविहार त्याग	पन्द्रह उपवास, चौविहार त्याग	तीस उपवास, चौविहार त्याग
३. लघु चौमासी	चार बेले, पारणे में आयंबिल	चार तेले, पारणे में आयंबिल	एक सौ आठ उपवास, पारणे में आयंबिल
४. गुरु चौमासी	चार तेले, पारणे में आयंबिल या ४० दिन का दीक्षाछेद	पन्द्रह तेले, पारणे में आयंबिल या ६० दिन का दीक्षाछेद	एक सौ बीस उपवास, पारणे में आयंबिल या पुनः दीक्षा या १२० दि[न] का दीक्षाछेद।

सामान्य विवक्षा से जघन्य और उत्कृष्ट दो प्रकार के प्रायश्चित्तों में भी सभी प्रकार के प्रायश्चित्त समाविष्ट हो जाते हैं।

भाष्यकार ने विशेष विवक्षा से तीन प्रकार के प्रायश्चित्त कहे हैं—१. जघन्य, २. मध्यम, ३. उत्कृष्ट।

प्रतिसेवी की वय, सहिष्णुता और देश-काल के अनुसार गीतार्थ मुनि तालिका में कहे प्रायश्चित्त से हीनाधिक तप-छेद आदि दे सकते हैं।

एक उपवास के समकक्ष तप—

१. अडतालीस नवकारसी	[४८]	=	एक उपवास
२. चौवीस पोरसी	[२४]	=	"
३. सोलह डेढ़ पोरसी	[१६]	=	"
४. आठ पुरिमार्ध (दो पोरसी)	[८]	=	"
५. चार एकाशन	[४]	=	"
६. निवी तीन	[३]	=	"
७. दो आयंबिल	[२]	=	"
८. दो हजार गाथाओं का स्वाध्याय	[२०००]	=	"

□

प्रथम उद्देशक

वेद-मोहोदय का प्रायश्चित्त–

१. जे भिक्खू हत्यकम्मं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

१. जो भिक्षु हस्तकर्म करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है (उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन

इस सूत्र को पढ़ते ही जिज्ञासु स्वाध्यायी के हृदय में सहसा एक जिज्ञासा जागृत होती है कि इस आगम के प्रारम्भ में ही यह सूत्र कैसा है?

प्रारम्भ में तो मंगलाचरण या उत्थानिका ही होनी चाहिए। यह सूत्र तो अन्यत्र भी कहीं लिया जा सकता था।

इसका समाधान यह है कि आगमों की संकलनशैली ही ऐसी है कि उनमें 'अथ से इति' तक अभीष्ट विषयों का संकलन किया गया है।

उदाहरण के लिए आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग तथा बृहत्कल्प, व्यवहार आदि सूत्र देखें।

इनमें न मंगलाचरण सूत्र है और न उत्थानिका है। क्योंकि आगमों में प्रतिपादित श्रुतधर्म और चारित्रधर्म स्वयं मंगल है, अतएव आगम और उनके प्रत्येक सूत्र मंगल रूप हैं, फिर अतिरिक्त मंगलाचरण की आवश्यकता ही क्या है?

अथवा—प्रायश्चित्त तप है, दशवैकालिक सूत्र के अनुसार तप मंगल है, अतएव प्रायश्चित्त-प्ररूपक पूर्ण निशीथसूत्र मंगल रूप ही है—इसलिए अतिरिक्त मंगलाचरण अनावश्यक है।

इस सम्बन्ध के चिन्तनशील आगम स्वाध्यायियों का अभिमत यह है कि जिन आगमों के प्रारम्भ में या अन्त में जो मंगलाचरण सूत्र हैं या उत्थानिकायें हैं, वे सब लिपिककाल में या अन्य किसी अज्ञात काल में किसी भावुक आगमानुरागी ने भक्तिवश बाद में जोड़ दिए हैं।

प्रमाणरूप में प्रस्तुत है—

लिपि-नमस्कार

भगवतीसूत्र के प्रारम्भ में "नमो बंभीए लिवीए" जो नमस्कार रूप मंगलाचरण है वह लिपिककाल से प्रचलित हुआ है, क्योंकि जब तक श्रुतपरम्परा कंठस्थ रही तब तक लिपि को नमस्कार करने की उपादेयता ही क्या थी?

श्रुतदेवता नमस्कार

इसी प्रकार भगवतीसूत्र के अन्त में श्रुतदेवता आदि अनेक देव-देवियों को नमस्कार रु अन्तिम मंगल भी किसी युग में जुड़ा है। टीकाकार श्री अभयदेवसूरि ने भी इन्हें लिपिकर्ता "मंगल" कहकर व्याख्या नही की है।

व्रती श्रमण अव्रती श्रुतदेवता यक्ष को नमस्कार करें यह संगत नहीं होता, कुछ आगमज्ञ श्रुतदेवता गणधर को ही मानते हैं किन्तु गणधर तो सूत्रागम के स्वयं स्रष्टा हैं, अत: वे अपने आपको नमस्कार करें यह भी युक्तिसंगत प्रतीत नही होता है।

जब लिपिक आगमों को प्रतिलिपियाँ करने लगे तो उनमें से किसी एक लिपिक ने भगवती के प्रारम्भ में "नमो बंभीए लिवीए" लिखकर नमस्कार रूप मंगलाचरण किया होगा, जिससे भगवती की प्रतिलिपि निर्विघ्न पूर्ण हो। क्योंकि भगवती ही सबसे बड़ा आगम सदा रहा है। उस प्रति की जितनी प्रतिलिपियाँ हुईं, उनमें यह लिपि नमस्कार का मंगलाचरण सूत्र स्थायी हो गया।

यद्यपि लिपिक ब्राह्मी लिपि में नहीं लिखते थे फिर भी उनकी यह श्रद्धा थी कि आदि लिपि "ब्राह्मी लिपि" है, उसे नमस्कार करने पर लिपि का व्यवसाय हमें समृद्धि देगा।

प्रारम्भ में प्रयुक्त उत्थानिकायें

उपलब्ध आगमों की वाचना सुधर्मास्वामी की वाचना मानी जाती है, उनकी ही वाचना में उनका परिचय और उनके विहार का वर्णन जिस प्रकार इन उत्थानिकाओं में वर्णित है उसे देखते हुए सामान्य पाठक भी यह समझ सकता है कि ये उत्थानिकायें किसी अन्य की ही कृति हैं।

उत्थानिकाओं की रचनाशैली से ही यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है—

उदाहरण के लिए प्रस्तुत है—उत्थानिका का एक अंश—

"तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी अज्जसुहम्मे णामं थेरे जाइसंपन्ने जाव गामाणुगामं दूइज्जमाणे सुहं सुहेणं विहरमाणे जेणेव चंपाणयरी जेणेव पुण्णभद्दे चेइए तेणामेव उवागच्छइ ···" —ज्ञाताधर्मकथा श्र. १, सू. १.

उस काल उस समय में श्रमण भगवान् महावीर के अन्तेवासी आर्य सुधर्मा नाम के स्थविर जातिसम्पन्न 'यावत्' एक ग्राम से दूसरे ग्राम विचरते हुए सुखे सुखे विहार करते हुए जहाँ चम्पा-नगरी थी, जहाँ पूर्णभद्र चैत्य था वहाँ आए ····।

उत्थानिका के इस अंश को पढ़कर सुज्ञ पाठक स्वयं निर्णय करें कि क्या ये उत्थानिकाएं स्वयं सुधर्मास्वामी द्वारा संकलित हैं ? यदि नहीं तो यह निश्चित है कि बाद में ये जोडी गई हैं। इसलिए सूत्रों में मंगलाचरण सूत्र और उत्थानिकाएं मौलिक रचना नहीं हैं।

इसीलिए इस निशीथसूत्र में मंगलाचरण सूत्र और उत्थानिका सूत्र कहे बिना ही वेदमोहनीय के उदय का प्रायश्चित्त सूत्र कहा गया है।

अनगार धर्म की आराधना में ब्रह्मचर्य महाव्रत को आराधना अति कठिन है। इस एक के पूर्ण पालन से सभी महाव्रतों का पूर्ण पालन सम्भव है और इस एक के भंग होने पर सभी महाव्रतों का भंग होना सुनिश्चित है।

इस महाव्रत का महत्त्व इतना है कि इसके पूर्ण पालक के सामने देव, दानव, मानव आदि सभी नतमस्तक रहते हैं।

इसके माहात्म्य का और इसकी साधना के साधक बाधक कारणों का आगमों में विस्तृत वर्णन है।

इसके पालक साधु-साध्वियां वेदमोहनीय के आकस्मिक प्रबल उदय से होने वाले अतिक्रमादि के आचरणों से सतत सजग रहकर इस महाव्रत की सुरक्षा करते रहें, इसी भावना से इस आगम में यह प्रथम प्रायश्चित्त सूत्र प्रस्तुत किया गया है।

जे भिक्खू—बृहत्कल्प सूत्र उद्देशक ३-४-५ के किसी-किसी सूत्र में केवल "भिक्षु या श्रमण निर्ग्रंथ" इस तरह पुरुष प्रधान शब्द का प्रयोग हुआ है। तथापि ये विधान भिक्षु, भिक्षुणी दोनों के लिये उपयुक्त हैं। आचारांगसूत्र में भिक्षु, भिक्षुणी तथा बृहत्कल्पसूत्र में निर्ग्रंथ, निर्ग्रन्थी दोनों पदों का प्रयोग है, रचनापद्धति के अनेक प्रकार हो सकते हैं, फिर भी जहां जो अर्थ संगत होता है, वह समझा जाता है।

निशीथसूत्र में सत्रहवें उद्देशक के कुछ सूत्रों को छोड़कर प्रायः सर्वत्र "भिक्षु" शब्द के प्रयोग से ही प्रायश्चित्त कथन हुआ है, फिर भी उपलक्षण से साध्वी के लिए यथायोग्य प्रायश्चित्त-विधान समझ लेने चाहिए।

हत्थकम्म—वेद-मोहोदय से प्रादुर्भूत विभावदशाजन्य विकृत विचारों से हस्तकर्म का संकल्प क्रियान्वित होता है।

इसके दुष्परिणामों का विस्तृत वर्णन एवं इससे मुक्ति पाने के उपायों को जानने के लिये भाष्य एवं चूर्णि का विवेकपूर्वक स्वाध्याय करना चाहिये।

करेइ, करेंतं वा साइज्जइ—सूत्र में कराने की क्रिया नहीं दी गई है। "कराना" भी एक प्रकार का अनुमोदन ही है, क्योंकि कराने में अनुमोदन निश्चित है जिससे कराने की क्रिया का भी ग्रहण हो जाता है। चूर्णिकार ने भी—

"साइज्जणा दुविहा—कारावणे, अनुमोदने"

इस प्रकार व्याख्या की है तथा आदि और अंत के कथन से मध्य का ग्रहण भी हो सकता है। अतः जहाँ पर भी "करेइ, करेंतं वा साइज्जइ पाठ है, वहाँ यह अर्थ समझ लेना चाहिये कि "करता है या करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।"

किन्तु जहाँ पर "कारेइ कारेंतं वा साइज्जइ" पाठ हो वहाँ "अन्य से करवाता है या करवाने वाले का अनुमोदन करता है," इस प्रकार अर्थ समझना चाहिये।

वर्तमान में उपलब्ध निशीथसूत्र की प्रतियों में प्रत्येक सूत्र के साथ प्रायश्चित्त सूचक पाठ नहीं है, किन्तु प्राचीन काल में प्रत्येक सूत्र के साथ प्रायश्चित्त पाठ रहा होगा। चूर्णिकार प्रायः अनेक सूत्रों के शब्दार्थ और विवेचन में प्रायश्चित्त का कथन करते हैं।

उदाहरण के रूप में—प्रथम उद्देशक के द्वितीय सूत्र की, द्वितीय उद्देशक के प्रथम सूत्र की तृतीय उद्देशक के प्रथम सूत्र की चूर्णि देखें, इन सूत्रों में—"तस्स मासगुरुपच्छित्तं, तस्स मासलहु पच्छित्तं "तस्स मासलहुं" इत्यादि प्रकार से व्याख्या की गई है। किन्तु उद्देशक के अंतिम सूत्र के साथ संलग्न उपलब्ध प्रायश्चित्त पाठ की व्याख्या प्रायः नहीं की गई है। अन्य सूत्रों की व्याख्या में "तस्स मासलहु" आदि प्रायश्चित्त सूचक वाक्यों की क्रिया-व्याख्या जिस प्रकार है, अंतिम सूत्रों में भी प्रायः उसी प्रकार है।

अतः प्रत्येक सूत्र का अंतिम वाक्य "करेंतं वा साइज्जइ आवज्जइ से मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं"। (करने वाले का अनुमोदन करता है उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।) ऐसा होना चाहिये।

कभी मूल पाठ का संक्षिप्तीकरण किया गया, उस समय सब सूत्रों के साथ प्रायश्चित्त पाठ न लिखकर उद्देशक के अंतिम सूत्र के साथ "तं सेवमाणे" इतना पाठ संबंध जोड़ने के लिये अधिक लगा कर लिख दिया गया हो। ऐसा चूर्णिकारकृत शब्दार्थ और व्याख्या से ज्ञात हो जाता है।

साइज्जइ—किसी भी निषिद्ध कार्य के होने में अभिरुचि रखना "साइज्जणा" है। वह दो प्रकार की है—

१. निषिद्ध कृत्य दूसरे से करवाना।
२. निषिद्ध कृत्य करते हुये का अनुमोदन करना।

दूसरे से करवाना भी दो प्रकार का है—

१. जिसकी इच्छा निषिद्ध कार्य करने की है, उससे करवाना।
२. जिसकी इच्छा निषिद्ध कार्य करने की नहीं है, उससे बलपूर्वक करवाना।

अनुमोदन भी दो प्रकार का है—

१. निषिद्ध कार्य की व करने वाले की सराहना करना।
२. अकृत्य करने वाले को गणप्रमुख द्वारा मना न करना।

प्र.—गुरुतर दोष किसमें है, किसी अन्य से निषिद्ध कृत्य करवाने में या निषिद्ध कृत्य का अनुमोदन करने में ?

उ.—अनुमोदन में लघुतर दोष है और करवाने में गुरुतर दोष है।

—नि. चू. भा. २ पृष्ठ-२५, गाथा ५८८

अंगादान के संचालनादि का प्रायश्चित्त

२. जे भिक्खू अंगादाणं कट्ठेण वा, किलिंचेण वा, अंगुलियाए वा, सलागाए वा संचालेइ, संचालेंतं वा साइज्जइ।

३. जे भिक्खू अंगादाणं संवाहेज्ज वा, पलिमद्देज्ज वा, संवाहेंतं वा, पलिमद्देंतं वा साइज्जइ।

४. जे भिक्खू अंगादाणं तेल्लेण वा, घएण वा, वसाए वा, णवणीएण वा, अब्भंगेज्ज वा, मक्खेज्ज वा, अब्भंगेंतं वा मक्खेंतं वा साइज्जइ।

५. जे भिक्खू अंगादाणं कक्केण वा, लोद्धेण वा पउमचुण्णेण वा, ण्हाणेण वा, सिणाणेण वा, चुण्णेहिं वा, वण्णेहिं वा, उव्वट्टेज्ज वा, परिवट्टेज्ज वा उव्वट्टेंतं वा परिवट्टेंतं वा साइज्जइ।

६. जे भिक्खू अंगादाणं सीओदगवियडेण वा, उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोवेज्ज वा, उच्छोलेंतं वा पधोवेंतं वा साइज्जइ।

७. जे भिक्खू अंगादाणं णिच्छलेइ, णिच्छलेंतं वा साइज्जइ।

८. जे भिक्खू अंगादाणं जिंघइ, जिंघंतं वा साइज्जइ।

२. जो भिक्षु "अंगादान" को काष्ठ से, वांस आदि की खपच्ची से, अंगुली से या वेत आदि की शलाका से संचालन करता है या संचालन करने वाले का अनुमोदन करता है।

३. जो भिक्षु "अंगादान" का मर्दन करता है या बार-बार मर्दन करता है या ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है।

४. जो भिक्षु "अंगादान" का तेल, घी, वसा या मक्खन से मालिश करता है या बार-बार मालिश करता है या ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है।

५. जो भिक्षु "अंगादान" का कल्क—अनेक द्रव्यों के संयोग से निर्मित लेप्य पदार्थ से, लोध्र—सुगंधित द्रव्य से, पद्मचूर्ण से, ण्हाण—उड़द आदि के चूर्ण से, सिणाण—सुगन्धित चूर्ण आदि से, चंदनादि के चूर्ण से, वर्धमान चूर्ण से उवटन—लेप या पीठी एक वार या वार-बार करता है या ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है।

६. जो भिक्षु "अंगादान" का प्रासुक शीतल जल से या उष्ण जल से प्रक्षालन [धोना] एक वार या वार-बार करता है या ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है।

७. जो भिक्षु "अंगादान" के अग्रभाग की त्वचा को ऊपर की ओर करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

८. जो भिक्षु "अंगादान" को सूंघता है या सूंघने वाले का अनुमोदन करता है। [उसे गुरु मासिक प्रायश्चित्त आता है।]

विवेचन—सूत्र संख्या २ से ८ तक के प्रत्येक विषय के स्पष्टीकरण के लिए भाष्यकार ने सात दृष्टांत दिये है, वे इस प्रकार हैं—

दृष्टांत सप्तक—

१. संचालन सूत्र का दृष्टांत—जिस प्रकार सोए हुये सिंह को जगाने पर वह सिंह जगाने वाले के जीवन का नाश कर देता है उसी प्रकार जो उपशांत "अंगादान" का संचालन करता है उसका ब्रह्मचर्य खंडित हो जाता है।

२. संबाधन सूत्र का दृष्टांत—जिस प्रकार शांत सर्प का कोई अंग किसी के पैर आदि से दब जाने पर वह उसे डस लेता है उसी प्रकार उपशांत अंगादान का मर्दन करने से ब्रह्मचर्य खंडित हो जाता है।

३. अभ्यंगन सूत्र का दृष्टांत—जिस प्रकार अग्नि को "घी" से सिंचने पर वह अत्यधिक प्रज्वलित होती है उसी तरह अंगादान का तैलादि से मालिश करने पर कामाग्नि अत्यधिक प्रदीप्त होती है।

४. उवटन सूत्र का दृष्टांत—जिस प्रकार भाले की धार को तीक्ष्ण करने पर वह अत्यधिक घातक होती है उसी तरह अंगादान का उवटन ब्रह्मचर्य का अत्यधिक घातक होता है।

५. उत्क्षालन सूत्र का दृष्टांत—जिस प्रकार सिंह की आंखों में पीड़ा होने पर किसी वैद्य के द्वारा औषध प्रयोग से शुद्धि कर देने पर वह भूखा सिंह उसे ही खा जाता है। उसी प्रकार जो अंगादान का "प्रक्षालन" करता है उसका ब्रह्मचर्य खंडित हो जाता है।

६. निश्छलन सूत्र का दृष्टांत—जिस प्रकार सोये हुये अजगर का कोई मुख खोलता है तो वह उसे खा जाता है उसी तरह जो अंगादान के त्वचा-आवरण को ऊपर करता है उसका ब्रह्मचर्य विचलित हो जाता है।

७. जिघ्रण सूत्र का दृष्टांत—एक राजा वैद्य के मना करने पर आम्र सूंघता रहा, उसका परिणाम यह हुआ कि वह अम्बष्ठी व्याधि से मर गया। उसी तरह जो "अंगादान का मर्दन करके हाथ को सूंघता है। उसका ब्रह्मचर्य वेद-मोहोदय से विनाश को प्राप्त होता है।

"अंगादान"—यह शब्द जननेन्द्रिय का सूचक है। ऐसे प्रसंगों में आगमकार अप्रसिद्ध पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग भी करते हैं। जिनमें कुछ शब्द रूढ़ अर्थवाले भी होते हैं। व्याख्याकार उन्हें "सामयिकी संज्ञा या सैद्धान्तिक प्रयोग विशेष" से सूचित करते हैं। फिर भी उन शब्दों से प्रासंगिक अर्थ भी ध्वनित हो जाता है। कुछ शब्द यौगिक व्युत्पत्तिपरक होते है, वे स्पष्ट रूप से उसी अर्थ को कहते हैं।

इस शब्द की व्याख्या में कहा गया है कि यह शरीरावयव अंगों के उत्पादन में हेतुभूत है। अतः उसकी उत्पत्ति का कारण होने से यह अंगादान कहा जाता है। अंग, उपांग आदि के नाम इस प्रकार हैं—

१. अंग—आठ हैं—मस्तक, हृदय, उदर, पीठ, दो भुजा, दो उरु [घुटनों के ऊपर का भाग]।

२. उपांग—कान, नाक, आंख, जंघा [घुटने के नीचे का भाग], हाथ, पांव आदि।

३. अंगोपांग—नख, केश, मूंछ, दाढ़ी, अंगुलियां, हस्ततल, हस्तउपतल [हथेली का उभरा हुआ भाग]।।

अब्भंगेज्ज-मक्खेज्ज—निशीथसूत्र में तीन शब्दों का प्रयोग तैल आदि से मालिश करने के अर्थ में हुआ है—"अब्भंगेज्ज, मक्खेज्ज, भिलिंगेज्ज", इन तीनों का अर्थ मालिश करना है।

एक सूत्र में इन तीन शब्दों में से जहां दो शब्दों का प्रयोग है वहां उनमें से प्रथम शब्द "एक वार" और दूसरा शब्द "अनेक वार" अर्थ का द्योतक है।

"मक्खेज्ज" शब्द जब "अब्भंगेज्ज" के साथ प्रयुक्त होता है तो वह अनेक वार के अर्थ का वाचक होता है, वही मक्खेज्ज जब "भिलिंगेज्ज" के साथ प्रयुक्त होता है तब वह एक वार के अर्थ को प्रकट करता है।

'उव्वट्टेज्ज परिवट्टेज्ज'—कल्क आदि पदार्थों से उवटन [लगाना, चुपड़ना, लेप करना, पीठी करना आदि] करने के अर्थ में भी तीन शब्दों का प्रयोग होता है—"उल्लोलेज्ज, उव्वट्टेज्ज, परिवट्टेज्ज", उनका भी अर्थ अब्भंगेज्ज-मक्खेज्ज के समान है।

- **मालिश और उवटन में अन्तर:**—मालिश के योग्य पदार्थ स्निग्ध होते है। उनसे मालिश करने में विशेष शक्ति व श्रम का उपयोग होता है। इस तरह की गई मालिश त्वचा मे लेकर अस्थि तक लाभप्रद होती है।

उबटन की वस्तुएं रूक्ष और कोमल होती हैं। उनके लगाने में विशेष शक्ति व श्रम की अपेक्षा नहीं होती है। उबटन के पदार्थ प्राय: त्वचा के लिये लाभप्रद होते हैं।

कक्केण:—क्षेत्र काल के अंतर से पदार्थों के प्रयोग में परिवर्तन हो जाता है। कल्कादि शब्द भी प्राय: ऐसे ही हैं। चूर्णि के आधार से इनका अर्थ किया है—

१. कक्केण, २. लोद्धेण, ३. पउमचुण्णेण, ४. ण्हाणेण,
५. सिणाणेण, ६. चुण्णेहिं, ७. वण्णेहिं।

इन सात शब्दों का प्रयोग शरीर परिकर्म के प्रसंग में अनेक स्थलों पर हुआ है। लिपिकारों ने ऐसे समान पाठों के प्रसंग में बिंदी लगाकर पाठ संक्षिप्त किये हैं। संक्षिप्तीकरण में समान पद्धति नही रखने से कहीं दो, कहीं तीन, कहीं चार शब्द रह गये हैं। आगे के उद्देशों की व्याख्या में चूर्णिकार प्रथम उद्देशक का निर्देश कर पुन: व्याख्या नहीं करते है। अत: आगम-स्वाध्यायी को ऐसे स्थलों में विवेकपूर्वक निर्णय करना चाहिये।

९. जे भिक्खू अंगादाणं अण्णयरंसि अचित्तंसि सोयंसि अणुप्पवेसेत्ता सुक्कपोग्गले णिग्घाएइ, णिग्घाएंतं वा साइज्जइ।

९. जो भिक्षु "अंगादान" को किसी अचित छिद्र में प्रविष्ट करके शुक्र-पुद्गलों को निकालता है या निकालने वाले का अनुमोदन करता है (उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—ब्रह्मचर्य की ९ वाड में से एक का भी पालन नही करने से तथा वेदमोहनीय के तीव्र उदय होने पर ऐसी अवस्था प्राप्त होती है। उत्तराध्ययन अ० १६ में ब्रह्मचर्यव्रत की समाधि के लिए दस स्थान वताए हैं। उत्त० अ० ३२ में और दशवैकालिक अ० ८ में भी इस विषय के शिक्षावचन कहे गए हैं।

कतिपय स्थल यहां उद्धृत किये जाते हैं—

१. **विभूसा इत्थिसंसग्गो, पणीयं पाण-भोयणं।**
नरस्सत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा॥ —दश. अ. ८, गा. ५६

२. **चित्तभित्ति ण णिज्झाए, णारिं वा सुअलंकियं।**
भक्खरं पि व दट्ठूण, दिट्ठिं पडिसमाहरे॥ —दश. अ. ८, गा. ५४

३. **विवित्त-सेज्जासणजंतियाणं ओमासणाणं दमिइन्दियाणं।**
ण रागसत्तू धरिसेइ चित्तं, पराइओ वाहिरिवोसहेहिं॥ —उत्त. अ. ३२, गा. १२

४. जहा दवग्गी पउरिंधणे वणे, समारुओ नोवसमं उवेइ।
एविंदियग्गी वि पगामभोइणो, न बंभयारिस्स हियाय कस्सइ॥
—उत्त. अ. ३२, गा. ११

५. रसा पगामं न निसेवियव्वा, पायं रसा दित्तिकरा नराणं।
दित्तं च कामा समभिद्दवंति, दुमं जहा साउफलं व पक्खी॥
—उत्तरा. अ. ३२, गा. १०

संक्षिप्त सार—विभूषा, स्त्रीसंसर्ग व प्रणीत रस भोजन को ब्रह्मचर्य के लिए तालपुट विष के समान समझना चाहिये। स्त्री एवं स्त्रियों के चित्र पर यदि दृष्टि पहुंचे तो शीघ्र हटा लेनी चाहिये। ठहरने का स्थान स्त्री आदि से रहित होना, शयन-आसन अल्प होना, प्रकामभोजी न होकर भिक्षु को सदा ऊनोदरी युक्त ही आहार करना चाहिये। इन्द्रियों के विषयों में राग द्वेष न रखते हुए प्रवृत्ति करना चाहिये, इत्यादि सावधानियां रखने पर औषध से उपशांत बने हुए रोग के समान वेदमोह भी उपशांत रहता है, ब्रह्मचर्य में समाधि रहती है, जिससे सूत्रोक्त प्रायश्चित्त स्थानों से आत्मा दूर रहती है।

नव वाडों एवं दश समाधिस्थानों का विवेचन अन्य आगमों से जान लेना चाहिए।

'अचित्तंसि सोयंसि'—'श्रोत' शब्द 'छिद्र' अर्थ में प्रयुक्त होता है। तथापि मार्ग, स्थान आदि अर्थ में भी इसका प्रयोग आगम में हुआ है।

यहां प्रासंगिक अर्थ 'छिद्र' की अपेक्षा 'स्थान' विशेष संगत है। व्यवहारसूत्र उद्देश ६ में इस विषय के दो सूत्र हैं, दोनों में 'अचित्तंसि सोयंसि' शब्द का प्रयोग है। अन्तर इतना ही है कि मैथुन के भाव युक्त प्रवृत्ति होने पर गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है और हस्तकर्म के भाव युक्त प्रवृत्ति होने पर गुरु मासिक प्रायश्चित्त आता है। इस भिन्नता का कारण यह है कि अचित्त स्थान में की गई प्रवृत्ति हस्तकर्म है और अचित्त छिद्र में की गई प्रवृत्ति मैथुन है। अतः यहां पर 'अचित्तंसि सोयंसि' से 'अचित्त स्थान' समझना चाहिए।

सचित्त पदार्थ सूंघने का प्रायश्चित्त—

१०. जे भिक्खू सचित्त पइट्ठियं गंधं जिघइ जिघंतं वा साइज्जइ।

१०. जो भिक्षु सचित्त पदार्थ में स्थित सुगंध को सूंघता है या सूंघने वाले का अनुमोदन करता है (उसे गुरु मासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—इस सूत्र में इच्छापूर्वक सुगंधित सचित्त फूल आदि सूंघने का प्रायश्चित्त कहा गया है। आचा. श्रु. २, अ. १५ में पांचवें महाव्रत की भावना में स्वाभाविक आने वाली गंध में राग-द्वेष की परिणति से मुक्त रहने की प्रेरणा की गई है। आचा. श्रु. २. अ. १, उ. ८ में कहा है कि स्वाभाविक सुगंध आने पर 'अहो गंधो-अहो गंधो, त्ति नो गंधमाघाइज्जा' अर्थात् अहो! क्या बढ़िया सुगंध आ रही है, ऐसा सोच कर उस सुगंध को सूंघने में आसक्त न हो।

जब स्वाभाविक रूप से आई हुई गंध से भी साधक को उदासीन रहने को कहा गया है तो इच्छापूर्वक सूंघना तो स्पष्ट अनाचार है और उसका ही यहां प्रायश्चित्त कहा गया है।

सचित्त पदार्थ से हरी या सूखी वनस्पतियां, फल, फूल, बीज आदि सभी सचित्त पदार्थों का ग्रहण हो जाता है ऐसा समझना चाहिए तथा इत्यादि समस्त अचित्त पदार्थ सूंघने का प्रायश्चित्त दूसरे उद्देशक में कहा गया है।

गृहस्थ द्वारा पदमार्गादि निर्माणकरण प्रायश्चित्त–

११. जे भिक्खू पदमग्गं वा, संकमं वा, अवलंबणं वा, अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कारेइ कारेंतं वा साइज्जइ।

१२. जे भिक्खू दगवीणियं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कारेइ कारेंतं वा साइज्जइ।

१३. जे भिक्खू सिक्कगं वा, सिक्कगणंतगं वा अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कारेइ कारेंतं वा साइज्जइ।

१४. जे भिक्खू सोत्तियं वा रज्जुयं वा चिलमिलिं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कारेइ कारेंतं वा साइज्जइ।

११. जो भिक्षु पदमार्ग=चलने का रास्ता, संक्रमण मार्ग=जल कीचड़ आदि को उल्लंघन करने का पाषाणादिमय मार्ग, अवलंबन=चढने, उतरने, चलने में सहारा लेने का साधन, अन्यतीर्थिक या गृहस्थ के द्वारा निर्माण करवाता है या करवाने वाले का अनुमोदन करता है।

१२. जो भिक्षु पानी के निकलने की नाली अन्यतीर्थिक से या गृहस्थ से बनवाता है या बनवाने वाले का अनुमोदन करता है।

१३. जो भिक्षु छींका या उसका ढक्कन अन्यतीर्थिक से या गृहस्थ से बनवाता है या बनवाने वाले का अनुमोदन करता है।

१४. जो भिक्षु सूत की या डोरियों की चिलिमिलिका (पर्दा-यवनिका-मच्छरदानी) अन्य-तीर्थिक या गृहस्थ से बनवाता है या बनवाने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—१. पदमार्ग—वर्षा आदि के कारण से मार्ग में जल या कीचड़ हो जाने पर उस मार्ग से जाना-आना कठिन हो जाता है और जाने-आने में जीवों की विराधना होती है। अतः सुविधा के लिये उपाश्रय में या उसके पास चलने का जो मार्ग ईंट, पत्थर आदि रखकर बनाया जाता है उसे पदमार्ग कहते हैं।

२. संक्रमणमार्ग—पत्थर आदि रखकर भूमि से कुछ ऊपर पुल के समान जो मार्ग बनाया जाता है उसे संक्रमणमार्ग कहते हैं। इस प्रकार जल नीचे बहता रहता है और ऊपर से आने-आने की सुविधा हो जाती है।

३. अवलम्बन—पुल आदि पर दोनों ओर कोई सहारे की आवश्यकता हो या कहीं चढ़ने-उतरने में सहारे की आवश्यकता हो तो उसके लिए रस्सी, थंभा आदि का जो साधन बनाया जाता है वह "अवलंबन" कहा जाता है।

४. दगवीणिका—कई स्थानों पर वर्षा आदि से पानी इकट्ठा हो जाता है, उसे निकालने का जो मार्ग बनाया जाता है, उसे "दगवीणिक" कहते हैं।

५. सिक्कग—कीड़ी, चूहा, कुत्ते आदि जीवों से खाद्य सामग्री की सुरक्षा के लिए छींका और छींके का ढक्कन रखना भी कभी आवश्यक हो जाता है उसे, "सिक्कग" कहा जाता है।

६. चिलिमिलिका—शील रक्षा के योग्य सुरक्षित स्थान न मिलने पर, आहार करने योग्य सुरक्षित स्थान न मिलने पर, मक्खी, मच्छर आदि संपातिम जीवों के अधिक हो जाने पर, उनकी रक्षा के लिये एक दिशा में यावत् पांच दिशाओं में जो पर्दा, यवनिका या मच्छरदानी आदि बनाये जाते हैं, उसे "चिलिमिलिका" कहा जाता है।

इन चारों सूत्रों में कहे गये कार्य साधु को गृहस्थों से नहीं कराना चाहिए। यदि किसी विशेष परिस्थिति में गृहस्थ से कराना पड़े तो वह प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

उत्तरकरण कराने के प्रायश्चित्त

१५. जे भिक्खू "सूईए" उत्तरकरणं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कारेइ कारेंतं वा साइज्जइ।

१६. जे भिक्खू "पिप्पलगस्स" उत्तरकरणं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कारेइ कारेंतं वा साइज्जइ।

१७. जे भिक्खू "णहच्छेयणगस्स" उत्तरकरणं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कारेइ कारेंतं वा साइज्जइ।

१८. जे भिक्खू "कण्णसोहणगस्स" उत्तरकरणं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कारेइ कारेंतं वा साइज्जइ।

१५. जो भिक्षु सूई का उत्तरकरण अन्यतीर्थिक या गृहस्थ से करवाता है या करवाने वाले का अनुमोदन करता है।

१६. जो भिक्षु कतरणी का उत्तरकरण अन्यतीर्थिक या गृहस्थ से करवाता है या करवाने वाले का अनुमोदन करता है।

१७. जो भिक्षु नखछेदनक का उत्तरकरण अन्यतीर्थिक या गृहस्थ से करवाता है या करवाने वाले का अनुमोदन करता है।

१८. जो भिक्षु कर्णशोधनक का उत्तरकरण अन्यतीर्थिक या गृहस्थ से करवाता है या करवाने वाले का अनुमोदन करता है, (उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—१. "उत्तरकरणं"—उत्तरकरण का अर्थ है—परिष्कार करना अर्थात् आवश्यकतानुसार उपयोगी बनाना, सुधारना।

१. सूई की अणी व छिद्र को सुधारना।
२. कतरणी की धार तेज करना।

३. नखछेदनक को नख काटने के योग्य बनाना ।

४. कर्णशोधनक को मृदुस्पर्शी बनाना ।

इस प्रकार चारों उपकरणों का उत्तरकरण होता है ।

२. उपकरणचतुष्टय—शरीर व संयम के उपयोगी उपकरणों को साधु अपने पास रख सकता है । जो उपकरण सभी साधुओं के लिए सदा आवश्यक होते हैं वे "औघिक उपकरण" कहे जाते हैं । ऐसे सभी उपकरणों को सदा साथ में रखने की आज्ञा है । यथा—वस्त्र, पात्र, रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि । वस्त्र, पात्र शरीर के लिए उपयोगी हैं और मुखवस्त्रिका, रजोहरण संयम के उपयोगी है ।

कुछ उपकरण विशेष परिस्थिति के कारण रखे जाते हैं, वे "औपग्रहिक उपकरण" कहे जाते हैं ।

वे भी दो तरह के होते हैं—

१. सदा काम में आने वाले, २. कभी-कभी काम में आने वाले।

१. चश्मा, लाठी आदि प्रायः सदा काम आते हैं । अतः ये सदा साथ में रखे जा सकते हैं ।

२. कभी-कभी काम में आने वाले उक्त चारों उपकरणों का तो उपरोक्त सूत्रों में कथन है ही, अन्य उपकरणों (छत्र, चर्म आदि) का कथन भी आगमों में प्रसंगानुसार हुआ है । उनमें से सर्वत्र सुलभ उपकरण प्रत्यर्पणीय रूप में लाये जाते हैं, जो कार्य हो जाने पर उसी दिन या कुछ दिनों से लौटा दिये जाते हैं ।

यद्यपि साधु के लिए अत्यल्प उपधि रखने का विधान है, फिर भी क्षेत्र काल के अनुसार या परिवर्तित शारीरिक स्थितियों के अनुसार कब, कहाँ, किन उपकरणों की आवश्यकता हो जाए और उस समय कदाचित् वहाँ वे उपकरण न मिलें; इस आशय से कांटा निकालने के उपकरण या दंत-शोधनक आदि अन्य उपकरण वर्तमान में भी साथ में रखे जाते हैं ।

इसी प्रकार सूत्रोक्त सूई, कतरणी आदि उपकरण भी काल आदि की परिस्थिति से रखे जा सकते हैं, ऐसा इन उत्तरकरण सूत्रों से प्रतीत होता है ।

निशीथभाष्य गा० १४१३-१४१६ तथा बृहत्कल्पभाष्य गा० ४०९६-४०९९ तक आपवादिक परिस्थिति में रखे जाने वाले अनेक औपग्रहिक उपकरण सूचित किये हैं, वे गाथाएं अर्थ सहित उद्दे० १६ सू० ३९ के विवेचन में देखें । उन उपकरणों में सूई, कतरणी आदि भी हैं, चर्म-छत्र दंड भी हैं एवं पुस्तकें आदि भी कही गई है ।

ये उत्तरकरण के सूत्र भी परिस्थिति से साथ में रखे हुए औपग्रहिक उपकरण रूप सूई आदि से ही संबंधित हैं । क्योंकि एक दिन के लिये प्रत्यर्पणीय उपकरण तो देखकर और उपयोगी होने पर ही लाया जाता है । कदाचित् भूल हो भी जाय तो उसे लौटाकर अन्य लाया जा सकता है ।

किन्तु प्रत्यर्पणीय सूई, कैंची आदि की नोक या धार गृहस्थ से करवाना और गुरुमासिक प्रायश्चित्त का पात्र बनना, ऐसी प्रवृत्ति किसी भी भिक्षु के द्वारा करने की कल्पना ही नहीं की जा सकती ।

२२. जो भिक्षु विना प्रयोजन कर्णशोधनक की याचना करता है या याचना करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—स्वयं के लिए आवश्यक होने पर या अन्य के मंगवाने पर भी बड़ों की आज्ञा लेकर के ही सूई आदि की याचना करनी चाहिये।

क्योंकि इनके खो जाने, टूट जाने, चुभ जाने, लग जाने की या वापिस देना भूल जाने की सम्भावना रहती है, अतः इन्हें विना प्रयोजन ग्रहण नहीं करना चाहिये।

अविधि याचना प्रायश्चित्त—

२३. जे भिक्खू अविहीए सूइं जायइ, जायंतं वा साइज्जइ।

२४. जे भिक्खू अविहीए पिप्पलगं जायइ, जायंतं वा साइज्जइ।

२५. जे भिक्खू अविहीए णहच्छेयणगं जायइ, जायंतं वा साइज्जइ।

२६. जे भिक्खू अविहीए कण्णसोहणगं जायइ, जायंतं वा साइज्जइ।

२३. जो भिक्षु अविधि से सूई की याचना करता है या याचना करने वाले का अनुमोदन करता है।

२४. जो भिक्षु अविधि से कतरणी की याचना करता है या याचना करने वाले का अनुमोदन करता है।

२५. जो भिक्षु अविधि से नखछेदनक की याचना करता है या याचना करने वाले का अनुमोदन करता है।

२६. जो भिक्षु अविधि से कर्णशोधनक की याचना करता है या याचना करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—साधु का प्रत्येक कार्य विवेकपूर्वक व विधियुक्त होना चाहिये। सूई, कतरणी आदि तीक्ष्ण होते हैं, उनके ग्रहण करने में विवेक आवश्यक है जिससे शारीरिक क्षति न हो। अविवेकपूर्वक ग्रहण करते देखकर गृहस्थ को अपने उपकरण की सुरक्षा में शंका हो सकती है। जिससे देने की भावना में कमी आ सकती है।

कुछ विशेष प्रकार की अविधियों का कथन आगे के सूत्रों में है।

अनिर्दिष्ट उपयोगकरण प्रायश्चित्त—

२७. जे भिक्खू पाडिहारियं सूइं जाइत्ता वत्थं सिव्विस्सामि त्ति पायं सिव्वइ सिव्वंतं वा साइज्जइ।

२८. जे भिक्खू पाडिहारियं पिप्पलगं जाइत्ता वत्थं छिंदिस्सामि त्ति पायं छिंदइ छिंदंतं वा साइज्जइ।

२९. जे भिक्खू पाडिहारियं नहच्छेयणगं जाइत्ता नहं छिदिस्सामि त्ति सल्लुद्धरणं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

३०. जे भिक्खू पाडिहारियं "कण्णसोहणगं जाइत्ता" कण्णमलं णीहरिस्सामि त्ति दंत-मलं वा, णह-मलं वा णीहरइ, णीहरंतं वा साइज्जइ।

२७. जो भिक्षु लौटाने योग्य सुई की याचना करके "वस्त्र सीऊंगा" ऐसा कह कर उससे पात्र सीता है या सीने वाले का अनुमोदन करता है।

२८. जो भिक्षु लौटाने योग्य कतरणी की याचना करके "वस्त्र काटूंगा" ऐसा कहकर उससे पात्र काटता है या काटने वाले का अनुमोदन करता है।

२९. जो भिक्षु लौटाने योग्य नखछेनदक की याचना करके "नख काटूंगा" ऐसा कह कर उससे कांटा निकालता है या निकालने वाले का अनुमोदन करता है।

३०. जो भिक्षु लौटाने योग्य कर्णशोधनक की याचना करके "कान का मैल निकालूंगा" ऐसा कहकर उससे दांत या नख का मैल निकालता है या निकालने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरु मासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—लौटाने योग्य वस्तु के लिये आगम में "पाडिहारिय" शब्द का प्रयोग होता है। लौटाने योग्य सूई आदि ग्रहण करने के समय किसी एक कार्य का निर्देश नही करना चाहिए।

यदि किसी एक कार्य को करने का स्पष्ट निर्देश करके सूई आदि ग्रहण किये गये हों तो उन्हें अन्य काम में नहीं लेना चाहिये।

अन्य काम करने पर दूसरा और तीसरा महाव्रत दूषित होता है। ज्ञात होने पर गृहस्थ उस साधु पर या साधुसमाज पर अविश्वास करता है, उनकी निंदा करता है तथा भविष्य में आवश्यक उपकरणों के अलाभ आदि होने की संभावना रहती है।

अन्योन्य प्रदान प्रायश्चित्त—

३१. जे भिक्खू अप्पणो एक्कस्स अट्ठाए सूइं जाइत्ता अण्णमण्णस्स अणुप्पदेइ, अणुप्पदेंतं वा साइज्जइ।

३२. जे भिक्खू अप्पणो एक्कस्स अट्ठाए पिप्पलगं जाइत्ता अण्णमण्णस्स अणुप्पदेइ, अणुप्पदेंतं वा साइज्जइ।

३३. जे भिक्खू अप्पणो एक्कस्स अट्ठाए णहच्छेयणगं जाइत्ता अण्णमण्णस्स अणुप्पदेइ, अणुप्पदेंतं वा साइज्जइ।

३४. जे भिक्खू अप्पणो एक्कस्स अट्ठाए कण्णसोहणगं जाइत्ता अण्णमण्णस्स अणुप्पदेइ, अणुप्पदेंतं वा साइज्जइ।

३१. जो भिक्षु केवल अपने लिये सूई की याचना करके लाता है और बाद में अन्य किसी साधु को देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

३२. जो भिक्षु केवल अपने लिये कतरणी की याचना करके लाता है और बाद में अन्य किसी साधु को देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

३३. जो भिक्षु केवल अपने लिये नखछेदनक की याचना करके लाता है और बाद में अन्य किसी साधु को देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

३४. जो भिक्षु केवल अपने लिये कर्णशोधनक की याचना करके लाता है और बाद में अन्य किसी साधु को देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—साधु समुदाय में भिन्न-भिन्न साधुओं के भिन्न-भिन्न आवश्यक कार्य होते हैं, अतः सूई आदि ग्रहण करते समय भाषा का विवेक रखना चाहिये। अर्थात् किसी कार्य या व्यक्ति का निर्देश नहीं करना चाहिये। निर्देश करे तो उसी के अनुसार व्यवहार करना चाहिये, शेष सूत्र २६ से ३० तक के विवेचन के समान समझना चाहिये।

अविधि प्रत्यर्पण का प्रायश्चित्त—

३५. जे भिक्खू सूइं अविहीए पच्चप्पिणेइ, पच्चप्पिणेंतं वा साइज्जइ।

३६. जे भिक्खू पिप्पलगं अविहीए पच्चप्पिणेइ, पच्चप्पिणेंतं वा साइज्जइ।

३७. जे भिक्खू णहच्छेयणगं अविहीए पच्चप्पिणेइ, पच्चप्पिणेंतं वा साइज्जइ।

३८. जे भिक्खू कण्णसोहणगं अविहीए पच्चप्पिणेइ, पच्चप्पिणेंतं वा साइज्जइ।

३५. जो भिक्षु अविधि से सूई लौटाता है या लौटाने वाले का अनुमोदन करता है।

३६. जो भिक्षु अविधि से कतरणी लौटता है या लौटाने वाले का अनुमोदन करता है।

३७. जो भिक्षु अविधि से नखछेदनक लौटाता है या लौटाने वाले का अनुमोदन करता है।

३८. जो भिक्षु अविधि से कर्णशोधनक लौटाता है या लौटाने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—लौटाने का कहकर लाई हुई सूई आदि विवेकपूर्वक ही देनी चाहिये जिससे उपकरण की और स्व-पर के शरीर की क्षति न हो। अर्थात् भूमि आदि पर रखकर लौटाना चाहिये।

पात्र-परिष्कार कराने का प्रायश्चित्त—

३९. जे भिक्खू लाउयपायं वा, दारुपायं वा, मट्टियापायं वा अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिघट्टावेइ वा, संठावेइ वा, जमावेइ वा, "अलमप्पणो करणयाए सुहुममवि नो कप्पइ", जाणमाणे सरमाणे अण्णमण्णस्स वियरइ, वियरंतं वा साइज्जइ।

३९. "पात्र परिष्कार का कार्य स्वयं करने में समर्थ होते हुए गृहस्थ से किंचित् परिष्कार कराना भी नहीं कल्पता है" यह जानते हुए, स्मृति में होते हुए या करने में समर्थ होते हुए भी जो भिक्षु तुम्बे का पात्र, लकड़ी का पात्र व मिट्टी का पात्र अन्यतीर्थिक या गृहस्थ से—बनवाता है, उसका मुख ठीक करवाता है, विषम को सम करवाता है या अन्य साधु को कराने की आज्ञा देता है अथवा इस

तरह कराने वाले का या आज्ञा देने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—जो भिक्षु पात्र-परिष्कार का कार्य जानता हो तो उसे स्वयं ही कर लेना चाहिए तथा आवश्यक हो तो अन्य भिक्षु का कार्य भी कर देना चाहिए। किन्तु गृहस्थ से नहीं कराना चाहिए तथा किसी साधु को गृहस्थ से कराने की आज्ञा भी नहीं देनी चाहिए।

परिघट्टावेइ आदि—"परिघट्टणं-निम्मावणं, संठवणं-मुहादीण, जमावणं-विसमाणं समीकरणं,"

१. परिघट्टावेइ—निर्माण कराना अर्थात् काम आने लायक बनवाना।

२. संठावेइ—मुख ठीक कराना—योग्य व मजबूत कराना।

३. जमावेइ—विषम को सम कराना।

काष्ठ पात्र के मुख पर डोरे आदि बांधना 'संठवण' है, तेल, रोगन, सफेदा, आदि लगाना "परिघट्टण" है।

कहीं खड्डा हो उसे भरना, खुरदरापन हो उसे घिसना "जमावण" है।

इसी प्रकार मिट्टी के पात्र का तथा तुंबे के पात्र का परिकर्म भी समझ लेना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में केवल "पात्र" शब्द का कथन न करके तीन प्रकार के पात्रों का निर्देश होने से यह स्पष्ट होता है कि साधु को तीन प्रकार के ही पात्र रखना कल्पता है। ऐसा ही कथन आचारांग सूत्र, बृहत्कल्पसूत्र एवं ठाणांगसूत्र में भी है।

शुभाशुभ पात्रों के फलों का विधान आदि वर्णन भाष्य में देखना चाहिए।

भिक्षु को ऐसे पात्र की ही गवेषणा करनी चाहिये कि जिसमें किसी भी प्रकार का परिकर्म न करना पड़े।

दंडादि के परिष्कार कराने का प्रायश्चित्त—

४०. जे भिक्खू दंडयं वा, लट्ठियं वा, अवलेहणियं वा, वेणुसूइयं वा, अण्णउत्थिएणं वा गारत्थिएण वा, परिघट्टावेइ वा, संठावेइ वा, जमावेइ वा, अलमप्पणो करणयाए सुहुममवि नो कप्पइ, जाणमाणे, सरमाणे, अण्णमण्णस्स वियरइ वियरंतं वा साइज्जइ।

४०. स्वयं करने में समर्थ हो तो किंचित् भी गृहस्थ से कराना नहीं कल्पता है, यह जानते हुए, स्मृति में होते हुए या करने में समर्थ होते हुए भी जो भिक्षु दण्ड, लाठी, अवलेहनिका और बांस की सूई का परिघट्टण, संठवण और जमावण अन्यतीर्थिक या गृहस्थ से करवाता है या अन्य साधु को करवाने की आज्ञा देता है अथवा गृहस्थ से करवाने वाले का या आज्ञा देने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—सूत्र ३९ के विवेचन के अनुसार इस सूत्र का विवेचन भी जानना किंतु पात्र साधु की "औघिक उपधि" है, उनको सभी साधु हमेशा के लिये अपने पास रखते हैं।

इस सूत्र में कथित उपकरण "औपग्रहिक उपधि" हैं अर्थात् इन्हें जिस साधु को जितने समय के लिये आवश्यक हो उतने समय के लिये गुरु की आज्ञा लेकर रख सकता है। बिना विशेष परिस्थिति के ये औपग्रहिक उपकरण नहीं रखे जाते हैं।

दंड, लाठी—शारीरिक परिस्थिति व क्षेत्रीय परिस्थिति से रखी जाती है।

अवलेहनिका—पैरों में लगे कीचड़ आदि को साफ करने के लिये रखी जाती है।

रजोहरण या पूंजणी की फलियों में डोरी डालने के लिए बांस की सूई उपयोग में आती है, यदा कदा वस्त्र पात्रादि के सिलाई के काम में भी आ सकती है।

दंड आदि का परिघट्टण—ऊपर से सफाई करना।

संठवण—गांठों आदि की सफाई करना।

जमावण—वक्र भाग को सीधा करना।

इन उपकरणों के प्रकार, परिमाण, माप आदि की विशेष जानकारी भाष्य में दी गई है।

पात्रसंधान बंधन प्रायश्चित्त—

४१. जे भिक्खू पायस्स एक्कं तुडियं तड्डेइ, तड्डेंतं वा साइज्जइ।

४२. जे भिक्खू पायस्स परं तिण्हं तुडियाणं तड्डेइ, तड्डेंतं वा साइज्जइ।

४३. जे भिक्खू पायं अविहीए बंधइ, बंधंतं वा साइज्जइ।

४४. जे भिक्खू पायं एगेण बंधेण बंधइ बंधंतं वा साइज्जइ।

४५. जे भिक्खू पायं परं तिण्हं बंधाणं बंधइ, बंधंतं वा साइज्जइ।

४६. जे भिक्खू अइरेग बंधणं पायं, दिवड्ढाओ मासाओ परेण धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ।

४१. जो भिक्षु पात्र के एक थेगली देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

४२. जो भिक्षु पात्र के तीन थेगली से अधिक देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

४३. जो भिक्षु पात्र को अविधि से बांधता है या बांधने वाले का अनुमोदन करता है।

४४. जो भिक्षु पात्र को एक बंधन से बांधता है या बांधने वाले का अनुमोदन करता है।

४५. जो भिक्षु पात्र को तीन बंधन से अधिक बांधता है या बांधने वाले का अनुमोदन करता है।

४६. जो भिक्षु तीन से अधिक बंधन का पात्र डेढ मास से अधिक रखता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—थेगली—टूटे भाग को ठीक करने के लिए या छिद्र को बंद करने के लिए लगाई जाती है।

४१-४२ सूत्रों का संयुक्त भाव यह है कि साधु एक भी थेगली न लगावे। अत्यन्त आवश्यक हो तो एक पात्र के एक, दो या तीन थेगली तक लगाई जा सकती है। तीन से अधिक थेगली लगाना सर्वथा निषिद्ध है।

थेगली दो प्रकार की होती है—१. सजातीय, २. विजातीय। जिस जाति का पात्र हो उसी जाति की थेगली लगाना "सजातीय" है, अन्य जाति की थेगली लगाना "विजातीय" है। पात्र के थेगली लगाना आवश्यक हो तो सजातीय थेगली ही लगाई जाए, विजातीय नहीं। यह नियम लकड़ी, तुम्बा, मिट्टी आदि की अपेक्षा से समझना चाहिए। किन्तु साथ में कपड़े का या धागे का जो उपयोग किया जाता है वह सजातीय या विजातीय नही कहा जाता है। तथा सेल्यूशन से जोड़ने को थेगली लगाना नहीं कहा जाता।

अविधि—सूत्र ४४-४५ मे पात्र के बंधन का कथन है अतः पात्र विषयक अविधि का कथन इन सूत्रों के बाद में होना चाहिए था किन्तु यहाँ ४३वें सूत्र में अविधि का यह विधानसूत्र ४१-४२ और ४४-४५ इन चारो सूत्र से सम्बन्धित है।

इसका फलितार्थ यह है कि थेगली भी अविधि से नही लगानी चाहिए और बंधन भी अविधि से नही बाँधना चाहिए[1]।

विधि और अविधि की व्याख्या—

१. बंधन और थेगली के बाद तथा सिलाई आदि के बाद वह स्थान प्रतिलेखन करने योग्य हो जाना चाहिए।

२. जहाँ बंधन, थेगली आदि लगाये गए हों, वहाँ से आहार आदि का अंश सरलता से साफ हो जाए ऐसा हो जाना चाहिए।

३. बंधन आदि लगाने का कार्य कम से कम समय में हो जाए।

ये ही विधि या विवेक समझने चाहिए और इसके विपरीत अविधि समझना चाहिए।

बंधन

साधु का लक्ष्य तो यह रहे कि जिस पात्र का सुधार या उसके बंधन आदि कार्य न करना पड़े, ऐसे पात्र की ही याचना करे। ४१-४२ व ४४-४५ इन दो-दो सूत्रों का भाव यही है कि "जो भी पात्र मिले वह ऐसा हो कि कुछ भी संस्कार किए विना सीधा उपयोग में आवे। यदि ऐसा न हो तो आवश्यकतानुसार जघन्य एक और उत्कृष्ट तीन बंधन लगाये जा सकते हैं।"

बंधन का अर्थ है—पात्र की गोलाई को धागे आदि से बांधकर मजबूत करना जिससे अधिक समय सुरक्षित रह सके।

एक स्थान पर बंधन लगाना एक बंधन कहलाता है और तीन स्थानों पर बांधना तीन बंधन कहलाता है।

मिट्टी के पात्र में बिना बंधन के काम चल सकता हो तो एक भी जगह बांधने की आवश्यकता नहीं होती है।

लकड़ी के अत्यन्त छोटे पात्र में एक भी बंधन की आवश्यकता नही होती है।

लकड़ी के बड़े पात्र में एक बंधन आवश्यक होता है।

---

१. कुछ प्रतियों में निम्न सूत्र अधिक मिलता है, जो भाष्यचूर्णि मे नहीं है—
"जे भिक्खू पायं अविहीए तड्डेइ तड्डेंतं वा साइज्जई।"

तुम्बे का पात्र आवश्यकतानुसार दो या तीन जगह् बंधन लगाने से सुरक्षित रहता है।

साधु का मुख्य लक्ष्य सदा यह रहे कि अधिक प्रमाद न हो और स्वाध्याय बढ़े।

साधु का प्रमाद शरीर और उपधि संबंधी कार्य करना होता है, सावद्य योगरूप प्रमाद का तो वह त्यागी ही होता है।

अइरेग बंधण—आवश्यक होने पर बंधन लगाने की अनुज्ञा है, उत्कृष्ट तीन बंधन लगाने की भी अनुज्ञा है। तीन बंधन वाला पात्र जब तक उपयोग में आये तब तक रखा जा सकता है। सामान्यतः तीन से ज्यादा बंधन की आवश्यकता या उपयोगिता किसी भी प्रकार के पात्र में कम संभव है। यह सूत्र ४४-४५ से स्पष्ट होता है, तथापि सूत्र ४६ में विकट परिस्थिति की संभावना के आशय से उसकी भी सीमित अनुज्ञा दी गई है। अर्थात्—किसी क्षेत्र या काल की परिस्थिति में लकड़ी या तुंबा का पात्र जिसमें कि पहले से एक या तीन बंध लगे हैं और टूट फूट जाय तो जब तक अन्य पात्र न मिले तब तक ४-५ बंधन लगाकर के भी चलाना पड़े तो यथासंभव शीघ्रातिशीघ्र मिट्टी आदि के पात्र की याचना कर लेना चाहिए और अधिक बंधन वाले पात्र को परठ देना चाहिये। उसे डेढ़ महीने के बाद रखने पर इस (४६वें) सूत्र से प्रायश्चित्त आता है।

वस्त्र-संधान-बंधन प्रायश्चित्त—

४७. जे भिक्खू वत्थस्स एगं पडियाणियं देइ देंतं वा साइज्जइ।

४८. जे भिक्खू वत्थस्स परं तिण्हं पडियाणियाणं देइ देंतं वा साइज्जइ।

४९. जे भिक्खू वत्थं अविहीए सिव्वइ, सिव्वंतं वा साइज्जइ।

५०. जे भिक्खू वत्थस्स एगं फालिय-गंठियं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

५१. जे भिक्खू वत्थस्स परं तिण्हं फालिय-गंठियाणं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

५२. जे भिक्खू वत्थस्स एगं फालियं गण्ठेइ, गंठेंतं वा साइज्जइ।

५३. जे भिक्खू वत्थस्स परं तिण्हं फालियाणं गंठेइ, गंठेंतं वा साइज्जइ।

५४. जे भिक्खू वत्थं अविहीए गंठेइ, गंठेंतं वा साइज्जइ।

५५. जे भिक्खू वत्थं अतज्जाएण गहेइ, गहेंतं वा साइज्जइ।

५६. जे भिक्खू अइरेग-गहियं-वत्थं परं दिवड्ढाओ मासाओ धरेइ धरेंतं वा साइज्जइ।

---

१. ५२-५३-५४ तीन सूत्रों का चूर्णिकार ने कोई अर्थ नहीं किया है, किन्तु भाष्यकार ने इनके विषय को स्पष्ट करने वाली गाथा दी है—

> तिण्हुवरि फालियाणं वत्थं, जो फालियाणि गंठिज्जे।
> पंचण्हं एगतरे सो पावति आणमादीणि ॥७८७॥

इस गाथा के आधार से सूत्रों का पाठ व अर्थ किया गया है।

४७. जो भिक्षु वस्त्र में एक थेगली लगाता है या लगाने वाले का अनुमोदन करता है।

४८. जो भिक्षु वस्त्र के तीन से अधिक थेगलो लगाता है या लगाने वाले का अनुमोदन करता है।

४९. जो भिक्षु वस्त्र को अविधि से सीता है या सीने वाले का अनुमोदन करता है।

५०. जो भिक्षु फटे वस्त्र के एक गांठ लगाता है या लगाने वाले का अनुमोदन करता है।

५१. जो भिक्षु फटे वस्त्र के तीन से अधिक गांठ लगाता है या लगाने वाले का अनुमोदन करता है।

५२. जो भिक्षु फटे वस्त्र को एक सिलाई से जोड़ता है या जोड़ने वाले का अनुमोदन करता है।

५३. जो भिक्षु फटे वस्त्रों को तीन सीवण से अधिक जोड़ता या जोड़ने वाले का अनुमोदन करता है।

५४. जो भिक्षु वस्त्र को अविधि से जोड़ता है या जोड़ने वाले का अनुमोदन करता है।

५५. जो भिक्षु एक जाति के कपड़े को दूसरी जाति के कपड़े से जोड़ता है या जोड़ने वाले का अनुमोदन करता है।

५६. जो भिक्षु अतिरिक्त जोड आदि के वस्त्र को डेढ़ मास से अधिक काल तक रखता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—थेगली—चूहे, कुत्ते आदि के द्वारा छेद कर दिये जाने पर या अग्नि की चिनगारियों से क्षत-विक्षत हो जाने पर यदि उसका शेष भाग उपयोग में आने योग्य हो तो वस्त्र में थेगली देने की आवश्यकता होती है तथा अन्य भी ऐसे कारण समझ लेना चाहिये। एक थेगली व तीन थेगली संबंधी विवेचन पूर्ववत् समझ लेना चाहिये।

अविधि सीवन—वस्त्र के थेगली लगाने में सिलाई करना आवश्यक है किन्तु सिलाई में कम से कम समय लगे और अच्छी तरह प्रतिलेखन हो सके यह ध्यान रखना चाहिये। सीने के अनेक प्रकार भाष्य, चूर्णि में बताये है, जिनका अर्थ गुरुगम से समझ लेना चाहिये।

गांठ लगाना—जो वस्त्र जीर्ण नही हो और कहीं उलझकर या दबकर फट गया हो तो ऐसे वस्त्र की सिलाई के लिए सूई आदि तत्काल उपलब्ध न होने पर उस वस्त्र के दोनों किनारों को पकड़कर गांठ लगा दी जाती है, ऐसे गांठ लगाना जघन्य एक स्थान पर तथा उत्कृष्ट तीन स्थानों पर किया जा सकता है। यदि तीन स्थानों में गांठ देने पर भी काम आने लायक न हो सके तो सूई आदि उपलब्ध कर उसकी सिलाई कर लेना चाहिये। किन्तु तीन से अधिक गांठ नहीं लगाना चाहिये।

ऊपर के सूत्र ५० से 'अविधि' शब्द को यहां भी ग्रहण करके उसका अर्थ समझ लेना चाहिये कि गांठ देने में भी दिखने की अपेक्षा या प्रतिलेखन की अपेक्षा अविधि न हो। इससे यह भी स्पष्ट

होता है कि विधिपूर्वक लगाई हुई किसी भी गांठ को प्रतिलेखन के लिये पुनः खोलना आवश्यक नहीं होता है क्योंकि वह सुप्रतिलेख्य होती है। बार बार गांठ खोलना एवं देना अनावश्यक प्रमाद है।

वस्त्र खंड जोड़ना—थेगली व गांठ के दो दो सूत्र दिए गए हैं, उनके समान वस्त्रों को जोड़ने संबंधी ये दो (५२-५३) सूत्र हैं। अतः यहां पर भी एक सीवण और तीन सीवण का प्रसंग घटित होता है।

फालियं—फटे हुए। इसका दो प्रकार से अर्थ हो सकता है—

१. नया ग्रहण करते समय, २. लेने के बाद कभी फट जाने पर।

नया वस्त्र ग्रहण करते समय यदि वह चौड़ाई में कम हो या कम लम्बाई के छोटे छोटे टुकड़े हों तो चद्दर आदि के योग्य बनाने के लिये जोड़ना पड़ता है, जिसका निर्देश आचारांगसूत्र श्रु. २ अ. ५. उ. १ में हुआ है।

यथासंभव एक भी जगह जोड़ लगाना न पड़े ऐसा ही वस्त्र लेना चाहिये। आवश्यक होने पर भी तीन से अधिक जोड़ नहीं लगाना चाहिए, इतने जोड़ से साधु-साध्वी दोनों का निर्वाह हो सकता है।

साध्वी को चार हाथ विस्तार की चद्दर की जरूरत हो और एक हाथ के विस्तार का कपड़ा मिले तो तीन जोड़ से पूरी हो सकती है। कभी आवश्यकता से कम लम्बे टुकड़े मिले तो भी तीन जोड़ से साधु व साध्वी दोनों का निर्वाह हो सकता है।

पूर्वोक्त सूत्र ५०, ५१ में 'गंठियं करेइ' का प्रयोग है। इसमें फटे हुए वस्त्र को गांठ देकर जोड़ने संबंधी प्रायश्चित्त है।

सूत्र ५२-५३-५४ में 'गंठेइ' क्रिया का प्रयोग है। इसमें एक सरीखे भिन्न-भिन्न वस्त्रखण्डों को सिलाई करके जोड़ने का प्रायश्चित्त है।

सूत्र ५५ में "गहेइ" क्रिया का प्रयोग है। इसमें विजातीय वस्त्रखण्डों को जोड़ने का प्रायश्चित्त है।

इस प्रकार इन सूत्रों में फटे वस्त्रों को या वस्त्रखण्डों को जोड़ने के प्रायश्चित्त हैं।

एक सरीखे वस्त्रखण्डों को जोड़ने का प्रायश्चित्त नहीं है और वस्त्र जैसे धागे से सिलाई करने का भी प्रायश्चित्त नहीं है, क्योंकि यह विधि है।

असमान वस्त्रखण्डों को जोड़ने का प्रायश्चित्त है और वस्त्र से भिन्न प्रकार के धागे से सिलाई करने का प्रायश्चित्त है, क्योंकि यह अविधि है।

अविधि से जोड़ने का और अविधि से सिलाई करने का प्रायश्चित्त विवेचन सूत्र ४१ के समान है।

विजातीय वस्त्र जोड़ना—इस सूत्र में प्रयुक्त जाति शब्द से वस्त्रों की अनेक जातियां ग्रहण की जा सकती हैं। यथा—ऊनी, सूती, सणी, रेशमी आदि।

ऊनी और सूती वस्त्रों की अनेकानेक जातियां हैं। ऊनी वस्त्र—भेड़, बकरी, ऊंट आदि की ऊन से बने हुए कम्बल आदि वस्त्र। सूती वस्त्र—मलमल, लट्ठा, रेजा आदि विविध प्रकार के वस्त्र।

रंगभेद से भी वस्त्रों के और धागों के अनेक प्रकार हैं। अतः भिक्षु वस्त्रखण्डों को जोड़ते या जुड़वाते समय ऐसा विवेक रखें कि जुड़े हुए वस्त्रखण्ड और सिलाई के धागे भिन्न भिन्न न दिखें।

वस्त्र के अधिक जोड़—भाष्य चूर्णिकार ने "अइरेग गहियं" का संबंध ऊपर के ५२-५३-५४-५५वें सूत्रो के "गहेइ" (गठेइ) विषय से जोड़ा है तथा सूत्र ५०-५१ से भी जोड़ा है और कहा है कि साधु साध्वियां यदि अधिक जोड़ का, अधिक गांठ का वस्त्र डेढ़ मास से अधिक रखें तो वे प्रायश्चित्त के पात्र होते है। जैसा पात्र के सूत्रों मे अधिक बंधन के पात्र को डेढ़ महीने से अधिक रखने संबधी विवेचन किया गया है उसी आशय का विवेचन यहां भी समझना चाहिये।

मर्यादा उपरात एक भी जोड़ किया हो तो सूत्रपोरिसी और अर्थपोरिसी करने के बाद अन्य वस्त्र को गवेषणा कर लेना चाहिये। दो तीन जोड़ किये हों तो केवल सूत्रपोरिसी करके वस्त्र की गवेषणा करना और तीन से ज्यादा जोड़ किये हों तो सूत्र व अर्थ दोनों पोरिसी न करे, पहले वस्त्र की गवेषणा करे। सूत्र-अर्थ पोरिसी का आशय है—'स्वाध्याय व ध्यान करने की पोरिसी।'

सारांश—पूर्वोक्त पात्र विषयक ६ सूत्रों का और वस्त्र विषयक १० सूत्रों का सार यह है कि वस्त्र के थेगली लगाना, गांठ देना, वस्त्रखण्ड जोड़ना तथा पात्र के टिकड़ी लगाना, बन्धन लगाना आदि कार्य साधु-साध्वियों को यथासंभव नही करने चाहिये।

वस्त्र पात्र विषयक उक्त कार्य करने यदि आवश्यक हों तो उन्हे तीन से अधिक नहीं करने चाहिये।

उक्त कार्य तीन से अधिक करने जैसी स्थिति यदि हो गई हो तो सूत्रपौरुषी, अर्थपौरुषी न करके भी उस काल में नये वस्त्र की याचना कर लेनी चाहिए। इसमें डेढ़ मास की मर्यादा का उल्लंघन नहीं होना चाहिये।

गृहधूम-परिसाटन प्रायश्चित्त—

५७. जे भिक्खू गिहधूमं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिसाडावेइ, परिसाडावेंतं वा साइज्जइ।

५७. जो भिक्षु गृहधूम अन्यतीर्थिक या गृहस्थ से उतराता है या उतराने वाले का अनुमोदन करता है, (उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—इस सूत्र में गृहधूम उतरवाने का प्रायश्चित्त विधान है, रसोई घर की दिवाल पर या छत के नीचे चूल्हे का जमा धुआं 'गृहधूम' कहा जाता है।

रसोईघर के स्वामी से रसोईघर में प्रवेश की आज्ञा प्राप्त करके छत की ऊंचाई तक हाथ पहुंच सके ऐसा साधन लेकर साधु यदि धुआं उतार ले तो उसे किसी प्रकार का प्रायश्चित्त नही आता है।

रसोईघर में प्रवेश की आज्ञा न मिलने से अथवा शारीरिक असामर्थ्य से साधु स्वयं गृहधूम न उतार सके तो अन्य से गृहधूम उतरवाने पर उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

साधु किस कार्य के लिए स्वयं गृहधूम उतारे या अन्य से उतरवाये, इसका समाधान चूर्णिकार ने इस प्रकार किया है—

साधु के दाद खुजली आदि किसी प्रकार का चर्मरोग हो जाए तो वह गृहधूम से उसकी चिकित्सा स्वयं करे, किन्तु चूर्णिकार ने यह नहीं बताया कि 'गृहधूम' का प्रयोग किस प्रकार किया जाय। अतः किसी कुशल वैद्य से या चर्मरोग विशेषज्ञ से गृहधूम के प्रयोग की विधि जान लेनी चाहिए।

पूतिकर्म-प्रायश्चित्त—

५८. जे भिक्खू पूइकम्मं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ।

५८. जो भिक्षु पूतिकर्म दोष से युक्त आहार, उपधि व वसति का उपयोग करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है, (उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—भाष्यकार ने पूतिकर्म दोष तीन प्रकार का कहा है—

१. आहारपूतिकर्म, २. उपधिपूतिकर्म, ३. शय्यापूतिकर्म।

आहार-पूतिकर्म दो प्रकार का है—

१. दूषित पदार्थों से संस्कृत आहार, २. दूषित उपकरण प्रयुक्त आहार।

आधाकर्मादि दोषयुक्त हींग, नमक आदि से मिश्रित निर्दोष आहार भी पूतिकर्म-दोषयुक्त हो जाता है।

आधाकर्मादि दोषयुक्त आहार से लिप्त चम्मच आदि से दिया जाने वाला निर्दोष आहार भी पूतिकर्म दोषयुक्त हो जाता है।

२. उपधि-पूतिकर्म

गृहस्थ द्वारा आधाकर्मादि दोषयुक्त धागे से निर्दोष वस्त्र की सिलाई करने पर अथवा थेगली लगाने पर वह पूतिकर्म दोषयुक्त हो जाता है।

गृहस्थ द्वारा आधाकर्मादि दोषयुक्त टिकड़ी लगाने से अथवा बन्धन लगाने से निर्दोष पात्र भी पूतिकर्म-दोषयुक्त हो जाता है।

३. शय्या-पूतिकर्म

निर्दोष शय्या के किसी भी विभाग में आधाकर्मादि दोषयुक्त बांस और काष्ठ आदि का उपयोग हुआ हो तो वह शय्या भी पूतिकर्म-दोषयुक्त हो जाती है।

पूतिकर्म दोष वाला आहार भी शुद्ध आहार में मिल जाये तो भी पूतिकर्म-दोषयुक्त हो जाता है।

तं सेवमाणे आवज्जइ मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं।

इन उपर्युक्त ५८ सूत्रों में कहे गये किसी भी प्रायश्चित्तस्थान के सेवन करने वाले को गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन—अंतिम सूत्र के साथ या अंत में इस सूत्र की व्याख्या प्रायः नहीं मिलती है।

मूलपाठ में प्रायः सभी प्रतियों में अंतिम सूत्र के साथ इस पाठ को रखा गया है। इस विषय की विशेष जानकारी के लिये प्रथम सूत्र का विवेचन देखें।

सूत्र में 'परिहारट्ठाणं' शब्द केवल सामान्य प्रायश्चित्त अर्थ में प्रयुक्त है। इसी प्रकार अन्य उद्देशकों में भी 'मासिक' और चातुर्मासिक शब्द के साथ इसी अर्थ में समझ लेना चाहिये। किन्तु विशेष प्रकार के परिहारतप रूप प्रायश्चित्त के अर्थ में नहीं समझना चाहिये।

प्रथम उद्देशक का सारांश—

सूत्र १ हस्तकर्म करना।
सूत्र २-८ अंगादान का १ संचालन २ संबाधन ३ अभ्यंगन ४ उबटन ५ प्रक्षालन ६ त्वचा अपवर्तन और ७ जिघ्रण क्रियाएं करना।
सूत्र ९ शुक्र पुद्गल निकालना।
सूत्र १० सचित्त पदार्थ सूंघना।
सूत्र ११ पदमार्ग बनवाना, संक्रमण (पुल) मार्ग बनवाना, अवलम्बन का साधन बनवाना।
सूत्र १२ पानी निकलने की नाली बनवाना।
सूत्र १३ छींका और उसका ढक्कन बनवाना।
सूत्र १४ सूत की या रज्जु की चिलमिली बनवाना।
सूत्र १५-१८ सूई, कैंची, नखछेदनक और कर्णशोधनक सुधरवाना।
सूत्र १९-२२ सूई आदि की बिना प्रयोजन याचना करना।
सूत्र २३-२६ सूई आदि की अविधि से याचना करना।
सूत्र २७-३० जिस कार्य के लिए सूई आदि की याचना की है, उससे भिन्न कार्य करना।
सूत्र ३१-३४ अपने कार्य के लिए सूई आदि की याचना करके अन्य को उसके कार्य के लिए दे देना।
सूत्र ३५-३८ सूई आदि अविधि से लौटाना।
सूत्र ३९ पात्र का परिकर्म करवाना।
सूत्र ४० दण्ड, लाठी, अवलेखनिका और बांस की सूई का परिकर्म करवाना।
सूत्र ४१ अकारण पात्र के एक थेगली लगाना।
सूत्र ४२ सकारण पात्र के तीन से अधिक थेगलियां लगाना।
सूत्र ४३ पात्र के अविधि से बंधन बांधना।
सूत्र ४४ पात्र के एक बंधन लगाना।
सूत्र ४५ पात्र के तीन से अधिक बंधन लगाना।
सूत्र ४६ तीन से अधिक बन्धन वाला पात्र डेढ मास से अधिक रखना।
सूत्र ४७ फटे हुए वस्त्र के एक थेगली लगाना।
सूत्र ४८ फटे हुए वस्त्र के तीन से अधिक थेगली लगाना।
सूत्र ४९ अविधि से वस्त्र सीना।
सूत्र ५० फटे हुए वस्त्र के एक गांठ देना।
सूत्र ५१ फटे हुए वस्त्र के तीन से अधिक गांठ देना।

सूत्र ५२ फटे हुए वस्त्र के साथ एक वस्त्रखण्ड जोड़ना।
सूत्र ५३ फटे हुए वस्त्र के साथ तीन से अधिक वस्त्रखण्ड जोड़ना।
सूत्र ५४ अविधि से वस्त्रखण्ड जोड़ना।
सूत्र ५५ विभिन्न प्रकार के वस्त्रखण्ड जोड़ना।
सूत्र ५६ तीन से अधिक वस्त्रखण्ड जुड़े हुए वस्त्र को डेढ मास से अधिक रखना।
सूत्र ५७ गृहस्थ से गृहधूम उतरवाना।
सूत्र ५८ पूतिकर्म दोष युक्त आहार उपधि तथा शय्या का उपयोग करना।
इत्यादि प्रवृत्तियों का गुरु मासिक प्रायश्चित्त आता है।

इस उद्देशक के २० सूत्रों के विषय का कथन निम्न आगमों में है, यथा—
सूत्र १-९ हस्तकर्म करना सबल दोष कहा है। दशा. द. २ १
सूत्र १० सुगंध में आसक्त होने का निषेध। आ. श्रु. २ अ. १ उ. ८, आ. श्रु. २ अ. १५.
सूत्र १४ चेल-चिलिमिलिका रखना एवं उसके उपयोग का विधान। बृह. उ. १.
सूत्र ३१-३८ अपने कार्य के लिए प्रातिहारिक ग्रहण की गई सूई आदि अन्य को देने का निषेध तथा उनके लौटाने की विधि। आ. श्रु. २ अ. ७ उ. १.
सूत्र ५८ पूतिकर्मदोष का वर्णन। सूयक. श्रु. १ अ. १ उ. ३.

इस उद्देशक के ३८ सूत्रों के विषय का कथन अन्य आगमों में नहीं है, यथा—
सूत्र ११-१३ पदमार्ग का अन्य (गृहस्थ) के द्वारा निर्माण करवाना।
सूत्र १५-३० सूई आदि सुधरवाना। सूई आदि बिना प्रयोजन ग्रहण करना।
सूई आदि अविधि से ग्रहण करना।
सूत्र ३९-४० पात्र तथा दण्ड आदि का निर्माण करवाना तथा सुधरवाना,
सूत्र ४१-४६ पात्र के थेगली लगाना। पात्र के बंधन लगाना।
सूत्र ४७-५६ वस्त्र के थेगली लगाना,
वस्त्र के गांठ लगाना,
वस्त्र खण्ड जोड़ना।
सूत्र ५७ औषधि के लिए गृहस्थ से गृहधूम उतरवाना।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

दूसरा उद्देशक

दंडयुक्त पादप्रोंछन ग्रहण करने आदि का प्रायश्चित्त–

१. जे भिक्खू दारुदंडयं पायपुंछणं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ ।

२. जे भिक्खू दारुदंडयं पायपुंछणं गेण्हइ, गेण्हंतं वा साइज्जइ ।

३. जे भिक्खू दारुदंडयं पायपुंछणं धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ ।

४. जे भिक्खू दारुदंडयं पायपुंछणं वियरइ, वियरेंतं वा साइज्जइ ।

५. जे भिक्खू दारुदंडयं पायपुंछणं परिभाएइ, परिभाएंतं वा साइज्जइ ।

६. जे भिक्खू दारुदंडयं पायपुंछणं परिभुंजइ, परिभुंजंतं वा साइज्जइ ।

७. जे भिक्खू दारुदंडयं पायपुंछणं परं दिवड्ढाओ मासाओ धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ ।

८. जे भिक्खू दारुदंडयं पायपुंछणं विसुयावेइ विसुयावेंतं वा साइज्जइ ।

१. जो भिक्षु काष्ठदंडयुक्त "पादप्रोंछन" बनाता है या बनाने वाले का अनुमोदन करता है।

२. जो भिक्षु काष्ठदंडयुक्त "पादप्रोंछन" ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

३. जो भिक्षु काष्ठदंडयुक्त "पादप्रोंछन" धारण करता है या धारण करने वाले का अनुमोदन करता है।

४. जो भिक्षु काष्ठदंडयुक्त "पादप्रोंछन" ग्रहण करने की आज्ञा देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

५. जो भिक्षु काष्ठदंडयुक्त "पादप्रोंछन" वितरण करता है या वितरण करने वाले का अनुमोदन करता है।

६. जो भिक्षु काष्ठदंडयुक्त "पादप्रोंछन" का उपयोग करता है या उपयोग करने वाले का अनुमोदन करता है।

७. जो भिक्षु काष्ठदंडयुक्त "पादप्रोंछन" को डेढ मास से अधिक रखता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है।

८. जो भिक्षु काष्ठदंडयुक्त "पादप्रोंछन" को पृथक् करता है या पृथक् करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—

प्रथम सूत्र में—काष्ठदण्डयुक्त पादप्रोञ्छन बनाने का,

द्वितीय सूत्र में—उसे ग्रहण करने का,

तृतीय सूत्र में—उसके रखने का,

चतुर्थ सूत्र में—उसके ग्रहण करने की आज्ञा देने का,

पंचम सूत्र में—उसके वितरण करने का,

छठे सूत्र में—उसके उपयोग करने का,

सप्तम सूत्र में—किसी कारण विशेष से काष्ठ दण्डयुक्त पादप्रोञ्छन रखना पड़े तो डेढ़ मास से अधिक रखने का, और

अष्टम सूत्र में—काष्ठदण्ड को खोलकर पादप्रोञ्छन से अलग करने का प्रायश्चित्त विधान है।

इस सूत्राष्टक में से प्रथम सूत्र के भाष्य एवं चूर्णि में काष्ठदण्डयुक्त पादप्रोञ्छन की उपयोगिता का सूचक "रजोहरण" शब्द अंकित है। इससे भ्रान्ति उत्पन्न होती है कि रजोहरण "तो औधिक उपधि है—जिसे सभी प्रव्रजित भिक्षु यावज्जीवन साथ रखते हैं, अतः "काष्ठदण्डयुक्त पादप्रोञ्छन (रजोहरण)" किस प्रकार का होता है और उसका उपयोग क्या है? इत्यादि जिज्ञासाओं का समाधान इस प्रकार है—

१. पादप्रोंछन—

जीर्ण या फटे हुए कम्बल का एक हाथ लम्बा-चौड़ा खण्ड "पादप्रोञ्छन" कहा जाता है।

बृह० उद्दे० १, सूत्र ४० में वस्त्र, पात्र, कम्बल और पादप्रोञ्छन, इन चार उपकरणों के नाम हैं।

इसी प्रकार अन्य आगमों में भी अनेक जगह ये चारों नाम एक साथ मिलते हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि यह पादप्रोञ्छन भी वस्त्र, पात्र और कम्बल जितना ही आवश्यक एवं उपयोगी उपकरण है।

औपग्रहिक उपधि होते हुए भी पादप्रोंछन का उपयोग प्राचीन काल में अधिक प्रचलित था।

श्रमण रजोहरण से पादप्रोंछन को पूंजकर उसपर बैठ सकते हैं, ऐसा उल्लेख उत्त० अ० १७, गाथा ७ में है, यहां उसे "पायकंबल" कहा गया है, टीकाकार ने पायकंबल का अर्थ 'पादप्रोंछन' किया है।

रात्रि में या विकाल में श्रमण को दीर्घ शंका का वेग यदि प्रबल हो और प्रतिलेखित उच्चार-प्रस्रवण भूमि तक पहुंचना शक्य न हो तो उपाश्रय के किसी एकान्त विभाग में मल विसर्जन करने के समय भी पादप्रोंछन का उपयोग करे। यदि उस समय अपना पादप्रोंछन न हो तो अपने साथी श्रमण से पादप्रोञ्छन लेकर भी उस का उपयोग करे, ऐसा आचा० श्रु० २, अ० १० में विधान है।

इस प्रकार पादप्रोंछन से पैरों पर लगी हुई अचित्त रज पोंछना, रजोहरण से पादप्रोंछन का प्रमार्जन कर उस पर बैठना-तथा मलविसर्जन के समय पादप्रोञ्छन का उपयोग करना इत्यादि कार्य आगमों में विहित हैं, अतः रजोहरण और पादप्रोंछन भिन्न-भिन्न उपकरण हैं क्योंकि रजोहरण से तो प्रमार्जन होता है और पादप्रोंछन से पैर आदि पोंछे जाते हैं। इस प्रकार दोनों के अर्थ और उपयोग भिन्न-भिन्न हैं।

२. काष्ठदण्डयुक्त पादप्रोंछन—

रजोहरण से उपाश्रय के जिस स्थल का प्रमार्जन करना शक्य न हो और उस स्थल का प्रमार्जन करना किसी विशेष कारण से अनिवार्य हो तो पादप्रोंछन के मध्य में काष्ठ दण्ड बांधकर उसका उपयोग किया जाता है ऐसा बृहत्कल्प उ. ५ से स्पष्ट होता है।

व्याख्या ग्रंथों के अवलोकन से प्रतीत होता है कि व्याख्याकारों ने कहीं कहीं रजोहरण और पादप्रोंछन को एक ही उपकरण मान लिया है किन्तु बृहत्कल्प उ० २, सु० ३० तथा स्थानांग अ० ५, उ० ३ में कहे गए पांच प्रकार के रजोहरणों से पादप्रोंछन और काष्ठदण्डयुक्त पादप्रोंछन भिन्न उपकरण हैं।

रजोहरण से प्रादप्रोंछन की भिन्नता—

रजोहरण प्रातिहारिक नहीं लिया जाता किन्तु निशीथ उद्दे० ५, सू० १५-१८ में प्रातिहारिक पादप्रोंछन निश्चित समय पर न लौटाने का प्रायश्चित्त विधान होने से उसका प्रातिहारिक लेना सिद्ध है।

रजोहरण के काष्ठदण्ड पर वस्त्र लपेटा हुआ रहता है और पादप्रोंछन युक्त काष्ठदण्ड पर वस्त्र लपेटा हुआ नहीं रहता है।

पादप्रोंछन का उपयोग पैर पोंछने के अतिरिक्त मलविसर्जन के समय भी किया जाता है और यदा कदा उस पर बैठ भी सकते हैं किन्तु उक्त दोनों कार्य रजोहरण से होना सम्भव नहीं हैं अपितु रजोहरण पर बैठना, सोना, सिरहाने रखना आदि कार्यों का निशीथ उ० ५ में प्रायश्चित्त कहा गया है।

निशीथ उद्देशक ४ सूत्र ३० में निर्ग्रन्थियों के आगमन पथ पर रजोहरण आदि रखने पर प्रायश्चित्त विधान है किन्तु वहाँ पादप्रोंछन का कथन नहीं है।

निर्ग्रंथ काष्ठदण्डयुक्त पादप्रोंछन अनिवार्य-आपवादिक स्थिति में डेढ मास रख सकता है और निर्ग्रंथी अपनी विशेष समाचारी के अनुसार अनिवार्य आपवादिक स्थिति में भी काष्ठदंडयुक्त पादप्रोंछन नहीं रख सकती है किन्तु काष्ठदंडयुक्त [illegible] तो दोनों को रखना अनिवार्य होता है।

इस [illegible] पादप्रोंछ[illegible] [illegible]युक्त [illegible] और रजोहरण, इन तीनों का अन्तर स्पष्ट है।

[illegible] करण कहे हैं, उनमें रजोहरण

प्रश्नव्याकरण के टीकाकार ने उक्त पाठ की टीका में श्रमणों के उपकरणों की संख्या जो चौदह कही है वह भी रजोहरण और पादप्रोंछन को भिन्न-भिन्न मानने पर ही होती है।

आचा० श्रु० २, अ० १० में कहा है मल का प्रबल वेग आने पर किसी के पास स्वयं का पादप्रोंछन न हो तो साथी श्रमण से पादप्रोंछन की याचना करे। किन्तु रजोहरण तो स्वयं का नहीं हो ऐसा विकल्प ही नहीं होता है, क्योंकि अचेल जिनकल्पी भिक्षु को भी रजोहरण रखना आवश्यक है।

इन आगमप्रमाणों से रजोहरण और पादप्रोंछन भिन्न-भिन्न उपकरण सिद्ध होते हैं, अतः दोनों को एक नहीं मानना चाहिए।

रजोहरण फलियों के समूह से बना हुआ औधिक उपकरण है।

पादप्रोंछन वस्त्रखंड होता है और वह औपग्रहिक उपकरण है।

काष्ठदण्डयुक्त पादप्रोंछन डंडे से बांधा हुआ वस्त्रखंड है। जो सातवें सूत्र में काष्ठदण्ड, युक्त पादप्रोंछन डेढ मास से अधिक रखने का प्रायश्चित्त कहा है, भाष्यकार ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जो पादप्रोंछन अपरिकर्म वाला हो अर्थात् नया हो उसे चार मास तक रख सकते हैं, जो पादप्रोंछन अल्प परिकर्म वाला (पुराना) हो उसे दो मास तक रखा जा सकता है और जो पादप्रोंछन सपरिकर्म (जीर्ण) है वह डेढ मास तक रखा जा सकता है। उसके बाद आवश्यक हो तो अन्य पादप्रोंछन की याचना कर लेनी चाहिए या नया बना लेना चाहिए।

इसका कारण यह है कि—१. काष्ठदण्डयुक्त पादप्रोंछन की किसी स्थान में २-४ दिन या उत्कृष्ट किसी क्षेत्र में काल-स्वभाव के कारण डेढ मास तक उपयोगिता रहती है। बाद में मकान के कई भागों में मकड़ी आदि छोटे-मोटे जीवों का प्रचार-प्रसार नहीं रहता है। अथवा—

२. काष्ठदण्ड के साथ लगा हुआ पादप्रोंछन का वस्त्र डेढ मास के बाद अति मलिन एवं नमी आदि के कारण उसमें जीवोत्पत्ति हो जाती है या जीर्ण वस्त्र हो तो वह दुष्प्रतिलेख्य हो जाता है, अतः उसे खोलकर अन्य वस्त्र लगाया जा सकता है। इसीलिए डेढ मास की मर्यादा का उल्लंघन करने का सूत्र में प्रायश्चित्त कहा है। डेढ मास के पूर्व कभी भी आवश्यक हो तो खोलकर परिवर्तन किया जा सकता है। किन्तु अकारण खोलने पर या प्रतिदिन खोलने पर प्रमादवृद्धि होती है। इस कारण आठवें सूत्र में अकारण दण्ड से वस्त्र को खोलने एवं अलग करने का प्रायश्चित्त कहा गया है।

काष्ठदण्ड के पादप्रोंछन को ऐसी विधि से बांधना चाहिए कि जिससे उसकी प्रतिलेखना सुविधापूर्वक हो सके। जिस प्रकार वस्त्र को विधि-युक्त सीने एवं विधियुक्त गांठ देने से वह सुप्रतिलेख्य होता है उसी प्रकार काष्ठदण्ड के साथ विधि युक्त बांधा गया पादप्रोंछन भी सुप्रतिलेख्य होता है। उसे अकारण खोलने की आवश्यकता नहीं होती है।

भाष्य गा. १४१३ में पादप्रोंछन को औपग्रहिक उपकरण कहा है अतः जिस क्षेत्र में और जिस काल में जितने समय आवश्यक हो उतने समय तक रखना एवं उपयोग में लेना कल्पता है। जब आवश्यकता न रहे तब उसे छोड़ देना या परठ देना चाहिए।

सारांश यह है कि भिक्षु आवश्यक होने पर सुप्रतिलेख्य काष्ठदण्डयुक्त पादप्रोंछन उत्कृष्ट डेढ मास तक रख सकता है। उसके बाद भी कभी रखना आवश्यक हो जाय तो खोलकर परिवर्तन कर लेना चाहिये।

इत्रादि सूंघने का प्रायश्चित्त—

९. जे भिक्खू अचित्तपइट्ठियं गंधं, जिघइ जिघंतं वा साइज्जइ।

९. जो भिक्षु अचित्त पदार्थ (चंदन-इत्रादि) में रही हुई सुगंध को सूंघता है या सूंघने वाले का अनुमोदन करता है, (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

पदमार्ग आदि बनाने का प्रायश्चित्त—

१०. जे भिक्खू पदमग्गं वा, संकमं वा, अवलंबणं वा सयमेव करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

११. जे भिक्खू दगवीणियं सयमेव करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

१२. जे भिक्खू सिक्कगं वा, सिक्कगणंतगं वा सयमेव करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

१३. जे भिक्खू सोत्तियं वा, रज्जुयं वा चिलिमिलिं सयमेव करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

१०. जो भिक्षु पदमार्ग, संक्रमणमार्ग या अवलंबन का साधन स्वयं करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

११. जो भिक्षु पानी निकलने की नाली स्वयं करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

१२. जो भिक्षु छींका या छीके का ढक्कन स्वयं करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

१३. जो भिक्षु सूत की या रस्सी की चिलमिली का निर्माण स्वयं करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है, (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है)

विवेचन—इन सूत्रों में कहे गए कार्य यद्यपि साधु के करने योग्य नहीं हैं फिर भी परिस्थिति-वश ये कार्य करने आवश्यक हों तो गृहस्थ से करवाने पर अधिक प्रायश्चित्त और स्वयं करने पर अल्प प्रायश्चित्त का विधान है, क्योंकि गृहस्थ की अपेक्षा स्वयं विवेकपूर्वक कर सकता है। अतः अल्प जीवविराधना का प्रायश्चित्त भी अल्प ही कहा गया है तथा गृहस्थ से कोई भी कार्य करवाना भिक्षु के लिये दशवै. अ. ३ में अनाचार कहा गया है। इस कारण से भी यह अधिक प्रायश्चित्त योग्य है।

सूत्र पाठ में चिलमिलिका निर्माण योग्य सामग्री केवल दो प्रकार की कही गई है किन्तु भाष्यकार ने पांच प्रकार की सामग्री से निर्मित चिलमिलिकाएं कही हैं। विशेष जिज्ञासा वाले भाष्य देखें।

बृहत्कल्प उद्दे. १ सू. १८ से तथा निशीथ के इस सूत्र से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि साधु-साध्वियों को जब कभी चिलिमिली की आवश्यकता अनुभव हो तो उन्हें रखना या उपयोग में लेना कल्पता है। किन्तु पूर्वनिर्मित न मिलने पर सूत से या डोरियों से चिलमिली का स्वयं निर्माण करना लघुमासिक प्रायश्चित्त योग्य कार्य है और गृहस्थ से निर्माण करवाना गुरुमासिक प्रायश्चित्त योग्य कार्य है। इनका विवेचन प्रथम उद्देशक सूत्र ११-१४ में देखें।

उत्तरकरण करने का प्रायश्चित्त—

१४. जे भिक्खू सूईए उत्तरकरणं सयमेव करेइ, करेंतं वा साइज्जइ ।

१५. जे भिक्खू पिप्पलगस्स उत्तरकरणं सयमेव करेइ, करेंतं वा साइज्जइ ।

१६. जे भिक्खू णहच्छेयणगस्स उत्तरकरणं सयमेव करेइ, करेंतं वा साइज्जइ ।

१७. जे भिक्खू कण्णसोहणगस्स उत्तरकरणं सयमेव करेइ, करेंतं वा साइज्जइ ।

१४. जो भिक्षु सूई का उत्तरकरण—सुधार परिष्कार स्वयं करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

१५. जो भिक्षु कतरणी का उत्तरकरण—सुधार परिष्कार स्वयं करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

१६. जो भिक्षु नखछेदनक का उत्तरकरण—सुधार परिष्कार स्वयं करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

१७. जो भिक्षु कर्णशोधनक का उत्तरकरण—सुधार परिष्कार स्वयं करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है, (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है ।)

नोट—उपरोक्त सूत्रों का विवेचन प्रथम उद्देशक के सूत्र १५-१८ में देखें ।

प्रथम महाव्रत के अतिचार का प्रायश्चित्त—

१८. जे भिक्खू लहुसगं फरुसं वयइ, वयंतं वा साइज्जइ ।

१८. जो भिक्षु अल्प कठोर वचन कहता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है, (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है ।)

विवेचन—परुष भाषा में कर्कश शब्दों का प्रयोग होता है, भाषासमिति का पालन करने वाले साधु-साध्वी ऐसी परुष भाषा का प्रयोग न करे क्योंकि यह भाषा सावद्य होती है ।

परिस्थितिवश यदि आवेश आ जाये तो वचनगुप्ति का पालन करते हुए मौन रखने का प्रयत्न करना चाहिए ।

स्नेह रहित शब्द युक्त उपालम्भ, आदेश, शिक्षा तथा प्रेरणा देने के वचन, ये सब चूर्णिकार के अनुसार 'अल्प परुष वचन' हैं । यहां यह प्रायश्चित्त विधान ऐसे ही परुष वचनों का है ।

उदाहरण

१. एक साधु अपना उपकरण जहाँ पर रखकर गया था उसे वह वहाँ नहीं मिला, अतः उसने वहाँ बैठे साधु से पूछा—"यहाँ मैं अपना उपकरण रख कर गया था, वह कहाँ गया ?"

वह बोला "मुझे मालूम नहीं है ।"

साधु ने कहा—"अरे प्रमादी ! तू यहाँ बैठा-बैठा क्या नींद ले रहा है ? सच बता किसने उठाया और कहाँ रखा ।"

२. अपने आसन पर किसी अन्य साधु को बैठा देखकर एक साधु ने कहा—"अरे ! यह कौन बैठा है ? उठ यहाँ से, क्या इसे अपना आसन समझ रखा है ।"

३. नींद ले रहे किसी साधु को किसी अन्य साधु ने किसी कारण से जगाया तो वह बोला—"कौन है यह दुष्ट जिसने मेरे आराम में बाधा डाली है ।"

४. किसी रुग्ण साधु ने किसी अन्य साधु से कहा—"मैं कितनी बार कह चुका हूँ—तुम मेरे लिए दवाई नहीं ला रहे हो ।"

उसने रुग्ण साधु से कहा—"क्यों हाय हाय कर रहे हो ! थोड़ा धैर्य नहीं रख सकते ?"

५. किसी गणप्रमुख ने कुछ साधुओं से एक दुर्लभ वस्तु लाने के लिए कहा, कईयों ने गवेषणा की किन्तु उनकी गवेषणा निष्फल गई, केवल एक की गवेषणा सफल रही ।

निष्फल गवेषकों में से किसी एक ने पूछा—"किस को मिली वह दुर्लभ वस्तु" ?

जिसको मिली थी उसने कहा "मुझे मिली है । तुम्हें क्या मिले, तुम्हारे भाग्य में तो भटकना लिखा है सो भटकते फिरो ।"

इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करने से दूसरों को दुःख होता है, इसलिये परुष भाषण सूक्ष्महिंसा है । जिससे प्रथम महाव्रत में अतिचार लगता है ।

परुस होते हुए भी परुष नहीं

केशीकुमार श्रमण ने राजा प्रदेशी को तथा राजीमति ने रहनेमि को जो कुछ परुष वाक्य कहे थे वे परुष (कठोर) होते हुए भी परुष नहीं थे । क्योंकि उन्होने जो परुष भाषा कही थी वह उन आत्माओं के हित के लिए कही थी अतः उस परिस्थिति में कहे गए कषायभाव-रहित परुष वचन प्रायश्चित्त योग्य नहीं होते हैं ।

इसी प्रकार शिष्य को हितशिक्षा हेतु कहे गए गुरु के कठोर वचन भी प्रायश्चित्त योग्य नहीं होते हैं ।

क्रोध, मान, ईर्षा या द्वेषवश कहे गए परुष वचनों का प्रायश्चित्त सूत्र में कहा है ।

आत्मीयता एवं पवित्र हृदय से कहे गये परुष वचनों का प्रायश्चित्त नहीं है ।

द्वितीय महाव्रत के अतिचार का प्रायश्चित्त—

१९. जे भिक्खू लहुसगं मुसं वयइ, वयंतं वा साइज्जइ ।

१९. जो भिक्षु अल्प मृषावाद बोलता है या बोलने वाले का अनुमोदन करता है (उसे लघु-मासिक प्रायश्चित्त आता है ।)

विवेचन—बिना विचारे या भय से कहे गए वचन अल्प मृषावाद के वचन माने गए हैं ।

१. जो कार्य किया है उसके सम्बन्ध में पूछने पर भयभीत होकर कह दे—मैंने नहीं किया। जो कार्य नहीं किया है उसके सम्बन्ध में पूछने पर विना विचारे कह दे—मैंने किया है।

२. ऊंघते हुए को पूछने पर कह दे—मैं नहीं ऊंघ रहा हूँ।

३. अंधेरे में किसी अन्य की वस्तु को अपनी वस्तु कहना। इस प्रकार के मृषावाद के प्रायश्चित्तविधान इस सूत्र में हैं। वंचकवृत्ति से या किसी का अहित करने के लिए कहे गए असत्य वचनों को यहाँ नहीं समझना चाहिये।

तृतीय महाव्रत के अतिचार का प्रायश्चित्त—

२०. जे भिक्खू लहुसगं अदत्तं आइयइ, आइयंतं वा साइज्जइ।

२०. जो भिक्षु अल्प अदत्त-ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है, (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—भिक्षु को प्रत्येक वस्तु याचना करके ही ग्रहण करनी चाहिए।

दश. अ. ६ में कहा है कि "दाँत शोधन करने के लिए तिनका (तृण) भी आज्ञा लिए बिना नहीं लेना चाहिए।"

व्यव. उ. ७ में कहा है कि "मार्ग में बैठना हो तो वहाँ भी आज्ञा ग्रहण करनी चाहिए।"

आचा. श्रु. २, अ. १५, में कहा है कि "भिक्षु बारंबार (सदा) आज्ञा लेने की वृत्ति वाला होना चाहिए अन्यथा कभी अदत्त भी ग्रहण किया जाना संभव है।"

भग. श. १६, उ. २ में वर्णन है कि अवग्रह ग्रहण के प्रकारों को जानकर तीर्थंकर के शासन के सम्पूर्ण भिक्षुओं को भरतक्षेत्र में विचरने की ओर स्वामी रहित पदार्थों व स्थानों के उपयोग में लेने की शक्रेन्द्र आज्ञा देता है।

इसीलिए ऐसे पदार्थों व स्थलों की आज्ञा ग्रहण करने की समाचारिक विधि है। जिसके लिए "शक्रेन्द्र की आज्ञा" अथवा "अणुजाणह जस्सुग्गहो" ऐसा उच्चारण किया जाता है।

आचा. श्रु. २, अ. ७ में कहा है—अपने संभोगी साधु के उपकरण भी आज्ञा प्राप्त कर के ही ग्रहण करना चाहिए।

सूय. श्रु १, अ. ३, प्रश्न. श्रु. २, अ. ३, उत्त. अ. १९ तथा अ. २५ आदि अनेक आगम पाठों में अदत्त ग्रहण करने का निषेध है।

चतुर्थ महाव्रत के अतिक्रमण का प्रायश्चित्त—

२१. जे भिक्खू लहुसएण सीओदगवियडेण वा, उसिणोदगवियडेण वा हत्थाणि वा, पायाणि वा, कण्णाणि वा, अच्छीणि वा, दंताणि वा, णहाणि वा, मुहं वा, उच्छोलेज्ज वा, पधोवेज्ज वा, उच्छोलेंतं वा पधोवेंतं वा साइज्जइ।

२१. जो भिक्षु अल्प अचित्त शीत या उष्ण जल से हाथ, पैर, कान, आंख, दांत, नख या मुंह आदि को प्रक्षालित करता है, धोता है या प्रक्षालन करने वाले का या धोने वाले का अनुमोदन करता है, (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—सूत्र १८-१९-२० में क्रमशः प्रथम, द्वितीय व तृतीय महाव्रत सम्बन्धी दोषों का प्रायश्चित्त कहा है। आगे के सूत्र २२-२३-२४ में पाँचवें महाव्रत सम्बन्धी दोषों का प्रायश्चित्त कहा है। अतः इस सूत्र में चौथे महाव्रत सम्बन्धी दोष का प्रायश्चित्त समझना चाहिए क्योंकि स्नान को 'कामांग' और ब्रह्मचर्य का दूषण कहा गया है अतः यहाँ देश-स्नान रूप प्रवृत्ति का प्रायश्चित्त है।

भोजन करने के बाद मणिबन्ध पर्यंत लिप्त हाथों को धोना यहाँ प्रायश्चित्त योग्य नहीं है तथा मल-मूत्रादि के लेप युक्त पांव आदि को धोकर साफ करना भी कल्प्य है।

ये सामान्य कारण है। इसके सिवाय निष्कारण प्रक्षालन की प्रवृत्तियाँ निषिद्ध समझनी चाहिए। वे प्रवृत्तियाँ बाकुशी प्रवृत्तियाँ कही जाती हैं, उन्हीं का इस सूत्र से प्रायश्चित्त समझना चाहिए।

कृत्स्न चर्म धारण का प्रायश्चित्त—

२२. जे भिक्खू कसिणाइं चम्माइं धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ।

२२. जो भिक्षु अखण्ड चर्म धारण करता है या धारण करने वाले का अनुमोदन करता है, (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—भाष्यकार ने "कसिण के चार प्रकार बताये हैं। वे साधु को नहीं कल्पते हैं, प्रस्तुत सूत्र में" सकल-कसिण का प्रायश्चित्तविधान है, जिसका अर्थ अखण्ड पूर्ण चर्म होता है।

शेष तीन प्रकार

१. **प्रमाण "कसिण"**—जूता आदि।

२. **वर्ण "कसिण"**—उज्ज्वल (सुन्दर वर्ण वाला) पाँचों वर्ण में से किसी एक वर्ण युक्त।

३. **बंधण "कसिण"**—आधा पाँव, पूरा पाँव, जंघा, घुटने, अंगुलियाँ आदि को बाँधने या सुरक्षा करने का चर्ममय उपकरण। इन तीन प्रकार के 'कसिण चर्मों' का प्रायश्चित्त विधान करना इस सूत्र का विषय नहीं है अर्थात् इनका प्रायश्चित्त गुरुमासिक आदि है। प्रस्तुत उद्देशक लघु मासिक प्रायश्चित्त का है।

फिर भी भाष्यकार ने सभी विकल्प कह कर उनके प्रायश्चित्त के प्रकारों का भी विस्तृत वर्णन किया है। उसका पूर्ण परिशीलन करना प्रायश्चित्तदाता गीतार्थों के लिए बहुत उपयोगी है। किस आपवादिक परिस्थिति में औपग्रहिक उपकरण रूप में किन-किन चर्म-उपकरणों का उपयोग किया जा सकता है, इसकी जानकारी भी भाष्य से करनी चाहिए।

जिज्ञासु पाठक भाष्य चूर्णि से अधिक समझ सकते हैं। यहाँ सामान्य जिज्ञासुओं के लिए सूत्रोक्त विषय का उपयोगी अंश ही अंकित किया है।

कृत्स्न वस्त्र धारण का प्रायश्चित्त—

२३. जे भिक्खू कसिणाइं वत्थाइं धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ ।

२३ जो भिक्षु 'कृत्स्न' वस्त्र धारण करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है, (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है ।)

विवेचन—इस सूत्र के भाष्य में 'कृत्स्न' शब्द का विस्तृत अर्थ एवं विविध प्रकार के प्रायश्चित्त विधानों का कथन करके यह कहा है कि—

सुत्तनिवातो कसिणे, चउव्विधे मज्झियम्मि वत्थम्मी ।
जहण्णे य मोल्लकसिणे, तं सेवंतम्मि आणावी ॥९६९॥

चार प्रकार के कृत्स्न वस्त्र

१. द्रव्यकृत्स्न, २. क्षेत्रकृत्स्न, ३. कालकृत्स्न, ४. भावकृत्स्न ।

द्रव्यकृत्स्न—श्रेष्ठ सुकोमल सूत्रों से बना वस्त्र,

क्षेत्रकृत्स्न—जिस क्षेत्र में जो वस्त्र बहुमूल्य होने से दुर्लभ हो,

कालकृत्स्न—जिस काल में जो बहुमूल्य वस्त्र दुर्लभ हो,

भावकृत्स्न—वर्ण से सुन्दर वर्ण वाला अथवा बहुमूल्य वस्त्र ।

प्रत्येक के तीन-तीन प्रकार हैं—जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट, यों बारह प्रकार के वस्त्र होते हैं—

जघन्य भावकृत्स्न का तथा जघन्य, मध्यम द्रव्य-क्षेत्र-काल कृत्स्न का सूत्रोक्त प्रायश्चित्त है ।

उत्कृष्ट द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकृत्स्न का लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है ।

अठारह रुपये से कम मूल्य का वस्त्र जघन्य भावकृत्स्न है, अतः अठारह रुपये से कम मूल्य का वस्त्र साधु-साध्वियों को लेना कल्पता है ।

अठारह रुपये से लेकर एक लाख रुपये तक के मूल्य के सभी वस्त्र बहुमूल्य माने गए हैं । जो बहुमूल्य होता है वही वर्ण से अत्यन्त सुन्दर और मृदु स्पर्श वाला होता है ।

चारों प्रकार के कृत्स्न वस्त्र ग्रहण करने पर जो दोष लगते हैं, वे भाष्यकार ने इस प्रकार कहे हैं—

कसिणे चउव्विहम्मि जइ दोसा एवमाइणो होंति ।
उप्पज्जंते तम्हा, अकसिणगहणं ततो भणितं ॥९७२॥
भिण्णं, गणणाजुत्तं च, दव्वतो खेत्त कालतो उ चितं ।
मोल्ललहु वण्णहीणं च भावतो तं अणुण्णातं ॥९७३॥

चार प्रकार के अकृत्स्न वस्त्र

साधु—साध्वियों को अकृत्स्न-वस्त्र ही ग्रहण करना चाहिए ।

द्रव्य से अकृत्स्न—फलियाँ रहित वस्त्र,

क्षेत्र से अकृत्स्न—सर्वत्र सुलभ वस्त्र,
काल से अकृत्स्न—सर्वजनभोग्य वस्त्र,
भाव से अकृत्स्न—अल्पमूल्य वाला और आकर्षक वर्ण रहित वस्त्र।

अभिन्न वस्त्र धारण का प्रायश्चित्त–

२४. जे भिक्खू अभिण्णाइं वत्थाइं धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ।

२४. जो भिक्षु अभिन्न वस्त्र धारण करता है या धारण करने वाले का अनुमोदन करता है, (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—पूर्व सूत्र में "कृत्स्न वस्त्र लेने का तथा रखने का प्रायश्चित्त कहा है, इस सूत्र में अभिन्न" वस्त्र लेने व रखने का प्रायश्चित्त कहा है।

यहां अभिन्न का अर्थ 'अखण्ड' है। अखण्ड वस्त्र लेने से तथा रखने से निम्न दोष होते हैं—

१. विधिपूर्वक वस्त्र की प्रतिलेखना न होना।
२. अधिक भार वाला वस्त्र होना।
३. वस्त्र का चुराया जाना आदि।

इसलिए साधु-साध्वियों को आगमोक्त प्रमाणानुसार आवश्यक वस्त्र लेने चाहिये।

पात्रपरिकर्म-प्रायश्चित्त–

२५. जे भिक्खू लाउयपायं वा, दारुपायं वा, मट्टियापायं वा, सयमेव परिघट्टेइ वा, संठवेइ वा जमावेइ वा परिघट्टेंतं वा संठवेंतं वा जमावेंतं वा साइज्जइ।

२५. जो भिक्षु तुंबपात्र, काष्ठपात्र, मृत्तिकापात्र का परिघट्टन, संठवण और "जमावण" स्वयं करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है, (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—शब्दार्थ आदि प्रथम उद्देशक सूत्र ३० में देखें।

साधु-साध्वियों का स्वाध्याय ध्यानादि सभी प्रकार की आराधनाएं यथासमय करने में संलग्न रहना चाहिए, अनिवार्य परिस्थिति के बिना सभी प्रकार के पात्रपरिकर्म नहीं करने चाहिए, क्योंकि परिकर्म करना भी एक प्रकार का प्रमाद ही है।

अत्यावश्यक परिकर्म विवेक पूर्वक करना चाहिए, अविवेक से परिकर्म करने पर सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है।

दण्ड आदि के परिकर्म करने का प्रायश्चित्त–

२६. जे भिक्खू दंडयं वा, लट्ठियं वा, अवलेहणियं वा, वेणुसूइयं वा, सयमेव परिघट्टेइ वा, संठवेइ वा, जमावेइ वा, परिघट्टेंतं वा, संठवेंतं वा जमावेंतं वा साइज्जइ।

२६. जो भिक्षु दण्ड, लाठी, अवलेहनिका और वांस की सूई का "परिघट्टण" "संठवण" "जमावण" स्वयं करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है, (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—परिघट्टण आदि का विवेचन उद्दे० १ सु० ४० में देखें।

अन्य-गवेषित-पात्र ग्रहण का प्रायश्चित्त—

२७. जे भिक्खू नियगगवेसियं पडिग्गहं धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ।

२८. जे भिक्खू परगवेसियं पडिग्गहं धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ।

२९. जे भिक्खू वरगवेसियं पडिग्गहं धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ।

३०. जे भिक्खू बलगवेसियं पडिग्गहं धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ।

३१. जे भिक्खू लवगवेसियं पडिग्गहं धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ।

२७. जो भिक्षु स्वजन गवेषित पात्र को धारण करता है या धारण करने वाले का अनुमोदन करता है।

२८. जो भिक्षु अस्वजन गवेषित पात्र को धारण करता है या धारण करने वाले का अनुमोदन करता है।

२९. जो भिक्षु प्रधान पुरुष द्वारा गवेषित पात्र को धारण करता है या धारण करने वाले का अनुमोदन करता है।

३०. जो भिक्षु बलवान् गवेषित पात्र को धारण करता है या धारण करने वाले का अनुमोदन करता है।

३१. जो भिक्षु लव गवेषित पात्र को धारण करता है या धारण करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—१. नियग—पारिवारिक सदस्यों के द्वारा।

२. पर—अन्य श्रावक आदि के द्वारा।

३. वर—प्रधान व्यक्ति—ग्राम, नगर आदि के प्रमुख व्यक्ति, प्रसिद्ध व्यक्ति या पदवीप्राप्त—सरपंच आदि के द्वारा।

४. बलवान्—शरीर से या प्रभुत्व से शक्तिसम्पन्न के द्वारा।

५. लव—दान का फल आदि बताकर प्राप्त किया गया।

साधु-साध्वियों को पात्र आदि स्वयं गवेषणा करके प्राप्त करना चाहिए, अन्य से गवेषणा करवाकर के प्राप्त करने में अनेक दोष लगने की सम्भावना रहती है। अतः दाता की भावना को समझकर अदीनवृत्ति से स्वयं विधिपूर्वक गवेषण करे। अन्य की गवेषणा का पात्र ग्रहण करने पर सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है।

दोषों की और प्रायश्चित्तों की विस्तृत जानकारी के लिए निशीथचूर्णि देखें।

अग्रपिंड ग्रहण प्रायश्चित्त–

३२. जे भिक्खू नितियं अग्गपिंडं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ।

३२. जो भिक्षु नित्य—अग्र-पिंड-प्रधानपिंड अर्थात् निमन्त्रण देकर नित्य दिया जाने वाला आहार भोगता है या भोगने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—दशवैकालिक अ. ३ में 'नियागपिंड' नामक जो अनाचार कहा गया है उसी का प्रायश्चित्त इस सूत्र में कहा है।

नियागपिंड के पर्यायवाची शब्द

१. नितिय अग्गपिंड
२. निइय अग्गपिंड,
३. निइयग्ग पिंड,
४. नियाग्गपिंड,
५. नियागपिंड ।

नियागपिंड की व्याख्या के अनुसार १. निमन्त्रणपिंड, २. निकायणापिंड ३. नित्याग्रपिंड, ४. नित्य अग्रपिंड, ये सब नियागपिंड के समानार्थक है। इन सबका अर्थ है—'नित्य नियमित निमन्त्रण पूर्वक दिया जाने वाला आहार।'

"आप प्रतिदिन मेरे घर पर भिक्षा लेने के लिए नियमित पधारें।" जो गृहस्थ साधु-साध्वियों को इस प्रकार निमंत्रण देता है उसके यहाँ से आहार लेने पर उन्हें लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है। भले ही वह आहार उसके निजी उपयोग के लिए ही बना हो। यह भाष्य और चूर्णिकार का अभिप्राय है।

जिस गृहस्थ के यहाँ प्रतिदिन नियमित रूप से श्रेष्ठ सरस आहार का दान दिया जाता है यह गृहस्थ निमन्त्रण दे या न दे उसके यहाँ से आहार लेने पर भी सूत्रोक्त लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

अग्रपिण्ड का भी चूर्णिकार नित्य निमन्त्रितपिण्ड अर्थ करते हैं तथा उसके अनेक विकल्प एवं उससे होने वाले दोषों को समझाकर कहते हैं कि "तस्मान्निमंत्रणादि पिंडो वर्ज्यः कारणे पुण निकायणा पिंडं गेण्हेज्ज"। गोतरयो पणग परिहाणिए जाहे मासलहुं पत्ते ताहे णीयग्गपिंडं गेण्हंति ॥

व्याख्याकार ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि गवेषणा के सभी दोष टालकर निमंत्रण व नियमितता के अभाव में दो चार दिन लगातार भी एक घर से आहार लेना दोष नही है। अर्थात् वह नियागपिंड नाम का अनाचार नहीं है।

दानपिंड प्रायश्चित्त–

३३. जे भिक्खू नितियं पिंडं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ।

३४. जे भिक्खू नितियं-अवड्ढभागं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ ।

३५. जे भिक्खू नितियं भागं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ ।

३६. जे भिक्खू नितियं उवड्ढभागं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ ।

३३. जिन कुलों में तैयार किया गया सम्पूर्ण आहार प्रतिदिन दान में दिया जाता है, उस आहार को लाकर जो भिक्षु भोगता है या भोगने वाले का अनुमोदन करता है।

३४. जिन कुलों में तैयार किये गये आहार का आधा भाग प्रतिदिन दान में दिया जाता है, उस आहार को लाकर जो भिक्षु भोगता है या भोगने वाले का अनुमोदन करता है।

३५. जिन कुलों में तैयार किये गये आहार का तीसरा भाग प्रतिदिन दान में दिया जाता है, उस आहार को लाकर जो भिक्षु भोगता है या भोगने वाले का अनुमोदन करता है।

३६. जिन कुलों में तैयार किये गये आहार का छट्ठा भाग प्रतिदिन दान में दिया जाता है, उस आहार को लाकर जो भिक्षु भोगता है या भोगने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—इन सूत्रों के शब्दार्थ की सूचक भाष्य गाथा—

पिंडो खलु भत्तट्ठो अवड्ढ पिंडो तस्स जं अद्धं ।

भागो तिभागमादि, तस्सद्धमुवड्ढभागो य ॥ १००९ ॥

इस गाथा के आधार से ही यहां मूल पाठ का अर्थ दिया गया है।

पुरोहितादि विशिष्ट व्यक्तियों के लिए नित्य निमन्त्रणपूर्वक दिया जाने वाला विशिष्ट आहार यदि साधु-साध्वी लें तो उन्हें लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है। यह विधान ३२ वें सूत्र में किया गया है और इन चारों सूत्रों में नित्य दान देने वाले कुलों से दान का आहार लेने का कथन है।

साधारण व्यक्तियों के लिए दिया जाने वाला साधारण आहार यदि साधु-साध्वी लें तो उन्हें लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

आचारांगसूत्र श्रु. २ अ. १ उ. १ में प्रतिदिन भोजन का कुछ भाग दान दिए जाने वाले कुलों में साधु-साध्वियों को आहार के लिए जाने का सर्वथा निषेध है और यहां उसी के ये चार प्रायश्चित्त सूत्र हैं। आचारांग का पाठ इस प्रकार है—

'से जाइं पुण कुलाइं जाणेज्जा, इमेसु खलु कुलेसु नितिए पिंडे दिज्जइ, नितिए अग्गपिंडे दिज्जइ, नितिए भाए दिज्जइ, नितिए अवड्ढभाए दिज्जइ, तहप्पगाराइं कुलाइं नितियाइं नितियोमाणाइं, णो भत्ताए वा पाणाए वा, पविसेज्ज वा निक्खमेज्ज वा'।

ऐसे कुलों में आहार के लिए जाने से दान में अन्तराय आती है तथा पश्चात्कर्म दोष लगता है क्योंकि दूसरी बार आहार बनाया जाने पर आरम्भजा हिंसा होती है।

प्रतिदिन पूर्ण भोजन का दान करने वाले कुलों का आहार 'नित्यपिंड' कहा जाता है। इस प्रकार का नित्यपिण्ड लेने वाले साधु-साध्वियों को सूत्रोक्त लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

इस आचारांगसूत्र वर्णित "नित्य-पिंड" से दशवैकालिकसूत्र वर्णित 'नियागपिंड अनाचार' भिन्न है। नियागपिंड अनाचार को आचारांगसूत्र तथा निशीथसूत्र में 'नित्य अग्रपिंड' कहा गया है। व्याख्याकारों ने नियागपिंड और नित्य अग्रपिंड को एकार्थक बताया है।

वर्तमान प्रणाली में नित्यदान पिंड दोष से तथा नियागपिंड अनाचार से भिन्न 'नित्यपिंड

अनाचार' माना जाता है। उसका अर्थ भी दोनों के अर्थ से भिन्न किया जाता है, जिसका कि कोई प्राचीन आधार नहीं है।

नियागपिंड की व्याख्या के विषय में आचारांग, दशवैकालिक तथा निशीथसूत्र के व्याख्याकार एक मत है। यथा—

नियागं-प्रतिनियतं जं निबंधकरणं, ण तु जं अहासमावत्तीए दिणेदिणे भिक्खागहणं।

—दश. अ. ३ चूर्णि [अगस्त्यसिंहसूरि]

"नियागं" नित्यामंत्रितस्य पिंडस्य ग्रहणं न तु नित्यं अनामंत्रितस्य।"

—दश. अ. ३ टीका—हरिभद्रीय

"आमंत्रितस्य पिंडस्य ग्रहणम्।" —आचा. श्रु. २, अ. १ उ. १ दीपिका

नित्यपिण्ड की प्रचलित मान्यता यह है कि "आज जिस घर से साधु या साध्वियाँ आहार-पानी लें उस घर से दूसरे दिन वे और उनके साम्भोगिक साधु-साध्वी आहार पानी न लें" किन्तु आगमों के वर्णकों में वर्णित 'समूह विहार' तथा प्रत्येक संघाडे की विभक्त गोचरी के वर्णनों से भी वर्तमान में प्रचलित नित्यपिण्ड की व्याख्या संगत सिद्ध नहीं होती।

प्राचीन काल में पांच सौ या हजार साधुओं के साथ श्रमणों का समूह-विहार होता था।

यथा—रायपसेणी में वर्णित—केशीकुमार श्रमण का विहार **"पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं संपरिवुडे"** पांच सौ अणगारों के साथ होता था।

ज्ञाताधर्मकथा अ. ५ में वर्णित थावच्चापुत्र अणगार का विहार **"सहस्सेणं अणगारेणं सद्धिं पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे"** एक हजार अणगारों के साथ होता था।

उनमें से दो-दो साधु के सौ संघाडे भी यदि आहार-पानी करने वाले हों तो किस गृहस्थ के घर से किस अणगार ने किस दिन आहार-पानी लिया है, यह सबकी स्मृति में रहना सम्भव नहीं लगता।

जिस दिन जिस संघाडे ने जिस घर से आहार-पानी लिया है दूसरे दिन उसी घर से अन्य संघाडे द्वारा आहार-पानी लेना प्रायः सम्भव है वल्कि अंतगडसूत्र वर्णित अनीकसेन आदि के समान उसी दिन भी लेना सम्भव रहता है।

ऐसी स्थिति में दश. अ. ३, गाथा. २ की टीका में उक्त नियागपिण्ड की तथा निशीथ उद्दे. २ में उक्त नित्यअग्रपिण्ड की चूर्णि एवं भाष्य की व्याख्या के अनुसार—"आदर पूर्वक निमंत्रण पाकर साधु यदि प्रतिदिन एक ही घर से आहार-पानी ले तो नियागपिण्ड है और निमंत्रण बिना कई दिन लगातार एक घर से शुद्ध गवेषणा पूर्वक आहार-पानी ले तो नियागपिण्ड नहीं है" यह व्याख्या ही उपयुक्त है और प्राचीन काल के समूह विहार तथा प्रत्येक संघाडे की विभक्त गोचरी और गृहीत आहार अन्य को निमंत्रण करने की पद्धति से भी उचित एवं संगत होती है।

नित्य निवास प्रायश्चित्त—

३७. जे भिक्खू "नितियं वासं" वसइ वसंतं वा साइज्जइ।

३७. जो भिक्षु मासकल्प व चातुर्मासकल्प की मर्यादा को भंग करके नित्य एक स्थान पर रहता है या रहने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—कल्प-मर्यादा के सम्बन्ध में आचा. श्रु. २, अ. २, उ. २ के अनुसार दो क्रियायें दोषरूप कही गई हैं—१. कालातिक्रान्त क्रिया २. उपस्थान क्रिया।

कालातिक्रान्त क्रिया

एक क्षेत्र में एक मासकल्प (२९ दिन) रहने के बाद भी वहां से विहार न करे तथा एक क्षेत्र मे चातुर्मासकल्प (आषाढ पूर्णिमा से कार्तिक पूर्णिमा तक) रहने के बाद भी वहां से विहार न करे तो 'कालातिक्रान्त क्रिया' नामक दोष लगता है।

उपस्थान क्रिया

एक क्षेत्र में एक मासकल्प रहने के बाद दो मास अन्यत्र बिताये बिना वहीं आकर रहे तो तथा एक क्षेत्र में चातुर्मासकल्प रहने के बाद आठ मास अन्यत्र बिताये बिना वहीं आकर रहे तो 'उपस्थान क्रिया' नामक दोष लगता है।

इन दोनों क्रियाओं का सेवन करना ही 'नित्यवास' माना गया है, इसी नित्यवास का सूत्रोक्त लघुमास प्रायश्चित्त है।

नित्यवास-निषेध एवं उसके प्रायश्चित्त-विधान का मूल हेतु यह है कि अकारण निरन्तर नित्यनिवास से अतिपरिचय होता है, उससे अवज्ञा या अनुराग दोनों हो सकते हैं और रागवृद्धि से चारित्र की स्खलना होना अनिवार्य है। इसलिए मासकल्प या चातुर्मासकल्प से दुगुना काल अन्यत्र विचरना अत्यावश्यक है।

दशवैकालिक द्वितीय चूलिका गाथा. ११ के अनुसार चातुर्मासकल्प वाले क्षेत्र में एक वर्ष पर्यन्त पुनः न जाने की कालगणना इस प्रकार है—

चातुर्मासकल्प के चार मास, उससे दुगुना आठ मास बीतने पर पुनः चातुर्मासकल्प आ जाने से तिगुना काल हो जाता है। इस कल्पमर्यादा का पालन आवश्यक है।

आगमों में कल्प उपरांत रहने का कहीं भी आपवादिक विधान उपलब्ध नहीं है, किन्तु यहां भाष्य गाथा १०२१-१०२४ तक ग्लान अवस्था आदि परिस्थितियों में तथा ज्ञानादि गुणों की वृद्धि हेतु नित्यवास को दोष रहित कहा है तथा उस भिक्षु को जिनाज्ञा एवं संयम में स्थित माना है।

नित्यनिवास की विस्तृत व्याख्या जानने के लिए भाष्य देखें।

पूर्व-पश्चात् संस्तव-प्रायश्चित्त—

३८. जे भिक्खू पुरेसंथवं वा, पच्छासंथवं वा करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

जो भिक्षु भिक्षा लेने के पहले या पीछे दाता की प्रशंसा करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है, (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—पूर्व-पश्चात्संस्तव दोष, उत्पादन के सोलह दोषों में है। इस दोष को सेवन करने वाले साधु-साध्वियों को लघुमास का प्रायश्चित्त आता है।

पूर्वसंस्तव—भिक्षा ग्रहण करने से पूर्व भिक्षादाता की प्रशंसा करना 'पूर्वसंस्तव' दोष है। इसके पीछे साधु का संकल्प यह होता है कि 'प्रशंसा करने से वह श्रेष्ठ सरस आहार देगा'।

कई साधु-साध्वियां दाता की प्रशंसा न करके अपनी ही प्रशंसा करते हैं। वे अपने जाति-कुल की, ज्ञान, ध्यान की या तप आदि की चमत्कार भरी गरिमा बताकर दाता को प्रभावित करते हैं जिससे उन्हें सदा सम्मानपूर्वक यथेष्ट आहार मिलता रहे और परिचय बना रहे।

पश्चात्संस्तव

भिक्षा ग्रहण करने के बाद दाता की प्रशंसा करना 'पश्चात्संस्तव' दोष है। ऐसा करने में साधु का तात्पर्य यह होता है कि 'बाद में जब कभी भिक्षा के लिए आवें तब भक्तिभाव पूर्वक आहार मिलता रहे। इस प्रकार आहारप्राप्ति के लिए दाता की प्रशंसा करना साधु की निस्पृहवृत्ति को दूषित करना है इसलिए दाता की ऐसी प्रशंसा न करें।

धार्मिक संस्कार वृद्धि हेतु सुपात्र दान का स्वरूप, विधि तथा उसका फल बताना, धर्म-जागृति बढ़ाना जिससे भक्तिभाव बढ़े तो वह दोष रूप नहीं होकर गुण रूप ही होता है, उससे तो धर्मप्रभावना तथा निर्जरा होती है।

भिक्षाकालपूर्व स्वजन-गृहप्रवेश प्रायश्चित्त—

३९. जे भिक्खू समाणे वा वसमाणे वा गामाणुगामं वा दूइज्जमाणे पुरे संथुयाणि वा, पच्छा संथुयाणि वा कुलाइं पुव्वामेव भिक्खायरियाए अणुप्पविसइ अणुपविसंतं वा साइज्जइ।

३९. जो भिक्षु स्थिरवास रहा हुआ हो, मासकल्प आदि रहा हुआ हो या ग्रामानुग्राम विहार करते हुए कहीं पहुँचा हो, वहां पर अपने पूर्व परिचित या पश्चात् परिचित कुलों में भिक्षा काल के पूर्व ही प्रवेश करता है या प्रवेश करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—जिस क्षेत्र में किसी स्थिरवासी स्थविर भिक्षु के, किसी मासकल्पवासी भिक्षु के या किसी ग्रामानुग्रामविहारी भिक्षु के पितृ-मातृ पक्ष के अथवा श्वसुर पक्ष के स्वजन परिजन रहते हों तो उसे वहां भिक्षाकाल के पूर्व भिक्षा के लिए नहीं जाना चाहिए। यदि जावे तो लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

भिक्षाकाल के पूर्व जाकर पुनः भिक्षाकाल में जाने से औद्देशिक, क्रीत आदि दोषों के लगने की सम्भावना रहती है।

इसी प्रकार वहां कहीं साधु-साध्वियों के रागानुबन्ध वाले गृहस्थ रहते हों तो वहां भी भिक्षा-काल के पूर्व जाकर पुनः भिक्षाकाल में जाने से पूर्वोक्त दोष लगने की सम्भावना रहती है।

भिक्षु भिक्षाकाल के पूर्व उक्त कुलों में जाता है तो उसके मन में यह संकल्प रहता है कि "पहले जाने से ये लोग मेरे लिए कुछ विशेष सामग्री बनाएंगे और मैं पुनः भिक्षाकाल में जाकर

यथेष्ट आहारादि ले आऊंगा", इस तथ्य को लक्ष्य में रखकर ही सूत्रोक्त प्रायश्चित्त का विधान है तथा इस विषय का निषेध आचा. श्रु. २, अ. १, उ. ९ में किया गया है।

अन्यतीर्थिक आदि के साथ भिक्षाचर्यादि-गमन-प्रायश्चित्त—

४०. जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिओ वा अपरिहारिएण सद्धि गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविसइ, अणुपविसंतं वा साइज्जइ।

४१. जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिओ वा अपरिहारिएण सद्धि बहिया विहारभूमि वा वियारभूमि वा निक्खमइ वा पविसइ वा णिक्खमंतं वा पविसंतं वा साइज्जइ।

४२. जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिओ वा अपरिहारिएण सद्धि गामाणुगामं दूइज्जइ, दूइज्जंतं वा साइज्जइ।

४०. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ के साथ तथा पारिहारिक साधु अपारिहारिक साधु के साथ गाथापति कुल में आहारप्राप्ति के लिये निष्क्रमण-प्रवेश करता है या निष्क्रमण-प्रवेश करने का अनुमोदन करता है।

४१. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ के साथ तथा पारिहारिक साधु अपारिहारिक साधु के साथ विहारभूमि या विचारभूमि में निष्क्रमण-प्रवेश करता है या निष्क्रमण-प्रवेश करने वाले का अनुमोदन करता है।

४२. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ के साथ तथा पारिहारिक साधु अपारिहारिक साधु के साथ ग्रामानुग्राम विहार करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—१. अन्यतीर्थिक—आजीवक, चरक परिव्राजक शाक्य आदि।

२. गृहस्थ—भिक्षाजीवी गृहस्थ अर्थात् शनिवार आदि निश्चित दिन भिक्षा करने वाला।

३. पारिहारिक—गवेषणा-दोषों का पूर्ण ज्ञाता और गवेषणा के दोष न लगाने वाला।

४. अपारिहारिक—गवेषणा-दोषों का ज्ञाता होते हुए भी प्रमादवश दोष लगाने वाला।

भिक्षाकाल में भिक्षु के साथ उसी भिक्षु का जाना उचित है जो गवेषणा के सभी दोषों का पूर्ण ज्ञाता हो, अन्य व्यक्तियों का साथ में जाना सर्वथा अनुचित है।

इसी आशय को लक्ष्य में रखकर यहाँ अन्यतीर्थिक के साथ, भिक्षाजीवी गृहस्थ के साथ तथा स्वलिंगी अपारिहारिक के साथ जाने पर लघुमासिक प्रायश्चित्त विधान किया गया है।

अन्यतीर्थिक आदि के साथ जाने से भिक्षादाता के मन में भी अनेक विकल्प उत्पन्न होते हैं। वह सोचता है—पहले श्रमण निर्ग्रन्थ को भिक्षा दूँ या जिनके साथ ये आए हैं इन्हें पहले दूँ ? श्रमण निर्ग्रन्थ को कैसा आहार दूँ और इन्हें कैसा आहार दूँ ? अन्यतीर्थिक आदि के साथ श्रमण निर्ग्रन्थ क्यों आये ? श्रमण निर्ग्रन्थ तो स्वयं महान् हैं। ये स्वयं आते तो क्या मैं इन्हें भिक्षा नहीं देता ? इत्यादि।

ऊपर कहे गए इन तीनों सूत्रों का भाव यह है कि लोकव्यवहार या लोकापवाद को लक्ष्य में रखकर श्रमण को अन्यतीर्थिक, गृहस्थ या अपारिहारिक के साथ नहीं आना-जाना चाहिए ।

हर जगह इनके साथ जाने-आने से देखने वालों के मन में कई विकल्प उत्पन्न होते हैं ।

कुछ लोग सोचते है—"निर्ग्रन्थ श्रमणों की चर्या और अन्यतीर्थिकादि की चर्या भिन्न-भिन्न है फिर भी इनके साथ क्यों आते-जाते हैं ?"

कुछ लोग सोचते हैं—"ये श्रमण और ये अन्यतीर्थी केवल वेप से भिन्न-भिन्न दिखाई देने है, अन्तरंग तो इनका समान प्रतीत होता है अतएव ये सदा साथ रहते हैं ।"

अपारिहारिक प्रायः दोपसेवी होता है इसलिए जन साधारण में इसकी श्रमणचर्या प्रसंशनीय नही होती अत: उसके साथ आने जाने से पारिहारिक श्रमण की प्रतिष्ठा भी धूमिल हो जाती है ।

इन कारणों से ही अन्यतीर्थिकादि के साथ श्रमण का आना-जाना लघुमासिक प्रायश्चित्त योग्य कहा है ।

मनोज्ञ जल पीने और अमनोज्ञ जल परठने का प्रायश्चित्त—

४३. जे भिक्खू अण्णयरं पाणगजायं पडिगाहित्ता पुप्फं पुप्फं आइयइ कसायं कसायं परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ ।

४३. जो भिक्षु अनेक प्रकार के प्रासुक पानी को ग्रहण करके अच्छा-अच्छा पीता है और खराब-खराब परठता है या परठने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है ।)

विवेचन—साधु साध्वियां एपणा के सभी दोप टालकर प्राप्त किये गए निर्दोप पानी का ही उपयोग करते हैं। आगमों में ऐसे पानी को अचित्त एपणीय या प्रासुक कहा गया है। साधारण भापा में धोवन पानी, गरम पानी, या प्रासुक पानी भी कहते हैं ।

आचारांग आदि में ऐसे पानी अनेक प्रकार के कहे गए हैं। गृहस्थों के घरों में पानी लेते समय लेने वालों को विवेक पूर्वक पानी सम्बन्धी पूरी जानकारी प्राप्त करनी चाहिए ।

यथा—"यह पानी अब तक अचित्त हुआ या नहीं ? अर्थात् कितने देर पहले का बना हुआ है ?

यह पानी किस प्रकार बना है ? अर्थात् किन पदार्थों के प्रयोग से अचित्त बना है ?

यह पानी किसने किस कार्य के लिए बनाया है ? यह पीने योग्य है ? इसके पीने से प्यास शान्त होगी ?

यह पानी मेरी शारीरिक स्थिति के अनुकूल है या नही ?" इत्यादि विवेकपूर्वक जानकारी आवश्यक है ।

दश. अ ५. उ. १, गा. ८१ में बताया है कि पानी देखने पर कुछ प्रतिकूल लगे तो परखने के लिए अंजलि में थोड़ा सा पानी ले और उसे मुँह में लेकर चखे, यदि पीने योग्य प्रतीत हो तो और लें ले । पीने योग्य न हो तो न ले । ऐसा पानी भूल से ग्रहण हो जाय तो परठ देना चाहिए ।

प्रस्तुत सूत्र में दो विशेष शब्द हैं—

१. पुप्फं, २. कसायं।

जिस पानी का वर्ण, गंध, रस और स्पर्श प्रशस्त हो उसकी यहां "पुप्प" संज्ञा है।

जिस पानी का वर्ण, गंध, रस और स्पर्श अप्रशस्त हो उसकी यहां "कषाय" संज्ञा है।

जो पानी पुप्प—मधुर है उसे अलग पात्र में लेना चाहिए और जो कसैला हो उसे अलग लेना चाहिए।

ऐसे विभिन्न प्रकार के पानी अलग-अलग पात्रों में लाना और छानना चाहिए।

पहले कसैले पानी को पीना चाहिए बाद में अच्छे पानी को।

रसासक्ति से मनोज्ञ पानी पी लेने पर और अमनोज्ञ को परठ देने पर लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

जो पानी केर, करेला, मेथी, बेसन आदि से निष्पन्न हो वह कसैला होता है।

दूध आदि सुस्वादु तथा सुगन्धी पदार्थों का पानी मनोज्ञ होता है तथा शुद्धोदक एवं उष्णोदक भी मनोज्ञ होता है।

स्वस्थ साधु को अनेक प्रकार के प्रासुक जल पीने में अग्लान भाव रखना चाहिए।

अति कसैला पानी न पिया जा सके तो उसे परठने का प्रायश्चित्त नहीं है।

मनोज्ञ भोजन खाने और अमनोज्ञ परठने का प्रायश्चित्त—

४४. जे भिक्खू अण्णयरं भोयणजायं पडिगाहित्ता सुब्भि सुब्भि भुंजइ, दुब्भि दुब्भि परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ।

४४ जो भिक्षु विविध प्रकार का आहार ग्रहण करके सरस-सरस खाता है और नीरस-नीरस परठता है या परठने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—पूर्व सूत्र के अनुसार इस सूत्र मे भी आगमिक शैली से 'सुब्भि दुब्भि' शब्द का प्रयोग है।

चूर्णि में—सुब्भि—सुभं, दुब्भि—असुभं अर्थ किया है।

भाष्य गाथा में—

वण्णेण य गंधेण य, रसेण फासेण जं तु उववेतं।
तं भोयणं तु सुब्भि, तव्विवरीयं भवे दुब्भि॥ ११२२॥

वर्ण, गंध, रस और स्पर्श से युक्त आहार को 'सुब्भि' समझना और इससे विपरीत-वर्ण, गंध, रस, स्पर्श से हीन आहार को 'दुब्भि' समझना चाहिए।

१. पुप्फं—अच्छं—वण्णगंधरसोपपेतं—पहाणं—सुब्भि—सुभं—भद्दगं—मणुण्णं।

२. कसायं—कलुसं—स्पर्शप्रतिलोमं—अप्पहाणं—वहलं—दुब्भि—दुगंधं—असुभं—विवण्णं—अमणुण्णं।

इस प्रकार से पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग समझना चाहिये। शेष विवेचन सूत्र ४३ के समान है। आहार की आसक्ति से आहार संबंधी अनेक दोष लगने की सम्भावना रहती है।

विषमिश्रित, अभिमंत्रित और दोषयुक्त आहार का ज्ञान होने पर परठने का प्रायश्चित्त नहीं है।

भाष्य में दोनों [४३-४४] सूत्रों की व्याख्या में दृष्टांत देकर सूत्रोक्त भाव समझाये गये है।

अवशिष्ट आहार-अनिमंत्रण-प्रायश्चित्त—

४५. जे भिक्खू मणुण्णं भोयणजायं पडिगाहेत्ता बहुपरियावण्णं सिया, अदूरे तत्थ साहम्मिया, संभोइया, समणुण्णा, अपरिहारिया संता परिवसंति, ते अणापुच्छिय अणामंतिय परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ।

४५. मनोज्ञ आहार-ग्रहण कर लेने के बाद ज्ञात हो जाए कि अधिक है, इतना नहीं खाया जा सकता किन्तु परठना पड़ेगा, ऐसी स्थिति में यदि अन्यत्र समीप में ही कोई सार्धमिक, संभोगी, समनोज्ञ या अपरिहारिक साधु हों तो उनको पूछे बिना और निमंत्रित किये बिना परठता है या परठने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—१. मनोज्ञ—यहां मनोज्ञ का आशय है मधुर तथा रुचिकर आहार।

२. भोयणजायं—सभी प्रकार के भोज्य पदार्थ।

३. बहुपरियावण्णं—आहार करने के बाद बचा हुआ आहार।

४. अदूरे—समीप के उपाश्रय में अथवा उपनगर के उपाश्रय में।

५. साहम्मिया—समान श्रुत एवं चारित्र धर्म वाले अथवा—समान अनगार धर्म वाले—समान लिंग एवं समान प्ररूपणा वाले।

६. संभोइया—परस्पर आहार-पानी का आदान-प्रदान करने वाले।

७. समणुण्णा—समान समाचारी वाले एवं परस्पर स्नेह सद्भाव वाले या शुद्ध व्यवहार वाले—समाज से अबहिष्कृत भिक्षु।

८. अपरिहारिया—जो प्रायश्चित्तप्राप्त न हो।

जो भिक्षु भिक्षाचर्या में गवेषणा-कुशल होता है, समयज्ञ होता है, स्वयं तथा साथी मुनि की आहार की मात्रा जानने वाला होता है—उसे ही गोचरी जाने की आज्ञा दी जाती है।

मनोज्ञ आहार हो, पर्याप्त हो, दाता हो, फिर भी वह अपनी और साथी साधुओं की आवश्यकता के अनुसार तथा संयमी जीवन के अनुकूल आहार ग्रहण करता है, लोभ, आसक्ति या अविवेक से आहारादि ग्रहण नहीं करता है, तो भी आहार कर लेने के बाद कभी कुछ आहार बच जाए तो उस आहार का उपयोग करने की विधि इस सूत्र में कही गई है।

समीप के किसी उपाश्रय में जहां सार्धमिक सांभोगिक या समनोज्ञ साधु हों वहां वह बचा आहार लेकर जावें और उन्हें कहे कि हमारे यह बचा हुआ आहार है, आप इसका उपयोग करें।

यदि वे न लें तो उसे एकान्त में ले जाकर प्रासुक भूमि पर परठ दे।

समीप के उपाश्रय में विद्यमान साधुओं को बचा हुआ आहार दिखाये बिना तथा उपयोग में लेने का कहे बिना यदि कोई परठ दे तो उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

सूत्र में सांभोगिक आदि तीन विशेषण प्रयुक्त हैं तथापि यहां सांभोगिक की प्रमुखता है। अतः यदि निकट में असांभोगिक साधु हो तो उन्हें निमंत्रण किये बिना अशनादि के परठ देने पर सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नहीं आता है।

शय्यातर पिंड-प्रायश्चित्त—

४६. जे भिक्खू सागारियपिंडं गिण्हइ, गिण्हंतं वा साइज्जइ।

४७. जे भिक्खू सागारियपिंडं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ।

४६. जो भिक्षु शय्यातर पिंड ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

४७. जो भिक्षु शय्यातरपिंड भोगता है या भोगने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—आगमों में तथा व्याख्याग्रन्थों में अनेक दोषों की सम्भावना से शय्यातरपिंड के निषेध पर विशेष बल दिया है। यहां भी विशेषता व्यक्त करने के लिये इन दोनों सूत्रों में प्रायश्चित्त विधान किया गया है और कुल ४ सूत्रों (४६-४९) में इसके प्रायश्चित्त का प्ररूपण किया गया है तथा—ठाणांगसूत्र के पांचवें स्थान में गुरु प्रायश्चित्त स्थान के संग्रहीत बोलों में भी इसका कथन है।

अर्थभेद या प्रयोगभेद से शय्यादाता के ५ पर्यायवाची शब्द हैं, यथा—१. सागारिक, २. शय्याकर, ३. शय्यादाता, ४. शय्याधर, ५. शय्यातर।

प्रस्तुत सूत्र में "सागारिक" शब्द का प्रयोग हुआ है। अन्य आगमों में शय्यातर व सागारिक शब्द का प्रयोग भी हुआ है।

भाष्य में इस विषय का विभाजन नव द्वारों में करके विस्तारपूर्वक कहा गया है, जिसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१. शय्यातर कौन होता है?

'प्रभु और प्रभुसंदिष्ट, शय्यातर होता है। इसी आशय का कथन आचारांगसूत्र में भी है, यथा—'जे तत्थ ईसरे जे तत्थ समहिट्ठाए' जो मकान का मालिक है या जिस के अधिकार में मकान है अर्थात् जो अधिष्ठाता है। उसकी आज्ञा लेकर ठहरना चाहिए।

बृहत्कल्पसूत्र उ. २ में बताया है कि मालिक भी अनेक हो सकते हैं और अधिष्ठाता भी अनेक हो सकते हैं। उनमें से किसी एक की आज्ञा लेकर उसे शय्यातर मानना और उसकी वस्तु को शय्यातरपिंड समझ कर ग्रहण नहीं करना। अन्य अधिष्ठाताओं या मालिकों के यहां से आहारादि लिये जा सकते हैं।

२. शय्यातरपिंड १२ प्रकार का होता है

१. अशन, २. पान, ३. खाद्य, ४. स्वाद्य, ५. वस्त्र, ६. पात्र, ७. कंबल, ८. रजोहरण, ९. सूई, १०. कतरणी, ११. नखछेदनक, १२. कर्णशोधनक। यहां औषध भेषज की अलग विवक्षा नहीं की

गई है । अतः दो और जोड़ने से १४ भेद होते हैं । इन भेदों के संक्षेप में दो भेद होते हैं—१. आहार, २. उपधि ।

आहार के ६ भेद और उपधि के आठ भेद करने से कुल चौदह भेद होते हैं और एक अपेक्षा से १२ प्रकार होते हैं तब औषध-भेषज शय्यातरपिंड नहीं होते हैं ।

३. तृण, डगल, राख, मल्लग (मिट्टी का सिकोरा), शय्या, संस्तारक, पीढा और पात्रलेपादि वस्तु शय्यातरपिंड नही कहलाती हैं ।

उपलक्षण से अन्य उपकरणों को भी शय्यातरपिंड समझ लेना चाहिए, यथा—चश्मा, पेंसिल, पेंसिल छीलने का साधन, पेन आदि तथा पढ़ने के लिये पुस्तक या फर्नीचर की सामग्री आदि को शय्यातरपिंड नहीं समझना चाहिये ।

४. शय्यातर का कोई सदस्य दीक्षा ग्रहण करने के लिये आवश्यक उपधि एवं आहार लेकर आवे तो वह शिष्य शय्यातर के परिवार का होते हुए भी ग्रहण किया जा सकता है ।

शय्यातर कब होता है—आज्ञा ग्रहण करने के बाद उपाश्रय में आहार, उपकरण रखने पर शय्यातर कहलाता है अर्थात् उसके बाद उसका आहारादि ग्रहण नही किया जा सकता है ।

शय्यातर का मकान छोड़ने के बाद कब तक शय्यातर समझना ?

१. यदि एक रात्रि भी नही रहे केवल दिन में ही कुछ समय रहना हुआ तो मकान छोड़ने के बाद शय्यातर नही रहता ।

२. यदि एक या अनेक रात्रि रहने के बाद मकान छोड़ा हो तो आठ प्रहर तक उसे शय्यातर समझकर उसके यहां से आहारादि नहीं लेना चाहिये ।

३. एक मंडल में बैठकर आहार करनेवाले श्रमण यदि अनेक मकानों में ठहरे हों तो उनके सभी मालिक शय्यातर समझने चाहिए ।

यदि कोई श्रमण स्वयं का लाया हुआ आहार करनेवाले हों तो वे अपने शय्यातर को और आचार्य के शय्यातर को अपना शय्यातर समझें ।

४. शय्यातरपिंड ग्रहण करने से तीर्थंकर भगवान् की आज्ञाभंग का दोष लगता है, लौकिक व्यवहार में यह रूढ है कि जिसके घर पर अतिथि ठहरते हैं वे उसी के यहां का भोजन करते हैं । साधु भी यदि ऐसा करे तो उद्गम आदि दोषों की संभावना दृढ हो जाती है । शय्यातर की दान भावना में कमी आ सकती है । क्योंकि शय्या मिलना वैसे ही दुर्लभ होता है तब ऐसा करने से शय्या की दुर्लभता और भी बढ़ सकती है ।

५. आपवादिक परिस्थिति में किस क्रम से शय्यातरपिंड ग्रहण करना आदि शेष विवेचन जानने के लिए भाष्य का अवलोकन करना आवश्यक है ।

शय्यातर के घर की जानकारी नहीं करने का प्रायश्चित्त—

४८. जे भिक्खू सागारियकुलं अजाणिय अपुच्छिय अगवेसिय पुव्वामेव पिंडवाय-पडियाए अणुपविसइ अणुपविसंतं वा साइज्जइ ।

४८. जो भिक्षु शय्यातर का घर जाने बिना, पूछे बिना या गवेषणा किये बिना ही गोचरी के लिए घरों में प्रवेश करता है या प्रवेश करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—१. सागारियकुलं—शय्यातर का घर।

२. अजाणिय—साधारण जानकारी अर्थात् शय्यातर का नाम क्या है तथा उसका घर किधर है ऐसा जाने बिना।

३. अपुच्छिय—विशेष जानकारी करना अर्थात् शय्यातर के गोत्र की जानकारी करना, शय्यातर के नाम वाला एक ही है या अनेक है, यह जानना और उसके घर का पता जानना पूछना है। ऐसी पूछताछ किये बिना।

४. अगवेसिय—घर को प्रत्यक्ष देखे बिना, शय्यातर को भी प्रत्यक्ष देखे बिना उसे वय, वर्ण, चिह्न आदि से पहिचाने बिना।

परिचित क्षेत्र में नाम गोत्र व घर की जानकारी केवल पूछने से हो जाती है किन्तु अपरिचित क्षेत्र में व्यक्ति को प्रत्यक्ष देखकर उसके वय, वर्ण, आकृति को तथा मकान के आसपास का स्थल देखकर उसे स्मृति में रखना आवश्यक होता है, उसके बाद ही कोई भी भिक्षु गोचरी लेने जा सकता है।

शब्दार्थ—गाहावई—गृहस्वामी,
गाहावइ-कुलं—पत्नी पुत्र आदि से युक्त गृहस्थ का घर,
पिंड—अशनादि,

पिंडवायपडियाए—गृहिणा दीयमानस्य पिंडस्य पात्रे पातः अनया 'प्रज्ञया' अर्थात् गृहस्थ के द्वारा दिये जाने वाले आहार को पात्र में ग्रहण करने की बुद्धि से।

शय्यातर की नेश्राय से आहारग्रहण का प्रायश्चित्त—

जे भिक्खू सागारियणीसाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासिय-ओभासिय जायइ, जायंतं वा साइज्जइ।

४९. जो भिक्षु शय्यातर की नेश्राय से अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य मांग-मांग कर याचना करता है या याचना करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—इस सूत्र में शय्यातर के सहयोग से आहार प्राप्त करने का प्रायश्चित्त कहा गया है। अर्थात् शय्यातर को गोचरी में घर बताने के लिए साथ ले जाना, घरों में 'यह वस्तु बहरायो, यह वस्तु बहरायो' इस तरह बोलना, खुद के हाथ से बहराना या साधु के मांगने पर प्रेरणा करके दिलवाना इत्यादि शय्यातर की दलाली से आहार प्राप्त करने का यह प्रायश्चित्तविधान है।

सूत्र नं. ४५-४६-४७-४८ में चार सूत्र शय्यातर सम्बन्धी हैं। चूर्णि तथा भाष्य में तीन सूत्रों का ही कथन है। संभवतः "गिण्हइ" का एक सूत्र लिपि प्रमाद से मूल पाठ में आ गया लगता है। विषयानुसार इसकी विशेष आवश्यकता भी प्रतीत नहीं होती है।

तीनों सूत्रों का भावार्थ यह कि शय्यातर को तथा उसके घर क
से गोचरी नहीं जाना, शय्यातर की दलाली से आहार प्राप्त नहीं क
आहारादि नहीं लेना तथा शय्यातर पिंड नही भोगना। चौथा सूत्र म
योग्य होता है।

शय्या-संस्तारक के कालातिक्रमण का प्रायश्चित्त—

५०. जे भिक्खू उउबद्धियं सेज्जासंथारयं परं पज्जोसवणाओ
साइज्जइ।

५१. जे भिक्खू वासावासियं सेज्जासंथारयं परं दस रायकप्प
वा साइज्जइ।

५०. जो भिक्षु शेष काल अर्थात् मासकल्प के लिये ग्रहण कि
पर्युषण (संवत्सरी) के बाद रखता है या रखनेवाले का अनुमोदन करत

५१. जो भिक्षु वर्षावास चौमासे के लिये ग्रहण किये हुये शय्या
दस दिन से अधिक रखता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है
आता है।)

विवेचन—आषाढ महीने में कुछ दिन रहने के लिये जिस श
आदि ग्रहण किये हों और कारणवश उसे उसी क्षेत्र में चातुर्मास के लि
लिये उनकी पुनः आज्ञा प्राप्त करनी चाहिये या मालिक को लौटा देने
भी पुनः उनकी आज्ञा प्राप्त न करे और न लौटावे तो उसे लघुमासिक

इसी तरह चातुर्मास के लिये शय्या-संस्तारक ग्रहण किये हों
शारीरिक कारण से विहार न हो सके तो दस दिन के अन्दर उन शय
प्राप्त कर लेनी चाहिये या लौटा देना चाहिये।

विभिन्न आगमों के अनेक स्थलों में "अल्प उपधि" का निर्दे
शरीर या संयम सम्बन्धी अत्यन्त आवश्यकता के बिना पाट-घास आ
क्योंकि लाना, देना, प्रतिलेखन करना, प्रमार्जन करना आदि कार्यों में स

आवश्यकता होने पर शेष काल में या चातुर्मास में कभी भी प
किये जा सकते हैं। उसका कोई प्रायश्चित्त नहीं है किन्तु जितनी अवधि
का उल्लंघन नहीं होना चाहिये तथा सूत्रनिर्दिष्ट समय के पूर्व पुनः आ

भाष्य चूर्णि में पाट, घास आदि ग्रहण करने के आवश्यक कार
प्रकार है।

कानखजूरा, चूहे, बिच्छू, सर्प आदि की अधिक उत्पत्ति हो तो पाट-घास आदि अवश्य ग्रहण करने चाहिये। अन्यथा जीवविराधना, संयमविराधना व आत्मविराधना हो सकती है।

चातुर्मास में गीली या नमी वाली जमीन पर सोने से उपधि अधिक मलीन होगी। जिससे गोचरी आदि प्रसंगों में वर्षा आ जाने पर अप्काय की विराधना होगी, अन्यथा उपधि के अधिक मलीन होने पर जीवों की उत्पत्ति होगी। मलिनता के कारण उपधि के शीतल और जूंओं से युक्त होने से निद्रा नहीं आएगी। अनिद्रा से अजीर्ण होगा और अजीर्ण होने पर रोग उत्पन्न होंगे। अतः गीली या नमी युक्त भूमि होने पर पाट, घास आदि अवश्य ग्रहण करने चाहिये।

यहां विवेचन में जूंओं की उत्पत्ति का निर्देश किया गया है। आगमों में साधु को 'जल्ल परिषह' सहन करने का तथा स्नान न करने का कथन है। प्रतिक्रमण में निद्रा-दोषशुद्धि के पाठ में "छप्पदसंघट्टणाए" का निर्देश भी है। फिर भी उपरोक्त विवेचन से समझना यह है कि चातुर्मास में वर्षा होने के प्रसंग के कारण व वस्त्रों को धूप न लगने से जूंओं की उत्पत्ति की विशेष संभावना रहती है, इसलिये ऐसे समय में उपधि को मलिन न रखना और मलिन न हो इसका भी ध्यान रखना उचित है। अतः आवश्यक शय्या-संस्तारक ग्रहण कर लेने चाहिये।

वर्षा से भीगते हुए शय्या-संस्तारक के न हटाने का प्रायश्चित्त—

५२. जे भिक्खू उउबद्धियं वा वासावासियं वा सेज्जासंथारयं उवरि सिज्जमाणं पेहाए न ओसारेइ, न ओसारेंतं वा साइज्जइ।

५२. जो भिक्षु शेषकाल या वर्षावास के लिये ग्रहण किये हुए शय्या-संस्तारक को वर्षा से भीगता हुआ देखकर भी नहीं हटाता है या नहीं हटाने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—"उवरि सिज्जमाणं"—वर्षा से भीगते हुओं को।

इस सूत्र का आशय यह है कि शय्या-संथारा आदि प्रत्यर्पणीय कोई भी उपधि वर्षा आदि से भीग रही है, ऐसी जानकारी होते ही उसे हटाकर सुरक्षित स्थान में रखना कल्पता है और नहीं हटाना यह प्रायश्चित्त का कारण है।

स्वयं की उपधि को तो कोई भी भीगने देना नहीं चाहता किन्तु पुनः लौटाने योग्य शय्या-संस्तारक आदि को भीगते हुए देखकर भी हटाने में उपेक्षा होने की ज्यादा संभावना होने से उसका निर्देश सूत्र में किया गया है। फिर भी उपलक्षण से सभी प्रकार की उपधि के विषय में समझ लेना चाहिये।

यद्यपि वर्षा में जाना विराधना का कारण है, किन्तु नहीं हटाने में अनेक अन्य दोषों की संभावना होने से उसकी उपेक्षा करने का प्रायश्चित्त बताया है।

भीग जाने से उपधि का कुछ समय अनुपयुक्त हो जाना, प्रतिलेखन के अयोग्य हो जाना, फूलन हो जाना, कुंथुवे आदि जीवों की उत्पत्ति हो जाना, अप्काय की विराधना भी होना, जिसकी वस्तु है उसे मालूम पड़ने पर उसका नाराज होना, निंदा करना आदि दोष संभव हैं तथा इस प्रकार उपेक्षा करने से शय्या-संस्तारक मिलना भी दुर्लभ हो जाता है।

शय्या-संस्तारक बिना आज्ञा अन्यत्र ले जाने का प्रायश्चित्त—

५३. जे भिक्खू पाडिहारियं वा सागारियसंतियं वा सेज्जा-संथारयं दोच्चंपि अणणुण्णवेत्ता बाहिं णीणेइ, णीणेंतं वा साइज्जइ।

५३. जो भिक्षु प्रत्यर्पणीय [अन्य किसी से लाये गये] या शय्यातर से ग्रहण किये गये शय्या-संस्तारक को पुनः आज्ञा लिये बिना कहीं अन्यत्र ले जाता है या ले जाने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—साधु के ठहरने के स्थान में जो शय्या-संस्तारक हो, उसके लिए "सागारियसंतियं" शब्द का प्रयोग हुआ है और अन्यत्र से लाये जाने वाले शय्या-संस्तारक के लिये "पाडिहारियं" शब्द का प्रयोग हुआ है। ये दोनों ही प्रत्यर्पणीय हैं।

जो शय्या-संस्तारक जिस मकान में रहने की अपेक्षा ग्रहण किया है, उसे किसी कारण से अन्य मकान में ले जाना हो तो उसके मालिक की आज्ञा पुनः लेना आवश्यक है। अन्यत्र से लाये गये शय्या-संस्तारक का मालिक भी प्रायः साधु के ठहरने के स्थान को ध्यान में रख कर ही देता है तथा शय्यातर भी अपने मकान में उपयोग लेने की अपेक्षा से ही देता है। इसलिये पुनः आज्ञा प्राप्त करना आवश्यक हो जाता है।

बिना आज्ञा लिये अन्यत्र ले जाने में अदत्त दोष लगता है तथा उसके मालिक का नाराज होना, निंदा करना, शय्या-संस्तारक का दुर्लभ होना आदि दोषों की संभावना भी रहती है। इसलिए इसका लघुमासिक प्रायश्चित्त कहा गया है।

उपलब्ध मूल पाठ में इस सूत्र के स्थान पर तीन सूत्र मिलते हैं, जिनमें यह तीसरा सूत्र है।

भाष्य चूर्णिकार के समय यह एक सूत्र ही था ऐसा प्रतीत होता है। वह इस प्रकार है—

"नो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा पडिहारियं वा सागारियसंतियं वा सेज्जासंथारयं दोच्चं पि ओग्गहं अणणुण्णवेत्ता बहिया-नीहरित्तए।"

इस पाठ से भी एक सूत्र का होना ही उचित प्रतीत होता है। इस कारण मूल में एक ही सूत्र दिया है। शेष दो सूत्र ये हैं—

जे भिक्खू पाडिहारियं सेज्जा-संथारयं अणणुवेत्ता बाहिं णीणेइ, णीणेंतं वा साइज्जइ। ५३॥

जे भिक्खू सागारियसंतियं सेज्जा-संथारयं अणणुण्णवेत्ता बाहिं णीणेइ, णीणेंतं वा साइज्जइ। ५४॥

तीन सूत्र होने पर अर्थ इस प्रकार होता है—

१. अशय्यातर का शय्या-संस्तारक अन्यत्र से लाया हो।
२. शय्यातर का शय्या-संस्तारक उसी स्थान से लिया हो।
३. शय्यातर का शय्या-संस्तारक अन्यत्र से लाया हो।

इनको पुनः आज्ञा लिये बिना अन्य मकान में ले जाए तो लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

कानखजूरा, चूहे, बिच्छू, सर्प आदि की अधिक उत्पत्ति हो तो पाट-घास आदि अवश्य ग्रहण करने चाहिये। अन्यथा जीवविराधना, संयमविराधना व आत्मविराधना हो सकती है।

चातुर्मास में गीली या नमी वाली जमीन पर सोने से उपधि अधिक मलीन होगी। जिससे गोचरी आदि प्रसंगों में वर्षा आ जाने पर अप्काय की विराधना होगी, अन्यथा उपधि के अधिक मलीन होने पर जीवों की उत्पत्ति होगी। मलिनता के कारण उपधि के शीतल और जूंओं से युक्त होने से निद्रा नहीं आएगी। अनिद्रा से अजीर्ण होगा और अजीर्ण होने पर रोग उत्पन्न होंगे। अतः गीली या नमी युक्त भूमि होने पर पाट, घास आदि अवश्य ग्रहण करने चाहिये।

यहां विवेचन में जूंओं की उत्पत्ति का निर्देश किया गया है। आगमों में साधु को 'जल्ल परिषह' सहन करने का तथा स्नान न करने का कथन है। प्रतिक्रमण में निद्रा-दोषशुद्धि के पाठ में "छप्पइसंघट्टणाए" का निर्देश भी है। फिर भी उपरोक्त विवेचन से समझना यह है कि चातुर्मास में वर्षा होने के प्रसंग के कारण व वस्त्रों को धूप न लगने से जूंओं की उत्पत्ति की विशेष संभावना रहती है, इसलिये ऐसे समय में उपधि को मलिन न रखना और मलिन न हो इसका भी ध्यान रखना उचित है। अतः आवश्यक शय्या-संस्तारक ग्रहण कर लेने चाहिये।

वर्षा से भीगते हुए शय्या-संस्तारक के न हटाने का प्रायश्चित्त—

५२. जे भिक्खू उउबद्धियं वा वासावासियं वा सेज्जासंथारयं उवरि सिज्जमाणं पेहाए न ओसारेइ, न ओसारेंतं वा साइज्जइ।

५२. जो भिक्षु शेषकाल या वर्षावास के लिये ग्रहण किये हुए शय्या-संस्तारक को वर्षा से भीगता हुआ देखकर भी नहीं हटाता है या नहीं हटाने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—"उवरि सिज्जमाणं"—वर्षा से भीगते हुओं को।

इस सूत्र का आशय यह है कि शय्या-संथारा आदि प्रत्यर्पणीय कोई भी उपधि वर्षा आदि से भीग रही है, ऐसी जानकारी होते ही उसे हटाकर सुरक्षित स्थान में रखना कल्पता है और नहीं हटाना यह प्रायश्चित्त का कारण है।

स्वयं की उपधि को तो कोई भी भीगने देना नहीं चाहता किन्तु पुनः लौटाने योग्य शय्या-संस्तारक आदि को भीगते हुए देखकर भी हटाने में उपेक्षा होने की ज्यादा संभावना होने से उसका निर्देश सूत्र में किया गया है। फिर भी उपलक्षण से सभी प्रकार की उपधि के विषय में समझ लेना चाहिये।

यद्यपि वर्षा में जाना विराधना का कारण है, किन्तु नहीं हटाने में अनेक अन्य दोषों की संभावना होने से उसकी उपेक्षा करने का प्रायश्चित्त बताया है।

भीग जाने से उपधि का कुछ समय अनुपयुक्त हो जाना, प्रतिलेखन के अयोग्य हो जाना, फूलन हो जाना, कुंथुवे आदि जीवों की उत्पत्ति हो जाना, अप्काय की विराधना भी होना, जिसकी वस्तु है उसे मालूम पड़ने पर उसका नाराज होना, निंदा करना आदि दोष संभव हैं तथा इस प्रकार उपेक्षा करने से शय्या-संस्तारक मिलना भी दुर्लभ हो जाता है।

शय्या-संस्तारक बिना आज्ञा अन्यत्र ले जाने का प्रायश्चित्त—

५३. जे भिक्खू पाडिहारियं वा सागारियसंतियं वा सेज्जा-संथारयं दोच्चंपि अणणुण्णवेत्ता बहिं णीणेइ, णीणेंतं वा साइज्जइ।

५३. जो भिक्षु प्रत्यर्पणीय [अन्य किसी से लाये गये] या शय्यातर से ग्रहण किये गये शय्या-संस्तारक को पुनः आज्ञा लिये बिना कहीं अन्यत्र ले जाता है या ले जाने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—साधु के ठहरने के स्थान में जो शय्या-संस्तारक हो, उसके लिए "सागारियसंतियं" शब्द का प्रयोग हुआ है और अन्यत्र से लाये जाने वाले शय्या-संस्तारक के लिये "पाडिहारियं" शब्द का प्रयोग हुआ है। ये दोनों ही प्रत्यर्पणीय हैं।

जो शय्या-संस्तारक जिस मकान में रहने की अपेक्षा ग्रहण किया है, उसे किसी कारण से अन्य मकान में ले जाना हो तो उसके मालिक की आज्ञा पुनः लेना आवश्यक है। अन्यत्र से लाये गये शय्या-संस्तारक का मालिक भी प्रायः साधु के ठहरने के स्थान को ध्यान में रख कर ही देता है तथा शय्यातर भी अपने मकान में उपयोग लेने की अपेक्षा से ही देता है। इसलिये पुनः आज्ञा प्राप्त करना आवश्यक हो जाता है।

बिना आज्ञा लिये अन्यत्र ले जाने में अदत्त दोष लगता है तथा उसके मालिक का नाराज होना, निंदा करना, शय्या-संस्तारक का दुर्लभ होना आदि दोषों की संभावना भी रहती है। इसलिए इसका लघुमासिक प्रायश्चित्त कहा गया है।

उपलब्ध मूल पाठ में इस सूत्र के स्थान पर तीन सूत्र मिलते हैं, जिनमें यह तीसरा सूत्र है।

भाष्य चूर्णिकार के समय यह एक सूत्र ही था ऐसा प्रतीत होता है। वह इस प्रकार है—

"नो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा पडिहारियं वा सागारियसंतियं वा सेज्जासंथारयं दोच्चं पि ओगहं अणणुण्णवेत्ता बहिया-नीहरित्तए।"

इस पाठ से भी एक सूत्र का होना ही उचित प्रतीत होता है। इस कारण मूल में एक ही सूत्र दिया है। शेष दो सूत्र ये हैं—

जे भिक्खू पाडिहारियं सेज्जा-संथारयं अणणुवेत्ता बहिं णीणेइ, णीणेंतं वा साइज्जइ। ५३॥

जे भिक्खू सागारियसंतियं सेज्जा-संथारयं अणणुण्णवेत्ता बहिं णीणेइ, णीणेंतं वा साइज्जइ। ५४॥

तीन सूत्र होने पर अर्थ इस प्रकार होता है—

१. अशय्यातर का शय्या-संस्तारक अन्यत्र से लाया हो।
२. शय्यातर का शय्या-संस्तारक उसी स्थान से लिया हो।
३. शय्यातर का शय्या-संस्तारक अन्यत्र से लाया हो।

इनको पुनः आज्ञा लिये बिना अन्य मकान में ले जाए तो लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

शय्या-संस्तारक विधिवत न लौटाने का प्रायश्चित्त—

५४. जे भिक्खू पाडिहारियं सेज्जा-संथारयं आयाए अपडिहट्टु संपव्वयइ संपव्वयंतं वा साइज्जइ।

५५. जे भिक्खू सागारियसंतियं सेज्जा-संथारयं अविगरणं कट्टु अणप्पिणित्ता संपव्वयइ, संपव्वयंतं वा साइज्जइ।

५४. जो भिक्षु प्रत्यर्पणीय [अन्य किसी से लाया] शय्या-संस्तारक ग्रहण करके उसे लौटाये बिना ही विहार करता है या विहार करने वाले का अनुमोदन करता है।

५५. जो भिक्षु शय्यातर के शय्या-संस्तारक को ग्रहण कर लौटाते समय पूर्ववत् रखे बिना तथा संभलाए बिना विहार करता है या विहार करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—साधु का कर्तव्य है कि प्रत्यर्पणीय शय्या-संस्तारक [या अन्य वस्तु] विहार करने के पूर्व उसके स्वामी को लौटा दे।

शय्यातर के मकान में से जो शय्या-संस्तारक लिया है, वह तो वहीं रहता है। किन्तु अपनी आवश्यकतानुसार उसके जो बाँस कंबियां आदि बांधे हों, उन्हें बिखेर कर अलग कर देना "विकरण" कहलाता है और न बिखेरना "अविकरण" कहलाता है। अतः पूर्ववत् करके तथा मालिक को सम्भलाकर के ही विहार करना चाहिये। अन्यथा अनेक दोषों की संभावना रहती है। जो पूर्व सूत्र [५२-५३] के विवेचन से समझ लेना चाहिये।

खोये गये शय्या-संस्तारक की गवेषणा नहीं करने का प्रायश्चित्त—

५६. जे भिक्खू पाडिहारियं वा, सागारियसंतियं वा सेज्जासंथारयं विप्पणट्ठं न गवेसइ, न गवेसंतं वा साइज्जइ।

५६. जो भिक्षु खोए गए प्रत्यर्पणीय शय्या-संस्तारक की या शय्यातर के शय्या-संस्तारक की खोज नहीं करता है या खोज नहीं करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—ये सूत्रोक्त दोनों प्रकार के शय्या-संस्तारक कोई जानकर के या भ्रांतिवश उठाकर ले जाये तो साधु को उनकी पूछताछ करना, खोज करना एवं मालिक को सूचना देने में उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, उपेक्षा करने से अनेक दोषों की सम्भावना रहती है, उन्हें पूर्व सूत्र से समझ लेना चाहिये।

इन [५४-५५-५६] तीनों सूत्रों में कहे गये प्रायश्चित्त विषयक विधि-निषेध का कथन बृहत्कल्पसूत्र, उद्देशक तीन के तीन सूत्रों में है। भाष्य चूर्णि में भी इनकी व्याख्या अलग-अलग की गई है।

भाष्य में संस्तारक के प्रकार, दोषों के प्रकार, प्रायश्चित्त के प्रकार एवं खोजने के तरीकों का विस्तृत वर्णन है। जिज्ञासु वहीं से विस्तृत जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

५७. जे भिक्खू इत्तरियं पि उवहिं ण पडिलेहेइ, ण पडिलेहेंतं वा साइज्जइ ।

५७. जो भिक्षु स्वल्प उपधि की भी प्रतिलेखना नही करता है या नहीं करने वाले का अनुमोदन करता है । (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है ।)

विवेचन—साधु को अपने सभी उपकरणों की उभयकाल प्रतिलेखना करना आवश्यक है । छोटे से उपकरण की भी प्रतिलेखना में उपेक्षा करे तो उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है ।

चूर्णिकार ने प्रतिलेखन नहीं करने से जीवों की विराधना एवं विच्छू आदि से आत्म-विराधना आदि अनेक दोष कहे हैं ।

जम्हा एते दोसा तम्हा सव्वोवहि दुसंझं पडिलेहियव्वो ।

नि. भाष्य गा. १४३६ के अनुसार भिक्षु को सभी उपकरणों की दोनों समय प्रतिलेखना करनी चाहिये ।

भाष्यकार ने प्रतिलेखन का समय जिनकल्पी के लिए सूर्योदय के बाद का ही कहा है किन्तु स्थविरकल्पी सूर्योदय के कुछ समय पूर्व भी प्रतिलेखना कर सकते हैं, ऐसा कहा है ।

गाथा १४२५ में कहा गया है कि सूर्योदय से पूर्व निम्नोक्त दस प्रकार की उपधियों का प्रति-लेखन किया जा सकता है—

मुहपोत्तिय-रयहरणे कप्पतिग णिसेज्ज चोलपट्टे य ।
संथारुत्तरपट्टे य, पेक्खिते जहुग्गमे सूरे ।।

मुंहपत्ति, रजोहरण, तीन चद्दर, दो निषद्या, चोलपट्ट, संथारा व उत्तरपट्ट, इन दस की प्रति-लेखना होने पर सूर्योदय हो ।

चूर्णि में "अण्णे भणंति" ऐसा कहकर ग्यारहवां 'दंड' भी कहा गया है ।

सम्भव है कि यह गाथा तेरहवीं शताब्दी के बाद रचे गये धर्मप्रज्ञप्ति आदि किसी ग्रंथ से यहाँ ली गई हो ।

क्योंकि उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन २६ गा. ८ व २१ में सूर्योदय होने पर प्रतिलेखन करने का स्पष्ट विधान है तथा उपरोक्त गाथा १४२५ के पूर्व स्वयं भाष्यकार ने दो गाथाओं में कहा है कि रात्रि में प्रतिलेखना नहीं हो सकती है । वे गाथाएं ये हैं—

पडिलेहण पप्फोडण पमज्जणा चेव दिवसओ होंति ।
पप्फोडणा पमज्जण रत्ति पडिलेहणा णत्थि ।। १४२२ ।।
पडिलेहणा पमज्जण पायादीयाण दिवसओ होइ ।
रत्ति पमज्जणा पुण, भणिया पडिलेहणा णत्थि ।। १४२३ ।।

राओ य पप्फोडण पमज्जणा य दो संभवंति, पडिलेहणा न सम्भवति अचक्खुविसयाओ ।

यहां अत्यधिक स्पष्ट किया गया है कि प्रतिलेखना दिन में ही होती है, रात्रि में नहीं। अत: सूर्योदय पूर्व १० प्रकार की उपधि की प्रतिलेखना का उपरोक्त भाष्य गा. १४२५ का निर्दे संदेहास्पद है।

उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन २६ गा. २३ में मुंहपत्ति-प्रतिलेखना के बाद गोच्छग की प्रति लेखना करने का स्पष्ट निर्देश है, जब कि इस १० उपधि में गोच्छग का कथन नहीं किया गया किंतु उसे पौन पोरुषी बाद पात्र के प्रतिलेखन के साथ रखा है। इस तरह उत्तराध्ययनसूत्र के मू पाठ से गाथा १४२५ की संगति नहीं होती है।

उत्तराध्ययन अ. २६ व भाष्य गाथा १४२६ में बताया है कि पात्र-प्रतिलेखना दिन की प्रथ पौरुषी के चतुर्थ भाग के अवशेष रहने पर करना चाहिये और चरम पौरुषी के प्रारम्भ में ही पा प्रतिलेखन करके बांध कर रख देना चाहिए उसके बाद शेष उपकरणों की प्रतिलेखना करके स्वाध्या करना चाहिये।

एस पढम-चरमपोरिसीसु कालो, तव्विवरीओ अकालो पडिलेहणाए ।।

इस तरह दिन की प्रथम चतुर्थ पौरुषी प्रतिलेखन का काल है और शेष ६ पौरुषी [४ रा की व दो दिन की] अकाल है। इस व्याख्या से भी सूर्योदय के पूर्व रात्रि की अंतिम पौरुषी का सम प्रतिलेखन का अकाल सिद्ध होता है।

उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन २६ में आये प्रतिलेखना के दोषों का व विधि का विश्लेषण भाष में किया गया है तथा अविधि का अलग-अलग प्रायश्चित्त भी कहा है। जिज्ञासु पाठक भाष्य देखें।

तं सेवमाणे आवज्जइ मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं ।

इन उपरोक्त ५७ सूत्रों में कहे गये किसी भी प्रायश्चित्तस्थान के सेवन करने वाले क लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है। इसका विवेचन प्रथम उद्देशक के समान समझना चाहिये।

द्वितीय उद्देशक का सारांश—

सूत्र १	काष्ठदण्डयुक्त पादप्रोंछन बनाना।
सूत्र २-८	काष्ठदण्डयुक्त पादप्रोंछन ग्रहण करना, रखना, ग्रहण करने की आज्ञा देना, वितर करना, उपयोग करना, डेढ़ मास से अधिक रखना एवं काष्ठदण्ड से पादप्रोंछन प खोल कर अलग करना।
सूत्र ९	अचित्त पदार्थ सूंघना।
सूत्र १०	पदमार्ग आदि स्वयं बनाना।
सूत्र ११-१३	पानी निकलने की नाली, छींका और छींके का ढक्कन, चिलमिली स्वयं बनाना।
सूत्र १३-१७	सूई आदि को स्वयं सुधारना।
सूत्र १८	कठोर भाषा बोलना।
सूत्र १९	अल्प मृषा—असत्य बोलना।
सूत्र २०	अल्प अदत्त लेना।
सूत्र २१	अचित्त शीत या उष्ण जल से हाथ, पैर, कान, आंख, दांत, नख और मुंह धोना।

सूत्र २२ कृत्स्न चर्म धारण करना ।
सूत्र २३ कृत्स्न वस्त्र धारण करना ।
सूत्र २४ अभिन्न वस्त्र धारण करना ।
सूत्र २५ तुम्बे के पात्र का, काष्ठ के पात्र का और मिट्टी के पात्र का स्वयं परिकर्म करना ।
सूत्र २६ दण्ड आदि को स्वयं सुधारना ।
सूत्र २७ स्वजन-गवेषित पात्र ग्रहण करना ।
सूत्र २८ परजन-गवेषित पात्र ग्रहण करना ।
सूत्र २९ प्रमुख-गवेषित पात्र ग्रहण करना ।
सूत्र ३० बलवान-गवेषित पात्र ग्रहण करना ।
सूत्र ३१ लव-गवेषित पात्र ग्रहण करना ।
सूत्र ३२ नित्य अग्रपिण्ड लेना ।
सूत्र ३३-३६ दानपिंड लेना ।
सूत्र ३७ नित्यवास बसना ।
सूत्र ३८ भिक्षा के पूर्व या पश्चात् दाता की प्रशंसा करना ।
सूत्र ३९ भिक्षाकाल के पहले आहार के लिए घरों में प्रवेश करना ।
सूत्र ४० अन्यतीर्थिक के साथ, गृहस्थ के साथ, पारिहारिक का अपारिहारिक के साथ भिक्षा के लिए प्रवेश करना ।
सूत्र ४१ इन तीनों के साथ उपाश्रय से बाहर की स्वाध्यायभूमि में या उच्चार-प्रस्रवणभूमि में प्रवेश करना ।
सूत्र ४२ इन तीनों के साथ ग्रामानुग्राम विहार करना ।
सूत्र ४३ मनोज्ञ पानी पीना, कसैला पानी परठना ।
सूत्र ४४ मनोज्ञ आहार खाना, अमनोज्ञ आहार परठना ।
सूत्र ४५ खाने के बाद बचा हुआ आहार सांभोगिक साधुओं को पूछे बिना परठना ।
सूत्र ४६ सागारिक पिण्ड ग्रहण करना ।
सूत्र ४७ सागारिक पिण्ड खाना ।
सूत्र ४८ सागारिक का घर आदि जाने बिना भिक्षा के लिए जाना ।
सूत्र ४९ सागारिक की निश्रा से आहार प्राप्त करना या उसके हाथ से लेना ।
सूत्र ५० शेष काल के शय्या-संस्तारक की अवधि का उल्लंघन करना ।
सूत्र ५१ चातुर्मास काल के शय्या-संस्तारक की अवधि का उल्लंघन करना ।
सूत्र ५२ वर्षा से भीजते हुए शय्या-संस्तारक को छाया में न रखना ।
सूत्र ५३ शय्या-संस्तारक को दूसरी बार आज्ञा लिए बिना अन्यत्र ले जाना ।
सूत्र ५४ प्रातिहारिक शय्या-संस्तारक लौटाये बिना विहार करना ।
सूत्र ५५ शय्यातर का शय्या-संस्तारकपूर्व स्थिति में किये बिना विहार करना ।
सूत्र ५६ शय्या-संस्तारक खोये जाने पर न ढूंढना ।
सूत्र ५७ अल्प उपधि की भी प्रतिलेखना न करना, इत्यादि प्रवृत्तियों का लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है ।

इस उद्देशक के ३८ सूत्रों के विषय का कथन निम्न आगमों में है, यथा—

सूत्र १-७ काष्ठदण्डयुक्त पादप्रोंछन रखने के विधि-निषेध —बृहत्कल्प उद्दे० ५ ।
सूत्र ९ सुगंध सूंघने का निषेध —आ० श्रु २, अ० १, उ० ८ तथा आचा० श्रु० २ अ० १५ ।
सूत्र १३ चिलमिली प्ररूपण —बृहत्कल्प० उद्दे० ५ ।
सूत्र १८-२० तीन महाव्रत वर्णन —दश० अ० ४ तथा आ० श्रु० २ अ० १५ ।
सूत्र २१ स्नाननिषेध, प्रक्षालननिषेध—दश० अ० ४, गा० २६ तथा अ० ६, गा० ६२ ।
सूत्र २२-२४ कृत्स्न चर्म निषेध, कृत्स्न वस्त्र तथा अभिन्न वस्त्र निषेध —बृह० उद्दे० ३ ।
सूत्र ३२-३६ नित्यदान दिये जाने वाले कुलों में भिक्षार्थ जाने का निषेध —आ० श्रु० २ अ० १, उ० १ ।
सूत्र ३७ नित्यवास निषेध —आ० श्रु २, अ० २, उ० २ ।
सूत्र ३८ दाता की या अपनी प्रशंसा का निषेध —पिंडनिर्युक्ति ।
सूत्र ३९ भिक्षाकाल के पहले भिक्षार्थ जाने का निषेध —आ० श्रु० २, अ० १, उद्दे० ९ ।
सूत्र ४०-४२ भिक्षाचरों के साथ भिक्षा आदि जाने का निषेध —आ० श्रु २, अ० १, उद्दे० १ ।
सूत्र ४३-४५ मनोज्ञ आहार पानी खाना, पीना, अमनोज्ञ परठना —आ० श्रु० २, अ० १, उ० १० ।
सूत्र ४६-४८ शय्यातर पिण्ड लेने का निषेध-दश० अ० ३ तथा —आ० श्रु २ अ० २ उद्दे० ३ ।
सूत्र ५३ शय्या-संस्तारक अन्यत्र ले जाने के लिए दूसरी बार स्वामी से आज्ञा लेना —व्यव० उद्दे० ८ ।
सूत्र ५४-५६ शय्या-संस्तारक स्वामी को संभलाकर विहार करने का विधान —बृहत्कल्प उद्दे० ३ ।
सूत्र ५७ उपधि-प्रतिलेखन —उत्त० अ० २६ तथा आव० अ० ४ ।

इस उद्देशक के निम्न १९ सूत्रों के विषय का कथन अन्य आगमों में नहीं है, यथा—

सूत्र ८ काष्ठदण्डयुक्त पादप्रोंछन को खोलना ।
सूत्र १०-१२ पदमार्ग आदि स्वयं बनाना ।
सूत्र १४-१७ सूई आदि स्वयं सुधारना ।
सूत्र २५-२६ पात्र, दण्ड आदि स्वयं सुधारना ।
सूत्र २७-३१ स्वजनादि गवेषित पात्र ग्रहण करना ।
सूत्र ४९ शय्यातर की प्रेरणा से प्राप्त आहार लेना ।
सूत्र ५०-५१ निर्धारित अवधि के बाद भी पुनः आज्ञा लिए बिना शय्या-संस्तारक रखना ।
सूत्र ५२ वर्षा से भींगते हुए शय्या-संस्तारक को छाया में न रखना ।

॥ दूसरा उद्देशक समाप्त ॥

तृतीय उद्देशक

अविधि-याचना प्रायश्चित्त

१. जे भिक्खू आगंतारेसु वा, आरामागारेसु वा, गाहावइकुलेसु वा, परियावसहेसु वा, 'अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा' असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासिय-ओभासिय जायइ, जायंतं वा साइज्जइ ।

२. जे भिक्खू आगंतारेसु वा, आरामागारेसु वा, गाहावइकुलेसु वा, परियावसहेसु वा, 'अण्णउत्थिया वा गारत्थिया वा' असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासिय-ओभासिय जायइ, जायंतं वा साइज्जइ ।

३. जे भिक्खू आगंतारेसु वा, आरामागारेसु वा, गाहावइकुलेसु वा, परियावसहेसु वा, 'अण्णउत्थिणीं वा गारत्थिणीं वा' असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासिय-ओभासिय जायइ, जायंतं वा साइज्जइ ।

४. जे भिक्खू आगंतारेसु वा, आरामागारेसु वा, गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा, 'अण्णउत्थिणीओ वा गारत्थिणीओ वा' असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासिय-ओभासिय जायइ, जायंतं वा साइज्जइ ।

५. जे भिक्खू आगंतारेसु वा, आरामागारेसु वा, गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा कोउहल्लवडियाए पडियागयं समाणं 'अण्णउत्थियं वा, गारत्थियं वा' असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासिय-ओभासिय जायइ, जायंतं वा साइज्जइ ।

६. जे भिक्खू आगंतारेसु वा, आरामागारेसु वा, गाहावइकुलेसु वा, परियावसहेसु वा कोउहल्लवडियाए पडियागयं समाणं 'अण्णउत्थिया वा गारात्थिया वा' असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासिय-ओभासिय जायइ, जायंतं वा साइज्जइ ।

७. जे भिक्खू आगंतारेसु वा, आरामागारेसु वा, गाहावइकुलेसु वा, परियावसहेसु वा, कोउहल्लवडियाए पडियागयं समाणं, 'अण्णउत्थिणिं वा गारत्थिणिं वा' असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासिय-ओभासिय जायइ, जायंतं वा साइज्जइ ।

८. जे भिक्खू आगंतारेसु वा, आरामागारेसु वा, गाहावइकुलेसु वा, परियावसहेसु वा कोउहल्लवडियाए पडियागयं समाणं 'अण्णउत्थिणीओ वा गारत्थिणीओ वा' असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासिय-ओभासिय जायइ, जायंतं वा साइज्जइ ।

९. जे भिक्खू आगंतारेसु वा, आरामागारेसु वा, गाहावइकुलेसु वा, परियावसहेसु वा 'अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण' वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अभिहडं आहट्टु देज्जमाणं पडिसेहेत्ता, तमेव अणुवत्तिय-अणुवत्तिय, परिवेढिय-परिवेढिय, परिजविय-परिजविय, ओभासिय-ओभासिय जायइ, जायंतं वा साइज्जइ ।

१०. जे भिक्खू आगंतारेसु वा, आरामागारेसु वा, गाहावइकुलेसु वा, परियावसहेसु वा 'अण्णउत्थिएहिं वा गारत्थिएहिं वा' असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अभिहडं आहट्टु देज्जमाणं पडिसेहेत्ता, तमेव अणुवत्तिय-अणुवत्तिय, परिवेढिय-परिवेढिय, परिजविय-परिजविय, ओभासिय-ओभासिय जायइ, जायंतं वा साइज्जइ ।

११. जे भिक्खू आगंतारेसु वा, आरामागारेसु वा, गाहावइकुलेसु वा, परियावसहेसु वा 'अण्णउत्थिणीए वा गारत्थिणीए वा' असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अभिहडं आहट्टु देज्जमाणं पडिसेहेत्ता, तमेव अणुवत्तिय-अणुवत्तिय, परिवेढिय-परिवेढिय, परिजविय-परिजविय, ओभासिय-ओभासिय जायइ, जायंतं वा साइज्जइ ।

१२. जे भिक्खू आगंतारेसु वा, आरामागारेसु वा, गाहावइकुलेसु वा, परियावसहेसु वा, 'अण्णउत्थिणीहिं वा गारत्थिणीहिं वा' असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अभिहडं आहट्टु देज्जमाणं पडिसेहेत्ता तमेव अणुवत्तिय-अणुवत्तिय, परिवेढिय-परिवेढिय, परिजविय-परिजविय, ओभासिय-ओभासिय जायइ, जायंतं वा साइज्जइ ।

१. जो भिक्षु धर्मशालाओं में, उद्यानगृहों में, गृहस्थों के घरों में अथवा आश्रमों में अन्यतीर्थिक से या गृहस्थ से अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य मांग-मांग कर याचना करता है या मांग-मांग कर याचना करने वाले का अनुमोदन करता है ।

२. जो भिक्षु धर्मशालाओं में, उद्यानगृहों में, गृहस्थों के घरों में अथवा आश्रमों में अन्यतीर्थिकों से या गृहस्थों से अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य मांग-मांग कर याचना करता है या मांग-मांग कर याचना करने वाले का अनुमोदन करता है ।

३. जो भिक्षु धर्मशालाओं में, उद्यानगृहों में, गृहस्थों के घरों में अथवा आश्रमों में अन्यतीर्थिक या गृहस्थ स्त्री से अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य मांग-मांग कर याचना करता है या मांग-मांग कर याचना करने वाले का अनुमोदन करता है ।

४. जो भिक्षु धर्मशालाओं में, उद्यानगृहों में, गृहस्थों के घरों में अथवा आश्रमों में अन्यतीर्थिक या गृहस्थ स्त्रियों से अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य मांग-मांग कर याचना करता है या मांग-मांग कर याचना करने वाले का अनुमोदन करता है ।

५. जो भिक्षु धर्मशालाओं में, उद्यानगृहों में, गृहस्थों के घरों में या आश्रमों में कौतूहलवश अन्यतीर्थिक से या गृहस्थ से अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य मांग-मांग कर याचना करता है या मांग-मांग कर याचना करने वाले का अनुमोदन करता है ।

६. जो भिक्षु धर्मशालाओं में, उद्यानगृहों में, गृहस्थों के घरों में या आश्रमों में कौतूहलवश अन्यतीर्थिकों से या गृहस्थों से अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य मांग-मांग कर याचना करता है या मांग-मांग कर याचना करने वाले का अनुमोदन करता है ।

७. जो भिक्षु धर्मशालाओं में, उद्यानगृहों में, गृहस्थों के घरों में या आश्रमों में कौतूहलवश अन्यतीर्थिक या गृहस्थ स्त्री से अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य मांग-मांग कर याचना करता है या मांग-मांग कर याचना करने वाले का अनुमोदन करता है ।

८. जो भिक्षु धर्मशालाओं में, उद्यानगृहों में, गृहस्थों के घरों में या आश्रमों में कौतूहलवश अन्यतीर्थिक या गृहस्थ स्त्रियों से अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य माग-मांग कर याचना करता है या मांग-मांग कर याचना करने वाले का अनुमोदन करता है।

९. जो भिक्षु धर्मशालाओं में, उद्यानगृहों में, गृहस्थों के घरों में अथवा आश्रमों में अन्य-तीर्थिक या गृहस्थ द्वारा अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य सामने लाकर दिये जाने पर निषेध करके फिर उसके पीछे-पीछे जाकर, उसके आसपास व सामने आकर तथा मिष्ट वचन बोलकर मांग-मांग कर याचना करता है या याचना करने वाले का अनुमोदन करता है।

१०. जो भिक्षु धर्मशालाओं में, उद्यानगृहों में, गृहस्थों के घरों में अथवा आश्रमों में अन्य-तीर्थिकों या गृहस्थों द्वारा अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य सामने लाकर दिये जाने पर निषेध करके फिर उसके पीछे-पीछे जाकर, उसके आसपास व सामने आकर तथा मिष्ट वचन बोलकर मांग-मांग कर याचना करता है या याचना करने वाले का अनुमोदन करता है।

११. जो भिक्ष धर्मशालाओं में, उद्यानगृहों में, गृहस्थों के घरों में अथवा आश्रमों में अन्य-तीर्थिक या गृहस्थ स्त्री द्वारा अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य सामने लाकर दिये जाने पर निषेध करके फिर उसके पीछे-पीछे जाकर, उसके आसपास व सामने आकर तथा मिष्ट वचन बोलकर मांग-मांग कर याचना करता है या याचना करने वाले का अनुमोदन करता है।

१२. जो भिक्षु धर्मशालाओं में, उद्यानगृहों में, गृहस्थों के घरों में अथवा आश्रमों में अन्य-तीर्थिक या गृहस्थ स्त्रियों द्वारा अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य सामने लाकर दिये जाने पर निषेध करके फिर उसके पीछे-पीछे जाकर, उसके आसपास व सामने आकर तथा मिष्ट वचन बोलकर मांग-मांग कर याचना करता है या याचना करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—इन बारह सूत्रों में धर्मशाला आदि स्थानों के कथन से भिक्षा ग्रहण के सभी स्थानों का ग्रहण किया गया है तथा दो प्रकार के भिक्षादाता कहे गये हैं।

'अन्यतीर्थिक' अर्थात् अन्य मत के गृहस्थ और 'गृहस्थ'—अर्थात् स्वमत के गृहस्थ।

प्रथम सूत्रचतुष्क में खाद्य पदार्थ का नाम ले-लेकर याचना करने का प्रायश्चित्त कहा है।

आवश्यक सूत्र के भिक्षादोषनिवृत्ति पाठ में भी "मांग-मांग कर लेना" अतिचार कहा है। ऐसा करने पर लोग सोचते है कि ये भिखारी की तरह क्यों मांगते हैं इत्यादि।

सहज भाव से गृहस्थ जो अशनादि देना चाहे उसमें से आवश्यक कल्प्य पदार्थ ग्रहण करना "अदीन वृत्ति" है और मांग-मांग कर याचना करना "दीन वृत्ति" है। दीन वृत्ति से भिक्षा ग्रहण करना दोष है अतः इन सूत्रों में उसका प्रायश्चित्त कहा गया है।

गीतार्थ साधु विशेष कारण से अशनादि का नाम निर्देश करके विवेकपूर्वक याचना कर सकता है। यहां अकारण मांग कर याचना करने का प्रायश्चित्त विधान है।

इस सूत्रचतुष्क में एक पुरुष या अनेक पुरुष, तथा एक स्त्री या अनेक स्त्रियों की विवक्षा है।

द्वितीय सूत्रचतुष्क में "कौतुक वश" मांग-मांग कर याचना करने का प्रायश्चित्त कहा है।

"कौतुक" में—हास्य, कौतूहल, जिज्ञासा या परीक्षा करने के संकल्प आदि भावों का समावेश समझ लेना चाहिये । यथा—

"देखें—यह दाता देता है या नहीं" । इस प्रकार की कौतूहल बुद्धि से भी नाम निर्देश पूर्वक वस्तु का मांगना भिक्षावृत्ति में अविधि है । अतः उसका इस सूत्रचतुष्क से प्रायश्चित्त समझना चाहिये ।

दशवैकालिक सूत्र अध्ययन १० गाथा. १३ में कहा है—

"अनियाणे अकोउहल्ले जे स भिक्खू"—जो निदान-संकल्प रहित एवं कौतूहल वृत्ति रहित होता है वह भिक्षु है ।

साधु अदीन वृत्ति से भिक्षाचरी करें, यह पूर्वोक्त चार सूत्रों का सार है और अकौतूहल वृत्ति से भिक्षाचरी करें यह इन सूत्रों का सार है ।

तृतीय सूत्रचतुष्क में पूर्व निर्दिष्ट दीन वृत्ति व कौतूहल वृत्ति के साथ चित्त की चंचलता व खुशामदी वृत्ति का निर्देश किया गया है । इसे कौतूहल वृत्ति की अत्यधिकता भी कह सकते है ।

सूत्रोक्त स्थानों में भिक्षा हेतु प्रविष्ट भिक्षु गृहस्थ को घर के किसी अन्य कक्ष में या अदृष्ट स्थान से या अति दूर स्थान से अशनादि लाकर देने पर निषेध कर देता है कि मुझे नहीं कल्पता है, जिससे दाता लौट जाता है किन्तु विचार बदल जाने पर भिक्षु पुनः उसे कहे कि—"लाओ तुम्हारी भावना व श्रम निष्फल न हो इसलिये ले लेता हूँ" इत्यादि भाव इन चार सूत्रों में समाविष्ट हैं ।

ऐसी अविधि से की गई याचना में भाषा समिति भी दूषित होती है । इस प्रकार इन १२ सूत्रों में—

१. मांगकर याचना करने का,
२. कौतूहल से मांग कर याचना करने का और
३. अत्यधिक कौतूहल वृत्ति से याचना करने का प्रायश्चित्त कहा गया है ।

निषिद्ध गृहप्रवेश-प्रायश्चित्त-

१३. जे भिक्खू गाहावइकुलं पिंडवाय-पडियाए पविट्ठे पडियाइक्खिए समाणे दोच्चंपि तमेव कुलं अणुप्पविसइ, अणुप्पविसंतं वा साइज्जइ ।

जो भिक्षु गाथापति कुल में आहार के लिये प्रवेश करने पर गृहस्थ के मना करने के बाद भी पुनः उसी घर में प्रवेश करता है या प्रवेश करने वाले का अनुमोदन करता है । (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है ।)

विवेचन-पूर्व सूत्र में स्वयं भिक्षु के द्वारा निषिद्ध आहार का पुनः अविधि से याचना करने का प्रायश्चित्त कहा गया है । इस सूत्र में गृहस्थ निषेध कर दे कि-"जाओ, अन्यत्र जाओ, यहां कुछ नहीं है" "इत्यादि कहने पर भी पुनः उसी घर में कुछ समय बाद जाए । अथवा जो गृहस्थ यह कह दे कि" "हमारे घर कभी नहीं आना" फिर भी उसके घर जाए तो यह भिक्षु का अविवेक है । इसी अविवेक का इस सूत्र में प्रायश्चित्त कहा गया है । इस अविवेक से दाता का रुष्ट होना, अपमानित होना व अनुचित व्यवहार करना आदि दोषों की संभावना रहती है ।

संखडी गमनप्रायश्चित्त–

१४. जे भिक्खू संखडि-पलोयणाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहेइ पडिगाहेंतं वा साइज्जइ।

जो भिक्षु जीमनवार के लिये बनी खाद्य सामग्री को देखते हुये अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन–"संखडि-पलोयणा–" संखडिसामिणा अणुण्णातो तम्मि रसवईए अणुप्पविसित्ता ओदणादि पलोइउं भणति-'इतो य इतो पयच्छाहि "त्ति एस पलोयणा" जो एवं असणादि गिण्हति तस्स मासलहुं ॥ चूर्णि पृष्ठ–२०६ ॥

रसोई घर में पहुँच कर चांवल आदि वस्तुओं को देखकर "यह दो या इसमें से दो" इस प्रकार कहना संखडिप्रलोकन पूर्वक आहार ग्रहण करना कहा गया है।

सखडि—जीमनवार—जहां पर अत्यधिक आरंभ से सैकडों व्यक्तियों के लिये आहार बना हो ऐसे जीमनवार में भिक्षा के लिये जाने का या उस दिशा में जाने का बृहत्कल्प सूत्र उद्देशा १ तथा आचा. श्रु. २ अ. १ उ. २-३ में निषेध किया है व उससे होने वाले अनिष्टों का कथन भी मूल पाठ में है। अतः यहाँ प्रायश्चित्त कहा गया है।

जीमणवार मे अनेक प्रकार की खाद्य सामग्री बनती देखना व इच्छित वस्तु लेना, इस विषय का स्पष्टीकरण करने के लिये इस सूत्र में "संखडी-पलोयणाए" शब्द का प्रयोग किया गया है। अतः सखडी में भिक्षा के लिये जाने का और वहां से आहार ग्रहण करने का इस सूत्र में प्रायश्चित्त है, ऐसा समझना चाहिये।

अभिहृत आहार ग्रहण प्रायश्चित्त–

१५. जे भिक्खू गाहावइकुलं पिंडवायपडियाएअणुपविट्ठे समाणे परं ति-घरंतराओ असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा अभिहडं आहट्टु दिज्जमाणं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

जो भिक्षु गाथापति कुल में आहार के लिये प्रवेश करके तीन घर अर्थात् तीन कमरे से अधिक दूर से सामने लाकर देते हुए अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य को ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन– जिस कमरे से आहारादि ग्रहण करना हो, उसी में या उसके बाहर खड़ा रह कर ही आहारादि ग्रहण करना चाहिये। किन्तु दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ५ उद्देशक १ में कहा है कि "कुलस्स भूमिं जाणित्ता, मियं भूमिं परक्कमे" अर्थात् जिन कुलों में साधु को जितनी सीमा तक प्रवेश अनुज्ञात हो उस मर्यादित स्थान तक ही जाना चाहिये। इस कारण से तथा अन्य किसी विशेष कारण से उस स्थान तक जाना न हो सके तो तीन कमरे जितनी दूरी से गृहस्थ लाकर दे तो एषणा दोषों को टालकर ग्रहण किया जा सकता है।

तीन घर [कमरे] जितने दूर स्थल से लाये गये आहार ग्रहण की अनुज्ञा के साथ "अदिट्ठ-हडाए" दोष युक्त ग्रहण की अनुज्ञा नहीं है, यह भी ध्यान में रखना चाहिये।

तीन घर (कमरे) से अधिक दूरी के स्थान से लाकर दिये जाने वाले अशनादि ग्रहण करने पर लघु मासिक प्रायश्चित्त आता है।

संख्यावाची "तीन" शब्द का प्रयोग लोकव्यवहार में तथा आगम में अनेक स्थलों पर होता है। किसी विषय की सीमा करने में या उसे निश्चित करने में इसका प्रयोग होता है। यहां तीन घर से सीमा की गई है। इससे ज्यादा दूर की वस्तु सामने लाकर देने में दोष लगने की संभावना रहती है।

पांव परिकर्म प्रायश्चित्त–

१६. जे भिक्खू अप्पणो "पाए" आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा, आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ।

१७. जे भिक्खू अप्पणो "पाए" संबाहेज्ज वा पलिमद्देज्ज वा, संबाहेंतं वा पलिमद्देंतं वा साइज्जइ।

१८. जे भिक्खू अप्पणो "पाए" तेल्लेण वा जाव णवणीएण वा अब्भंगेज्ज वा मक्खेज्ज वा, अब्भंगेंतं वा मक्खेंतं वा साइज्जइ।

१९. जे भिक्खू अप्पणो "पाए" कक्केण वा जाव वण्णेहिं वा उल्लोलेज्ज वा उव्वट्टेज्ज वा, उल्लोलेंतं वा उव्वट्टेंतं वा साइज्जइ।

२०. जे भिक्खू अप्पणो 'पाए' सीओदगवियडेण वा, उसिणोदग-वियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोवेज्ज वा, उच्छोलेंतं वा पधोवेंतं वा साइज्जइ।

२१. जे भिक्खू अप्पणो 'पाए' फुमेज्ज वा, रएज्ज वा, फुमेंतं वा रएंतं वा साइज्जइ।

१६. जो भिक्षु अपने पैरों का एक बार या बार-बार 'आमर्जन' करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

१७. जो भिक्षु अपने पैरों का 'संबाहन'—मर्दन, एक बार या बार-बार करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

१८. जो भिक्षु अपने पैरों की तेल यावत् मक्खन से एक बार या बार-बार मालिश करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

१९. जो भिक्षु अपने पैरों का कल्क यावत् वर्णों से एक बार या बार-बार उबटन करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

२०. जो भिक्षु अपने पैरों को अचित्त शीतल जल से या अचित्त उष्ण जल से एक बार या बार-बार धोता है या धोने वाले का अनुमोदन करता है।

२१. जो भिक्षु अपने पैरों को (लाक्षारस, मेहंदी आदि से) रंगता है अथवा (तेल आदि से) उस रंग को चमकाता है या ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन-इन सूत्रों में एक ही क्रिया के लिये दो दो पद दिये गये हैं। उनका अर्थ एक बार करना और बार बार करना इस तरह किया गया है। चूर्णी व भाष्य में दूसरी तरह से भी अर्थ दिया गया है। यथा—

१. थोवेण अब्भंगणं, बहुणा मक्खणं।—चूर्णी पृ. २७, सूत्र ४ ॥

२. अब्भंगो थोवेण, बहुणा मक्खणं।—चूर्णी पृ. २१२, पक्ति २ ॥

३. एतेसिं पढम पदा सइं तु, वितिया तु बहुसो बहुणा वा ॥ गा. १४९६ ॥

आमज्जण—पांवों पर हाथ फेरना या रायों से घर्षण करना।

संबाहण—मर्दन करना—हाथ से पांव को दबाना।

थकान या वात आदि रोग के बिना, आमर्जन संवाहन करने पर यह प्रायश्चित्त समझना चाहिए। विशेष कारण में अथवा सहनशीलता के अभाव में स्थविरकल्पी को शरीर का परिकर्म करने की और औषध के सेवन की अनुज्ञा समझनी चाहिये।

नि. भाष्य गा. १४९१—१४९२
व्यव. उ' ५, नि. उ. १३

परिकर्म की प्रवृत्ति में दोषों की संभावना बताते हुये भाष्यकार कहते हैं—

संघट्टणा तु वाते, सुहुमे यऽण्णे विराघए पाणे।
बाउस दोस विभूसा, तम्हा ण पमज्जए पाए ॥ १४९३ ॥

गाथा १४९८ में भी दोषों का वर्णन किया है। दोनों गाथाओं का सयुंक्त भावार्थ यह है—वायुकाय की विराधना, मच्छर पतंगा आदि छोटे बड़े संपातिम जीवों की विराधना, बकुशता, ब्रह्मचर्य की अगुप्ति, सूत्र-अर्थ (स्वाध्याय) की परिहानि तथा लोकापवाद आदि दोष होते हैं। अतः विशेष कारण के बिना ये प्रवृत्तियां नही करनी चाहिये।

फुमेज्ज या रएज्ज वा—मेहंदी आदि लगाने के बाद रुई के फोहे से (रंग को चमकीला बनाने के लिये) तेल आदि लगाने की क्रिया को यहां "फुमेज्ज" कहा गया है, यथा—

फुमंते लग्गते रागो—अलत्तगरंगो फुमिज्जंतो लग्गति। —१४९६

अर्थ—फूमित करने पर रंग लगता है-अलत्तक का रंग फूमित करने से ही लगता है।

सूत्र में "फुमेज्ज" पद पहले दिया गया है, जो पद व्यत्यय आदि कारण से भी होना संभव है अथवा क्वचित् तेल लगाकर फिर रंग के पदार्थ भी लगाये जाते हों, इस अपेक्षा से भी यह कथन हो सकता है।

काय-परिकर्म-प्रायश्चित्त-

२२-२७ जे भिक्खू अप्पणो कायं आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा आमज्जंतं वा पमज्जंतं या साइज्जइ एवं पायगमेण णेयव्वं जाव जे भिक्खू अप्पणो कायं फुमेज्ज वा रएज्ज वा फुमंतं वा रयंतं वा साइज्जइ।

जो भिक्षु अपने शरीर का एक बार या बार बार आमर्जन करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है, इस प्रकार पैर के आलापक के समान जानना यावत् जो भिक्षु अपने शरीर को रंगता है या उस रंग को चमकीला बनाता है, अथवा ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन-अनेक अंगों संबंधी ६ सूत्रों के आलापकों का स्वतंत्र कथन है। अतः यहां शरीर के कथन में अवशेष अंग-हाथ, पेट, पीठ आदि के लिए ६ सूत्र समझ लेने चाहिए, तथा संपूर्ण विवेचन पैर के सूत्रों के विवेचन के समान यहां भी विषयानुसार समझ लेना चाहिये।

व्रण-चिकित्सा-प्रायश्चित्त—

२८-३३ जे भिक्खू अप्पणो कायंसि वणं आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ एवं पायगमेण णेयव्वं जाव जे भिक्खू अप्पणो कायंसि वणं फुमेज्ज वा रएज्ज वा फुमंतं वा रयंतं वा साइज्जइ।

जो भिक्षु अपने शरीर में हुए घाव का एक बार या अनेक बार आमर्जन करता है या आमर्जन करने वाले का अनुमोदन करता है, इस प्रकार पैर के आलापक के समान जानना यावत् जो भिक्षु अपने शरीर पर हुए घाव को रंगता है या चमकीला बनाता है या ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—व्रण—घाव। यह दो प्रकार का होता है—

१. शरीर पर स्वतः उत्पन्न-दाद खुजली, कोढ आदि।

२. बाह्य उपक्रम से उत्पन्न—शस्त्र, कांटा, कील आदि के लगने से, सांप, कुत्ता आदि के काटने से, ठोकर लगने से या गिरने-पड़ने से उत्पन्न घाव।

भिक्षु को यदि सहन करने की क्षमता हो तो कर्म-निर्जरार्थ इन परिस्थितियों में भी समभाव से उत्पन्न दुःख को सहन करना चाहिये किन्तु परिकर्म नहीं करना चाहिये।

अनेक प्रकार से प्रमादवृद्धि, रोगवृद्धि आदि की संभावना होने के कारण इनके परिकर्म का प्रायश्चित्त कहा गया है। 'असह्य स्थिति के बिना परिकर्म नहीं करना' इस तथ्य की स्मृति बनी रहे इसलिये इनका लघुमासिक प्रायश्चित्त कहा गया है।

गंडादि-शल्य-चिकित्सा-प्रायश्चित्त—

३४. जे भिक्खू अप्पणो कायंसि गंडं वा, पिलगं वा, अरइयं वा, असियं वा, भगंदलं वा अण्णयरेणं तिक्खेणं सत्थजाएणं अच्छिदेज्ज वा विच्छिदेज्ज वा, अच्छिदंतं वा विच्छिदंतं वा साइज्जइ।

३५. जे भिक्खू अप्पणो कायंसि गंडं वा, पिलगं वा, अरइयं वा, असियं वा, भगंदलं वा, अण्णयरेणं तिक्खेणं सत्थजाएणं अच्छिदित्ता विच्छिदित्ता पूयं वा सोणियं वा णीहरेज्ज वा विसोहेज्ज वा, णीहरेंतं वा विसोहेंतं वा साइज्जइ।

३६. जे भिक्खू अप्पणो कायंसि गंडं वा, पिलगं वा अरइयं वा अंसियं वा, भगंदलं वा, अण्णयरेणं तिक्खेणं सत्यजाएणं, आच्छिदित्ता विच्छिदित्ता पूयं वा सोणियं वा णीहरित्ता विसोहित्ता, सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोवेज्ज वा, उच्छोलेंतं वा पधोवेंतं वा साइज्जइ ।

३७. जे भिक्खू अप्पणो कायंसि गंडं वा, पिलगं वा, अरइयं वा, अंसियं वा, भगंदलं वा, अण्णयरेणं तिक्खेणं सत्यजाएणं आच्छिदित्ता विच्छिदित्ता पूयं वा सोणियं वा णीहरित्ता विसोहित्ता, सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलित्ता पधोवित्ता अण्णयरेणं आलेवण-जाएणं आलिपेज्ज वा विलिपेज्ज वा आलिपंतं वा विलिपंतं वा साइज्जइ ।

३८. जे भिक्खू अप्पणो कायंसि गंडं वा, पिलगं वा, अरइयं वा, अंसियं वा, भगंदलं वा, अण्णयरेणं तिक्खेणं सत्यजाएणं आच्छिदित्ता विच्छिदित्ता पूयं वा सोणियं वा णीहरित्ता विसोहित्ता, सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलित्ता पधोवित्ता, अण्णयरेणं आलेवणजाएणं आलिपित्ता-विलिपित्ता तेल्लेण वा जाव णवणीएण वा अब्भंगेज्ज वा मक्खेज्ज वा, अब्भंगेंतं वा मक्खेंतं वा साइज्जइ ।

३९. जे भिक्खू अप्पणो कायंसि गंडं वा, पिलगं वा, अरइयं वा अंसियं वा, भगंदलं वा अण्णयरेणं तिक्खेणं सत्य-जाएणं, आच्छिदित्ता विच्छिदित्ता, पूयं वा सोणियं वा णीहरित्ता-विसोहित्ता, सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलित्ता पधोवित्ता, अण्णयरेणं आलेवण-जाएणं आलिपित्ता-विलिपित्ता तेल्लेण वा जाव णवणीएण वा अब्भंगेत्ता मक्खेत्ता, अण्णयरेणं धूवजाएणं धूवेज्ज वा पधूवेज्ज वा धूवेंतं वा पधूवेंतं वा साइज्जइ ।

३४. जो भिक्षु अपने शरीर पर हुए गंडमाल, पैरों आदि पर हुए गुमड़े, छोटी-छोटी फुंसिया (अलाइयाँ) मसा तथा भगंदर आदि को किसी तीक्ष्ण शस्त्र से एक बार काटता है या बार-बार काटता है या ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है ।

३५. जो भिक्षु अपने शरीर के गंडमाल, गूमड़े, फुंसियों मसे या भगंदर को किसी तीक्ष्ण शस्त्र से काटकर पीप या रक्त निकालता है या शोधन करता है, या ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है ।

३६. जो भिक्षु अपने शरीर के गंडमाल, गूमड़े, फुंसियों, मसे या भगंदर को किसी तीक्ष्ण शस्त्र से काटकर, पीप, खून निकालकर, शीतल या उष्ण अचित्त जल से एक बार या बार-बार धोता है या धोने वाले का अनुमोदन करता है ।

३७. जो भिक्षु अपने शरीर के गंडमाल, गूमड़े, फुंसियों, मसे या भगंदर को किसी तीक्ष्ण शस्त्र से काटकर, पीप, खून निकालकर, शीतल या उष्ण अचित्त जल से धोकर किसी भी प्रकार का लेप—मलहम लगाता है या बार-बार लगाता या लगाने वाले का अनुमोदन करता है ।

३८. जो भिक्षु अपने शरीर के गंडमाल, गूमड़े, फुंसियों, मसे या भगंदर को किसी तीक्ष्ण शस्त्र से काटकर, पीप, खून निकालकर, शीतल या उष्ण अचित्त जल से धोकर किसी भी प्रकार का

मलहम लगाकर, तेल यावत् मक्खन से एक बार या बार-बार मालिश करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

३९. जो भिक्षु अपने शरीर के गण्डमाल, गूमड़े, फुंसियों, मसे या भगंदर को किसी तीक्ष्ण शस्त्र से काटकर, पीप, खून निकालकर, शीतल या उष्ण जल से धोकर किसी भी प्रकार का मलहम लगाकर, तेल यावत् मक्खन से मालिश करके किसी सुगंधित पदार्थ से एक बार या बार-बार सुवासित करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—१. गच्छतीति गंडं, तं च गंडमाला ॥ नि. चू. ॥

"उच्चप्रदेशात् नीचप्रदेशं गच्छति" सः गंडमाला "कंठमाला" इति लोकप्रसिद्धः। नि. भा. ॥
—कान के नीचे व कंठ और गर्दन से सम्बन्धित व्याधिविशेष।

२. पिलगं तु पादगतं गंडं। ॥ नि. चू. ॥ यहाँ पाँव के गूमड़े से पूरे शरीर में होने वाले गूमड़े समझ लें क्योंकि सूत्र में "पिलगं" शब्द ही है।

३. "अरइयं वा" अरतितो जं न पच्चति ॥ नि. चू. ॥

रक्तविकारेण जायमाने लघु अणपुंजरूपे। यस्यां खर्जने तत्समये सुखमिव जायते पश्चात्—दुःखाधिक्यम् "फुन्सीति" लोकप्रसिद्धम् ॥ नि. भा. ॥

जिनके द्वारा शरीर अरतिकर हो जाता है, ऐसी साधारण गर्मी की फुंसियाँ या विशिष्ट (चेचक-ओरी-अचपड़ा आदि) फुंसी समूह।

४. असियं—अहिट्ठाणे णासाए अणेसु वा भवति।" ॥ नि. चू. ॥

अर्शो वा, गुदागतो रोगः "बवासीर" इति लोकप्रसिद्धः।" ॥ नि. भा. ॥

५. भगंदर—गुह्य स्थान गत रोग विशेष।

एक्कासि ईषद् वा आच्छिंदणं, बहुवारं सुट्ठु वा छिंदणं विच्छिंदणं। ॥ नि. चू. ॥

इस सूत्र षट्क के प्रत्येक सूत्र की चूर्णी में बताया है कि पूर्वोक्त सूत्र का पूरा आलापक कह करके बाद में विशेष आलापक कहना चाहिए।

"पुव्वगुत्तं सव्वं उच्चारेऊण इमे अइरित्ता आलावगा।"

अतः यहाँ पूर्व सूत्र का पूरा पाठ स्वीकार किया गया है और अर्थ संक्षिप्त किया है।

यहाँ शस्त्र के आलेपन के और धूप के साथ अन्यतर या जात शब्द का प्रयोग हुआ है। इसका आशय यह है कि वे अनेक प्रकार के होते हैं उनमें से किसी भी एक प्रकार का यहाँ विवक्षित है।

पूर्व के अनेक आलापकों में पहले अभ्यंगन सूत्र आया है, बाद में उबटन सूत्र। किन्तु यहाँ पर पहले आलेपन सूत्र है फिर अभ्यंगन सूत्र है। इससे यह समझना चाहिए कि इन गंड आदि में ये सूत्रगत क्रियाएँ इस क्रम से होती हैं। इन सूत्रों को क्रमिक व सम्बन्धित सूत्र समझना चाहिए। किन्तु पूर्व के आलापकों में वर्णित क्रियाएँ असंबद्ध व स्वतंत्र हैं तथा दोनों आलापकों में अभ्यंगन और उबटन ये भिन्न-भिन्न क्रियाएँ हैं ऐसा समझना चाहिए।

पूर्व आलापकों की क्रियाएँ	गंडादि आलापक की क्रियाएँ—
१. आमर्जन—हाथ से घर्षण,	१. शस्त्र से काटना व काटकर,
२. मर्दन—हाथ से दबाना,	२. पीप खून निकालना व निकालकर,
३. मालिश—तेलादि से,	३. अचित्त जल से धोना और धोकर,
४. उवटन—लोधादि से,	४. मलहम लगाना व लगाकर,
५. प्रक्षालन-अचित्त जल से,	५. तेलादि से मालिश करना, करके,
६. रंगना-मेहंदी आदि से,	६. सुगंधित द्रव्य से सुवासित करना ।

सूत्र संख्या १६ से ६९ तक शरीरपरिकर्म प्रायश्चित्त के कुल ५४ सूत्र है । व्याख्याकार ने इन सूत्रों का भाव यह बताया है कि-'कारण से करने में अनुज्ञा व अकारण से करने पर प्रायश्चित्त है' ऐसा समझना चाहिये । किन्तु व्रण के ६ सूत्र और गंडादि के ६ सूत्र है । इन १२ सूत्रों में तो कारण स्पष्ट है फिर भी प्रायश्चित्त क्यों कहा गया है ?

इस प्रश्न के उत्तर में व्याख्याकार कहते हैं कि-'रोग को असातावेदनीय से उत्पन्न हुआ जानकर अदीन भाव से प्रसन्नचित्त रहकर निर्जरार्थ समभाव से सहन करना चाहिये, किन्तु आर्तध्यान या असमाधि भाव नहीं करना चाहिये । जिनकल्पी आमरणांत इसी अवस्था से रहते हैं । किन्तु स्थविरकल्पी द्वारा वेदना असह्य होने पर १. सूत्र अर्थ के विच्छेद न होने के लिये २. संयमी जीवन के लिये, ३. समाधिभाव पूर्वक मरण की प्राप्ति के लिये तथा ४. ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप की वृद्धि करने के लिये, इन क्रियाओं को करना वह "सकारण करना" कहलाता है ।

१. सहनशीलता आदि का विचार किये बिना, २. क्षमता बढाने का लक्ष्य रखे बिना, ३. साधारण कारण से ही शीघ्र उपचार करने की आदत मात्र से ये प्रवृत्तियां करना "अकारण करना" कहलाता है, इस अपेक्षा मे यह प्रायश्चित्तविधान है ।

इस भावार्थ की सूचक तीन गाथायें इस प्रकार हैं—

णिक्कारणे ण कप्पति, गंडादीएसु छेअ-धुवणादी ।
आसज्ज कारणं पुण, सो चेव गमो हवइ तत्थ ।। १५०७

णच्चुप्पतितं दुक्खं, अभिभूतो वेयणाए तिव्वाए ।
अद्दीणो अव्वहिओ, तं दुक्खं अहियासए सम्मं ।। १५०८ ।।

अव्वोच्छित्तिणिमित्तं, जीवट्ठिए समाहिहेउं वा ।
पमज्जणादि तु पदे, जयणाए समायरे भिक्खू ।। १५०९ ।। नि. चू.

निशीथ सूत्र उद्देशक १३ में बिना रोग के [रोग के पूर्व या पश्चात्] चिकित्सा करे तो प्रायश्चित्त कहा गया है । उसके फलितार्थ मे भी यह भाव निकलता है कि स्थविरकल्पी अपने समाधि भाव का विचार करके आवश्यक हो तो गीतार्थ व गीतार्थ की निश्रा मे श्रमिक विवेकपूर्वक उपचार तथा शरीरपरिकर्म की क्रियाएं कर सकता है । अपवाद प्रसंग का निर्णय गीतार्थ के तत्त्वावधान में होता है ।

उत्सर्ग व अपवाद के निर्णय को समझने के लिए *निशीथचूर्णी भाग-३* की प्रस्तावना में कुछ आवश्यक अंश उद्धृत करना यहां प्रासंगिक होगा।

उत्सर्ग और अपवाद—

उत्सर्ग और अपवाद दोनों का लक्ष्य है—जीवन की शुद्धि, आध्यात्मिक विकास, संयम की सुरक्षा, ज्ञानादि सद्गुणों की वृद्धि।

जैसे राजपथ पर चलने वाला पथिक यदा कदा विशेष बाधा उपस्थित होने पर राजमार्ग का परित्याग कर पास की पगडंडी पकड़ लेता है और कुछ दूर जाने के बाद किसी प्रकार की बाधा दिखाई न दे तो पुनः राजमार्ग पर लौट आता है। यही बात उत्सर्ग से अपवाद में जाने और अपवाद से उत्सर्ग में आने के संबंध में समझ लेनी चाहिए। दोनों का लक्ष्य प्रगति है। अतः दोनों ही मार्ग हैं, अमार्ग या उन्मार्ग नहीं हैं। दोनों के समन्वय से साधक की साधना सिद्ध एवं समृद्ध होती है।

उत्सर्ग और अपवाद कब और कब तक ?—

प्रश्न वस्तुतः महत्त्व का है। उत्सर्ग साधना की सामान्य विधि है। अतः उस पर साधक को सतत चलना होता है। उत्सर्ग छोड़ा जा सकता है किन्तु अकारण नहीं। किसी विशेष परिस्थितिवश ही उत्सर्ग का परित्याग कर अपवाद अपनाया जाता है, पर सदा के लिए नहीं।

जो साधक अकारण उत्सर्ग मार्ग का परित्याग कर देता है अथवा सामान्य कारण उपस्थित होने पर उसे छोड़ देता है, वह साधक सच्चा साधक नहीं है, वह जिनाज्ञा का आराधक नहीं परन्तु विराधक है।

जो व्यक्ति अकारण औषध सेवन करता है अथवा रोग न होने पर भी रोगी होने का अभिनय करता है वह धूर्त है, कर्तव्यविमुख है। ऐसे व्यक्ति स्वयं पथभ्रष्ट होकर समाज को कलंकित करते हैं। यही दशा उन साधकों की है जो साधारण कारण से उत्सर्ग मार्ग का परित्याग कर देते हैं या अकारण ही अपवाद का सेवन करते रहते हैं, कारणवश एक बार अपवाद सेवन के बाद, कारण समाप्त होने पर भी अपवाद का सतत सेवन करते रहते हैं। ऐसे साधक स्वयं पथभ्रष्ट होकर समाज में भी एक अनुचित उदाहरण उपस्थित करते हैं। ऐसे साधकों का कोई सिद्धान्त नहीं होता है और न उनके उत्सर्ग अपवाद की सीमा होती है। वे अपनी वासनापूर्ति के लिए या दुर्बलता छिपाने के लिए विहित अपवाद मार्ग को बदनाम करते हैं।

अपवाद मार्ग भी एक विशेष मार्ग है। वह भी साधक को मोक्ष की ओर ही ले जाता है, संसार की ओर नहीं। जिस प्रकार उत्सर्ग संयम मार्ग है उसी प्रकार अपवाद भी संयम मार्ग है। किन्तु वह अपवाद वस्तुतः अपवाद होना चाहिये। अपवाद के पवित्र वेष में कहीं भोगाकांक्षा (व प्रमाद वृत्ति) धक्का न दे जाय, इसके लिये साधक को सतत, सजग, जागरूक एवं सचेष्ट रहने की आवश्यकता है।

साधक के सम्मुख वस्तुतः कोई विकट परिस्थिति हो, दूसरा कोई सरल मार्ग सूझ ही न पड़ता हो, फलतः अपवाद अपरिहार्य स्थिति में उपस्थित हो गया हो तभी अपवाद का सेवन धर्म होता है और ज्यों ही समागत तूफानी वातावरण साफ हो जाय, स्थिति की विकटता न रहे, त्यों ही उत्सर्ग मार्ग पर आरूढ़ हो जाना चाहिये। ऐसी स्थिति में क्षण भर का विलंब भी (संयम) घातक हो सकता है।

और एक बात यह भी है कि जितना आवश्यक हो उतना ही अपवाद का सेवन कर
चाहिये । ऐसा न हो कि जब यह कर लिया तो अब इसमें क्या है ? यह भी कर लें । जीवन
निरन्तर एक अपवाद से दूसरे अपवाद पर शिथिल भाव से लुढकाते जाना, अपवाद नहीं है । जि
लोगों को मर्यादा का भान नहीं हैं, अपवाद की मात्रा एवं सीमा का परिज्ञान नहीं है, उनका अपव
के द्वारा उत्थान नही है अपितु शतमुख पतन होता है । एक बहुत सुन्दर पौराणिक दृष्टात है । उस
से सहज समझा जा सकता है कि उत्सर्ग और अपवाद की अपनी क्या सीमाएं होती हैं और उस
सूक्ष्म विश्लेपण किस ईमानदारी से करना चाहिये ।

"एक विद्वान् ऋषि कही से गुजर रहे थे । भूख और प्यास से अत्यन्त व्याकुल थे । द्वाद
वर्षी भयंकर दुर्भिक्ष था । राजा के कुछ हस्तीपक (पीलवान) एक जगह साथ में बैठकर भोजन
रहे थे । ऋषि ने भोजन मांगा । उत्तर मिला-'भोजन तो जूठा है' । ऋषि बोले—"जूंठा है तो क्य
आखिर पेट तो भरना है" "आपत्काले मर्यादा नास्ति" भोजन लिया, खाया और चलने लगे तो ज
लेने को कहा, तब ऋषि ने उत्तर दिया-'जल जूठा है, मैं नहीं पी सकता' । लोगों ने कहा कि माल
होता है कि-'अन्न पेट मे जाते ही बुद्धि लौट आई है' । ऋषि ने शांत भाव से कहा बंधुओ
तुम्हरा सोचना ठीक है किन्तु मेरी एक मर्यादा है । अन्न अन्यत्र मिल नही रहा था और मैं भूख
इतना आकुल-व्याकुल था कि प्राण कंठ में आ रहे थे और अधिक सहने की क्षमता समाप्त हो चु
थी । अतः मैंने जूठा अन्न भी अपवाद की स्थिति में स्वीकार कर लिया । अब जल तो मेरी मर्या
के अनुसार अन्यत्र शुद्ध मिल सकता है । अतः मैं व्यर्थ ही जूठा जल क्यों पीऊँ ।"

संक्षेप में सार यह है कि जब तक चला जा सकता है उत्सर्ग मार्ग पर ही चलना चाहिये, ज
चलना सर्वथा दुस्तर हो जाय, दूसरा कोई इधर-उधर बचाव का मार्ग न रहे तब अपवाद मार्ग
सेवन करना चाहिये और ज्यों ही स्थिति सुधर जाय पुनः तत्क्षण उत्सर्ग मार्ग पर लौट आन
चाहिये ।

उत्सर्ग मार्ग सामान्य मार्ग है । यहां कौन चले कौन नहीं चले, इस प्रश्न के लिये कुछ
स्थान नहीं है । जब तक शक्ति रहे, उत्साह रहे, आपत्ति काल में भी किसी प्रकार का ग्लानिभाव
आवे, धर्म एव सघ पर किसी प्रकार का उपद्रव न हो अथवा ज्ञान दर्शन चारित्र की क्षति का को
विशेष प्रसग उपस्थित न हो, तब तक उत्सर्ग मार्ग पर ही चलना है, अपवाद मार्ग पर नहीं ।

अपवाद मार्ग पर कभी कदाचित् ही चला जाता है । इस पर हर कोई साधक हर किस
समय नहीं चल सकता है । जो साधक आचारांगसूत्र आदि आचारसंहिता का पूर्ण अध्ययन क
चुका है, गीतार्थ है, निशीथ सूत्र आदि छेद सूत्रों के सूक्ष्मतम मर्म का भी ज्ञाता है, उत्सर्ग-अपवा
पदों का अध्ययन ही नहीं अपितु स्पष्ट अनुभव रखता है, वही अपवाद के स्वीकार या परिहार
संबंध में ठीक ठीक निर्णय दे सकता है । अतः सभी आपवादिक विधान. करने वाले सूत्रों में कही ग
प्रवृत्तियों के करने में इस उत्सर्ग-अपवाद के स्वरूप संबंधी वर्णन को ध्यान में रखना चाहिये ।

कृमि-नीहरण प्रायश्चित्त--

४०. जे भिक्खू अप्पणो पालु-किमियं वा, कुच्छिकिमियं वा, अंगुलीए निवेसिय-निवेसि
णीहरइ, णीहरंतं वा साइज्जइ ।

जो भिक्षु अपने अपानद्वार की कृमियों को और कुक्षि की कृमियों को अंगुली डाल-डालकर निकालता है या निकालने वाले का अनुमोदन करता है (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—पाचन की विकृति से पेट में कृमियों की उत्पत्ति होती है जो प्रायः अपानद्वार-गुदा भाग से अशुचि के साथ बाहर निकलती हैं। ये कृमियां कभी अपानद्वार के मुख पर या कुछ अन्दर भाग में रुक जाती हैं। उन्हें अंगुली के द्वारा निकालने में विराधना संभव होती है अतः प्रायश्चित्त कहा है।

कुक्षि—अपान द्वार का २-४ अंगुल तक का भीतरी भाग।

पालु—अपान द्वार का बाह्य मुखस्थान।

किमियं—कृमि छोटी बड़ी अनेक प्रकार की होती हैं। जो बाहर निकलने के बाद अल्प समय तक ही जीवित रहती हैं। ये बारीक लट जैसी यावत् सर्प के छोटे बच्चे जैसी भी हो सकती हैं।

नख-परिकर्म प्रायश्चित्त–

४१. जे भिक्खू अप्पणो दीहाओ णहसीहाओ' कप्पेज्ज वा, संठवेज्ज वा, कप्पेंतं वा संठवेंतं वा साइज्जइ।

४१. जो भिक्षु अपने बढ़े हुये नखों के अग्रभागों को काटता है या सुधारता है या ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—आगमों में "दीहरोमनहंसिणो"—दीर्घ रोम नखों वाला—दश. अ. ६ गा. ६४

तथा "धुतकेसमंसुरोमणहे"—केश, मूंछ, रोम और नखों के संस्कार नहीं करने वाला, —प्रश्न. श्रु. २, अ. ३, सू. ४

इत्यादि पाठों के होते हुए भी नख काटने का एकांत निषेध नहीं समझना चाहिये क्योंकि आचा. श्रु. २, अ. ७, उ. १, में स्वयं के लिये ग्रहण किये नखछेदनक को अन्य भिक्षु को नहीं देने का तथा स्वयं के लौटाने की विधि का कथन है।

निशीथ उ. १, सूत्र ३२ में नख काटने के लिए ग्रहण किये नखछेदनक से अन्य कार्य करने का प्रायश्चित्त है। तथा सूत्र १७, २१, २५, २९, ३७ में अविधि से ग्रहण करने, अविधि से लौटाने, बिना प्रयोजन ग्रहण करने आदि के प्रायश्चित्त विधान हैं। इन आचारांग तथा निशीथसूत्र के पाठों से स्पष्टतः सिद्ध है कि साधु नखछेदनक आवश्यक होने पर विधि से ग्रहण कर सकता है, नख काट सकता है और विधि से लौटा सकता है।

किन्तु प्रस्तुत सूत्र में नख काटने का प्रायश्चित्त कथन है, इससे यह स्पष्ट होता है कि अकारण नख काटने का निषेध और प्रायश्चित्त है एवं सकारण नख काटने पर प्रायश्चित्त नहीं है।

सेवाकार्यों के करने में बढ़े हुए नख यदि बाधा रूप हों तो नख काटना "सकारण" है।

नियत दिन से नख काटने का संकल्प रख कर नख काटना "अकारण" है।

रोम-परिकर्म प्रायश्चित्त—

४२. जे भिक्खू अप्पणो दीहाइं जंघ—रोमाइं कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा, कप्पेंतं वा संठवेंतं वा साइज्जइ।

४३. जे भिक्खू अप्पणो दीहाइं वत्थि-रोमाइं कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा, कप्पेंतं वा संठवेंतं वा साइज्जइ।

४४. जे भिक्खू अप्पणो दीहाइं "रोमराइं" कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा, कप्पेंतं वा संठवेंतं वा साइज्जइ।

४५. जे भिक्खू अप्पणो दीहाइं कक्ख-रोमाइं कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा कप्पेंतं वा संठवेंतं वा साइज्जइ

४६. जे भिक्खू अप्पणो दीहाइं "उत्तरोट्ठ-रोमाइं" कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा, कप्पेंतं वा संठवेंतं वा साइज्जइ।

४७. जे भिक्खू अप्पणो दीहाइं "मंसुरोमाइं" कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा, कप्पेंतं वा संठवेंतं वा साइज्जइ।

४२. जो भिक्षु अपने बढे हुए "जंघा" के रोमों को काटता है या सुधारता है (संवारता है) या ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है।

४३. जो भिक्षु बढ़े हुए गुह्य देश के रोमों को काटता है, सुधारता है, या ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है।

४४. जो भिक्षु अपने बढ़े हुए पेट, छाती व पीठ भाग के रोमों को काटता है या सुधारता है— संवारता है या ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है।

४५. जो भिक्षु अपने बढ़े हुए कांख के रोमों को काटता है या सुधारता है—संवारता है या ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है।

४६. जो भिक्षु अपनी बढ़ी हुई "दाढ़ी" को काटता है या सुधारता—संवारता है या ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है।

४७. जो भिक्षु अपनी बढी हुई "मूंछों" को काटता है या सुधारता—संवारता है या ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

दंत-परिकर्म-प्रायश्चित्त—

४८. जे भिक्खू अप्पणो "दंते" आघंसेज्ज वा पघंसेज्ज वा, आघंसंतं वा पघंसंतं वा साइज्जइ।

४९. जे भिक्खू अप्पणो "दंते" सीओदगवियडेण वा, उसिणोदग-वियडेण वा, उच्छोलेज्ज वा पधोवेज्ज वा, उच्छोलेंतं वा पधोवेंतं वा साइज्जइ।

५०. जे भिक्खू अप्पणो "दंते" फुमेज्ज वा रएज्ज वा, फुमेंतं वा रएंतं वा साइज्जइ।

अर्थ--४८. जो भिक्षु दांत (मंजन आदि से) घिसता है या बार-बार घिसता है या घिसने वाले का अनुमोदन करता है।

४९. जो भिक्षु अपने दांत शीतल या उष्ण अचित्त जल से एक बार या बार-बार धोता है या धोने वाले का अनुमोदन करता है।

५०. जो भिक्षु अपने दांत मिस्सी आदि से रंगता है या तेल आदि पदार्थ लगाकर चमकीले बनाता है या ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—दशवैकालिक अ. ३, गा. ३, में दंतप्रक्षालन को अनाचार कहा है तथा उववाई आदि अन्य आगमों में अनेक स्थानों पर श्रमण-चर्या में "अदंत-धावण" भी एक चर्या कही गई है। वर्तमान युग में साधु-साध्वियों की आहार पानी की सामग्री प्राचीन काल जैसी न रहने के कारण दंत-प्रक्षालन आदि न करने पर दांतों में दन्तक्षय या "पायरिया" आदि रोग होने की सम्भावना रहती है। अतः जिन साधु-साध्वियों को उक्त जिनाज्ञा का पालन करना हो तो उन्हें नीचे लिखी सावधानियां रखनी चाहिए—

१. पौष्टिक पदार्थों का सेवन नहीं करना, यदि सेवन किया जाए तो उपवास आदि तप अवश्य करना,

२. सदा ऊनोदरी तप करना,

३. अत्यन्त गर्म या अत्यन्त ठण्डे पदार्थों का सेवन नहीं करना,

४. भोजन करने के बाद या कुछ खाने-पीने के बाद दांतों को साफ करते हुए कुछ पानी पी लेना चाहिए। शाम को चौविहार का त्याग करते समय भी इसी प्रकार दांतों को अच्छी तरह साफ करते हुए पानी पी लेना चाहिए।

५. चाकलेट गोलियां आदि नहीं खाना चाहिए।

उक्त सावधानियां रखने पर "अदंतधावण" नियम का पालन करते हुए भी दांत स्वस्थ रह सकते हैं एवं इन्द्रिय-निग्रह, ब्रह्मचर्य-पालन आदि में भी समाधि भाव रह सकता है।

आगमोक्त अदंतधावन, अस्नान, ब्रह्मचर्य, ऊनोदरी तप तथा अन्य बाह्य आभ्यन्तर तप एवं अन्य सभी नियम परस्पर सम्बन्धित हैं, अतः आगमोक्त सभी नियमों का पूर्ण पालन करने पर ही स्वास्थ्य एवं संयम की समाधि कायम रह सकती है।

तात्पर्य यह है कि अदंतधावन नियम के पालन के साथ खान-पान के विवेक से ही इन्द्रिय-निग्रह में सफलता प्राप्त हो सकती है। इन्द्रियनिग्रह की सफलता में ही संयमाराधन की सफलता रही हुई है। इन्हीं कारणों से आगमों में अदंतधावन को इतना महत्त्व दिया गया है।

सामान्यतः मंजन करना और दंतधावन सम्बन्धी क्रियाएँ करना, ये सब संयम जीवन के अयोग्य प्रवृत्तियां हैं। किन्तु असावधानी से या अन्य किसी कारण से दांतों के रुग्ण हो जाने पर चिकित्सा के लिए मंजन करना एवं दंतप्रक्षालन सम्बन्धी क्रियाएँ करना अनाचार नहीं है। एवं इसका प्रस्तुत सूत्र से प्रायश्चित्त नहीं आता है।

दांतों की रुग्णता ज्ञात होने के बाद भी उपर्युक्त सावधानियां रख कर शीघ्र ही चिकित्सा के निमित्त किये जाने वाले दंतप्रक्षालन से मुक्त हो जाना चाहिए, अर्थात् सदा के लिए दंतप्रक्षालन प्रवृत्ति को स्वीकार न करके खान-पान का विवेक करके अदंतधावन चर्या को स्वीकार कर लेना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्रों में अकारण मंजन करने का एव प्रक्षालन करने का या अन्य कोई पदार्थ लगाने का प्रायश्चित्त कहा गया है ऐसा समझना चाहिए।

विभूषा के सकल्प से मंजन आदि करने का लघु चौमासी प्रायश्चित्त आगे पन्द्रहवें उद्देशक में कहा गया है।

ओष्ठ-परिकर्म-प्रायश्चित्त—

५१-५६ जे भिक्खू अप्पणो उट्ठे आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ, एवं पायगमेण णेयव्वं जाव जे भिक्खू अप्पणो उट्ठे फुमेज्ज वा रएज्ज वा फुमंतं वा रयंतं वा साइज्जइ।

५१-५६—जो भिक्षु अपने होठों का एक बार या बार-बार आमर्जन करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है, इस प्रकार पैर के आलापक के समान जानना यावत् जो भिक्षु अपने होठों पर रंग लगाता है या उसे चमकीला बनाता है या ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघु-मासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—पैर के सूत्रों के समान यहां भी विषयानुसार विवेचन जान लेना चाहिये।

चक्षु:परिकर्म-प्रायश्चित्त—

५७. जे भिक्खू अप्पणो दीहाइं "अच्छिपत्ताइं" कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा कप्पेंतं वा संठवेंतं वा साइज्जइ।

५८-६३. जे भिक्खू अप्पणो अच्छीणि आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ एवं पायगमेणं णेयव्वं जाव जे भिक्खू अप्पणो अच्छीणि फुमेज्ज वा रएज्ज वा फुमंतं वा रयंतं वा साइज्जइ।

५७. जो भिक्षु अपने अक्षिपत्र—चक्षु रोमों को काटता है या सुधारता-संवारता है या ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है।

५८-६३. जो भिक्षु अपनी आंखों का एक बार या बार-बार आमर्जन करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है, इस प्रकार पैर के समान जानना यावत् जो भिक्षु अपनी आंखों को रंगता है या उसे चमकीला बनाता है या ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—पैरों के ६ सूत्रों के समान आंख के ६ सूत्रों का विवेचन विषयानुसार समझ लेना चाहिए। अर्थात् वहां घर्षण—मलना व मर्दनादि क्रियाएं करने में और आंख ओष्ठ संबंधी ये क्रियाएं

५०. जे भिक्खू अप्पणो "दंते" फुमेज्ज वा रएज्ज वा, फुमेंतं वा रएंतं वा साइज्जइ।

अर्थ--४८. जो भिक्षु दांत (मंजन आदि से) घिसता है या बार-बार घिसता है या घिस वाले का अनुमोदन करता है।

४९. जो भिक्षु अपने दांत शीतल या उष्ण अचित्त जल से एक बार या बार-बार धोता है धोने वाले का अनुमोदन करता है।

५०. जो भिक्षु अपने दांत मिस्सी आदि से रंगता है या तेल आदि पदार्थ लगाकर चमकी बनाता है या ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन--दशवैकालिक अ. ३, गा. ३, में दंतप्रक्षालन को अनाचार कहा है तथा उवव आदि अन्य आगमों में अनेक स्थानों पर श्रमण-चर्या में "अदंत-धावण" भी एक चर्या कही गई है वर्तमान युग में साधु-साध्वियों की आहार पानी की सामग्री प्राचीन काल जैसी न रहने के कारण दं प्रक्षालन आदि न करने पर दांतों में दन्तक्षय या "पायरिया" आदि रोग होने की सम्भावना रह है। अतः जिन साधु-साध्वियों को उक्त जिनाज्ञा का पालन करना हो तो उन्हे नीचे लिखी सावधानि रखनी चाहिए--

१. पौष्टिक पदार्थों का सेवन नहीं करना, यदि सेवन किया जाए तो उपवास आदि त अवश्य करना,

२. सदा ऊनोदरी तप करना,

३. अत्यन्त गर्म या अत्यन्त ठण्डे पदार्थों का सेवन नही करना,

४. भोजन करने के बाद या कुछ खाने-पीने के बाद दांतों को साफ करते हुए कुछ पानी लेना चाहिए। शाम को चौविहार का त्याग करते समय भी इसी प्रकार दांतों को अच्छी तरह सा करते हुए पानी पी लेना चाहिए।

५. चाकेलेट गोलियां आदि नहीं खाना चाहिए।

उक्त सावधानियां रखने पर "अदंतधावण" नियम का पालन करते हुए भी दांत स्वस्थ र सकते हैं एवं इन्द्रिय-निग्रह, ब्रह्मचर्य-पालन आदि में भी समाधि भाव रह सकता है।

आगमोक्त अदंतधावन, अस्नान, ब्रह्मचर्य, ऊनोदरी तप तथा अन्य बाह्य आभ्यन्तर तप ए अन्य सभी नियम परस्पर सम्बन्धित हैं, अतः आगमोक्त सभी नियमों का पूर्ण पालन करने पर ही स्वास्थ्य एवं संयम की समाधि कायम रह सकती है।

तात्पर्य यह है कि अदंतधावन नियम के पालन के साथ खान-पान के विवेक से ही इन्द्रिय निग्रह में सफलता प्राप्त हो सकती है। इन्द्रियनिग्रह की सफलता में ही संयमाराधन की सफलता रही हुई है। इन्हीं कारणों से आगमों में अदंतधावन को इतना महत्त्व दिया गया है।

सामान्यतः मंजन करना और दंतधावन सम्बन्धी क्रियाएँ करना, ये सब संयम जीवन के अयोग्य प्रवृत्तियां है। किन्तु असावधानी से या अन्य किसी कारण से दांतों के रुग्ण हो जाने पर चिकित्सा के लिए मंजन करना एवं दंतप्रक्षालन सम्बन्धी क्रियाएँ करना अनाचार नहीं है। एवं उनका प्रस्तुत सूत्र से प्रायश्चित्त नहीं आता है।

दांतों की रुग्णता ज्ञात होने के बाद भी उपर्युक्त सावधानियां रख कर शीघ्र ही चिकित्सा के निमित्त किये जाने वाले दंतप्रक्षालन से मुक्त हो जाना चाहिए, अर्थात् सदा के लिए दंतप्रक्षालन प्रवृत्ति को स्वीकार न करके खान-पान का विवेक करके अदंतधावन चर्या को स्वीकार कर लेना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्रों में अकारण मंजन करने का एवं प्रक्षालन करने का या अन्य कोई पदार्थ लगाने का प्रायश्चित्त कहा गया है ऐसा समझना चाहिए।

विभूषा के संकल्प से मंजन आदि करने का लघु चौमासी प्रायश्चित्त आगे पन्द्रहवें उद्देशक में कहा गया है।

ओष्ठ-परिकर्म-प्रायश्चित्त—

५१-५६ जे भिक्खू अप्पणो उट्ठे आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ, एवं पायगमेण णेयव्वं जाव जे भिक्खू अप्पणो उट्ठे फुमेज्ज वा रएज्ज वा फुमंतं वा रयंतं वा साइज्जइ।

५१-५६—जो भिक्षु अपने होठों का एक बार या बार-बार आमर्जन करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है, इस प्रकार पैर के आलापक के समान जानना यावत् जो भिक्षु अपने होठों पर रंग लगाता है या उसे चमकीला बनाता है या ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघु-मासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—पैर के सूत्रों के समान यहां भी विषयानुसार विवेचन जान लेना चाहिये।

चक्षुःपरिकर्म-प्रायश्चित्त–

५७. जे भिक्खू अप्पणो दीहाइं "अच्छिपत्ताइं" कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा कप्पेंतं वा संठवेंतं वा साइज्जइ।

५८-६३. जे भिक्खू अप्पणो अच्छीणि आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ एवं पायगमेणं णेयव्वं जाव जे भिक्खू अप्पणो अच्छीणि फुमेज्ज वा रएज्ज वा फुमंतं वा रयंतं वा साइज्जइ।

५७. जो भिक्षु अपने अक्षिपत्र—चक्षु रोमों को काटता है या सुधारता-संवारता है या ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है।

५८-६३. जो भिक्षु अपनी आंखों का एक बार या बार-बार आमर्जन करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है, इस प्रकार पैर के समान जानना यावत् जो भिक्षु अपनी आंखों को रंगता है या उसे चमकीला बनाता है या ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—पैरों के ६ सूत्रों के समान आंख के ६ सूत्रों का विवेचन विषयानुसार समझ लेना चाहिए। अर्थात् यहां घर्षण—मलना व मर्दनादि क्रियाएं करने में और आंख ओष्ठ संबंधी ये क्रियाएं

करने में न्यूनाधिकता समझ लेना चाहिये, तथा 'फुमेज्ज रएज्ज' के प्रसंग में मेंहदी आदि के स्थान पर अंजन आदि के लगाने की भिन्नता समझ लेनी चाहिये।

रोम-केश-परिकर्मप्रायश्चित्त–

६४. जे भिक्खू अप्पणो–"नासा-रोमाइं" कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा, कप्पेंतं वा संठवेंतं वा साइज्जइ।

६५. जे भिक्खू अप्पणो दीहाइं "भमुग-रोमाइं" कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा, कप्पेंतं वा संठवेंतं वा साइज्जइ।

६६. जे भिक्खू अप्पणो "दीहाइं-केसाइं" कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा, कप्पेंतं वा संठवेंतं वा साइज्जइ।

६४. जो भिक्षु अपनी नासिका के रोमों को काटता है या सुधारता—संवारता है या ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है।

६५. जो भिक्षु अपने बढ़े हुए भौंहों के केशों को काटता है या सुधारता—संवारता है या ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है।

६६. जो भिक्षु अपने बढ़े हुए मस्तक के केशों को काटता है या सुधारता—संवारता है या ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—सूत्र १६ से ४० तक २५ सूत्रों का क्रम तथा मूल पाठ भाष्य चूर्णी से स्पष्ट हो जाता है। ६+६+६+६+१=२५ सूत्र। प्रस्तुत ४१ से ६६ तक के २६ सूत्रों की संख्या का निर्देश एवं प्रथम व अंतिम सूत्र का विषयनिर्देश भी चूर्णिकार ने किया है और शेष २४ सूत्रों का अर्थ निर्युक्ति संयुक्त करने का निर्देश किया है। ऐसा करने में इन २६ सूत्रों के मूल पाठ सुरक्षित नहीं रहे। क्योंकि निर्युक्तिगाथा में पद्यरचना के कारण सभी सूत्रों के शब्दों का निर्देश व क्रम नहीं रह सका यह स्पष्ट है। मस्तक के बालों संबंधी सूत्र को चूर्णिकार स्वयं अंतिम कहते हैं और वे ही उसे निर्युक्तिगाथा में बीच में दिखा कर वहां भी उसकी चूर्णी करते हैं।

चूर्णी और निर्युक्ति में सब मिलाकर भी २६ सूत्रों की जगह १८ सूत्रों की ही व्याख्या है। एक कांख का सूत्र, ओष्ठ के ६ सूत्र, एक अक्षिपत्र का सूत्र इन आठ सूत्रों का उस व्याख्या में कोई स्पष्ट निर्देश नहीं हुआ है। जिन १८ सूत्रों की व्याख्या की है उनके उपलब्ध पाठ भी विभिन्न हैं। यथा "नासा" की जगह "पास" संबंधी सूत्र मिलता है। वह न आवश्यक है और न उसकी व्याख्या हुई है। रोमराजि की व्याख्या की है तो उसका सूत्र ही नहीं है उसकी जगह "अक्षिपत्र" सूत्र से आंख के रोम का कथन दुबारा हो गया है।

इन सब स्थितियों का विवेचन में ध्यानपूर्वक अनुप्रेक्षण किया गया है। तथा २६ सूत्रों और १३ पदों का जो निर्देश चूर्णी की गा. १५१८ में हुआ है, उसके आधार से व शरीर के नीचे से ऊपर के क्रम का मिलान करते हुए (जैसा कि आचा. श्रु. १, अ. १, उ. २, में है) चूर्णि-निर्युक्ति मूल पाठ एवं आदि अंत के सूत्रों की तथा २६ व १३ की संख्या की संगति मिलाते हुए सूत्रों को उनके क्रम को एवं अर्थ को इस तरह व्यवस्थित किया है—

सूत्र-क्रम	सूत्र-विषय	सूत्र-संख्या	पद-संख्या
४१	नख का सूत्र (आदि सूत्र)	१	१
४२	जंघा—रोम सूत्र	१	१
४३	वत्थि—रोम सूत्र	१	१
४४	रोमराजि सूत्र	१	१
४५	कक्ख—रोम सूत्र	१	१
४६	दाढी का सूत्र	१	१
४७	मूंछ का रोम सूत्र	१	१
४८—५०	दांत के सूत्र	३	१
५१—५६	होंठ के सूत्र	६	१
५७—६३	आंख के सूत्र	७	१
६४	नासा—रोम का सूत्र	१	१
६५	भमुग—रोम का सूत्र	१	१
६६	मस्तक के बाल का सूत्र (अंतिम सूत्र)	१	१
		२६	१३

अन्य किसी सूत्र को बढाने—घटाने में या क्रमभंग करने में चूर्णिकारनिर्दिष्ट १३ पदों का या २६ सूत्रों का विवक्षित क्रम नहीं बनता है, जब कि उपर्युक्त क्रम निर्विरोध है।

रोमराजि—तीर्थंकर, युगलिक आदि के शरीरवर्णन में गुह्य प्रदेश के बाद रोमराजि का वर्णन आता है। यहां भी भाष्य चूर्णी में रोमराजि की व्याख्या है तथा "रोमाइं" ऐसा पाठ अन्य प्रतियों में उपलब्ध भी होता है। अतः "रोमराइं" शब्दयुक्त सूत्र रखा गया है किन्तु "चक्षुरोम" का सूत्र रखने से १३ व २६ की संख्या में तथा व्याख्या एवं अर्थसंगति में विरोध आता है। पुनरुक्ति भी होती है अतः उस सूत्र को नहीं रखा है।

नासा-पास—रोमराजि से पेट और पीठ के रोमों का ग्रहण हो जाता है इसलिए "पासरोम" संबंधी सूत्र अनावश्यक है। वास्तव में "पासरोम" का शरीर में अलग अस्तित्व भी नहीं है। तथा "पास" करने से "नासा"—संबंधी सूत्र घट जाता है। प्रकाशित चूर्णी के मूल पाठ में भी 'नासा' नहीं है जब कि इस "नासा रोम" की चूर्णी विद्यमान है और शरीर में नाक के बालों का अलग अस्तित्व भी है तथा उसके काटने की प्रवृत्ति भी होती है।

ओष्ठ कांख और अक्षिपत्र—संबंधी आठ सूत्रों का मूल पाठ प्रायः सभी प्रतियों में समान उपलब्ध होने से तथा चूर्णी निर्दिष्ट १३ पद—२६ सूत्र संख्या में संगत होने से और शरीर की रचना के अनुसार क्रम हो जाने से इन आठ सूत्रों की व्याख्या नहीं होते हुए इनका मूल पाठ में स्वीकार करना आवश्यक होने से क्रमप्राप्त स्थान पर इनको रखा गया है।

"कारण—अकारण" का वर्णन तथा विना कारण इन सूत्रों में कही गई प्रवृत्तियां करने की अपेक्षा ही ये प्रायश्चित्त-कथन है, इत्यादि विवेचन इसी उद्देशक के सूत्र ३४ के विवेचन से समझ लेना चाहिये।

प्रस्वेदनिवारण-प्रायश्चित्त—

५७. जे भिक्खू अप्पणो कायाओ सेयं वा जल्लं वा पंकं वा मलं वा नीहरेज्ज वा विसोहेज्ज वा, णीहरंतं वा विसोहंतं वा साइज्जइ ।

६७. जो भिक्षु अपने शरीर का पसीना, जमा हुआ मैल, गीला मैल और ऊपर से लगी हुई रज आदि को निवारण करता है या विशोधन करता है या ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—

सेयं वा—'सेयो-प्रस्वेदः'—स्वल्प मलः—थोड़ा सूखा मैल ।

जल्लं वा—'थिगलं जल्लो भणति' ।—मैल का थेगला—ज्यादा मैल ।

पंकं वा—'एस एव प्रस्वेद उल्लितो पंको भण्णति'—यही (ऊपर कथित) सूखा मैल पसीने आदि से गीला हो जाने पर "पंक" कहलाता है।

अथवा—'अण्णो वा जो कद्दमो लग्गो'—अथवा अन्य कोई कीचड आदि लग जाय उसे भी "पंक" कहते हैं। यहां पहला अर्थ ही प्रसंगसंगत है।

मलं वा—'मलो पुण उत्तरमाणो अच्छो, रेणू वा'—जो स्वतः स्पर्शादि से उतरने जैसा हो और उतर कर साथ हो जाय। अथवा ऊपर से लगी हुई धूल आदि। नि. चूर्णी, पृष्ठ २२१

णीहरण—अल्प या अधिक निकालना, दूर करना हटाना।

विशोधन—'असेसविसोहणं'—पूर्ण विशुद्ध कर देना ।

इस सूत्र के प्रायश्चित्त-विधान में यह सूचित किया गया है कि स्वस्थ या समर्थ साधक जल्ल परिषह को अग्लान भाव से सतत सावधानी पूर्वक सहन करे।

अल्प सामर्थ्य वाला साधक भी सामर्थ्यानुसार परीषह सहन करने की भावना रखे तथा अकारण परिकर्म करने की प्रवृत्ति न करे। अकारण प्रवृत्ति करने पर ही सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है। प्रत्येक व्यक्ति की सहनशक्ति के अनुसार ही 'अकारण सकारण' का निर्णय होता है। अथवा उसके समाधि या असमाधि भाव पर निर्भर करता है।

चक्षु-कर्ण-दंत-नहमलनीहरण-प्रायश्चित्त—

६८. जे भिक्खू अप्पणो अच्छिमलं वा, कण्णमलं वा, दंतमलं वा नहमलं वा, णीहरेज्ज वा, विसोहेज्ज वा, णीहरंतं वा, विसोहंतं वा साइज्जइ ।

अर्थ—जो भिक्षु अपने आंख का मैल, कान का मैल, दांत का मैल या नख का मैल निकालता है या उन्हें विशुद्ध करता है या ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—शब्दों का अर्थ स्पष्ट है। शेष विवेचन सूत्र ६७ के समान समझ लेना चाहिए। ये कार्य अकारण करने पर सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है।

अल्पाधिक चक्षु रोग हो जाने के कारण आंख का मैल निकालना 'सकारण' है और वह प्रायश्चित्त योग्य नहीं है ।

दाँतों में से अन्न आदि का कण निकालना तथा अल्पाधिक दंत-रोग हो जाने पर दाँतों का मैल निकालना भी 'सकारण' समझना चाहिए ।

नखों में प्रविष्ट अशुचिमय पदार्थों का निकालना तथा प्रविष्ट अन्नकणों को निकालना प्रायश्चित्त योग्य नहीं है, तथा बाल ग्लान वृद्ध आदि की वैयावृत्य सम्बन्धी कार्यों के लिए अथवा सामूहिक सेवा कार्यों के लिए नखों का मैल निकालना 'सकारण' है ।

जो आत्मलब्धिक आहार करने वाले या एकाकी आहार करने वाले गच्छवासी धर्मरुचि अनगार या अर्जुनमाली के समान साधक हो तथा गच्छनिर्गत साधक हो या गच्छगत होते हुए भी सेवा सम्बन्धी कार्यों से पूर्ण निवृत्त साधक हो या समान रुचि वाले सहयोगी साधक हों तो उन्हें अशुचि व आहार कणों के निकालने के सिवाय नख का मैल निकालने की आवश्यकता नहीं रहती है ।

खाज खुजलाने आदि की प्रवृत्ति कम करने से या स्वावलंबी व सेवानिष्ठ जीवन होने से नखों में मैल के रहने की संभावना भी कम रहती है ।

सूत्र ६७ और ६८ के इस प्रायश्चित्तविधान में जल्ल परीषह को जीतने के लिए बल दिया गया है । जो भिक्षु सामर्थ्य या क्षेत्र काल की दृष्टि से जल्ल परीषह जीतने में सफल न हो सके तो भी उसे इन परीषहजय के विधानों से विपरीत प्ररूपणा तो नहीं करनी चाहिए ।

विहार में मस्तक ढांकने का प्रायश्चित्त—

६९. जे भिक्खू गामाणुगामं दूइज्जमाणे अप्पणो सीस-दुवारियं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ ।

६९. जो भिक्षु ग्रामानुग्राम विहार करते हुए अपना मस्तक ढंकता है या ढंकने वाले का अनुमोदन करता है । (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है ।)

विवेचन—"सीसस्स आवरणं—सीसदुवारं"—विहार में तथा गोचरी जाते समय या अन्य कार्यवश अन्यत्र जाना हो तो मस्तक पर वस्त्रादि ओढ़ कर जाना 'लिंग—विपर्यास' है क्योंकि मस्तक ढंक कर अन्यत्र जाना स्त्री की वेशभूषा है । अतः जो साधु अकारण या साधारण स्थिति में मस्तक ढंक कर अन्यत्र जावे—आवे या विहार करे तो प्रायश्चित्त आता है । वृद्ध या रुग्ण होने पर अथवा असह्य गर्मी सर्दी में मस्तक ढंक कर जाना सकारण है । लिंग विपर्यास के कारण साध्वी के लिये मस्तक नहीं ढंकना प्रायश्चित्त समझ लेना चाहिये । उपाश्रय में मस्तक ढंककर बैठने आदि का प्रायश्चित्त नहीं समझना चाहिये । रात्रि में मल-मूत्र परित्याग के लिये मस्तक ढंक कर बाहर जाने की परंपरा है अतः उसका भी प्रायश्चित्त नहीं समझना चाहिये । किन्तु इस परंपरा के लिये आगम में कोई स्पष्ट विधान नहीं मिलता है ।

सूत्र नं. १६ से ६९ तक ५४ सूत्रों में "स्वयं" शरीर के परिकर्म करने का प्रायश्चित्त कहा गया है, उनका भावार्थ यह है कि इन्हें अकारण [प्रवृत्ति मात्र से] करने पर लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है ।

छः सूत्र "व्रण" के व छः सूत्र 'गंडमाल' आदि के यों १२ सूत्रों की सकारणता अकारणता में, अन्य ४२ सूत्रों से कुछ भिन्नता है; जिसका स्पष्टीकरण यथास्थान कर दिया गया है। उसका सारांश यह है कि—

१. ४२ सूत्रों में—अकारण करना प्रायश्चित्त योग्य है।

२. १२ सूत्रों में यथाशक्ति सहन करने का लक्ष्य न रख कर शीघ्र उपचार करना प्रायश्चित्त योग्य है।

यह ५४ सूत्रों का समूह रूप एक आलापक या गमक है जिसका अन्यान्य अपेक्षा से उद्देशक ४-६-७-११-१५-१७ में भी कथन है। सर्वत्र इसी उद्देशक के मूल पाठ व अर्थ—विवेचन की सूचना की गई है। अतः इनको संक्षिप्त तालिका से पुनः समझ लेना चाहिये।

१६—२१	पैर परिकर्म के सूत्र	६
२२—२७	काय परिकर्म के सूत्र	६
२८—३३	व्रण चिकित्सा के सूत्र	६
३४—३९	गंडादि की शल्य चिकित्सा के सूत्र	६
४०	कृमिनीहरण का सूत्र	१
४१	नख परिकर्म का सूत्र	१
४२—४७	रोम परिकर्म के सूत्र (जंघ, वत्थि, रोमराइ, कक्ख, उत्तरोट्ठ और मंसु)	६
४८—५०	दंत परिकर्म के सूत्र	३
५१—५६	ओष्ठ परिकर्म के सूत्र	६
५७—६३	चक्षु परिकर्म के सूत्र	७
६४—६६	रोम केश परिकर्म केसूत्र (नासा, भमुग, केसाइं)	३
६७	प्रस्वेद निवारण का सूत्र	१
६८	चक्षु, कर्ण, दंत नख, मल नीहरण सूत्र	१
६९	मस्तक ढंकने का सूत्र	१
		५४

इस तीसरे उद्देशक में अकारण स्वयं करने का प्रायश्चित्त बताया है।

चौथे उद्देशक में अकारण साधु-साधु परस्पर में करने का प्रायश्चित्त बताया है।

छट्ठे सातवें उद्देशक में मैथुन भाव से क्रमशः स्वयं करने व साधु-साधु परस्पर करने का प्रायश्चित्त है।

ग्यारहवें उद्देशक में साधु के द्वारा गृहस्थ के ये कार्य करने का प्रायश्चित्त है।

पंद्रहवें उद्देशक में गृहस्थ से ये कार्य कराने का व स्वयं विभूषा वृत्ति से करने का दो आलापकों द्वारा प्रायश्चित्त कहा है।

सत्रहवें उद्देशक में साधु गृहस्थ के द्वारा साध्वी के कराने का तथा साध्वी गृहस्थ के द्वारा साधु के कराने का प्रायश्चित्त कथन हुआ है।

इस प्रकार इन ५४ सूत्रों का निशीथ सूत्र में कुल नव बार पुनरावर्तन अन्यान्य अपेक्षाओं से हुआ है।

जिस प्रकार इस उद्देशक में इन ५४ सूत्रों का प्रायश्चित्तविधान अकारण से ये प्रवृत्तियां करने का है उसी प्रकार अन्य उद्देशों में भी जहां कहीं शरीर और उपकरण के परिकर्म संबंधी अन्य सामान्य (विभूषा, मैथुन, गृहस्थसेवा आदि के निर्देश बिना) सूत्र हैं वहां भी अकारण करने का ही प्रायश्चित्त समझना चाहिये।

इस सम्बन्ध में चूर्णी भाष्य के अतिरिक्त निम्न आगम प्रमाण भी है—

उपधिविषयक— १. अपनी उपधि उपयोग में आने योग्य होते हुये भी यदि उसे परठ दे तो प्रायश्चित्त—नि. उ. ५।

२. गृहस्थ को उपधि देवे तो भी प्रायश्चित्त—नि. उ. १५।

३. वस्त्र पात्र के थेगली, संधान, बंधन, सीवण आदि कार्य के प्रायश्चित्त-सूत्रों में जघन्य एक का उत्कृष्ट तीन-तीन संख्या से ज्यादा करने का प्रायश्चित्त—नि. उ. १।

४. अविधि से सीवण आदि कार्य करने का प्रायश्चित्त—नि. उ. १।

सकारण या अकारण किसी भी रूप से ये कार्य करने का आगम का आशय होता तो उपरोक्त सूत्रों के स्थान पर ऐसे कथन होते कि—"वस्त्रादि के सीने के कार्य, बांधने के कार्य, थेगली लगाने का कार्य, सांधने का कार्य, विधि से या अविधि से किसी भी तरह करे तो भी प्रायश्चित्त।" किन्तु ऐसा न होकर ऊपर निर्दिष्ट सूत्रों से प्रायश्चित्त-कथन हुआ है। अतः सकारण अवस्था में ये प्रायश्चित्त नहीं है यह स्पष्ट होता है।

शरीरविषयक—

१. कान का मैल निकाले तो प्रायश्चित्त, नख काटे तो प्रायश्चित्त। नि. उ. ३।

२. सूई, कतरनी, नखशोधनक, कर्णशोधनक ग्रहण करते समय जिस कार्य के लिए लेने का कहा उससे भिन्न कार्य करे तो प्रायश्चित्त अर्थात् वही कार्य करे तो प्रायश्चित्त नहीं। नि. उ. १।

३. परिवासित (वासी) तेल आदि या कल्क लोध्र आदि लेप्य पदार्थों को उपयोग में लेने का निषेध। बृहत्कल्प उ. ५।

४. दिन में ग्रहण किये लेप्य पदार्थ व गोबर को रात्रि में उपयोग लेने के प्रायश्चित्त की दो चौभंगी। नि. उ. १२।

५. स्वस्थ होते हुए भी शरीर का परिकर्म या औषध-उपचार करे तो प्रायश्चित्त। नि. उ. १३।

यदि शरीर के समस्त परिकर्मों का सकारण अकारण की विवक्षा के बिना निषेध या प्रायश्चित्त कहने का आगमकार का आशय होता तो नखशोधनक आदि ग्रहण करने मात्र का स्पष्ट

प्रायश्चित्त कहा जाता, लेप्य पदार्थ ग्रहण करने मात्र का प्रायश्चित्त होता व औषधसेवन मात्र का प्रायश्चित्तकथन होता अन्य विकल्पों से युक्त उपर्युक्त प्रकार के सूत्र नहीं होते।

इस प्रकार के इन सूत्रों का आशय यह है कि ये प्रायश्चित्तसूत्र शरीर और उपकरणों के अकारण परिकर्म के हैं। अकारण सकारण का निर्णय गीतार्थ ही कर सकते हैं। गीतार्थ हुए बिना या गीतार्थ की निश्रा के बिना किसी को भी विचरण करना नही कल्पता है। बृहत्कल्प भाष्य गा. ६८८॥

गीतार्थ और बहुश्रुत ये दोनों शब्द एक ही भाव के सूचक हैं। आगमों में प्राय: बहुश्रुत शब्द का प्रयोग है और व्याख्या ग्रंथों में "गीतार्थ" शब्द का प्रयोग है। गीतार्थ की व्याख्या बृहत्कल्प भाष्य पीठिका गा. ६९३ में है।

बहुश्रुत की व्याख्या निशीथ भाष्य पीठिका गा. ४९५ में है। दोनों व्याख्याओं में एकरूपता है। वह व्याख्या इस प्रकार है—

आचारनिष्ठ व अनेक आगमों के अभ्यास के साथ "जघन्य आचारांग सूत्र और निशीथ सूत्र को अर्थ सहित कंठस्थ धारण करने वाला हो।"

'उत्कृष्ट १४ पूर्व का धारी हो।'

और मध्यम में कम से कम आचारांग, निशीथ, सूयगडांग, दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प व व्यवहार सूत्र का धारण करने वाला हो।

यही व्याख्या बहुश्रुत के लिये और यही व्याख्या गीतार्थ के लिये की गई है। आगम में आये 'धारण करने' का आशय यह है कि मूल और अर्थ कण्ठस्थ धारण करना। क्योंकि इन आगमों के भूल जाने का भी प्रायश्चित्त कथन है, तथा स्थविर को भूलने पर कोई प्रायश्चित्त नहीं है। ऐसा वर्णन व्यव. उ. ५ में है।

अत: इस योग्यता वाले गीतार्थ (या बहुश्रुत) की नेश्राय से ही विचरना और उनकी नेश्राय से अपवादों का निर्णय करना योग्य होता है। अयोग्य को प्रमुख बनकर विचरण करने का निषेध व्यव. उ. ३ सूत्र १ में है।

वशीकरणसूत्र-करण प्रायश्चित्त—

७०. जे भिक्खू सण—कप्पासओ वा, उण्ण—कप्पासओ वा, पोंड—कप्पासओ वा, अमिल-कप्पासओ वा वसीकरणसुत्ताइं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

जो भिक्षु सन के कपास से, ऊन के कपास से, पोंड के कपास से अथवा अमिल के कपास से वशीकरण सूत्र (डोरा) बनाता है या बनाने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—

३. पोंड—सूती कपास।

पोंडा-वमणो, तस्स फलं, तस्स पम्हा रेसे फच्चणिज्जा"

४. अमिल—इसकी व्याख्या प्रायः नही मिलती है। आक (आकडा) या ऊन विशेष ऐसे अर्थ क्वचित् मिलते है।

५. कप्पास—कातने के योग्य स्थिति में जो ऊन, रूई आदि हों उनको यहां 'कप्पास' कहा है।

६. वसीकरण—'अवसा वसे कीरंति जेणं तं वसीकरण-सुत्तयं'—कपास से डोरा बनाकर या डोरों को बटकर मंत्र से भावित करना, जिसके प्रयोग से किसी को वशीभूत किया जा सके।

गृहादि विभिन्न स्थलों में मल-मूत्र परिष्ठापन प्रायश्चित्त—

७१. जे भिक्खू गिहंसि वा, गिहमुहंसि वा, गिह-दुवारियंसि वा, गिहपडिदुवारियंसि वा, गिहेलुयंसि वा, गिहंगणंसि वा, गिहवच्चंसि वा उच्चार—पासवणं परिट्ठवेइ परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ।

७२. जे भिक्खू मडग-गिहंसि वा, मडग-छारियंसि वा, मडग-थूभियंसि वा, मडग-आसयंसि वा, मडग-लेणंसि वा, मडग-थंडिलंसि वा, मडग-वच्चंसि वा उच्चार-पासवणं परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ।

७३. जे भिक्खू इंगाल-दाहंसि वा, खार- दाहंसि वा, गायदाहंसि वा, तुसदाहंसि वा, भुस-दाहंसि वा उच्चार-पासवणं परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ।

७४. जे भिक्खू अभिणवियासु वा, गोलेहणियासु, अभिणवियासु वा मट्टियाखाणिसु, अपरिभुज्जमाणियासु वा, अपरिभुज्जमाणियासु वा उच्चारपासवणं परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ।

७५. जे भिक्खू सेयाययणंसि वा, पंकंसि वा, पणगंसि वा, उच्चारपासवणं परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ।

७६. जे भिक्खू उंबरवच्चंसि वा, णग्गोहवच्चंसि वा, आसोत्थवच्चंसि वा, पिलक्खुवच्चंसि वा उच्चार-पासवणं परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ।

७७. जे भिक्खू डागवच्चंसि वा, सागवच्चंसि वा, मूलगवच्चंसि वा, कोत्थुंबरिवच्चंसि वा, खारवच्चंसि वा, जीरयवच्चंसि वा, दमणगवच्चंसि वा, मरुगवच्चंसि वा, उच्चारपासवणं, परिट्ठवेइ परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ।

७८. जे भिक्खू इक्खुवणंसि वा, सालिवणंसि वा, कुसुंभवणंसि वा कप्पास-वणंसि वा उच्चार-पासवणं परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ।

७९. जे भिक्खू असोगवणंसि वा, सत्तिवण्णवणंसि वा, चंपगवणंसि वा, चूय—वणंसि वा, अण्णयरेसु वा तहप्पगारेसु, पत्तोववेएसु, पुप्फोववेएसु, फलोववेएसु, बीओववेएसु उच्चार—पासवणं परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ।

७१. जो भिक्षु घर में, घर के "मुख" स्थान में, घर के प्रमुख द्वारा स्थान में, घर के उपद्वार

स्थान में, द्वार के मध्य के स्थान में, घर के आंगन में, घर की परिशेष भूमि अर्थात् आसपास की खुली भूमि में उच्चार प्रस्रवण परठता है या परठने वाले का अनुमोदन करता है ।

७२. जो भिक्षु मृतकगृह में, मृतक की राख वाले स्थान में, मृतक के स्तूप पर, मृतक के आश्रय-स्थान पर, मृतक के लयन में, मृतक की स्थल-भूमि अथवा श्मसान की चौतरफ की सीमा के स्थान में उच्चार-प्रस्रवण परठता है या परठने वाले का अनुमोदन करता है ।

७३. जो भिक्षु कोयले बनाने के स्थान में, सज्जीखार आदि बनाने के स्थान में, पशुओं के डाम देने के स्थान में, तुस जलाने के स्थान में, भूसा जलाने के स्थान में उच्चार-प्रस्रवण परठता है या परठने वाले का अनुमोदन करता है ।

७४. जो भिक्षु नवीन हल चलाई हुई भूमि में या नवीन मिट्टी की खान में, जहाँ लोग मल-मूत्रादि त्यागते हों या नहीं त्यागते हों, वहाँ उच्चार-प्रस्रवण परठता है या परठने वाले का अनुमोदन करता है ।

७५. जो भिक्षु कर्दमबहुल अल्प पानी के स्थान में, कीचड़ के स्थान में या फूलन युक्त स्थान में उच्चार-प्रश्रवण परठता है या परठने वाले का अनुमोदन करता है ।

७६. जो भिक्षु गूलर, बड़, पीपल व पीपली के फल संग्रह करने के स्थान पर उच्च-प्रसवण परठता है या परठने वाले का अनुमोदन करता है ।

७७. जो भिक्षु पत्ते वाली भाजी, अन्य सब्जियां, मूलग, कोस्तुभ, वनस्पति, धना, जीरा, दमनक व मरुक वनस्पति विशेष के संग्रह स्थान या उत्पन्न होने की वाडियों में उच्चार-प्रसवण परठता है या परठने वाले का अनुमोदन करता है ।

७८. जो भिक्षु इक्षु, चावल, (आदि धान्य) कुसंभ व कपास के खेत में उच्चार-प्रस्रवण परठता है या परठने वाले का अनुमोदन करता है ।

७९. जो भिक्षु अशोक वृक्षों के वन, शक्तिपर्ण (सप्तवर्ग) वृक्ष के वन, चंपक वृक्षों के वन और आम्रवन या अन्य भी ऐसे वन, जो पत्र, पुष्प, फल, बीज आदि से युक्त हों, वहां उच्चार प्रस्रवण परठता है या परठने वाले का अनुमोदन करता है । (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है ।)

विवेचन—उच्चार—बड़ी नीत, मल, अशुचि, सण्णा, वच्च, पासवण—लघुनीत, मूत्र, कायिकी, मुत्त, आदि इन पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया जाता है ।

यहाँ पर बड़ी नीत की मुख्यता का प्रसंग है और बड़ी नीत के साथ लघुनीत का आना प्रायः निश्चित है अतः "उच्चार-पासवण" उभय शब्द का एक साथ प्रयोग हुआ है । व्याख्याकार ने भी बड़ीनीत की मुख्यता से व्याख्या की है ।

१. घर—समुच्चय रूप से सभी विभाग व खुली जमीन युक्त घर ।

विशेष संभवित ६ स्थानों का तो अलग निर्देश किया ही है अतः परिशेष कमरे, रसोई घर आदि "समुच्चय घर" में समाविष्ट समझना ।

गृहमुख—घर के आगे चबूतरे (चौकी) या घिरा हुआ स्थल ।

घर का प्रमुख द्वार—बड़ी पोल, इसमें पोल जितनी चौड़ी व कुछ लंबी जगह होती है ।

घर का उपद्वार—मुख्य द्वार-पोल से प्रवेश कर अंदर चलने पर छोटा दरवाजा होता है ।

गृह-एलुका—दरवाजे में दोनों तरफ ऊँची बनी हुई "साल" अर्थात् प्रमुख द्वार से प्रवेश करने पर दोनों ओर बना हुआ स्थल ।

गृह-आंगन—घर के अंदर, कमरों के बीच का चौक ।

गृह-वच्च—मकान के पीछे व आस पास की खुली भूमि या घर वालो के मलमूत्र त्यागने की भूमि ।

२. मृतक-गृह—श्मसान में जलाने के पूर्व मृतक को रखे जाने का स्थान ।

मृतक क्षार—दाहक्रिया के बाद जहाँ राख पड़ी रहे वह स्थान । अर्थात् दाहक्रियास्थल ।

मृतक-स्तूप—स्मृति के लिये बना चबूतरा आदि ।

मृतक-आश्रय—श्मशान क्षेत्र में प्रवेश करने से पूर्व मृतक को आश्रय देने का अर्थात् थोड़ी देर ठहराने का स्थान ।

मृतकलयन—दाहक्रिया स्थल पर स्मृति के लिये बना हुआ चैत्यालय या चबूतरा ।

मृतकस्थण्डिल—मृतक की जली हुई हड्डियां आदि डालने का स्थान ।

मृतकवच्च—श्मशान की अन्य खुली भूमि जो कभी किसी को जलाने या गाड़ने के उपयोग में आ सकती है ।

३. गायवाहंसी—पशुओं के रोगोपशम के लिये जहाँ डांम देकर उपचार किया जाता है, ऐसा नियत स्थल ।

तुसदाहंसि-भुसदाहंसि-तुस—धान्य के ऊपर का छिल्का या तुस युक्त धान्य । भुस—धान्य के पूलों का संपूर्ण कचरा ।

इनको को जलाने के स्थान दो प्रकार के हो सकते हैं—

१. खेत के पास ही अनुपयोगी तुस-भुस को जलाने का स्थान ।

२ कुंभकार आदि का तुस-भुस को इंधन रूप में जलाने का स्थान ।

निशीथ भाष्य में तथा आचारांग सूत्र. श्रु. २, अ. १० की चूर्णी में इन दोनों शब्दों की व्याख्या नहीं है "इंगालदाहंसि, खारदाहंसि तथा गातदाहंसि" इन तीन शब्दों की व्याख्या है ।

ये दोनों शब्द आचाराग सूत्र में नहीं हैं ।

निशीथ में इन दोनों शब्दों के पाठांतर रूप में "तुसठाणंसि वा भुसठाणंसि वा" ऐसा पाठ भी मिलता है । इनका अर्थ यह है कि खेत के पास इनके संग्रह करने या रखने के स्थान—"खलिहान" ।

इस प्रकार सूत्रोक्त पांचों स्थान जब रिक्त हों तो भी वहां मल-मूत्र का त्याग नहीं करना चाहिये ।

४. अभिणवियासु गोलेहणियासु—पृथ्वी की विराधना के प्रसंग में दशवै अ. ४, में "न आलिहिज्जा न विलिहिज्जा" पाठ आता है। उसका अर्थ पृथ्वी में खीला शस्त्र आदि से लकीर करना होता है। यहाँ 'गो' शब्द युक्त लिह शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ होता है कि—'बैल आदि के द्वारा हल से जोती हुई भूमि।' वह भूमि नूतन तत्काल की हो अर्थात् १-२ दिन की हो तो सचित्त होती है। अतः उसका वर्जन आवश्यक है। उस तत्काल की नूतन खुदी भूमि का गृहस्थ उपयोग ले रहे हों तो भी सचित्त होने से अकल्पनीय है और उसका उपयोग नहीं ले रहे हों तो भी अकल्पनीय है।

वर्षा होने के कुछ समय पूर्व किसान भूमि पर हल चलाकर छोड़ देते है। वहाँ लोग शौच के लिये जाते हों या नही भी जाते हों किन्तु जब तक वह नवीन है सचितता या मिश्रता की संभावना है तो वहाँ साधु को नही जाना चाहिये। जब अचित्त हो जाये तब वह नवीन नहीं कहलाती है।

इस तरह अर्थ करने पर 'मट्टिया खाणी और गोलेहणिया' दोनों पदों का विषय समान हो जाता है जिससे "अभिणवियासु" व "परिभुज्जमाण अपरिभुज्जमाण" ये विशेषण सार्थक एवं संगत हो जाते है।

५. कद्दमबहुलं पाणीयं—सेओभण्णति, तस्स आयतणं—सेयायणं ॥

कीचड़ अधिक हो पानी कम हो ऐसा स्थान "सेयायणं" कहलाता है। वर्षा हो जाने पर इस प्रकार का कीचड हो जाता है, तथा वहाँ फूलण (कोई) भी आ जाती है। अतः विराधना के कारण वहाँ पर परठने से प्रायश्चित्त आता है।

६. वड़, पीपल आदि कुछ फलों के संग्रहस्थानों का कथन सूत्र में है इसी प्रकार अन्य भी फलसंग्रह के स्थान समझ लेना चाहिये।

७. सूत्र ७७-७८-७९ की व्याख्या चूर्णीकार ने नहीं की है। मात्र यह कह दिया है कि—'ये जनपद प्रसिद्ध शब्द हैं'।

सूत्र ७१ से ७९ तक कथित स्थानों में मल-मूत्र परठने पर दोष बताते हुए भाष्यकार ने बताया है कि गृह आदि के मालिक रुष्ट होकर तिरस्कार करते हुए अशुचि पर ही धक्का देकर गिरा सकते हैं या साधु पर अशुचि फेंक सकते हैं। श्मसान आदि में व्यंतर देवता के कुपित होने की संभावना रहती है। सचित्त पृथ्वीकाय आदि के स्थानों में जीव विराधना होती है।

जीव विराधना के सिवाय अचित्त स्थानों में जहाँ अन्य लोग साधारणतया शौचनिवृत्ति करते हों या जहाँ मालिक की आज्ञा हो वहाँ परठने पर प्रायश्चित्त नहीं आता है।

सूत्र ७४ में पृथ्वीकाय की विराधना, सूत्र ७५ में अपकाय की विराधना, सूत्र—७२ में देवछलना और शेष सूत्रों में (७१, ७३, ७६, ७७, ७८, ७९) में उसके स्वामी से तिरस्कार व अपवाद होने की संभावना रहती है।

अविधि-परिष्ठापन प्रायश्चित्त—

८०. जे भिक्खू दिया वा राओ वा वियाले वा उच्चार-पासवणेणं उब्बाहिज्जमाणे सपायं गहाय, परपायं वा जाइत्ता, उच्चार-पासवणं परिट्ठवेत्ता अणुग्गए सूरिए एडेइ, एडेंतं वा साइज्जइ।

तं सेवमाणे आवज्जइ मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं ।

जो भिक्षु दिन में, रात्रि में, या विकाल में उच्चार—प्रस्रवण के वेग से बाधित होने पर अपना पात्र ग्रहण कर या अन्य भिक्षु का पात्र याचकर उसमें उच्चार—प्रस्रवण का त्याग करके जहां सूर्य का प्रकाश (ताप) नहीं पहुँचता है ऐसे स्थान में परठता है या परठने वाले का अनुमोदन करता है ।

इन ८० सूत्रगत दोषस्थानों का सेवन करने पर लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है ।

विवेचन—"अणुग्गए सूरिए"—इसका सीधा अर्थ "सूर्योदय के पूर्व नहीं परठना" ऐसा भी किया जाता है किन्तु यह अर्थ आगमसम्मत नहीं होने से असंगत है । उसके कारण इस प्रकार हैं—

सूत्र में प्रयुक्त 'दिया वा' शब्द निरर्थक हो जाता है । क्योंकि १. दिन में जिसने मल त्याग किया है उसकी अपेक्षा से "अणुग्गए सूरिए" इस वाक्य की संगति नहीं हो सकती है ।

२. रात में मल-मूत्र पड़ा रखने से सम्मूर्च्छिम जीवों की विराधना होती है और अशुचि के कारण अस्वाध्याय भी रहता है ।

३. रात्रि में परठने का सर्वथा निषेध हो जाता है ।

४. उच्चार-प्रश्रवण भूमि का चौथे प्रहर में किया गया प्रतिलेखन भी निरर्थक हो जाता है ।

५. अनेक आचार सूत्र गत निर्देशों से भी यह अर्थ विपरीत हो जाता है ।

अतः "जहा पर सूर्य नही उगता" अर्थात् जहां पर दिन या रात में कभी भी सूर्य का प्रकाश (ताप) नही पहुँचता है ऐसे छाया के स्थान में परठने का यह प्रायश्चित्त सूत्र है, ऐसा समझना युक्ति-संगत है ।

उच्चार-प्रस्रवण को पात्र में त्यागकर परठने की विधि का निर्देश आचारांग श्रु. २, अ. १० में तथा इस सूत्र में है । फिर भी अन्य आगम स्थलों का तथा इस विधान का संयुक्त तात्पर्य यह है कि—योग्य बाधा, योग्य समय व योग्य स्थंडिल भूमि सुलभ हो तो स्थंडिल भूमि में जाकर ही मल—मूत्र त्यागना चाहिये । किन्तु दीर्घशंका का तीव्र वेग हो या कुछ दूरी पर जाने आने योग्य समय न हो, यथा—संध्या काल या रात्रि हो, ग्रीष्म ऋतु का मध्याह्न हो या मल मूत्र त्यागने योग्य निर्दोष भूमि समीप में न हो, इत्यादि कारणों से उपाश्रय में ही जो एकान्त स्थान हो वहां जाकर पात्र में मल त्याग करके योग्य स्थान में परठा जा सकता है ।

सूत्र ७१ से ७९ तक अयोग्य स्थान में परठने का प्रायश्चित्त कहा गया है जिसमें पृथ्वी, पानी की विराधना व देव छलना, स्वामी के प्रकोप लोक-अपवाद होने की संभावना रहती है । इस सूत्र ८० के अनुसार उपरोक्त अयोग्य स्थानों का वर्जन करने के साथ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि परठने के स्थान पर सूर्य की धूप आती है या नहीं, धूप न आती हो तो जल्दी नहीं सूखने से सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति होकर ज्यादा समय तक विराधना होती रहती है । इस हेतु से अविधि परिष्ठापन या सूत्र में प्रायश्चित्त कहा गया है ।

यदि किसी के अशुचि में कृमियां आती हों तो छाया में बैठना चाहिये या कुछ देर (१०-२० मिनट) बाद परिष्ठापन करना चाहिये ।

तृतीय उद्देशक का सारांश—

सूत्र १	धर्मशाला आदि स्थानों में एक पुरुष से मांग-मांग कर याचना करना ।
सूत्र २	धर्मशाला आदि स्थानों में अनेक पुरुषों से मांग-मांग कर याचना करना ।
सूत्र ३	धर्मशाला आदि स्थानों में एक स्त्री से मांग-मांग कर याचना करना ।
सूत्र ४	धर्मशाला आदि स्थानों में अनेक स्त्रियों से मांग-मांग कर याचना करना ।
सूत्र ५-८	धर्मशाला आदि स्थानों में कौतुकवश मांग-मांग कर याचना करना ।
सूत्र ९-१२	धर्मशाला आदि स्थानों में अदृष्ट स्थान से आहार लाकर देने पर एक बार निषेध करके पुनः उसके पीछे-पीछे जाकर याचना करना ।
सूत्र १३	गृहस्वामी के मना करने पर भी पुनः उसके घर आहार आदि लेने के लिये जाना ।
सूत्र १४	सामूहिक भोज (बड़े जीमनवार) के स्थान पर आहार के लिये जाना ।
सूत्र १५	तीन गृह (कमरे) के अन्तर से अधिक दूर का लाया हुआ आहार लेना ।
सूत्र १६	पैरों का प्रमार्जन करना ।
सूत्र १७	पैरों का मर्दन करना ।
सूत्र १८	पैरों का अभ्यंगन करना ।
सूत्र १९	पैरों का उबटन करना ।
सूत्र २०	पैरों का प्रक्षालन करना ।
सूत्र २१	पैरों को रंगना ।
सूत्र २२-२७	काया का प्रमार्जन आदि करना ।
सूत्र २८-३३	व्रण का प्रमार्जन आदि करना ।
सूत्र ३४	गंडमाला आदि का छेदन करना ।
सूत्र ३५	गंडमाला आदि का पीप व रक्त निकालना ।
सूत्र ३६	गंडमाला आदि का प्रक्षालन करना ।
सूत्र ३७	गंडमाला आदि पर विलेपन करना ।
सूत्र ३८	गंडमाला आदि पर तैलादि का मलना ।
सूत्र ३९	गंडमाला आदि पर सुगंधित पदार्थ लगाना ।
सूत्र ४०	गुदा के बाह्य भाग या भीतरी भाग के कृमि निकालना ।
सूत्र ४१	नख काटना ।
सूत्र ४२	जंघा के बाल काटना ।
सूत्र ४३	गुह्य स्थान के बाल काटना ।
सूत्र ४४	रोमराजि के बाल काटना ।
सूत्र ४५	बगल—कांख के बाल काटना ।
सूत्र ४६	दाढी के बाल काटना
सूत्र ४७	मूंछ के बाल काटना ।
सूत्र ४८-५०	दांतों को घिसना, धोना, रंगना ।
सूत्र ५१-५६	होठों का प्रमार्जन आदि करना ।

सूत्र ५७ आंखों के बाल काटना।
सूत्र ५८-६३ आंखों का प्रमार्जन आदि करना।
सूत्र ६४ नाक के बाल काटना।
सूत्र ६५ भौहों के बाल काटना।
सूत्र ६६ मस्तक के बाल काटना।
सूत्र ६७ शरीर पर जमा हुआ मैल हटाना।
सूत्र ६८ आंख-कान-दांत और नखों का मैल निकालना।
सूत्र ६९ ग्रामानुग्राम विहार करते हुए मस्तक ढँकना।
सूत्र ७० वशीकरण सूत्र बनाना।
सूत्र ७१ घर के विभागों में मल-मूत्र त्यागना।
सूत्र ७२ श्मशान के विभागों में मल-मूत्र त्यागना।
सूत्र ७३ नवीन मिट्टी की खान आदि में मल-मूत्र त्यागना।
सूत्र ७४ कोयले बनाने आदि स्थानों में मल-मूत्र त्यागना।
सूत्र ७५ कीचड आदि के स्थानों में मल-मूत्र त्यागना।
सूत्र ७६ फल संग्रह करने के स्थानों में मल-मूत्र त्यागना।
सूत्र ७७ वनस्पति [सब्जी] के स्थानों में मल-मूत्र त्यागना।
सूत्र ७८ इक्षु, शालि आदि के वन में मल-मूत्र त्यागना।
सूत्र ७९ अशोक वृक्ष आदि के वन में मल-मूत्र त्यागना।
सूत्र ८० धूप न आने के स्थान में मल-मूत्र त्यागना।
इत्यादि प्रवृत्तियों का लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

इस उद्देशक के ६५ सूत्रों के विषय का कथन निम्न आगमों में है यथा—

सूत्र १-४ मांग-मांग कर लेने का निषेध —आव. अ. ४
सूत्र १४ संखडी गमन निषेध —आचा. श्रु. २, अ. १, उ. २, ३
सूत्र १५ सामने लाया हुआ आहार आदि ग्रहण करना अनाचार है। —दश. अ. ३, गा. ३
सूत्र १६-३९ शरीर परिकर्म निषेध —दश. अ. ३, गा. ३, ५, ९, ६, १४, १५
सूत्र ४१-४७ भिक्षु लम्बे नख और केश वाला होता है। —दश. अ. ६, गा. ६५
सूत्र ४८-६३ दन्तादि परिकर्म निषेध —दश. अ. ३, गा. ३ तथा ९ १
सूत्र ६४-६६ रोम-केश परिकर्म निषेध —प्रश्न. श्रु. २, अ. १, नु. ४ दश. अ. ६, गा. ६५
सूत्र ६७ जल्ल परीषह वर्णन में पसीना निवारण निषेध —उत्त. २, गा. ३७
सूत्र ७२-७९ श्मशान आदि में मल मूत्र त्यागने का निषेध —आचा. श्रुत. २, अ. १०

इस उद्देशक के निम्न १५ सूत्रों के विषय का कथन अन्य आगमों में नहीं है, यथा—

सूत्र ५-८ कौतूहल से याचना,
सूत्र ९-१२ अदृष्ट स्थान से लाये हुए आहार का निषेध करके पुनः लेना,
सूत्र १३ मना किये जाने पर उस घर में गोचरी जाना।

सूत्र ४०   कृमि निकालना,
सूत्र ६८   आंख, कान, दांत और नखों में से मैल निकालना।
सूत्र ६९   मस्तक ढंकना,
सूत्र ७०   वशीकरण सूत्र बनाना।
सूत्र ७१   घर में और घर के विभागों में मलमूत्रादि परठना।
सूत्र ८०   जहां सूर्य का ताप न हो ऐसे स्थान में मल-मूत्र परठना।

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

□□

चतुर्थ उद्देशक

राजा आदि को अपने वश में करने का प्रायश्चित्त—

१. जे भिक्खू "रायं" अत्तीकरेइ, अत्तीकरेंतं वा साइज्जइ ।

२. जे भिक्खू "रायारक्खियं" अत्तीकरेइ, अत्तीकरेंतं वा साइज्जइ ।

३. जे भिक्खू "नगरारक्खियं" अत्तीकरेइ, अत्तीकरेंतं वा साइज्जइ ।

४. जे भिक्खू "निगमारक्खियं" अत्तीकरेइ, अत्तीकरेंतं वा साइज्जइ ।

५. जे भिक्खू "सव्वारक्खियं" अत्तीकरेइ, अत्तीकरेंतं वा साइज्जइ ।

१. जो भिक्षु राजा को वश में करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

२. जो भिक्षु राजा के अंगरक्षक को वश में करता है या वश में करने वाले का अनुमोदन करता है ।

३. जो भिक्षु नगररक्षक को वश में करता है या वश में करने वाले का अनुमोदन करता है ।

४. जो भिक्षु निगमरक्षक को वश में करता है या वश में करने वाले का अनुमोदन करता है ।

५. जो भिक्षु सर्वरक्षक को वश में करता है या वश में करने वाले का अनुमोदन करता है । (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है ।)

विवेचन—अत्तीकरेइ—अपने अनुकूल बनाना या वश में करना ।

वश में करने के प्रशस्त और अप्रशस्त कारण तथा उपाय होते हैं, यहां प्रशस्त कारण से और प्रशस्त प्रयत्न से वश में करने पर लघुमासिक प्रायश्चित्त कहा गया है । शेष विवेचन भाष्य से जानें ।

राजा आदि के वश में करने से होने वाली हानियाँ बताते हुए भाष्य में कहा गया है कि राजा तथा उसके स्वजन अनुकूल होने पर संयम-साधना में बाधक बन सकते हैं और प्रतिकूल होने पर उपसर्ग भी कर सकते हैं ।

विशेष संकट आने पर संघ हित के लिए राजा आदि को यदि अनुकूल करना आवश्यक हो तो यह प्रशस्त कारण है तथा अपने संयम एवं तपोबल से प्राप्त लब्धि द्वारा इन्हें वश में करना प्रशस्त प्रयत्न है ।

झूठ कपट आदि पाप युक्त प्रवृत्तियों से इन्हें वश में करना अप्रशस्त प्रयत्न है ।

किसी की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए या किसी का अहित करने के लिए या स्वार्थ से वश में करना अप्रशस्त कारण है। इसका प्रायश्चित्त अधिक है।

सूयगडांग सूत्र श्रु० १, अ० २, उ० २, गा० १८ में भी यह बताया है कि—

"संसग्गि असाहु राईहि, असमाही उ तहागयस्स वि।"

'संयम साधना में लगे हुए साधक के लिए राजाओं का परिचय तथा उनकी संगति ठीक नहीं है क्योंकि इनका परिचय या संगति संयम में असमाधि पैदा करने का कारण है।' अतः साधक को इन विशिष्ट व्यक्तियों के साथ व्यक्तिगत सम्पर्क नहीं करना चाहिए।

धर्मश्रवण आदि के लिए राजा आदि स्वतः आवें तो उन्हें धर्मानुरागी बनाने में कोई दोष नहीं है।

राजा आदि की प्रशंसा करने का प्रायश्चित्त—

६. जे भिक्खू "रायं" "अच्चीकरेइ" अच्चीकरेंतं वा साइज्जइ।

७. जे भिक्खू "रायारक्खियं" अच्चीकरेइ, अच्चीकरेंतं वा साइज्जइ।

८. जे भिक्खू "नगरारक्खियं" अच्चीकरेइ, अच्चीकरेंतं वा साइज्जइ।

९. जे भिक्खू "निगमारक्खियं" अच्चीकरेइ, अच्चीकरेंतं वा साइज्जइ।

१०. जे भिक्खू "सव्वारक्खियं" अच्चीकरेइ, अच्चीकरेंतं वा साइज्जइ।

६. जो भिक्षु राजा की प्रशंसा—गुण-कीर्तन करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

७. जो भिक्षु राजा के अंगरक्षक की प्रशंसा—गुणकीर्तन करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

८. जो भिक्षु नगररक्षक की प्रशंसा—गुणकीर्तन करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

९. जो भिक्षु निगमरक्षक की प्रशंसा—गुणकीर्तन करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

१०. जो भिक्षु सर्वरक्षक की प्रशंसा—गुणकीर्तन करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—अच्चीकरेइ—राजा के सामने या पीछे उसके वीरता आदि गुणों की प्रशंसा करना। ये सूत्र अत्तीकरेइ सूत्रों से सम्बन्धित हैं। अर्थात् वश में करने के एक तरीके का कथन इस सूत्र में हुआ है। वस्तुतः किसी भी व्यक्ति को अपना बनाने का सबसे सरल तरीका यह है कि उसके सामने या पीछे उसकी प्रशंसा की जाय। अतः ये "अच्चीकरेइ के प्रायश्चित्त सूत्र भी" अत्तीकरेइ सूत्र के पूरक हैं, ऐसा समझना चाहिए।

राजा आदि को आकर्षित करने का प्रायश्चित्त—

११. जे भिक्खू "रायं" अत्थीकरेइ, अत्थीकरेंतं वा साइज्जइ ।

१२. जे भिक्खू "रायारक्खियं" अत्थीकरेइ, अत्थीकरेंतं वा साइज्जइ ।

१३. जे भिक्खू "नगरारक्खियं" अत्थीकरेइ, अत्थीकरेंतं वा साइज्जइ ।

१४. जे भिक्खू "निगमारक्खियं" अत्थीकरेइ, अत्थीकरेंतं वा साइज्जइ ।

१५. जे भिक्खू "सव्वारक्खियं" अत्थीकरेइ, अत्थीकरेंतं वा साइज्जइ ।

११. जो भिक्षु राजा को अपना अर्थी बनाता है या बनाने वाले का अनुमोदन करता है ।

१२. जो भिक्षु राजा के अंगरक्षक को अपना अर्थी बनाता है या बनाने वाले का अनुमोदन करता है ।

१३. जो भिक्षु नगररक्षक को अपना अर्थी बनाता है या बनाने वाले का अनुमोदन करता है ।

१४. जो भिक्षु निगमरक्षक को अपना अर्थी बनाता है या बनाने वाले का अनुमोदन करता है ।

१५. जो भिक्षु सर्वरक्षक को अपना अर्थी बनाता है या बनाने वाले का अनुमोदन करता है । (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है ।)

विवेचन—अत्थीकरेइ के तीन अर्थ किये गये हैं—

१. साधु राजा की प्रार्थना करे,

२. साधु ऐसे कार्य करे जिससे राजा साधु की प्रार्थना करे,

३. राजा का कोई कार्य सिद्ध कर दे । ये अर्थीकरण के प्रकार हैं । अथवा राजा को कहे कि "मेरे पास ऐसी विद्याएं हैं, निमित्तज्ञान है या विशिष्ट अवधि आदि ज्ञान हैं । ये सब राजा को अर्थी (आकर्षित) करने के उपाय हैं ।

अर्थीकरण भी अत्तीकरण का ही एक प्रकार है । अतः अच्चीकरण के सूत्रों के समान अर्थीकरण के सूत्र भी अत्तीकरण के ही पूरक हैं, ऐसा समझना चाहिए ।

अर्थीकरण के तीन अर्थों में से प्रथम अर्थ की अपेक्षा पीछे के दोनों अर्थ विशेष संगत प्रतीत होते हैं । पहला अर्थ है राजा की प्रार्थना करना, उसका भावार्थ तो "अच्चीकरेइ" के सूत्रों में समाविष्ट है तथा अपने तपोबल से प्राप्त लब्धि द्वारा राजा को वश में करना अर्थात् अपनी तरफ आकृष्ट करना यह अर्थ प्रसंग संगत होता है । अतः "अत्थीकरेइ" का अर्थ हुआ कि इनको अपनी ओर आकृष्ट करना ।

इस प्रकार इन सभी (१५) सूत्रों का संक्षिप्त सार यह है कि राजा आदि को अपना बनाने की कोई प्रवृत्ति नहीं करना चाहिए । शेष शब्दों की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

१. रायारक्खियं—रायाणं जो रक्खति सो रायरक्खिओ-सिरोरक्षः—राजा का अंगरक्षक।

२. नगरारक्खियं—नगरं रक्खति जो सो नगररक्खिओ-कोट्टपालः—कोतवाल।

३. निगमारक्खियं—सव्वपगइओ जो रक्खइ सो निगमरक्खिओ-सेट्ठी—नगरसेठ।

४. सव्वारक्खियं—एताणि सव्वाणि जो रक्खइ सो सव्वारक्खिओ—एतेषु सर्वकार्येषु आपृच्छनीयः स च महाबलाधिकः इत्यर्थः—सभी कार्यों में सलाहकार।

ग्राम-रक्षक आदि को अपने वश में करने का प्रायश्चित्त—

१६. जे भिक्खू "गामारक्खियं" अत्तीकरेइ, अत्तीकरेंतं वा साइज्जइ।

१७. जे भिक्खू "देसारक्खियं" अत्तीकरेइ, अत्तीकरेंतं वा साइज्जइ।

१८. जे भिक्खू "सीमारक्खियं" अत्तीकरेइ, अत्तीकरेंतं वा साइज्जइ।

१९. जे भिक्खू "रण्णारक्खियं" अत्तीकरेइ अत्तीकरेंतं वा साइज्जइ।

२०. जे भिक्खू "सव्वारक्खियं" अत्तीकरेइ, अत्तीकरेंतं वा साइज्जइ।

१६. जो भिक्षु ग्रामरक्षक को अपने वश में करता है या वश में करने वाले का अनुमोदन करता है।

१७. जो भिक्षु देशरक्षक को अपने वश में करता है या वश में करने वाले का अनुमोदन करता है।

१८. जो भिक्षु सीमारक्षक को अपने वश में करता है या वश में करने वाले का अनुमोदन करता है।

१९. जो भिक्षु राजरक्षक को अपने वश में करता है या वश में करने वाले का अनुमोदन करता है।

२०. जो भिक्षु सर्वरक्षक को अपने वश में करता है या वश में करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

ग्रामरक्षक आदि की प्रशंसा करने का प्रायश्चित्त—

२१. जे भिक्खू "गामारक्खियं" अच्चीकरेइ अच्चीकरेंतं वा साइज्जइ।

२२. जे भिक्खू "देसारक्खियं" अच्चीकरेइ अच्चीकरेंतं वा साइज्जइ।

२३. जे भिक्खू "सीमारक्खियं" अच्चीकरेइ अच्चीकरेंतं वा साइज्जइ।

२४. जे भिक्खू "रण्णारक्खियं" अच्चीकरेइ अच्चीकरेंतं वा साइज्जइ।

२५. जे भिक्खू "सव्वारक्खियं" अच्चीकरेइ अच्चीकरेंतं वा साइज्जइ।

२१. जो भिक्षु ग्रामरक्षक की प्रशंसा—गुणकीर्तन करता है या करने वाले का अ
करता है ।

२२. जो भिक्षु देशरक्षक की प्रशंसा—गुणकीर्तन करता है या करने वाले का अ
करता है ।

२३. जो भिक्षु सीमारक्षक की प्रशंसा—गुणकीर्तन करता है या करने वाले का अ
करता है ।

२४. जो भिक्षु राजरक्षक की प्रशंसा—गुणकीर्तन करता है या करने वाले का अ
करता है ।

२५. जो भिक्षु सर्वरक्षक की प्रशंसा—गुणकीर्तन करता है या करने वाले का अ
करता है । (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है ।)

ग्रामरक्षक आदि को आकर्षित करने का प्रायश्चित्त–

२६. जे भिक्खू "गामारक्खियं" अत्थीकरेइ, अत्थीकरेंतं वा साइज्जइ ।

२७. जे भिक्खू "देसारक्खियं" अत्थीकरेइ, अत्थीकरेंतं वा साइज्जइ ।

२८. जे भिक्खू "सीमारक्खियं" अत्थीकरेइ, अत्थीकरेंतं वा साइज्जइ ।

२९. जे भिक्खू "रण्णारक्खियं" अत्थीकरेइ, अत्थीकरेंतं वा साइज्जइ ।

३०. जे भिक्खू "सव्वारक्खियं" अत्थीकरेइ, अत्थीकरेंतं वा साइज्जइ ।

२६. जो भिक्षु ग्रामरक्षक को अपनी तरफ आकृष्ट करता है या आकृष्ट करने व
अनुमोदन करता है ।

२७. जो भिक्षु देशरक्षक को अपनी तरफ आकृष्ट करता है या आकृष्ट करने व
अनुमोदन करता है ।

२८. जो भिक्षु सीमारक्षक को अपनी तरफ आकृष्ट करता है या आकृष्ट करने वा
अनुमोदन करता है ।

२९. जो भिक्षु राजरक्षक को अपनी तरफ आकृष्ट करता है या आकृष्ट करने वा
अनुमोदन करता है ।

३०. जो भिक्षु सर्वरक्षक को अपनी तरफ आकृष्ट करता है या आकृष्ट करने वा
अनुमोदन करता है । (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है ।)

विवेचन—इन सूत्रों के विषय का भाष्य चूर्णी में संकेत मात्र है, यथा—

चूर्णी—एवं पन्नरस्स सुत्ता उच्चारेयव्वा । अर्थः पूर्ववत् ।

भाष्यगाथा—अत्तीकरणादीसु, रायादीनं तु जो गमो भणिओ ।

सो चेव निरवसेसो, गामादारक्खिमादीसु १८५४ ॥

१. ग्रामरक्षक—गांव की देख-रेख करने वाले—सरपंच आदि।

२. देशरक्षक—विभाग विशेष यथा—जिला आदि के रक्षक—जिलाधीश आदि अथवा चोर आदि से देश की रक्षा करने वाले।

३. सीमारक्षक—राज्य की सीमा-किनारे के विभागों की रक्षा—देख-रेख करने वाले।

४. रण्णारक्षक—राज्य की रक्षा करने वाले राज्यपाल आदि।

५. सव्वारक्षक—इन सभी क्षेत्रों में आपृच्छनीय—प्रधानवत्।

पूर्व के १५ सूत्र राजा और राजधानी संबंधी हैं और ये १५ सूत्र संपूर्ण राज्य की अपेक्षा वाले हैं। इन १५—१५ सूत्रों के अलग-अलग दो विभाग करने का यही कारण है। "सर्वरक्षक" दोनों विभागों में कहा गया है। १—प्रथम विभाग के सभी कार्यों में सलाह लेने योग्य २—द्वितीय विभाग के सभी कार्यों में अनुमति लेने योग्य, ऐसा अर्थ समझ लेने से दोनों की भिन्नता समझ में आ जाती है।

इन सूत्रों की संख्या में व क्रम में अनेक प्रतियों में भिन्नता है, यह संख्या २४, २७, ३०, ४० आदि है। क्रम कहीं एक साथ ४०, कहीं एक साथ २४, कहीं उद्देशक की आदि में कुछ सूत्र हैं व कुछ उद्देशक के बीच में आये हैं। कहीं ५ या ६ अत्तीकरेइ के सूत्र हैं तो कहीं केवल राजा संबंधी तीन सूत्र देकर उसके बाद राजारक्षक के तीन सूत्र दिए हैं। इस तरह अनेक क्रम हैं। ये विभिन्नताएं लिपिकों के प्रमाद से हुई हैं, किसी प्रकार का अनौचित्य न होने से एक साथ ३० सूत्र वाला पाठ यहां लिया गया है और क्रम एवं संख्या चूर्णी और भाष्य के अनुसार दी गई है।

तेरापंथी महासभा से प्रकाशित "निसीहज्झयणं" में १५-१५ सूत्रों के दो विभाग किये हैं और द्वितीय विभाग के लिए टिप्पण दिया है—

"एतानि सूत्राणि उद्देशकादिसूत्रेभ्यः किमर्थं पृथक्कृतानि इति न चर्चितमस्ति भाष्य-चूर्ण्योः"—पृष्ठ २८ ॥

कृत्स्न धान्य खाने का प्रायश्चित्त—

३१. जे भिक्खू "कसिणाओ" ओसहिओ आहारेइ, आहारंतं वा साइज्जइ।

जो भिक्षु "कृत्स्न" औषधियों (सचित्त धान्य आदि) का आहार करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—"कसिण"—द्रव्यकृत्स्न और भावकृत्स्न इन दो भेदों के चार भाग होते हैं। द्रव्यकृत्स्न का अर्थ है अखंड और भावकृत्स्न का अर्थ है सचित्त। यहां प्रायश्चित्त का विषय है इसलिए "भावकृत्स्न" (सचित्त) अर्थ ही ग्रहण करना चाहिये।

"ओसहिओ"—धान्य और उपलक्षण से अन्य अनेक जीव वाले बीजों को ग्रहण करना चाहिये।

अतः सूत्र का अर्थ यह है कि सचित्त धान्य एवं बीज का आहार करने से लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

द्रव्य और भाव की चौभंगी में सचित्त संबंधी प्रथम और द्वितीय दो भंग हैं उनका ही यह प्रायश्चित्त है, अचित्त संबंधी दो भंगों में सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नहीं है।

व्याख्याकार ने "अचित्त अखंड" में भी प्रायश्चित्त कहा है किन्तु सूत्रकार का आशय यह नहीं हो सकता। इसके लिए निम्न स्थल देखने चाहिये—

१. अदु जावइत्थ लूहेणं, आयणं मंथुकुम्मासेणं। आ. सु. १, अ. ९, उ. ४, गा. ४

२. अवि सूइयं य सुक्कं वा, सीयपिंडं पुराणकुम्मासं।
अदु बुक्कसं य पुलागं वा, लद्धे पिंडे अलद्धे दविए॥ आ. सु. १, अ. ९, उ. ४, गा. १३

३. आयामगं चेव जवोदणं च, सीयं सोवीर-जवोदगं च। उत्त. अ. १५, गा. १३

४. पताणि चेव सेवेज्जा, सीयपिंडं पुराणकुम्मासं।
अदु बुक्कसं पुलागं वा, जवणट्ठाए णिसेवए मंथु॥ उत्त. अ. ८, गा. १२

५. दशवै. अ. ५. उ. १, गा. ९८ में 'मंथुकुम्मासभोयणं'।

उपरोक्त स्थलों से स्पष्ट सिद्ध है कि भगवान् महावीर स्वामी ने अचित्त अखंड धान्य—चावल, उड़द आदि का आहार किया था तथा उत्तराध्ययन सूत्र में "जव" के ओदन का व उड़द के बाकले आदि के सेवन का कथन है। वर्तमान में भी चावल, बाजरा, जौ आदि का ओदन व अखंड मूंग, चणा आदि का व्यंजन होता है।

अतः अचित्त अखंड धान्यादि खाने का प्रायश्चित्त न समझ कर सचित्त धान्य बीज के आहार का प्रायश्चित है यह समझना ही आगमसम्मत है।

सचित धान्य जानकर खाने का प्रायश्चित्त और अनजाने में खाने का प्रायश्चित्त भिन्न-भिन्न होता है। उसे प्रथम उद्देशक के प्रारंभ में दी गई प्रायश्चित्त-तालिका से समझ लेना चाहिये।

आज्ञा लिए बिना विगय खाने का प्रायश्चित्त—

३२. जे भिक्खू आयरिय-उवज्झाएहिं अविदिण्णं अण्णयरं विगइं आहारेइ, आहारेंतं वा साइज्जइ।

जो भिक्षु आचार्य या उपाध्याय की विशेष आज्ञा के बिना किसी भी विगय का आहार करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—१. आयरिय-उवज्झाय—आचार्य विद्यमान हों तो उनकी अन्यथा उपाध्याय की और उपलक्षण से जिस प्रमुख या स्थविर की अधीनता में या सान्निध्य में रहकर विचरण कर रहा हो उसी की आज्ञा लेनी चाहिये।

२. अविदिण्ण—साधु गोचरी के लिये तो आज्ञा लेकर जाता ही है। किन्तु उस आज्ञा से तो विगय रहित आहार ही ग्रहण कर सकता है। यदि विगय—घी, दूध लेना आवश्यक हो तो विशेष स्पष्ट कहकर आज्ञा लेनी चाहिये।

सामान्य विधान के अनुसार साधु विगयरहित आहार ही ले सकता है। विशेष कारण से विगययुक्त आहार लेना आवश्यक हो तो आचार्य की आज्ञा प्राप्त किये बिना विगय नहीं ले सकता

है । वे भी आवश्यकता का औचित्य समझकर और परिमाण का निर्णय करके विगय सेवन की आज्ञा देते है । आचार्य की अनुपस्थिति में उपाध्याय की भी आज्ञा ले सकते हैं । क्योंकि ये दोनों पदवीधर गीतार्थ ही होते हैं । इन दोनों की अनुपस्थिति में जो प्रमुख गीतार्थ हो उनकी भी आज्ञा ले सकते है । गीतार्थ की अधीनता या सान्निध्य के बिना किसी भी साधु को विचरण करना भी नहीं कल्पता है ।

३. अण्णयरं विगइं—पांच विगय में से कोई भी विगय ।

पांच विगय निम्न हैं—१. दूध, २. दही, ३. घृत, ४. तैल और ५. गुड़-शक्कर ।

ठाणांग सूत्र के नवमें ठाणे में ९ विगय कहे हैं और उनमें से चार विगयों को चौथे ठाणे में महाविगय कहा है । अतः अर्थापत्ति से शेष ५ ही विगय कही जाती है । चार महाविगय हैं—

१. मक्खन, २. मधु, ३. मद्य, ४. मांस । इनमें से दो मद्य-मांस अप्रशस्त महाविगय तो साधक के लिए सर्वथा वर्ज्य हैं, क्योंकि मद्य-मांस के आहार को ठाणांग सूत्र के चौथे ठाणे में नरक गति का कारण कहा गया है ।

दशवै. चू. २, गा. ७ में साधु को "अमज्जमंसासि" कहा है । अर्थात् साधु मद्य मांस का आहार नहीं करने वाला होता है ।

साधारणतया पांच विगयों का सेवन वर्ज्य है तो महाविगय के सेवन का तो प्रश्न ही नहीं रहता । फिर भी मधु, मक्खन महाविगय सर्वथा अग्राह्य नहीं है ।

अनिवार्य आवश्यकता होने पर ही आज्ञा लेकर पांचों विगयों का सेवन किया जा सकता है और दो प्रशस्त महाविगयों का सेवन रोगातंक आदि के बिना नहीं किया जा सकता है । आगमों में विगयनिषेध के निम्न पाठ हैं—

१. लूहवित्ती सुसंतुट्ठे । —दशवै. अ. ८, गा. २५

२. पणीयरसभोयणं विसं तालउडं जहा । —दशवै. अ. ८, गा. ५७

३. पंताणि चेव सेवेज्जा, सीयपिंडपुराणकुम्मासं ।
अदु बुक्कसं पुलागं वा, जवणट्ठाए निसेवए मंथुं । —उत्तरा. अ. ८, गाथा १२

४. णो हीलए पिंडं नीरसं तु, पंतकुलाइं परिव्वए स भिक्खू । —उत्तरा. अ. १५, गा. १३

५. पणीयं भत्तपाणं तु, खिप्पं मयविवड्ढणं ।
बंभचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए । —उत्तरा. अ. १६, गा. ७

६. दुद्ध दहीं विगइओ, आहारेइ अभिक्खणं ।
अरए य तवोकम्मे, पावसमणे त्ति वुच्चइ । —उत्तरा. अ. १७, गा. १५.

७. अभिक्खणं निव्विगइं गया य । —दश. चू. २. गा. ७

८. रसा पगामं न निसेवियव्वा, पायं रसा दित्तिकरा नराणं । —उत्तरा. अ. ३२, गा. १०.

९. विगई निज्जूहणं करे । —उत्तरा. अ. ३६, गा. २५५

१०. तओ नो कप्पति वाइत्तए-अविनीए,
विगइपडिबद्धे, अविओसवियपाहुडे । —बृहत्. उ. ४

११. पंच ठाणाइं समणेणं भगवया महावीरेणं समणाणं णिग्गंथाणं णिच्चं वण्णियाइं, णिच्चं कित्तियाइं, णिच्चं वुइयाइं, णिच्चं पसत्थाइं, णिच्चं अब्भणुण्णायाइं भवंति ।

तं जहा—१. अरसाहारे, २. विरसाहारे, ३. अंताहारे, ४. पंताहारे, ५. लूहाहारे ।
—ठाण. अ. ५

इस सूत्र के पूर्व कई प्रतियों में अदत्त आहार लेने के प्रायश्चित्त का एक सूत्र है जो भाष्य और चूर्णिव्याख्या के बाद लिपिदोष या अन्य किसी प्रकार से आ गया है। तेरापंथ महासभा से प्रकाशित "निसीहज्झयणं" में भी यह सूत्र नहीं लिया गया है ।

स्थापनाकुल की जानकारी किये विना भिक्षार्थ प्रवेश करने पर प्रायश्चित्त–

२२. जे भिक्खू 'ठवणाकुलाइं' अजाणिय, अपुच्छिय, अगवेसिय, पुव्वामेव गाहावइ कुलं पिंडवाय पडियाए अणुप्पविसइ, अणुप्पविसंतं वा साइज्जइ ।

जो भिक्षु "स्थापनाकुलों" की जानकारी किये विना, पूछे विना या गवेषणा किये विना ही आहार के लिये गृहस्थ के घरों में प्रवेश करता है या प्रवेश करने वाले का अनुमोदन करता है । (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है ।)

विवेचन –"स्थापनाकुल"—भिक्षा के लिये नहीं जाने योग्य कुल । वे कुल कई प्रकार के होते है—

१. अत्यन्त द्वेषी कुल सर्वथा त्याज्य होते हैं ।

२. अत्यन्त अनुराग वाले कुल,

३. उपाश्रय के निकट रहने वाले कुल,

४. बहुमूल्य पदार्थ या विशिष्ट औषधियों की उपलब्धि वाले कुल साधारण साधुओं के लिये वर्ज्य होते हैं । बाल, ग्लान, वृद्ध, आचार्य, अतिथि आदि के लिये आवश्यक होने पर विशिष्ट अनुभवी गीतार्थ साधु ही इन घरों में भिक्षा के लिये जा सकते है ।

विशाल साधुसमूह के साथ-साथ विचरण करते समय या वृद्धावास में रहे हुए साधुओं में से पृथक्-पृथक् गोचरी लाने वालों की अपेक्षा से यह कथन है ।

अजाणिय अपुच्छिय अगवेसिय—विना पूछे स्वतः ही किसी के कह देने से या प्रत्यक्ष व परोक्ष ज्ञान से "जानकारी" होती है । जानकारी न हो तो पूछकर जानकारी करना चाहिये । नाम गोत्र जाति आदि पूछना "पृच्छा" कही जाती है । चिह्नों से या संकेतों से घर का ठिकाना समझना—"गवेषणा" कही जाती है ।

अथवा पूर्व परिचित के लिये "पृच्छा" होती है और अपरिचित की अपेक्षा "पृच्छा युक्त गवेषणा" होती है ।

जानकारी किये विना गोचरी के लिये जाने पर स्थापनाकुलों में जाने की संभावना रहती है, जिससे प्रवचनहीनता और अदत्त दोष के साथ आवश्यकता के समय विशिष्ट पदार्थ की प्राप्ति दुर्लभ हो सकती है ।

व्याख्या में लौकिक वर्ज्य कुल और शय्यातर कुल का भी वर्णन है किन्तु उनका प्रायश्चित्त अन्यत्र कहा गया है।

अतः यहां अनिवार्य आवश्यकता के समय में भिक्षार्थ जाने के लिये स्थविरों के द्वारा स्थापित कुलों को ही स्थापनाकुल समझना चाहिये।

साध्वी के उपाश्रय में अविधि से प्रवेश करने पर प्रायश्चित्त–

३४. जे भिक्खू णिग्गंथीणं उवस्सयंसि अविहीए अणुप्पविसइ, अणुप्पविसंतं वा साइज्जइ।

३४. जो भिक्षु निर्ग्रन्थियों के उपाश्रय में अविधि से प्रवेश करता है या अविधि से प्रवेश करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—साध्वी के उपाश्रय में साधु भिन्न-भिन्न कारणों से जा सकता है, भाष्यकार ने इसका वर्णन किया है तथा अविधि से प्रवेश करने पर अनेक दोषों की संभावनाएं कही हैं।

"अविधि"—प्रवेश करने से पूर्व सूचना दिये बिना प्रवेश करना अर्थात् मौन रहकर प्रवेश करना अविधि-प्रवेश कहलाता है।

साध्वी के उपाश्रय के बाहर अर्थात् मुख्य प्रवेशद्वार के बाहर ठहर कर संबोधन के शब्दों से अपने आने की सूचना देना और साध्वियों को जानकारी हो जाने के कुछ समय बाद प्रवेश करना अथवा सूचना देने के बाद साध्वियों के सावधान हो जाने पर किसी साध्वी के द्वारा "पधारो" इस तरह संकेत रूप शब्द के कहने पर प्रवेश करना "विधि-प्रवेश" कहलाता है।

प्रवेश करते समय "णिसीहि" शब्दोच्चारण करने की व्याख्या भी मिलती है किन्तु यह व्याख्या उपयुक्त नहीं लगती, क्योंकि उपाश्रय में प्रवेश करते समय प्रत्येक साध्वी के इस शब्द का उच्चारण करने की विधि होती है अतः साधु के प्रवेश करने का योग्य भिन्न शब्द संकेत रूप होना चाहिये अथवा श्रावक या श्राविका के द्वारा सूचना करवा देने के बाद प्रवेश करना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि साधु के प्रवेश की जानकारी साध्वी को हो जानी चाहिए। आगमोक्त कारण बिना प्रवेश करना भी अविधि-प्रवेश ही है। विशेष जानकारी के लिए भाष्य का अध्ययन करना चाहिए।

साध्वी के आगमन-पथ में उपकरण रखने का प्रायश्चित्त—

३५. जे भिक्खू णिग्गंथीणं आगमणपहंसि, दंडगं वा, लट्ठियं वा, रयहरणं वा, मुहपोत्तियं वा अण्णयरं वा उवगरणजायं ठवेइ, ठवेंतं वा साइज्जइ।

३५. जो भिक्षु साध्वी के आने के मार्ग में दंड, लाठी, रजोहरण या मुखवस्त्रिका आदि कोई भी उपकरण रखता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—जब साधुओं के उपाश्रय में साध्वियों के आने का समय हो उस समय उनके आने के मार्ग में कोई उपकरण नहीं रखना चाहिए। रास्ते के सिवाय आचार्य आदि के पास पहुंचने तक का

स्थान भी यहाँ मार्ग ही समझ लेना चाहिए। अविवेक या कुतूहल से मार्ग में उपकरण रखने पर यह प्रायश्चित्त आता है।

आचार्यादि के सन्मुख बैठते समय आहार दिखाते समय या अन्य कार्य करते समय असावधानी से मार्ग में उपकरण रखना अविवेक से रखना कहा जाता है।

अन्य मलिन विचारों से रखने पर गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

नया कलह करने का प्रायश्चित्त—

३६. जे भिक्खू णवाइं अणुप्पण्णाइं अहिगरणाइं उप्पाएइ, उप्पाएंतं वा साइज्जइ।

३६. जो भिक्षु नये-नये झगड़े उत्पन्न करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—उग्र प्रकृति से अतिवाचालता से या निरर्थक भाषण से कलह होते है। हास्य या कुतूहल से भी कलह हो सकता है। अतः साधु को विवेक रखना चाहिए।

सूयगडांग सूत्र अ० २, उ० २, गा० १९ में शिक्षा देते हुए कहा गया है कि—

"अहिगरणकडस्स भिक्खुणो, वयमाणस्स पसज्झ दारुणं।
अट्ठे परिहाई बहु, अहिगरणं न करेज्ज पंडिए॥"

क्लेश करने से संयम की अत्यधिक हानि होती है, कटुक वचन कहने से आपस में असमाधि व अशांति की वृद्धि हो जाती है। अतः साधु अधिकरण से व अधिकरण की उत्पत्ति के कारणों से सदा दूर रहे।

उपशांत कलह को उभारने का प्रायश्चित्त—

३७. जे भिक्खू पोराणाइं अहिगरणाइं खामिय विओसमियाइं पुणो उदीरेइ उदीरेंतं वा साइज्जइ।

३७. जो भिक्षु क्षमायाचना से उपशांत पुराने झगड़ों को पुनः उत्पन्न करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—१. खामिय—"खामिय-वायाए"—विधिपूर्वक वचन से क्षमायाचना करना।

२. विओसमिय—"मणसा विओसमियं व्युत्सृष्टं"—चूर्णी। मन से कलह हटा देना, त्याग देना, उपशांत कर देना।

जिस व्यक्ति से या जिस प्रसंग के निमित्त से क्लेश उत्पन्न हुआ हो या हो सकता हो उसके लिए पूर्ण विवेक रखना चाहिए। यथासंभव अपनी प्रकृति को शांत रखना चाहिए, अन्यथा उन विषयों से या उन प्रसंगों से अलग रहना चाहिए। विवेक रखते हुए भी क्लेश होने की संभावना रहे तो उस व्यक्ति के सम्पर्क से ही अलग रहना चाहिए। अपने कर्मोदय के प्रभाव को एवं व्यक्तिविशेष की प्रकृति को या उदयभाव को समझ कर यथावसर विवेक करना चाहिए।

व्याख्या में लौकिक वर्ज्य कुल और शय्यातर कुल का भी वर्णन है किन्तु उनका प्रायश्चित्त अन्यत्र कहा गया है।

अतः यहां अनिवार्य आवश्यकता के समय में भिक्षार्थ जाने के लिये स्थविरों के द्वारा स्थापित कुलों को ही स्थापनाकुल समझना चाहिये।

साध्वी के उपाश्रय में अविधि से प्रवेश करने पर प्रायश्चित्त–

३४. जे भिक्खू णिग्गंथीणं उवस्सयंसि अविहीए अणुप्पविसइ, अणुप्पविसंतं वा साइज्जइ।

३४. जो भिक्षु निर्ग्रन्थियों के उपाश्रय में अविधि से प्रवेश करता है या अविधि से प्रवेश करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—साध्वी के उपाश्रय में साधु किन-किन कारणों से जा सकता है, भाष्यकार ने इसका वर्णन किया है तथा अविधि से प्रवेश करने पर अनेक दोषों की संभावनाएं कही हैं।

"अविधि"—प्रवेश करने से पूर्व सूचना दिये बिना प्रवेश करना अर्थात् मौन रहकर प्रवेश करना अविधि-प्रवेश कहलाता है।

साध्वी के उपाश्रय के बाहर अर्थात् मुख्य प्रवेशद्वार के बाहर ठहर कर संबोधन के शब्दों से अपने आने की सूचना देना और साध्वियों को जानकारी हो जाने के कुछ समय बाद प्रवेश करना अथवा सूचना देने के बाद साध्वियों के सावधान हो जाने पर किसी साध्वी के द्वारा "पधारो" इस तरह संकेत रूप शब्द के कहने पर प्रवेश करना "विधि-प्रवेश" कहलाता है।

प्रवेश करते समय "णिसीहि" शब्दोच्चारण करने की व्याख्या भी मिलती है किन्तु यह व्याख्या उपयुक्त नहीं लगती, क्योंकि उपाश्रय में प्रवेश करते समय प्रत्येक साध्वी के इस शब्द का उच्चारण करने की विधि होती है अतः साधु के प्रवेश करने का योग्य भिन्न शब्द संकेत रूप होना चाहिये अथवा श्रावक या श्राविका के द्वारा सूचना करवा देने के बाद प्रवेश करना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि साधु के प्रवेश की जानकारी साध्वी को हो जानी चाहिए। आगमोक्त कारण बिना प्रवेश करना भी अविधि-प्रवेश ही है। विशेष जानकारी के लिए भाष्य का अध्ययन करना चाहिए।

साध्वी के आगमन-पथ में उपकरण रखने का प्रायश्चित्त—

३५. जे भिक्खू णिग्गंथीणं आगमणपहंसि, दंडगं वा, लट्ठियं वा, रयहरणं वा, मुहपोत्तियं वा अण्णयरं वा उवगरणजायं ठवेइ, ठवेंतं वा साइज्जइ।

३५. जो भिक्षु साध्वी के आने के मार्ग में दंड, लाठी, रजोहरण या मुखवस्त्रिका आदि कोई भी उपकरण रखता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—जब साधुओं के उपाश्रय में साध्वियों के आने का समय हो उस समय उनके आने के मार्ग में कोई उपकरण नहीं रखना चाहिए। रास्ते के सिवाय आचार्य आदि के पास पहुँचने तक का

स्थान भी यहाँ मार्ग ही समझ लेना चाहिए। अविवेक या कुतूहल से मार्ग में उपकरण रखने पर य प्रायश्चित्त आता है।

आचार्यादि के सन्मुख बैठते समय आहार दिखाते समय या अन्य कार्य करते समय असावधानं से मार्ग में उपकरण रखना अविवेक से रखना कहा जाता है।

अन्य मलिन विचारों से रखने पर गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

नया कलह करने का प्रायश्चित्त—

३६. जे भिक्खू णवाइं अणुप्पण्णाइं अहिगरणाइं उप्पाएइ, उप्पाएंतं वा साइज्जइ।

३६. जो भिक्षु नये-नये झगड़े उत्पन्न करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—उग्र प्रकृति से अतिवाचालता से या निरर्थक भाषण से कलह होते हैं। हास्य य कुतूहल से भी कलह हो सकता है। अतः साधु को विवेक रखना चाहिए।

सूयगडांग सूत्र अ० २, उ० २, गा० १९ में शिक्षा देते हुए कहा गया है कि—

"अहिगरणकडस्स भिक्खुणो, वयमाणस्स पसज्झ दारुणं।
अट्ठे परिहाई बहु, अहिगरणं न करेज्ज पंडिए॥"

क्लेश करने से संयम की अत्यधिक हानि होती है, कटुक वचन कहने से आपस में असमाधि व अशांति की वृद्धि हो जाती है। अतः साधु अधिकरण से व अधिकरण की उत्पत्ति के कारणों से सदा दूर रहे।

उपशांत कलह को उभारने का प्रायश्चित्त—

३७. जे भिक्खू पोराणाइं अहिगरणाइं खामिय विओसमियाइं पुणो उदीरेइ उदीरेंतं वा साइज्जइ।

३७. जो भिक्षु क्षमायाचना से उपशांत पुराने झगड़ों को पुनः उत्पन्न करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—१. खामिय—"खामिय-वायाए"—विधिपूर्वक वचन से क्षमायाचना करना।

२. विओसमिय—"मणसा विओसमियं व्युत्सृष्टं"—चूर्णी। मन से कलह हटा देना, त्याग देना, उपशांत कर देना।

जिस व्यक्ति से या जिस प्रसंग के निमित्त से क्लेश उत्पन्न हुआ हो या हो सकता हो उसके लिए पूर्ण विवेक रखना चाहिए। यथासंभव अपनी प्रकृति को शांत रखना चाहिए, अन्यथा उन विषयों से या उन प्रसंगों से अलग रहना चाहिए। विवेक रखते हुए भी क्लेश होने की संभावना रहे तो उस व्यक्ति के सम्पर्क से ही अलग रहना चाहिए। अपने कर्मोदय के प्रभाव को एवं व्यक्तिविशेष की प्रकृति को या उदयभाव को समझ कर यथावसर विवेक करना चाहिए।

हास्य-प्रायश्चित्त—

३८. जे भिक्खू मुहं विप्फालिय-विप्फालिय हसइ, हसंतं वा साइज्जइ।

३८. जो भिक्षु मुंह, फाड़-फाड़ कर हँसता है या हँसने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—मुंह को अधिक खोल कर या विकृत कर अमर्यादित हँसने का यहाँ प्रायश्चित्त कहा गया है। दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है कि आपस में बातें करने व हँसी ठट्ठा करने में समय खर्च न करते हुए साधु को सदा स्वाध्याय ज्ञान ध्यान में लीन रहना चाहिए।

यथा— "णिद्दं च ण बहु मणेज्जा, सप्पहासं विवज्जए।
मिहो कहाहिं न रमे, सज्झायम्मि रओ सया॥"
—दशवै० अ० ८, गा० ४२

आचारांग सूत्र में कहा है कि "हास्य का त्याग करने वाला भिक्षु है, अतः साधु को हास्य करने वाला नहीं होना चाहिए।" यथा—

"हासं परिजाणइ से णिग्गंथे, णो हासणए सिया।
—आचा० श्रु० २, अ० १६

साधु को कुतूहल वृत्ति रहित एवं गम्भीर स्वभाव वाला होना चाहिए और कुतूहलवृत्ति वाले की संगति भी नहीं करनी चाहिए।

इस तरह का हँसना मोह का कारण होता है अथवा दूसरों को हँसी उत्पन्न कराने वाला होता है। लोकनिंदा भी होती है। वायुकाय की तथा संपातिम जीवों की विराधना भी होती है। दूसरे के अपमान, रोष या वैर का उत्पादक भी हो सकता है। भाष्यकार ने यहाँ एक दृष्टांत दिया है—

"एक राजा रानी ने साथ झरोखें में बैठा था। उसे राजपथ की ओर देखते हुए रानी ने कहा—"मृत मनुष्य हंस रहा है।" राजा के पूछने पर रानी ने साधु की तरफ इशारा किया और स्पष्टीकरण किया कि इहलौकिक संपूर्ण सुखों का त्याग कर देने से यह मृतक के समान है, फिर भी हंस रहा है।" अतः साधु को मर्यादित मुस्कराने के अतिरिक्त हा-हा करते हुए नहीं हंसना चाहिये।

पार्श्वस्थ आदि को संघाटक के आदान-प्रदान का प्रायश्चित्त—

३९. जे भिक्खू 'पासत्थस्स' संघाडयं देइ, देंतं वा साइज्जइ।

४०. जे भिक्खू 'पासत्थस्स' संघाडयं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ।

४१. जे भिक्खू 'ओसण्णस्स' संघाडयं देइ, देंतं वा साइज्जइ।

४२. जे भिक्खू 'ओसण्णस्स' संघाडयं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ।

४३. जे भिक्खू 'कुसीलस्स' संघाडयं देइ, देंतं वा साइज्जइ।

४४. जे भिक्खू 'कुसीलस्स' संघाडयं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ।

४५. जे भिक्खू 'संसत्तस्स' संघाडयं देइ, देंतं वा साइज्जइ।

४६. जे भिक्खू 'संसत्तस्स' संघाडयं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ।

४७. जे भिक्खू 'नितियस्स' संघाडयं देइ, देंतं वा साइज्जइ।

४८. जे भिक्खू 'नितियस्स' संघाडयं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ।

३९. जो भिक्षु 'पार्श्वस्थ' को संघाडा देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

४०. जो भिक्षु 'पार्श्वस्थ' से संघाडा ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

४१. जो भिक्षु 'अवसन्न' को संघाडा देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

४२. जो भिक्षु 'अवसन्न' से संघाडा ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

४३. जो भिक्षु 'कुशील' को संघाडा देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

४४. जो भिक्षु 'कुशील' से संघाडा ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

४५. जो भिक्षु 'संसक्त' को संघाडा देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

४६. जो भिक्षु 'संसक्त' से संघाडा ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

४७. जो भिक्षु 'नित्यक' को संघाडा देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

४८. जो भिक्षु 'नित्यक' से संघाडा ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—'संघाडयं'—दो या दो से अधिक साधुओं का समूह 'संघाटक' (संघाडा) कहलाता है तथा अनेक संघाटकों के समूह को गण या गच्छ कहा जाता है। आगम में कहीं कहीं संघाटक के लिये भी गण शब्द का प्रयोग किया गया है।

संघाटक रूप में विचरने के लिये किसी को एक साधु देना भी संघाडा देना कहलाता है।

इन सूत्रों में पासत्था आदि को विचरने के लिये अपना साधु देने का अर्थात् संघाडा देने का प्रायश्चित्त कहा गया है।

पासत्था आदि के साथ में रहने से तथा गोचरी जाने के समय साथ-साथ जाने से आचार-भेद अथवा गवेषणाभेद के कारण क्लेश पैदा होने की सम्भावना रहती है अथवा धर्म में भिन्नता दिखने से जिनशासन की अनेक प्रकार से अवहेलना भी हो सकती है तथा उन पासत्था आदि की

अशुद्ध गवेषणा व आचार का अनुमोदन तथा तन्निमित्तक कर्मबंध का कारण भी होता है। अतः इनको संघाटा अर्थात् एक साधु या अनेक साधु देना या उनसे साधु लेना नहीं कल्पता है।

तात्पर्य यह है कि बाह्य व्यवहार में जो समान आचार विचार वाले हैं, उनके ही साथ रहने से संयमसाधना शांतिपूर्वक सम्पन्न हो सकती है और व्यवहार भी शुद्ध रहता है।

पासत्था आदि का स्वरूप—

१. पासत्थो-पार्श्वस्थः--

प्रत्येक पदार्थ के दो पार्श्व भाग होते हैं—एक सुल्टा, दूसरा उल्टा। उद्यत विहार संयमी जीवन का सुल्टा पार्श्वभाग है और शिथिलाचार रूप असंयमी जीवन संयमी जीवन का उल्टा पार्श्वभाग है।

दंसण-णाणचरित्ते, तवे य अत्ताहितो पवयणे य।
तेसिं पासविहारी, पासत्थं तं वियाणाहि ॥ ४३४ ॥

दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और प्रवचन में जिन्होंने अपनी आत्मा को स्थापित किया है ऐसे उद्यत विहारियों का जो पार्श्वविहारी है अर्थात् उनके समान आचार पालन नहीं करता है उसे पार्श्वस्थ जानना चाहिये।

पासोत्ति बंधणं तिय, एगट्ठं बंधहेतवो पासा।
पासत्थिय पासत्था, एसो अण्णोवि पज्जाओ ॥ ४३४३ ॥

पाश और बंधन ये दोनों एकार्थक हैं। बंधन के जितने हेतु हैं वे सब पाश हैं। उनमें जो स्थित हैं वे पार्श्वस्थ हैं, यह भी पार्श्वस्थ का अन्य पर्याय (एक अर्थ) है।

दुविधो खलु पासत्थो, देसे सव्वे य होइ नायव्वो।
सव्वे तिण्णि विगप्पा देसे सेज्जातरकुलादी ॥ ४३४० ॥

पार्श्वस्थ दो प्रकार के जानने चाहिए—
१. देशपार्श्वस्थ, २. सर्वपार्श्वस्थ,

देशपार्श्वस्थ शय्यातर कुलादि में एषणा करता है। सर्वपार्श्वस्थ के तीन विकल्प हैं।

सर्वपार्श्वस्थ—

दंसण-णाण-चरित्ते, सत्थो अच्छति तहिं ण उज्जमति।
एतेण उ पासत्थो, एसो अण्णोवि पज्जाओ ॥ ४३४२ ॥

१. दर्शन, २. ज्ञान, ३. चारित्र की आराधना में जो आलसी होता है अर्थात् उनकी आराधना में उद्यम नहीं करता है तथा उनके अतिचार अनाचारों का सेवन करता है वह सर्वपार्श्वस्थ है।

वह सर्वपार्श्वस्थ सूत्रपोरुषी, अर्थपोरुषी नहीं करता है, सम्यग्दर्शन के अतिचार शंका, कांक्षा आदि करता रहता है। सम्यक्चारित्र के अतिचारों का निवारण नहीं करता है। इसलिए वह सर्वपार्श्वस्थ है।

देश-पार्श्वस्थ—

१. सेज्जायर कुल, २. निस्सित, ३. ठवणकुल, ४. पलोयणा, ५. अभिहडेय ।
६. पुव्विं पच्छा संथुत, ७. णितियग्गपिंडभोति पासत्थो ॥ ४३४४ ॥

१. जो शय्यादाता के घर से भिक्षा लेता है ।
२. जो श्रद्धालु गृहस्थों के सहयोग से जीवननिर्वाह करता है ।
३. जो स्थापनाकुलों में अकारण एषणा करता है ।
४. बड़े सामूहिक भोज में आहार की एषणा करता है या काच में अपना प्रतिबिंब देखता है ।
५. जो सम्मुख लाया हुआ आहार लेता है ।
६. जो भिक्षा लेने के पहले या पीछे अपनी बड़ाई या दाता की प्रशंसा करता है ।
७. जो निमंत्रण स्वीकार करके प्रतिदिन निमंत्रक के घर से आहारादि ग्रहण करता रहता है ।

इस प्रकार के दोषों का आचरण करता है वह देश-पार्श्वस्थ है ।

२. ओसण्णो—अवसन्न—

यह देश्य विशेषण है, इस के तीन समानार्थक पर्याय हैं—

१. अवसण्ण, २. ओसण्ण, ३ उस्सण्ण ।

तीनों के तीन अर्थ—

१. अवसण्ण—आलसी
२. ओसण्ण—खण्डितचारित्र
३ उस्सण्ण—संयम से शून्य

चूर्णि—ओसण्णो दोसो—अधिकतर दोषों वाला,
ओसण्णो बहुतरगुणावराही—अनेक गुणों को दूषित करने वाला,
उयो (गतो-चुओ) वा संजमो तम्मि सुण्णो उस्सण्णो—संयम से च्युत-संयम शून्य अवसन्न होता है ।

समायारिं वितहं ओसण्णो पावती तत्थ । —गाथापूर्वार्ध ॥ ४३४९ ॥

संयम समाचारी से विपरीत आचरण करने वाला 'अवसन्न' कहा जाता है ।

गाथा—आवासग—सज्झाए, पिडलेहज्झाण भिक्ख भत्तट्ठे ।
काउस्सग्ग—पडिक्कमणे, कितिकम्म णेव पडिलेहा ॥ ४३४६ ॥
आवासगं अणियतं करेति, हीणातिरित्त विवरीयं ।
गुरुवयण—णिओग—वलयमाणे, इणमो उ ओसण्णे ॥ ४३४७ ॥

१. आवासग—आवस्सही आदि दस प्रकार की समाचारी ।
२. सज्झाए—स्वाध्याय-सूत्र पौरुषी, अर्थ पौरुषी करना ।
३. पडिलेह—दोनों समय वस्त्र पात्रादि का प्रतिलेखन करना ।

अशुद्ध गवेषणा व आचार का अनुमोदन तथा तन्निमित्तक कर्मबंध का कारण भी होता है। अतः इनको संघाडा अर्थात् एक साधु या अनेक साधु देना या उनसे साधु लेना नहीं कल्पता है।

तात्पर्य यह है कि बाह्य व्यवहार में जो समान आचार विचार वाले हैं, उनके ही साथ रहने से संयमसाधना शांतिपूर्वक सम्पन्न हो सकती है और व्यवहार भी शुद्ध रहता है।

पासत्था आदि का स्वरूप—

१. पासत्थो-पार्श्वस्थः--

प्रत्येक पदार्थ के दो पार्श्व भाग होते हैं—एक सुल्टा, दूसरा उल्टा। उद्यत विहार संयमी जीवन का सुल्टा पार्श्वभाग है और शिथिलाचार रूप असंयमी जीवन संयमी जीवन का उल्टा पार्श्वभाग है।

दंसण-णाणचरित्ते, तवे य अत्ताहितो पवयणे य।
तेसिं पासविहारी, पासत्थ तं वियाणाहि ॥ ४३४ ॥

दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और प्रवचन में जिन्होंने अपनी आत्मा को स्थापित किया है ऐसे उद्यत विहारियों का जो पार्श्वविहारी है अर्थात् उनके समान आचार पालन नहीं करता है उसे पार्श्वस्थ जानना चाहिये।

पासोत्ति बंधणं तिय, एगट्ठं बंधहेतयो पासा।
पासत्थिय पासत्था, एसो अण्णोवि पज्जाओ ॥ ४३४३ ॥

पाश और बंधन ये दोनों एकार्थक हैं। बंधन के जितने हेतु हैं वे सब पाश हैं। उनमें जो स्थित हैं वे पार्श्वस्थ हैं, यह भी पार्श्वस्थ का अन्य पर्याय (एक अर्थ) है।

दुविधो खलु पासत्थो, देसे सव्वे य होइ नायव्वो।
सव्वे तिण्णि विगप्पा देसे सेज्जातरकुलादी ॥ ४३४० ॥

पार्श्वस्थ दो प्रकार के जानने चाहिए—

१. देशपार्श्वस्थ, २. सर्वपार्श्वस्थ,

देशपार्श्वस्थ शय्यातर कुलादि में एषणा करता है। सर्वपार्श्वस्थ के तीन विकल्प हैं।

सर्वपार्श्वस्थ—

दंसण-णाण-चरित्ते, सत्थो अच्छति तहिं ण उज्जमति।
एतेण उ पासत्थो, एसो अण्णोवि पज्जाओ ॥ ४३४२ ॥

१. दर्शन, २. ज्ञान, ३. चारित्र की आराधना में जो आलसी होता है अर्थात् उनकी आराधना में उद्यम नहीं करता है तथा उनके अतिचार अनाचारों का सेवन करता है वह सर्वपार्श्वस्थ है।

वह सर्वपार्श्वस्थ सूत्रपोरुषी, अर्थपोरुषी नहीं करता है, सम्यग्दर्शन के अतिचार शंका, कांक्षा आदि करता रहता है। सम्यक्चारित्र के अतिचारों का निवारण नहीं करता है। इसलिए वह सर्वपार्श्वस्थ है।

देश-पार्श्वस्थ—

१. सेज्जायर कुल, २. निस्सित, ३. ठवणकुल, ४. पलोयणा, ५. अभिहडेय ।
६. पुव्विं पच्छा संथुत, ७. णितियग्गपिंडभोति पासत्थो ॥ ४३४४ ॥

१. जो शय्यादाता के घर से भिक्षा लेता है ।
२. जो श्रद्धालु गृहस्थों के सहयोग से जीवननिर्वाह करता है ।
३. जो स्थापनाकुलों में अकारण एषणा करता है ।
४. बड़े सामूहिक भोज में आहार की एषणा करता है या काच में अपना प्रतिबिंब देखता है ।
५. जो सम्मुख लाया हुआ आहार लेता है ।
६. जो भिक्षा लेने के पहले या पीछे अपनी बड़ाई या दाता की प्रशंसा करता है ।
७. जो निमंत्रण स्वीकार करके प्रतिदिन निमंत्रक के घर से आहारादि ग्रहण करता रहता है ।

इस प्रकार के दोषों का आचरण करता है वह देश-पार्श्वस्थ है ।

२. ओसण्णो—अवसन्न—

यह देश्य विशेषण है, इस के तीन समानार्थक पर्याय हैं—

१. अवसण्ण, २. ओसण्ण, ३. उस्सण्ण ।

तीनों के तीन अर्थ—

१. अवसण्ण—आलसी
२. ओसण्ण—खण्डितचारित्र
३. उस्सण्ण—संयम से शून्य

चूर्णि—ओसण्णो दोसो—अधिकतर दोषों वाला,
ओसण्णो बहुतरगुणावराही—अनेक गुणों को दूषित करने वाला,
उयो (गतो-चुओ) वा सजमो तम्मि सुण्णो उस्सण्णो—संयम से च्युत-संयम शून्य अवसन्न होता है ।

समायारिं वितहं ओसण्णो पावती तत्थ । —गाथापूर्वार्ध ॥ ४३४९ ॥

संयम समाचारी से विपरीत आचरण करने वाला 'अवसन्न' कहा जाता है ।

गाथा—**आवासग—सज्झाए, पिडलेहज्झाण भिक्ख भत्तट्ठे ।**
काउस्सग्ग—पडिक्कमणे, कितिकम्म णेव पडिलेहा ॥ ४३४६ ॥
आवासगं अणियतं करेति, हीणातिरित्त विवरीयं ।
गुरुवयण—णिओग—वलयमाणे, इणमो उ ओसण्णे ॥ ४३४७ ॥

१. आवासग—आवस्सही आदि दस प्रकार की समाचारी ।
२. सज्झाए—स्वाध्याय-सूत्र पौरुषी, अर्थ पौरुषी करना ।
३. पडिलेह—दोनो समय वस्त्र पात्रादि का प्रतिलेखन करना ।

४. झाण—ध्यान—पूर्व रात्रि या पिछली रात्रि में ध्यान करना।
५. भिक्ख—दोष रहित गवेषणा करना।
६. भत्तट्ठे - आगमोक्त विधि से आहार करना।
७ काउसग्ग—गमनागमन, गोचरी, प्रतिलेखन आदि के बाद कायोत्सर्ग करना।
८. पडिक्कमणे—प्रतिक्रमण करना।
९. कितिकम्मं—कृतिकर्म-वन्दन करना।
१०. पडिलेहा—प्रतिलेखन-बैठना आदि प्रत्येक कार्य देखकर करना तथा प्रत्येक वस्तु देख-कर या प्रमार्जन कर उपयोग में लेना।

जो ओसण्ण—अवसन्न होता है वह आवस्सही आदि दस प्रकार की समाचारियों को कभी करता है, कभी नहीं करता है, कभी विपरीत करता है। इस प्रकार स्वाध्याय आदि भी नहीं करता है या दूषित आचरण करता है तथा शुद्ध पालन के लिये गुरुजनों द्वारा प्रेरणा किये जाने पर उनके वचनों की उपेक्षा या अवहेलना करता है। वह "अवसन्न" कहा जाता है।

३. कुसील-कुशील-

जो निन्दनीय कार्यों में अर्थात् संयम-जीवन में नहीं करने योग्य कार्यों में लगा रहता है वह "कुशील" कहा जाता है।

कोउय भूतिकम्मे, पसिणापसिणं णिमित्तमाजीवी।

कक्क—कुरुय—सुमिण—लक्खण—मूल मंत—विज्जोवजीवी कुसीलो उ॥ ४३४५॥

१. जो कौतुककर्म करता है।
२ भूतिकर्म करता है।
३ अंगुष्ठप्रश्न या बाहुप्रश्न का फल कहता है अथवा आंखों में अंजन करके प्रश्नोत्तर करता है।
४. अतीत की, वर्तमान की और भविष्य की बातें बताकर आजीविका करता है।
५. जाति, कुल, गण, कर्म और शिल्प से आजीविका करता है।
६. लोध्र, कल्क आदि से अपनी जंघा आदि पर उबटन करता है।
७. शरीर की शुश्रूषा करता है अर्थात् बकुश भाव का सेवन करता है।
८ शुभाशुभ स्वप्नों का फल कहता है।
९. स्त्रियों के या पुरुषों के मस—तिल आदि लक्षणों का शुभाशुभ फल कहता है।

१०. अनेक रोगों के उपशमन हेतु कंदमूल का उपचार बताता है अथवा गर्भ गिराने का महापाप मूलकर्म दोष करता है।

११ मंत्र या विद्या से आजीविका करता है।

यह "कुशील" कहा जाता है।

४—संसत्त—संसेयो इमो—जो जारिसेसु मिलति सो तारिसो चेव भवति एरिसो संसत्तो णायव्वो-चूर्णि॥

जो जैसे साधुओं के साथ रहता है वह वैसा ही हो जाता है। अतः वह संसक्त कहा जाता है।

गाथा—पासत्थ अहाछंदे, कुसील ओसण्णमेव संसत्ते ।
पियधम्मो पियधम्मेसु चेव इणामो तु संसत्तो ॥ ४३५० ॥

जो पासत्थ, अहाछंद, कुशील और ओसण्ण के साथ मिलकर वैसा ही बन जाता है तथा प्रियधर्मी के साथ में रहता हुआ प्रियधर्मी बन जाता है इस तरह की प्रवृत्ति करने वाला "संसक्त" कहलाता है ।

गाथा—पंचासवपवत्तो, जो खलु तिहिं गारवेहिं पडिबद्धो ।
इत्थि-गिहि संकिलिट्ठो, संसत्तो सो य णायव्वो ॥ ४३५१ ॥

जो हिंसा आदि पांच आश्रवों में प्रवृत्त होता है । ऋद्धि, रस, साता इन तीन गर्वो मे प्रतिबद्ध अर्थात् भाव प्रतिबद्ध होता है । स्त्रियों के साथ संश्लिष्ट अर्थात् प्रतिसेवी होता है । गृहस्थों से संश्लिष्ट होता है अर्थात् प्रत्यक्ष रूप से या परोक्ष रूप से गृहस्थ के परिवार, पशु आदि के सुख-दुःख संबंधी कार्य करने में प्रतिबद्ध हो जाता है, इस प्रकार जैसा चाहे वैसा बन जाता है वह 'संसक्त' है ।

चूर्णि—"अहवा—संसत्तो अणेगरूवी नटवत् एलकवत् ।
जहा णडो पट्टवसा अणेगाणि रूवाणि करेति, ऊरणगो वा जहा हालिद्दरागेण रत्तो, धोविउं पुणो गुलिगगेरुगादिरागेण रज्जते एवं पुणो वि धोविउं अण्णोण्णेण रज्जति एवं एलगादिवत् बहुरूवी ।

भावार्थ—जो नट के समान अनेक रूप और भेड़ के समान अनेक रंगों को धारण कर सकता है एवं छोड़ सकता है, ऐसा बहुरुपिया स्वभाव वाला "संसक्त" कहा जाता है ।

५. नितिय—जो मासकल्प व चातुर्मासिककल्प की मर्यादा का उल्लंघन करके निरंतर एक ही क्षेत्र में रहता है, वह "कालातिक्रांत—नित्यक" कहलाता है, तथा मासकल्प और चातुर्मासिक कल्प पूरा करके अन्यत्र दुगुणा समय बिताये बिना उसी क्षेत्र में पुनः आकर निवास करता है वह "उपस्थाननित्यक" कहलाता है । आचा. श्रु. २ अ. २, उ. २ में कही गई उपस्थान क्रिया का तथा कालातिक्रात क्रिया का सेवन करने वाला "नित्यक"—"नितिय" कहलाता है । अथवा जो अकारण सदा एक स्थान पर ही स्थिर रहता है, विहार नही करता है वह नित्यक कहा जाता है । विशेष वर्णन के लिये भाष्यकार ने दूसरे उद्देशक के "नितियावास" सूत्र का निर्देश कर दिया है ।

इन १० सूत्रों का क्रम भिन्न-भिन्न प्रतियों में भिन्न-भिन्न है । किन्तु भाष्य चूर्णि के अवलोकन से उपरोक्त क्रम ही उचित प्रतीत हुआ है । यथा—

गाथा—"पासत्थोसण्णाणं, कुसील संसत्त नितियवासीणं ।
जे भिक्खू संघाडं, दिज्जा अहवा पडिच्छेज्जा ॥" १८२८ ॥

इन दस सूत्रों की यह प्रथम भाष्य गाथा है । इसमें तथा इसके पूर्व सूत्रस्पर्शी चर्णि है, दोनों में सूत्रक्रम समान है तथा भाष्य गाथा १८३० में भी यही क्रम है ।

चूर्णि के साथ के मूल पाठ में तथा तेरापंथी महासभा द्वारा संपादित "णिसीहज्झयणं" में णितियस्स के बाद "संसत्तस्स" के सूत्रों को रखा है । इसके कारणों का स्पष्टीकरण वहां नहीं किया

गया है। किन्तु इन सूत्रों की चूर्णि व भाष्य में तो उपर्युक्त क्रम को ही स्वीकार किया गया है। फिर भी निशीथ के सभी प्रकाशनों में "नितियस्स" के बाद "संसत्तस्स" के सूत्र हैं। जो परम्परा से चली आई भूल मात्र है, ऐसा समझकर भाष्यसम्मत क्रम स्वीकार किया है।

पासत्था आदि की व्याख्या करते हुए संयमविपरीत जितनी प्रवृत्तियों का यहां कथन किया गया है, उनका विशेष परिस्थितिवश अपवाद रूप में गीतार्थ या गीतार्थ की नेश्राय से सेवन किया जाने पर तथा उनकी श्रद्धा प्ररूपणा आगम के अनुसार रहने पर एवं उस अपवाद स्थिति से मुक्त होते ही प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध संयम आराधना में पहुँचने की लगन (हार्दिक अभिलाषा) रहने पर वह पासत्था आदि नहीं कहा जाता है। किन्तु प्रतिसेवी निर्ग्रंथ कहा जाता है।

शुद्ध संस्कारों के अभाव में, संयम के प्रति सजग न रहने से, अकारण दोष सेवन से, स्वच्छंद मनोवृत्ति से, आगमोक्त आचार के प्रति निष्ठा न होने से, निषिद्ध प्रवृत्तियां चालू रखने से तथा प्रवृत्ति सुधारने व प्रायश्चित्त ग्रहण का लक्ष्य न होने से, उन सभी दूषित प्रवृत्तियों को करने वाले 'पासत्था' आदि कहे जाते हैं।

इन पासत्था आदि का स्वतंत्र गच्छ भी हो सकता है, कहीं वे अकेले-अकेले भी हो सकते हैं। उद्यत विहारी गच्छ में रहते हुए भी कुछ भिक्षु या कोई भिक्षु व्यक्तिगत दोषों से पासत्था आदि हो सकते हैं तथा पासत्था आदि के गच्छ में भी कोई कोई शुद्धाचारी हो सकता है। यथार्थ निर्णय तो स्वयं की आत्मा या सर्वज्ञ सर्वदर्शी ही कर सकते हैं।

पासत्था आदि के इन लक्षणों के ज्ञाता होकर संयमसाधना के साधकों को दूषित प्रवृत्तियों से सावधान रहना चाहिये।

सचित्त-लिप्त हस्तादि से आहार ग्रहण करने का प्रायश्चित्त—

४९. जे भिक्खू "उदउल्लेण" हत्थेण वा मत्तेण वा, दव्वीए वा, भायणेण वा, असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

५०. जे भिक्खू "मट्टिया-संसट्ठेण" हत्थेण वा "जाव" पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

५१. जे भिक्खू "ऊस-संसट्ठेण" हत्थेण वा "जाव" पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

५२. जे भिक्खू "हरियाल-संसट्ठेण" हत्थेण वा "जाव" पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

५३. जे भिक्खू "हिंगुल-संसट्ठेण" हत्थेण वा "जाव" पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

५४. जे भिक्खू "मणोसिल-संसट्ठेण" हत्थेण वा "जाव" पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

५५. जे भिक्खू "अंजण-संसट्ठेण" हत्थेण वा "जाव" पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

५६. जे भिक्खू "लोण-संसट्ठेण" हत्थेण वा "जाव" पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

५७. जे भिक्खू "गेरुय-संसट्ठेण" हत्थेण वा "जाव" पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

५८. जे भिक्खू "वण्णिय-संसट्ठेण" हत्थेण वा "जाव" पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

५९. जे भिक्खू "सेढिय संसट्ठेण" हत्थेण वा "जाव" पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

६०. जे भिक्खू "सोरट्ठियपिट्ठसंसट्ठेण" हत्थेण वा "जाव" पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

६१. जे भिक्खू "कुक्कुस-संसट्ठेण" हत्थेण वा "जाव" पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

६२. जे भिक्खू "उक्कुट्ठ-संसट्ठेण" हत्थेण वा "जाव" पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

६३. जे भिक्खू "असंसट्ठेण" हत्थेण वा "जाव" पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

४९. जो भिक्षु पानी से गीले हाथ से मिट्टी के बर्तन (सरावला प्याला आदि) से, कुड़छी से या किसी धातु के बर्तन से दिया जाने वाला अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

५०. जो भिक्षु सचित्त मिट्टी से लिप्त, हाथ से यावत् ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

५१. जो भिक्षु उस—पृथ्वी-खार से लिप्त हाथ से यावत् ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

५२. जो भिक्षु हड़ताल-चूर्ण से लिप्त हाथ से यावत् ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

५३. जो भिक्षु हिंगुल-चूर्ण से लिप्त हाथ से यावत् ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

५४. जो भिक्षु मैनशिल-चूर्ण से लिप्त हाथ से यावत् ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

५५. जो भिक्षु अंजन-सुरमा से लिप्त हाथ से यावत् ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

५६. जो भिक्षु नमक-चूर्ण से लिप्त हाथ से यावत् ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

५७. जो भिक्षु गेरु—गैरिका-चूर्ण से लिप्त हाथ से यावत् ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

५८. जो भिक्षु वर्णिक—पीली-मिट्टी के चूर्ण से लिप्त हाथ से यावत् ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

५९. जो भिक्षु खडिया (खड्डी)चूर्ण से लिप्त हाथ से यावत् ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

६०. जो भिक्षु फिटकरी के चूर्ण से लिप्त हाथ से यावत् ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

६१. जो भिक्षु हरी-वनस्पति के छिलके, भूसे आदि से लिप्त हाथ से यावत् ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

६२. जो भिक्षु हरी-वनस्पति के चूर्ण से लिप्त हाथ से यावत् ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

६३. जो भिक्षु अलिप्त—बिना खरडे—हाथ से यावत् ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—सूत्र ४९ में अप्काय की विराधना, सूत्र ५० से ६० तक पृथ्वीकाय की विराधना और सूत्र ६१-६२ में वनस्पतिकाय की विराधना की अपेक्षा से ये प्रायश्चित्त कहे गये हैं। अतः यहां ये सब पदार्थ सचित्त की अपेक्षा से गृहीत हैं। यदि किसी भी प्रयोगविशेष से ये वस्तुएं शस्त्र-परिणत होकर अचित्त हो गई हों और उनसे हाथ आदि लिप्त हों तो उन हाथों से आहार ग्रहण करने का कोई प्रायश्चित्त नहीं समझना चाहिये। यथा—"उदउल्लं" गर्म पानी से भी गीले हाथ हो सकते हैं। नमक कभी अचित्त भी हो सकता है इत्यादि। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिये।

सूत्र ६३ में पश्चात्कर्म की अपेक्षा प्रायश्चित्त कहा गया है। यदि पश्चात्कर्म दोष न हो ऐसा खाद्य पदार्थ हो अथवा दाता विवेक वाला हो जो पश्चात्कर्म दोष न लगाये तो असंसृष्ट हाथ आदि से भिक्षा लेने का प्रायश्चित्त नहीं है। दशवै-अ. ५ उ. १ गा. ३५ में कहा है—पच्छाकम्मं जहिं भवे' अर्थात् जहां पश्चात्कर्म हो ऐसा दिया जाता हुआ आहार भिक्षु ग्रहण न करे।

आचा. श्रु. २ अ. १ उ. ११ में सात पिंडैषणा में प्रथम पिंडैषणा अभिग्रह का कथन है। उस अभिग्रह को धारण करने वाला भिक्षु असंसृष्ट (अलिप्त) हाथ आदि से ही भिक्षा ग्रहण करता है, संसृष्ट हाथ आदि से नहीं। इस प्रतिज्ञा वाला भिक्षु लेप्य अलेप्य दोनों प्रकार के खाद्य पदार्थ ग्रहण कर सकता है क्योंकि केवल अलेप्य (रूक्ष) पदार्थ ग्रहण करने की 'अलेपा' नामक चौथी पिंडैषणा (प्रतिज्ञा) कही है। अतः यह असंसृष्ट का प्रायश्चित्त उपर्युक्त अपेक्षा से है, ऐसा समझना आगम सम्मत है।

शब्दार्थ—१. "मट्टिया"—साधारण मिट्टी—चिकनी मिट्टी, काली मिट्टी लाल मिट्टी आदि जो कच्चे मकान बनाने, बर्तन मांजने—साफ करने, घड़े आदि बर्तन बनाने के काम में आती है।

२. "ऊस"—साधारण भूमि पर अर्थात् ऊपर भूमि पर खार जमता है, उसे खार या 'पांशु-खार' कहते हैं। "ऊषः—पांशुक्षारः"। दशवै. चूर्णि व टीका।

३. "मणोसिल"—मैनसिल—एक प्रकार की पीली कठोर मिट्टी।

४. "गेरुय"—कठोर लाल मिट्टी।

५. "वण्णिय"—पीली मिट्टी-'जेण सुवण्णं वण्णिज्जति'।

६. "सेडिय"—सफेद मिट्टी—खडिया मिट्टी।

७. "सोरट्ठिय"—फिटकरी—"सोरट्ठिया तूवरिया जीए सुवण्णकारा उप्पं करेंति सुव्वण्णस्स पिंडं"।

८. उक्कुट्ठ—"सचित्त वणस्सइचुण्णो—ओक्कुट्ठो भण्णति" प्राकृत भाषा में अनेक विकल्प होते हैं, इसलिये—'उक्कट्ठ, उक्किट्ठ-उक्कुट्ठ' तीनों ही शुद्ध है तथा सेढिय सेडिय' दोनों शुद्ध हैं। दोनो चूर्णि में मिलते हैं।

इन १५ सूत्रों में जो प्रायश्चित्तविधान है इनका निर्देश आचारांग श्रु. २, अ १, उ. ६ व दशवैकालिक अ. ५, उ. १ में हुआ है। दशवैकालिक सूत्र में इस विषय की दो गाथाएँ हैं, जिनमें १६ प्रकार से हाथ आदि लिप्त कहे हैं। वहां "सोरट्ठिय" के बाद जो "पिट्ठ" शब्द है वह "सोरट्ठिय" पर्यंत कही गई सभी कठोर पृथ्वियों का विशेषण मात्र है। क्योंकि उन कठोर पृथ्वियों के चूर्ण से ही हाथ लिप्त हो सकता है। अतः पृथ्वी संबंधी शब्दों के समाप्त होने पर इस शब्द का प्रयोग गाथा में हुआ है किन्तु उसे भी स्वतंत्र शब्द मान कर १७ प्रकार से लिप्त हाथ आदि है ऐसा अर्थ किया जाता है। वह तर्कसंगत नही है अपितु केवल भ्रान्ति है।

"अगस्त्य चूर्णि में व जिनदासगणी की चूर्णि में "पिट्ठ" शब्द को स्वतंत्र मान कर जो अर्थसंगति की गई है वह इस प्रकार है—

"अग्नि की मद आंच से पकाया जाने वाला अपक्व पिष्ट (आटा) एक प्रहर से शस्त्रपरिणत (अचित्त) होता है और तेज आंच से पकाया जाने वाला शीघ्र शस्त्रपरिणत होता है।

यहां पिष्ट (धान्य के आटे) को अग्नि पर रखने के पहले और बाद में सचित्त बताया है वह उचित नहीं है।

धान्य में चावल तो अचित्त माने गये हैं और शेष धान्य एकजीवी होते है, वे धान्य पिस कर आटा बन जाने के बाद भी घंटों तक आटा सचित्त रहे यह व्याख्या भी "पिट्ठ" शब्द को अलग मानने के कारण ही की गई है।

गोचरी के समय घर में आटे से भरे हाथ दो प्रकार के हो सकते हैं—

१. आटा छानते समय या बर्तन से परात में लेते समय, २. धान्य पीसते समय।

धान्य पीसने वाले से तो गोचरी लेना निषिद्ध है ही और छानते समय तक सचित्त मानना संगत नही है। अतः "पिष्ट" शब्द को सूत्रोक्त पृथ्वीकाय के शब्दों का विशेषण मानकर उनके चूर्ण से लिप्त हाथ आदि ऐसा अर्थ करने से मूल पाठ एवं अर्थ दोनों की संगति हो जाती है।

दशवैकालिक सूत्र में इस विषय के १६ शब्द है। यहां उनका १४ सूत्रों में प्रायश्चित्त कहा है। "उदउल्ल" में "ससिणिद्ध" का प्रायश्चित्त समाविष्ट कर दिया गया है और 'ससरक्ख' का प्रायश्चित्त मट्टियासंसट्ठ' में समाविष्ट कर दिया गया है। अतः १४ सूत्र ही होते हैं और एक सूत्र "असंसट्ठ" का होने से कुल १५ सूत्र होते हैं। भाष्य गाथा से इनका क्रम स्पष्ट ज्ञात हो जाता है।

चूर्णिकार ने कुछ शब्दों के ही अर्थ किये है।

भाष्य गाथा—"उदउल्ल, मट्टिया वा, ऊसगते चेव होंति बोधव्वे।
हरिताले हिंगुलए, मणोसिला अंजणे लोणे ॥ १८४८ ॥

गेरुय वण्णिय सेडिय, सोरट्ठिय पिट्ठ कुक्कुसकए य ।
उक्कट्ठमसंसट्ठे, णेयव्वे आणुपुव्वीए ॥ १८४९ ॥

यहां पर निशीथ चूर्णिकार ने भी "पिट्ठ" शब्द को स्वतंत्र मानकर "तंदुलपिट्ठं आम असत्थोवहतं" व्याख्या की है। यही अर्थ उपलब्ध अनुवादों में किया जाता है।

"तंदुल" से सूखे चावल अर्थ किया जाए तो वे अचित्त ही होते हैं और हरे चावल अर्थ किया जाय तो उसके लिये "उक्कुट्ठ" शब्द का आगे स्वतंत्र सूत्र है जिसका अर्थ चूर्णिकार स्वयं सचित्त-वणस्सईचुण्णो ओकुट्ठो भण्णति ऐसा करते हैं। जिसमें सभी हरी वनस्पतियों के कूटे व चटनी आदि का समावेश हो सकता है।

भाष्य, चूर्णि एवं दशवैकालिक की अपेक्षा निशीथ के मूल पाठ में कुछ भिन्नता है। कई प्रतियों में तो 'सोरट्ठिय' शब्द नहीं है किन्तु अन्य 'कंतव, लोद्ध, कंदमूल, सिंगबेर, पुप्फग' ये शब्द बढ़ गये हैं तथा 'एवं एक्कवीसं हत्था भाणियव्वा', 'एगवीसभेएण हत्थेण' आदि पाठ बढ़ गये हैं तो किसी प्रति में २३ संख्या भी हो गई है।

वनस्पति से ससट्ठ की अपेक्षा यहां दो शब्द प्रयुक्त है—

१. वनस्पति का कूटा पीसा चूर्ण चटनी, २. वनस्पति के छिलके भूसा आदि। इन से हाथ आदि संसृष्ट हो सकते हैं और इनमें सभी प्रकार की वनस्पति का समावेश भी हो जाता है। अतः लोध्र, कंद, मूल, सिंगबेर, पुप्फग के सूत्रों की अलग कोई आवश्यकता नहीं रहती है। भाष्य, चूर्णि तथा दशवैकालिक आदि से भी ये शब्द प्रामाणित नहीं है। 'कंतव' शब्द तो अप्रसिद्ध ही है। अत: ये पांच शब्द और २१ हत्था आदि पाठ बहुत बाद में जोड़ा गया है। क्योंकि उसके लिये कोई प्राचीन आधार देखने में नहीं आता है।

अन्योन्य शरीर का परिकर्म करने का प्रायश्चित्त—

६४. जे भिक्खू अण्णमण्णस्स पाए आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा, आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ। एवं तइयउद्देसगमेणं णेयव्वं जाव जे भिक्खू गामाणुगामं दूइज्जमाणे अण्णमण्णस्स सीसदुवारियं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

६४. जो भिक्षु आपस में एक दूसरे के पांवों का एक बार या अनेक बार 'आमर्जन' करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है। इस प्रकार तीसरे उद्देशक के (सूत्र १६ से ६९ तक के) समान पूरा आलापक जान लेना चाहिये यावत् जो भिक्षु आपस में एक दूसरे का ग्रामानुग्राम विहार करते समय मस्तक ढांकता है या ढांकने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—ये कुल ५४ सूत्र हैं। आवश्यक कारण के बिना, केवल भक्ति या कुतूहलवश आपस में शरीर का परिकर्म करने पर इन सूत्रों के अनुसार प्रायश्चित्त आता है। तीसरे उद्देशक में ये कार्य स्वयं करने का प्रायश्चित्त कहा गया है और यहां साधु-साधु आपस में परिकर्म करें तो प्रायश्चित्त कहा गया है। इतनी विशेषता के साथ यहां भी ५४ ही सूत्र समझ लेना चाहिए और उनका अर्थ एवं विवेचन भी प्रायः वैसा ही समझ लेना चाहिए।

चूर्णिकार ने यहां ४१ सूत्र-संख्या का निर्देश किया है वह इस प्रकार है—

"इत्यादि एक्कतालीसं सुत्ता उच्चारेयव्वा जाव अण्णमण्णस्स सीसदुवारियं करेइ इत्यादि अर्थः पूर्ववत् ।

गाथा—पादादि तु पमज्जण, सीसदुवारादि जो गमो ततिए ।
अण्णोण्णस्स तु करणे सो चेव गमो चउत्थम्मि ॥ १८५५ ॥
तृतीय उद्देशगमेन नेयं । चूर्णि ।

इस व्याख्या में किसी भी सूत्र को कम करने का निर्देश नहीं होते हुए भी चूर्णि में सूत्र संख्या ४१ कहने का कारण यह है कि तीसरे उद्देशक में २६ सूत्रों के लिये सूत्रसंख्या २६ कह कर भी पद संख्या १३ कही है। उसी पद संख्या को सभवतः यहां सूत्रसंख्या गिन ली गई है। जिससे ५४ में से १३ की संख्या कम होने पर ४१ सूत्रसंख्या कही गई है। अतः उपर्युक्त ५४ सूत्रों का मूल पाठ इस उद्देशक में होने पर भी चूर्णिकारकथित ४१ की संख्या में कोई विरोध नहीं होता है। केवल विवक्षा भेद ही है।

सूत्र ६४ से ११७ तक अन्योन्य शरीर-परिकर्म सूत्र तीसरे उद्देशक के समान है। इनकी तालिका इस प्रकार है—

		संख्या
६४ से ६९	पैर-परिकर्म	६
७० से ७५	काया-परिकर्म	६
७६ से ८१	व्रण-चिकित्सा	६
८२ से ८७	गंडमाल आदि की शल्य-चिकित्सा	६
८८	कृमि निकालना	१
८९	नख काटना	१
९० से ९५	रोम-परिकर्म	६
९६ से ९८	दंत-परिकर्म	३
९९ से १०४	होठ-परिकर्म	६
१०५ से १११	चक्षु-परिकर्म	७
११२ से ११४	रोम-केश परिकर्म	३
११५	प्रस्वेद निवारण	१
११६	चक्षु आदि का मैल निकालना	१
११७	मस्तक ढांक कर विहार करना	१
		५४

परिष्ठापना समिति के दोषों का प्रायश्चित्त—

११८. जे भिक्खू साणुप्पए उच्चार-पासवणभूमिं ण पडिलेहेइ, ण पडिलेहंतं वा साइज्जइ।

११९. जे भिक्खू तओ उच्चार-पासवणभूमिओ न पडिलेहेइ, न पडिलेहंतं वा साइज्जइ।

१२०. जे भिक्खू खुड्डागंसि थंडिलंसि उच्चार-पासवणं परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ।

१२१. जे भिक्खू उच्चार-पासवणं अविहीए परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ।

१२२. जे भिक्खू उच्चार-पासवणं परिट्ठवेत्ता ण पुंछइ, ण पुंछंतं वा साइज्जइ।

१२३. जे भिक्खू उच्चार-पासवणं परिट्ठवेत्ता कट्ठेण वा, किलिंचेण वा, अंगुलियाए वा, सलागाए वा पुंछइ, पुंछंतं वा साइज्जइ।

१२४. जे भिक्खू उच्चार-पासवणं परिट्ठवेत्ता णायमइ, णायमंतं वा साइज्जइ।

१२५. जे भिक्खू उच्चार-पासवणं परिट्ठवेत्ता तत्थेव आयमइ, आयमंतं वा साइज्जइ।

१२६. जे भिक्खू उच्चार-पासवणं परिट्ठवेत्ता अइदूरे आयमइ आयमंतं वा साइज्जइ।

१२७. जे भिक्खू उच्चार-पासवणं परिट्ठवेत्ता परं तिण्हं णावापूराणं आयमइ, आयमंतं वा साइज्जइ।

११८. जो भिक्षु चौथी पोरिसी के चौथे भाग में उच्चार-प्रस्रवण की भूमि का प्रतिलेखन नहीं करता है या नहीं करने वाले का अनुमोदन करता है।

११९. जो भिक्षु तीन उच्चार-प्रस्रवण भूमि की प्रतिलेखना नहीं करता है या नहीं करने वाले का अनुमोदन करता है।

१२०. जो भिक्षु एक हाथ से भी कम लम्बी-चौड़ी जगह में उच्चार-प्रस्रवण परठता है या परठने वाले का अनुमोदन करता है।

१२१. जो भिक्षु उच्चार-प्रस्रवण को अविधि से परठता है या परठने वाले का अनुमोदन करता है।

१२२. जो भिक्षु उच्चार-प्रस्रवण को परठ कर मलद्वार को नहीं पोंछता है या नहीं पोंछने वाले का अनुमोदन करता है।

१२३. जो भिक्षु उच्चार-प्रस्रवण को परठ कर मलद्वार को काष्ठ से, बांस की खपच्ची से, अंगुली से या बेंत आदि की शलाका से पोंछता है या पोंछने वाले का अनुमोदन करता है।

१२४. जो भिक्षु उच्चार-प्रस्रवण को परठ कर आचमन नहीं करता है या नहीं करने वाले का अनुमोदन करता है।

१२५. जो भिक्षु उच्चार-प्रस्रवण को परठ कर वहीं उसके ऊपर ही आचमन करता है या आचमन करने वाले का अनुमोदन करता है।

१२६. जो भिक्षु उच्चार-प्रस्रवण को परठकर अति दूर जाकर आचमन करता है या आचमन करने वाले का अनुमोदन करता है।

१२७. जो भिक्षु उच्चार-प्रस्रवण को परठकर तीन से अधिक पसली से आचमन करता है या आचमन करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—इन दस सूत्रों का संक्षिप्त भाव यह है कि संध्या समय में तीन उच्चार-प्रस्रवण परठने की भूमियों का प्रतिलेखन करना चाहिये। बैठने के लिये जीवरहित भूमि कम से कम एक हाथ लंबी चौड़ी होनी ही चाहिये। दिशावलोकन आदि विधि का पालन करना चाहिये। मल-निवृत्ति के बाद वस्त्रखंड से मलद्वार को पोंछ कर साफ करना चाहिये। फिर कुछ दूर हट कर मर्यादित जल से शुद्धि कर लेनी चाहिये।

पोंछना और आचमन आदि का कथन बड़ी नीत से ही संबंधित है। बड़ी शंका की बाधा कभी कभी होती है। अतः तीन भूमियों का प्रतिलेखन भी उसके लिये उपयुक्त है।

लघुशंका से निवृत्त होने के बाद पोंछना या आचमन करना आवश्यक नहीं है तथा प्रायः तीन से अधिक बार भी लघुशंका के लिये जाना होता है। इसलिए इन दस सूत्रों का अर्थ मल-त्याग की मुख्यता से समझना उचित है।

१. खुड्डागंसि"—रयणिपमाणातो जं आरतो तं खुड्डं।"

गाथा—वित्थारायामेणं, थंडिल्लं जं भवे रयणिमित्तं।
चउरंगुलोवगाढं, जहण्णयं तं तु वित्थिण्णं॥ १८६४॥

लंबाई-चौड़ाई में एक हाथ से कम विस्तार वाली भूमि "खुड्डग" कही जाती है और एक हाथ विस्तार वाली 'जघन्य विस्तीर्ण' भूमि कही जाती है।

२. "साणुप्पए"—"साणुप्पओ णाम चउभागावसेस चरिमाए" चौथी पौरुषी के चौथे भाग में अर्थात् स्वाध्याय से निवृत्त होने के बाद संध्या समय के अस्वाध्याय काल में शय्याभूमि व उच्चार-प्रस्रवण भूमि की प्रतिलेखना करनी चाहिये।

हरी वनस्पति, कीडियों आदि के बिल, खड्डे, विषम भूमि आदि की जानकारी प्रतिलेखन करने से ही होती है। प्रतिलेखन करने पर अनेक दोषों से बचा जा सकता है। किन्तु प्रतिलेखन न करने पर अचानक हुए दीर्घ शंका के वेग को रोकने पर रोग या मृत्यु भी होना संभव है।

३. 'तओ'—तीन जगह प्रतिलेखन करने का कारण यह है कि एक ही जगह देखने पर वहां यदि अन्य कोई मल त्याग कर दे या पशु आकर बैठ जाय तो अनेक दोषों की संभावना रहती है। अतः तीन भूमियों का प्रतिलेखन करना चाहिये।

४. "अविहीए—मल त्याग के पूर्व बैठने की भूमि का प्रतिलेखन या प्रमार्जन करना, 'कोई आसपास में है या नहीं' यह जानने के लिए दिशावलोकन करना, जल्दी सूख जाय ऐसे स्थान पर विवेकपूर्वक परठना, मल में कृमि आते हों तो धूप में मलत्याग नहीं करना इत्यादि समाचारी का पालन करना विधि कहलाता है। उससे विपरीत करना अविधि है।

भाष्यकार ने विधि के वर्णन में कहा है कि "अणुजाणह जस्सुग्गहो" ऐसा बोलकर फिर परठना चाहिये जिससे देव दानव का उपद्रव न हो तथा दिन में उत्तर दिशा की ओर तथा रात्रि में दक्षिण दिशा की ओर मुख करना चाहिये। हवा, बस्ती व सूर्य की तरफ भी पीठ नहीं करना आदि वर्णन किया है।

५. "पुंछइ"—मलद्वार को कपड़े से पोंछ लेने के बाद थोड़े पानी से आचमन करने पर भी शुद्धि हो सकती है। जीर्ण कपड़ा भी साधु के पास प्रायः मिल जाता है। काष्ठ आदि से पोंछने का निषेध करने का कारण यह है कि कोमल अंग में किसी प्रकार का आघात न लगे। अंगुली या हाथ से पोंछने पर स्वच्छता नहीं रहती तथा बहुत समय तक हाथ में गंध आती रहती है अतः इनसे पोंछने का प्रायश्चित्त कहा है।

६. 'आचमन'—उच्चारे वोसिरिज्जमाणे अवस्सं पासवणं भवति त्ति तेण गहितं। पासवणं पुण काउं सागारिए (अंगादाणं णायमइ जहा उच्चारे'—मल त्यागने के समय मूत्र अवश्य आता है इसलिये ही सूत्र में मल के साथ मूत्र का कथन है। किन्तु मल त्यागने के बाद मलद्वार का आचमन (प्रक्षालन) किया जाता है, वैसे मूत्रेन्द्रिय का आचमन करना नहीं समझना चाहिये। मलद्वार को वस्त्रखंड से पोंछ लेने पर भी पूर्ण शुद्धि नहीं होती है तथा उसकी अस्वाध्याय रहती है। अतः आचमन करना भी आवश्यक होता है, आचमन नहीं करने पर सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है।

मल त्यागने के बाद उसके ऊपर ही आचमन करने से गीलापन अधिक बढ़ता है जिससे सूखने में अधिक समय लगने से विराधना की संभावना रहती है। अतः कुछ दूरी पर आचमन करना उचित है। वहीं पर आचमन करने से हाथ के मल लगने की भी संभावना रहती है। अधिक दूर जाकर शुचि करने से लोगों में आचमन न करने की भ्रांति भी हो सकती है।

७. णावापूराणं—"णाव" त्ति पसतो, तीहिं आयमियव्वं।

गाथा—उच्चारमायरित्ता, परेण तिण्हं तु णावपूरेणं।
जे भिक्खू आयमति, सो पावति—आणमादीणि ॥ १८८० ॥

तीन पसली से ज्यादा पानी का उपयोग करने पर निम्न दोषों की प्राप्ति होती है—

उप्पीलणा पधोइयस्स, कुल्लमा सोणती तारिसगस्स उच्छोलणा दोसा भवंति, पिपीलियादीणं वा पाणाणं उप्पिलावणा भवइ, विलरंधे तसा पडंति, तरुगणपत्ताणि वा, पुप्फाणि वा, फलाणि वा पडंति कुरुकुयकरणे बाउसत्तं भवति। भाष्य गाथा ॥ १८८१ ॥

दश. अ. ४ में कहा है—जो बार-बार प्रक्षालन करता है, धोता है ऐसे भिक्षु की सुगति दुर्लभ है, प्रक्षालन से अन्य अनेक दोष लगते हैं। अधिक पानी के रेले से कीड़ी आदि अनेक प्राणियों को पीड़ा होती है। किसी खड्डे में पानी भरने पर उसमें त्रस जीव पड़ते हैं तथा वृक्ष के पत्ते, पुष्प, फल आदि पड़ते हैं।

अधिक प्रक्षालन करने से संयम मलीन होता है।

नावापूरक-नाव जैसी आकृति वाली पानी भरी एक हाथ की अंजली (पसली) को नावापूरक कहा गया है, मल-मूत्र त्यागने के बाद ऐसे तीन नावापूरकों से मलद्वार की शुद्धि करनी चाहिए।

जो भिक्षु मल त्याग करके तीन से अधिक नावापूरकों द्वारा यदि शुद्धि करता है तो वह वीतराग की आज्ञाभंग आदि दोषों का पात्र होता है।

तीसरे उद्देशक के अंत में मल-मूत्र त्यागने योग्य और अयोग्य भूमियों का कथन है। योग्य स्थंडिल के अभाव में दिन व रात्रि में अपने स्थान पर अपने ही भाजन में मल त्याग की विधि का निर्देश किया गया है।

इस चतुर्थ उद्देशक के भी इन अंतिम १० सूत्रों में उच्चार-प्रस्रवण-परिष्ठापन के विषय में कहा है। किन्तु यहाँ योग्य स्थंडिलभूमि में ही जाकर मलत्याग की विधि संबंधी सूचना देते हुए प्रायश्चित्त कहा गया है।

पारिहारिक सह भिक्षार्थ गमन प्रायश्चित्त–

१२८. जे भिक्खू अपरिहारिए णं "परिहारियं" वएज्जा—एहि अज्जो ! तुमं च अहं च एगओ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेत्ता तओ पच्छा पत्तेयं पत्तेयं भोक्खामो वा पाहामो वा, जो तं एवं वयइ, वयंतं वा साइज्जइ। तं सेवमाणे आवज्जइ मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं।

१२८. जो भिक्षु अपारिहारिक है, वह पारिहारिक से यह कहे कि हे आर्य ! आओ तुम और मैं एक साथ जाकर अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य ग्रहण करके उसके बाद दोनों अलग-अलग खायेंगे पीयेंगे, इस प्रकार जो पारिहारिक से कहता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है। उपर्युक्त १२८ सूत्रों में कहे गये दोषस्थानों का सेवन करने पर लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन—उद्देशक २ सूत्र ४० में पारिहारिक और अपारिहारिक शब्द का प्रयोग हुआ है। वहां इनका अर्थ क्रमशः दोष न लगाने वाला और दोष लगाने वाला है।

किन्तु यहां क्रमशः जिसका आहार अलग है, ऐसा प्रायश्चित्त वहन करने वाला साधु और प्रायश्चित्त रहित शुद्ध साधु, ये अर्थ हैं

चूर्णि—"पायच्छित्तं अणावण्णो अपरिहारिओ, आवण्णो—मासियं जाव छम्मासियं सो परिहारिओ।"

प्रायश्चित्त के निमित्त तपश्चर्या करने वाला साधु "पारिहारिक" कहा जाता है, आचार्य के अतिरिक्त गच्छ के सभी साधुओं द्वारा वह परिहार्य होता है, उसके साथ केवल आचार्य ही वार्तालाप आदि व्यवहार करते हैं, गच्छ के अन्य साधु उसके साथ किसी प्रकार का व्यवहार नहीं कर सकते, इस प्रकार वह गच्छ के लिये परिहरणीय है, अतः वह पारिहारिक कहा जाता है।

प्रश्न—यह प्रायश्चित्त वहन कौन कर सकता है ?

उत्तर—१. सुदृढ संहनन वाला हो, २. धैर्यवान् हो, ३. गीतार्थ हो, ४. समर्थ हो—पूर्व के तीन गुण होते हुए भी बाल वृद्ध या रोगी हो तो वह असमर्थ कहलाता है। अतः जो तरुण एवं स्वस्थ हो उसे ही समर्थ समझना चाहिये।

प्रश्न—वह कौन-सा प्रायश्चित्त वहन करता है ?

उत्तर—एकमासिक यावत् छःमासिक प्रायश्चित्त वहन करता है।

प्रश्न—वह क्या तपस्या करता है ?

उत्तर—कम से कम एकांतर उपवास करता है और पारणे के दिन आयंबिल करता है।

प्रश्न—इस सूत्र में तो गोचरी साथ जाने का प्रायश्चित्त कहा है तथा और भी उसके साथ अन्य अनेक प्रकार के व्यवहार करने पर प्रायश्चित्त आता है ?

उत्तर—उसके साथ आठ कार्य करने पर लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है, जिसमें आठवां साथ में गोचरी जाने का है। अतः पूर्व के सात कार्य भी उसके साथ अंतर्भावित हैं, ऐसा समझ लेना चाहिये। इनके अतिरिक्त दो कार्य और हैं जिनके करने पर गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

प्रश्न—वे दस कार्य कौन से हैं ?

उत्तर—
१. आपस में वार्तालाप करना।
२. सूत्रार्थ पूछना।
३. स्वाध्याय आदि कंठस्थ ज्ञान सुनना और सुनाना।
४. साथ में उठना बैठना आदि।
५. वंदन-व्यवहार।
६. पात्र आदि उपकरण देना लेना।
७. प्रतिलेखन आदि कार्य करना।
८. दोनों का संघाड़ा बना कर गोचरी आदि जाना।
९. आहार देना लेना।
१०. एक मण्डली में बैठकर आहार करना अर्थात् साथ में खाना।

प्रश्न—कुछ भी कहना हो, पूछना हो, आलोचना करना हो तो वह (पारिहारिक) साधु किसके पास करे ?

उत्तर—उसे कुछ भी काम करना हो तो आचार्य की आज्ञा लेकर करे, उनके पास आलोचना करे, उनसे ही प्रश्न पूछे और उन्हें ही आहार बतावे, कष्ट आने पर या रोग आदि होने पर भी आचार्य से ही कहे। दूसरे साधु का उसके पास जाना, कहना या पूछना आदि नहीं हो सकता।

प्रश्न—यदि कोई उसे रुग्ण अवस्था में देखे तो किसे सूचना दे ?

उत्तर—उपाश्रय में किसी समय उसे असह्य तकलीफ हो तो वह स्वयं आचार्य से कहे। यदि वह अगाढ़ वेदना के कारण आचार्य को न कह सके तो अन्य साधु जाकर उसकी वेदना के विषय आचार्य को जानकारी दे, बाद में उसकी सेवा के लिये आचार्य जिसे नियुक्त करें वह उसकी सेवा करे।

प्रश्न—गोचरी आदि के लिये गया हुआ वह भिक्षु मार्ग में कहीं गिर जावे तो उसकी सेवा लिए आचार्य की आज्ञा लेना आवश्यक है ?

उत्तर—नहीं, ऐसी परिस्थिति में कोई भी साधु उसकी सेवा कर सकता है। स्थान पर आने के बाद आचार्य को जानकारी देना और आलोचना करना आदि कार्य किये जाते हैं और स्थान न हो तब तक उसकी सेवा भी की जाती है। जितना कार्य वह स्वयं कर सकता हो उतना वह करे। और जो कार्य वह न कर सके वह अन्य साधु आचार्य की आज्ञानुसार करे।

प्रश्न—उसके साथ ऐसा व्यवहार क्यों किया जाता है, यदि कोई उसकी सेवा सदा करे क्या दोष है ?

उत्तर—इसका समाधान दृष्टांत द्वारा समझाया जाता है ।

जिस प्रकार पशु स्वयं चरने जाने के लिये समर्थ होता है तब तक उसे जाने के लिये गांव के बाहर निकाल दिया जाता है । यदि वह अशक्त होता है तो गोपालक उसे घर पर ही घास आदि लाकर देता है । इसी प्रकार पारिहारिक की सेवा के संबंध में समझना चाहिये ।

प्रश्न—इस प्रकार का कठोर तप और कठोर व्यवहार उसके साथ क्यों किया जाता है ?

उत्तर—जो जैसा दोष सेवन करता है उसे वैसा ही प्रायश्चित्त दिया जाता है । दोषशुद्धि एवं आत्मशुद्धि के लिये स्वेच्छा से स्वीकार करने पर परिहार तप दिया जाता है । इससे अन्य साधुओं को भी यह ध्यान रहे या भय रहे कि इस तरह के दोष का ऐसा प्रायश्चित्त होता है । इसके अतिरिक्त इस तप के करने पर कर्मों की निर्जरा भी होती है ।

प्रश्न—आलोचना-प्रायश्चित्त तो एकांत में किया जाता है अतः स्पष्ट जानकारी कैसे हो सकती है । जिससे दूसरे साधु भयभीत बन कर वैसे दोषों से सावधान रहें ?

उत्तर—इस प्रायश्चित्त वहन रूप स्थापना में स्थापित करने के पूर्व सामूहिक रूप से श्रमण समुदाय को सूचना दी जाती है और दोषसेवन की पूरी जानकारी दी जाती है, पूर्ण स्पष्टीकरण करने के बाद उसके साथ व्यवहार बंद करके उसे आत्मशुद्धि के लिये निवृत्त किया जाता है । वह आचार्य की अधीनता में व आज्ञा में गिना जाता है । तप वहन के एक दिन पूर्व स्वयं आचार्य उसके साथ जाकर उसे (मनोज्ञ-विगय युक्त) आहार दिलवाते हैं ।

इस प्रकार आदर पूर्वक चतुर्विध संघ को जानकारी देकर यह प्रायश्चित्त देकर इस प्रायश्चित्त के निमित्त तप प्रारम्भ किया जाता है । उस पारिहारिक के आचार की तप की तथा कब किस परिस्थिति में क्या क्या व्यवहार किया जा सकता है, इत्यादि की पूरी जानकारी श्रमणसमुदाय को दी जाती है ।

प्रश्न—पारणे में भी विगय न लेने से तप करने का उत्साह मंद हो जाए तो बिना इच्छा के भी वह तप करना जरूरी होता है ?

उत्तर—आचार्य सारी स्थिति की जानकारी करके यथायोग्य कर सकते हैं । उसकी सारणा, वारणा करना या प्रायश्चित्त करने के लिए उत्साह बढ़ाना आदि सारा उत्तरदायित्व आचार्य का होता है । आवश्यक समझें तो वे विगय की छूट भी दे सकते हैं और विशेष संतुष्टि के लिए साथ में जाकर आहार भी दिलाते हैं ।

प्रश्न—छोटे-मोटे सभी दोषों का ऐसा ही प्रायश्चित्त होता है ?

उत्तर—नहीं, उत्तरगुण सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त में तथा मूलगुण सम्बन्धी जघन्य, मध्यम प्रायश्चित्त में केवल तप प्रायश्चित्त दिया जाता है । मूलगुण सम्बन्धी उत्कृष्ट दोष सेवन के प्रायश्चित्त में मासिक यावत् छःमासी "परिहार तप" का प्रायश्चित्त दिया जाता है । वह भी योग्य को दिया जाता है । योग्य न होने पर साधारण तप दिया जाता है, तथा साध्वी को साधारण तप का ही प्रायश्चित्त दिया जाता है । परिहार तप का प्रायश्चित्त नहीं । दिया जाता है ।

प्रश्न—क्या छेद प्रायश्चित्त से भी यह प्रायश्चित्त बड़ा है ?

उत्तर—नहीं, किसी अनाचार का अनेक बार सेवन करने पर, ज्यादा लम्बे समय तक दोष सेवन करने पर, लोकापवाद होने पर अथवा तपस्या करने की शक्ति न होने पर छेद प्रायश्चित्त दिया जाता है। यह परिहार तप से भिन्न प्रकार का प्रायश्चित्त है।

छेद प्रायश्चित्त जघन्य एक दिन का, उत्कृष्ट छह मास का दिया जा सकता है। इससे ज्यादा प्रायश्चित्त आवश्यक होने पर आठवाँ "मूल" (नई दीक्षा का) प्रायश्चित्त दिया जाता है। किन्तु केवल तप, परिहार तप या दीक्षाछेद का प्रायश्चित्त छह मास से अधिक देने का विधान नहीं है।

प्रश्न—क्या वर्तमान में किसी को इस विधि से प्रायश्चित्त दिया जाता है?

उत्तर—विशिष्ट संहनन आदि के अभाव के कारण वर्तमान में साधारण तप का प्रायश्चित्त दिया जाता है और उसके आगे छेद और मूल (नई दीक्षा) प्रायश्चित्त भी दिया जाता है किन्तु उक्त परिहार तप का प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता है।

वीर निर्वाण के बाद सैकड़ों वर्षों तक परिहार तप प्रायश्चित्त दिया जाता रहा। छेद सूत्रों के मूल पाठ में अनेक जगह पारिहारिक साधु सम्बन्धी अनेक विधान हैं तथा भाष्य ग्रन्थों में भी विस्तृत वर्णन मिलता है।

पारिहारिक व अपारिहारिक का कदाचित् एक साथ गोचरी निकलने का योग बन जाय तो एक को रुक कर दूसरे को अलग हो जाना चाहिए।

सूत्र में अपारिहारिक के लिए प्रायश्चित्त कहा गया है। पारिहारिक भी यदि ऐसा करे तो उसे भी प्रायश्चित्त आता है, यह भी समझ लेना चाहिए।

चतुर्थ उद्देशक का सारांश—

सूत्र १	राजा को वश में करना।
सूत्र २	राजा के रक्षक को वश में करना।
सूत्र ३	नगररक्षक को वश में करना।
सूत्र ४	निगमरक्षक को वश में करना।
सूत्र ५	सर्वरक्षक को वश में करना।
सूत्र ६-१०	राजा आदि के गुणग्राम करना।
सूत्र ११-१५	राजा आदि को अपनी ओर आकर्षित करना।
सूत्र १६	ग्रामरक्षक को आकर्षित करना।
सूत्र १७	देशरक्षक को आकर्षित करना।
सूत्र १८	सीमारक्षक को आकर्षित करना।
सूत्र १९	राज्यरक्षक को आकर्षित करना।
सूत्र २०	सर्वरक्षक को आकर्षित करना।
सूत्र २१-२५	ग्रामरक्षक आदि के गुणग्राम करना।
सूत्र २६-३०	ग्रामरक्षक आदि को अपनी ओर आकर्षित करना।
सूत्र ३१	सचित्त धान्य का आहार करना।

सूत्र ३२ आचार्यादि की आज्ञा के विना दुग्धादि विकृतियाँ लेना ।
सूत्र ३३ स्थापनाकुलों को जाने विना भिक्षाचर्या के लिए जाना ।
सूत्र ३४ निर्ग्रन्थियों के उपाश्रय में अविधि से प्रवेश करना ।
सूत्र ३५ निर्ग्रन्थियों के आगमनपथ में दण्डादि रख देना ।
सूत्र ३६ नये कलह उत्पन्न करना ।
सूत्र ३७ उपशान्त कलह को पुनः उत्पन्न करना ।
सूत्र ३८ मुँह फाड़-फाड़कर हँसना ।
सूत्र ३९-४८ पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त, नित्यक इन पाँच को अपना संघाडा देना या उनका संघाडा लेना ।
सूत्र ४९-६३ अप्काय, पृथ्वीकाय और वनस्पतिकाय आदि सचित्त पदार्थों से लिप्त हाथों द्वारा आहारादि लेना ।
सूत्र ६४-११७ साधु-साधु का परस्पर शरीरपरिकर्म करना ।
सूत्र ११८-११९ संध्या समय तीन उच्चार-प्रस्रवणभूमि का प्रतिलेखन न करना ।
सूत्र १२० कम लम्बी-चौड़ी भूमि में मल-मूत्र त्यागना ।
सूत्र १२१ अविधि से मल-मूत्र त्यागना ।
सूत्र १२२ मल-मूत्र त्याग कर मलद्वार न पोंछना ।
सूत्र १२३ मलद्वार को काष्ठादि से पोंछना ।
सूत्र १२४ मलद्वार की शुद्धि नहीं करना ।
सूत्र १२५ मल पर ही शुद्धि करना ।
सूत्र १२६ अधिक दूरी पर शुद्धि करना ।
सूत्र १२७ तीन पसली से अधिक पानी से शुद्धि करना ।
सूत्र १२८ प्रायश्चित्त वहन करने वाले के साथ भिक्षाचर्या जाना ।
इत्यादि प्रवृत्तियों का लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है ।

इस उद्देशक के ५५ सूत्रों के विषयों का कथन निम्न आगमों में है, यथा—

सूत्र ३१ सचित्त बीज आदि का आहार करना अनाचार है । —दशा० अ० ३, गा० ७
सूत्र ३२ निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के लिए विकृतियाँ लेना अकल्पनीय है । —दशा० द० ८, सु० ६२
सूत्र ३६-३७ नया कलह उत्पन्न करना या उपशान्त कलह को पुनः उत्तेजना देना असमाधि स्थान कहा है । —दशा० द० १
सूत्र ४९-६३ सचित्त पानी, मिट्टी, वनस्पति आदि से लिप्त हाथ वालों से आहार लेने का निषेध—
—(क) दश. अ. ५, उ. १, गा. ३३-३४
—(ख) आचा. श्रु. २, अ. १, उ. ६,
सूत्र ६४ से ८७, ८९ से ९५, ११२ से ११६
साधु-साधु के परस्पर शरीर-परिकर्म का निषेध । —आचा. श्रु २, अ. १४
सूत्र ११८ उच्चार-प्रस्रवणभूमि का प्रतिलेखन करना । —उत्त. अ. २६, गा. ३९
सूत्र १२० विस्तीर्ण उच्चार-प्रस्रवणभूमि में मल-मूत्र त्यागना । —उत्त. अ. २४, गा. १८

इस उद्देशक के निम्न ३७ सूत्रों के विषयों का कथन अन्य आगमों में नहीं है, यथा—

सूत्र १-३० राजा आदि को वश में करना।
सूत्र ३३ स्थापनाकुलों को जाने बिना भिक्षाचर्या के लिए जाना।
सूत्र ३४ निर्ग्रन्थियों के उपाश्रय में अविधि से प्रवेश करना।
सूत्र ३५ निर्ग्रन्थियों के आगमनपथ में दण्डादि रख देना।
सूत्र ३८ मुँह फाड़-फाड़कर हँसना।
सूत्र ३९-४८ पार्श्वस्थादि को अपना संघाड़ा देना या उनका संघाड़ा लेना।
सूत्र ८८ मलद्वार से कृमि निकालना।
सूत्र ८९ परस्पर एक दूसरे के अकारण नख काटना।
सूत्र ९६-९८ दाँतों का परिकर्म करना।
सूत्र ९९-१०५ होठों का परिकर्म करना।
सूत्र १०५-१११ चक्षु का परिकर्म करना।
सूत्र ११७ ग्रामानुग्राम विहार करते समय परस्पर एक दूसरे का मस्तक ढँकना।
सूत्र ११९ तीन उच्चार-प्रस्रवणभूमियों का प्रतिलेखन न करना।
सूत्र १२१ मल-मूत्र अविधि से त्यागना।
सूत्र १२२ मल-मूत्र त्याग कर मल द्वार न पोंछना।
सूत्र १२३ मलद्वार को काष्ठ आदि से पोंछना।
सूत्र १२४ मलद्वार की शुद्धि न करना।
सूत्र १२५ मल-मूत्र पर ही शुद्धि करना।
सूत्र १२६ मल-मूत्र त्यागने के स्थान से अधिक दूर जाकर शुद्धि करना।
सूत्र १२७ मल-मूत्र त्यागकर तीन पसली से अधिक पानी लेकर शुद्धि करना।
सूत्र १२८ पारिहारिक के साथ गोचरी जाना।

॥ चौथा उद्देशक समाप्त ॥

पांचवां उद्देशक

वृक्षस्कन्ध के निकट ठहरने आदि का प्रायश्चित्त—

१. जे भिक्खू सचित्त-रुक्खमूलंसि ठिच्चा आलोएज्ज वा, पलोएज्ज वा, आलोएंतं वा पलोएंतं साइज्जइ ।

२. जे भिक्खू सचित्त-रुक्खमूलंसि ठिच्चा ठाणं वा, सेज्जं वा, णिसीहियं वा चेएइ, चेएंतं वा साइज्जइ ।

३. जे भिक्खू सचित्त-रुक्खमूलंसिठिच्चा असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा आहारेइ, आहारेंतं वा साइज्जइ ।

४. जे भिक्खू सचित्त-रुक्खमूलंसि ठिच्चा उच्चारं वा, पासवणं वा परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ ।

५. जे भिक्खू सचित्त-रुक्खमूलंसि ठिच्चा सज्झायं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ ।

६. जे भिक्खू सचित्त-रुक्खमूलंसि ठिच्चा सज्झायं उद्दिसइ, उद्दिसंतं वा साइज्जइ ।

७. जे भिक्खू सचित्त-रुक्खमूलंसि ठिच्चा सज्झायं समुद्दिसइ, समुद्दिसंतं वा साइज्जइ ।

८. जे भिक्खू सचित्त-रुक्खमूलंसि ठिच्चा सज्झायं अणुजाणइ, अणुजाणंतं वा साइज्जइ ।

९. जे भिक्खू सचित्त-रुक्खमूलंसि ठिच्चा सज्झायं वाएइ वायंतं वा साइज्जइ ।

१०. जे भिक्खू सचित्त-रुक्खमूलंसि ठिच्चा सज्झायं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ।

११. जे भिक्खू सचित्त-रुक्खमूलंसि ठिच्चा सज्झायं परियट्टेइ, परियट्टंतं वा साइज्जइ ।

१. जो भिक्षु सचित्त वृक्ष के मूल में (वृक्षस्कंध के पास की सचित्त पृथ्वी पर) खड़ा रहकर या बैठकर एक बार या अनेक बार (इधर उधर) देखता है या देखने वाले का अनुमोदन करता है ।

२. जो भिक्षु सचित्त वृक्ष के मूल में ठहरकर कायोत्सर्ग, शयन करता है या बैठता है या ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है ।

३. जो भिक्षु सचित्त वृक्ष के मूल में ठहरकर अशन पान खाद्य या स्वाद्य का आहार करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

४. जो भिक्षु सचित्त वृक्ष के मूल में ठहरकर उच्चार-प्रस्रवण परठता है या परठने वाले का अनुमोदन करता है ।

५. जो भिक्षु सचित्त वृक्ष के मूल में ठहरकर स्वाध्याय करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

६. जो भिक्षु सचित्त वृक्ष के मूल में ठहरकर स्वाध्याय का उद्देश करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

७. जो भिक्षु सचित्त वृक्ष के मूल में ठहरकर स्वाध्याय का समुद्देश करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

८. जो भिक्षु सचित्त वृक्ष के मूल में ठहरकर स्वाध्याय की आज्ञा देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

९. जो भिक्षु सचित्त वृक्ष के मूल में ठहरकर सूत्रार्थ की वाचना देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

१०. जो भिक्षु सचित्त वृक्ष के मूल में ठहरकर सूत्रार्थ की वाचना ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

११. जो भिक्षु सचित्त वृक्ष के मूल में ठहरकर स्वाध्याय का पुनरावर्तन करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—

'सचित्त रुक्खमूलंसि'—"जस्स सचित्त रुक्खस्स हत्थि-पय-पमाणो पेहुलेण खंधो तस्स सव्वओ जाव रयणिप्पमाणा ताव सचित्तभूमि।" —चूर्णि

जिस वृक्ष के स्कंध की मोटाई हाथी के पैर जितनी हो तो उसके चारों ओर एक हाथ प्रमाण भूमि सचित्त होती है। इससे अधिक मोटाई होने पर उसी अनुपात से स्कंध के पास की भूमि सचित्त होती है। अतः उतने स्थान पर खड़ा रहने से, बैठने से या शयनादि करने से पृथ्वीकाय की विराधना होती है तथा असावधानी से वृक्षस्कंध का स्पर्श होने पर वनस्पतिकाय की विराधना होती है।

'ठाणं-सेज्ज-निसीहियं'—"ठाणं-काउस्सग्गो, वसहि निमित्तं सेज्जा, विस्साम-ठाण निमित्तं-निसीहिया।"—चूर्णि

"सचित्त-रुक्खमूले, ठाण-निसीयण-तुयट्टणं चावि" ॥१९०९॥

वृक्षस्कंध के समीप भूमि पर खड़े होने का स्थान, सोने की शय्या और बैठने की निषद्या करना कहा गया है।

"सज्झायं"—"अणुप्पेहा, धम्मकहा, पुच्छाओ सज्झायकरणं।"—चूर्णि

"सज्झाय" शब्द से अनुप्रेक्षा, धर्मकथा और प्रश्न पृच्छा, इनका ग्रहण हुआ है।

"उद्देश"—"उद्देसो अभिनव अधीयस्स"—नये मूलपाठ की वाचना देना।

"समुद्देस"—"अथिरस्स समुद्देसो"—कण्ठस्थ किये हुए को पक्का व शुद्ध कराना।

"अणुण्णा"—"थिरीभूयस्स अणुण्णा"—स्थिर एवं शुद्ध कण्ठस्थ हो जाने पर दूसरे को सिखाने की आज्ञा देना । —नि. चूर्णि ।

उद्देश, समुद्देश और अणुण्णा का अन्य अर्थ भी अनुयोगद्वार सूत्र की हरिभद्रीय टीका में किया है, यथा—

१. उद्देश—सूत्र पढ़ने के लिये आज्ञा देना ।
२. समुद्देश—स्थिर करने के लिए आज्ञा देना ।
३. अणुण्णा—अन्य को पढ़ाने की आज्ञा देना ।

"वायणा"—सूत्रार्थ की वाचना देना ।

"पडिच्छणा"—सूत्रार्थ की वाचना ग्रहण करना ।

यहां वृक्ष-स्कंध के पास ठहरने के निषेध और प्रायश्चित्त के विधान से अन्य सभी कार्यों का निषेध और प्रायश्चित्त स्वतः सिद्ध हो जाता है । फिर भी ग्यारह सूत्रों द्वारा अनेक कार्यों का तथा स्वाध्यायादि करने का निषेध और प्रायश्चित्त विधान विस्तृत शैली की अपेक्षा से कहा गया है ।

गृहस्थ से चद्दर सिलवाने का प्रायश्चित्त—

१२. जे भिक्खू अप्पणो संघाडिं अण्णउत्थिएणं वा, गारत्थिएण वा सिव्वावेइ, सिव्वावेंतं वा साइज्जइ ।

१२. जो भिक्षु अपनी चादर को अन्यतीर्थिक से या गृहस्थ से सिलवाता है या सिलवाने वाले का अनुमोदन करता है ।

विवेचन—'जइ णिक्कारणे अप्पणा सिव्वेति, कारणे वा अण्णउत्थिय-गारत्थिएहिं सिव्वावेति तस्स मासलहुं ।' —१९२१ चूर्णि ।

स्वतीर्थिक और परतीर्थिक चार-चार प्रकार के गृहस्थ होने से कुल आठ प्रकार के गृहस्थ प्रथम उद्देशक सूत्र ग्यारह के विवेचन के अनुसार यहां समझ लेना चाहिए ।

आवयकतानुसार लम्बा चौड़ा कपड़ा न मिलने पर या 'अणलं, अथिरं अधारणीयं' होने के पूर्व किसी कारण से फट जाने पर सीना आवश्यक हो तो स्वयं सीवे या अन्य साधु से सिलावे और कोई भी साधु सीने वाला न हो तो साध्वी से सिला लेने पर प्रायश्चित्त नहीं आता है, किन्तु गृहस्थ से सिलाने पर लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है ।

चादर के दीर्घसूत्र करने का प्रायश्चित्त—

१३. जे भिक्खू अप्पणो संघाडीए दीह—सुत्ताइं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ ।

१३. जो भिक्षु अपनी चादर के लम्बी डोरियां बांधता है या बांधने वाले का अनुमोदन करता है । (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है ।)

विवेचन—चादर या गाती लम्बाई में छोटी हो और बांधना आवश्यक हो तो चार या उत्कृष्ट छः स्थानों पर डोरियां बांधी जा सकती है, जिससे एक, दो या उत्कृष्ट तीन बंधन हो जाते हैं ।

५. जो भिक्षु सचित्त वृक्ष के मूल में ठहरकर स्वाध्याय करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

६. जो भिक्षु सचित्त वृक्ष के मूल में ठहरकर स्वाध्याय का उद्देश करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

७. जो भिक्षु सचित्त वृक्ष के मूल में ठहरकर स्वाध्याय का समुद्देश करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

८. जो भिक्षु सचित्त वृक्ष के मूल में ठहरकर स्वाध्याय की आज्ञा देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

९. जो भिक्षु सचित्त वृक्ष के मूल में ठहरकर सूत्रार्थ की वाचना देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

१०. जो भिक्षु सचित्त वृक्ष के मूल में ठहरकर सूत्रार्थ की वाचना ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

११. जो भिक्षु सचित्त वृक्ष के मूल में ठहरकर स्वाध्याय का पुनरावर्तन करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—

'सचित्त रुक्खमूलंसि'—"जस्स सचित्त रुक्खस्स हत्थि-पय-पमाणो पेहुल्लेण खंधो तस्स सव्वतो जाव रयणिप्पमाणा ताव सचित्तभूमि।" —चूर्णि

जिस वृक्ष के स्कंध की मोटाई हाथी के पैर जितनी हो तो उसके चारों ओर एक हाथ प्रमाण भूमि सचित्त होती है। इससे अधिक मोटाई होने पर उसी अनुपात से स्कंध के पास की भूमि सचित्त होती है। अतः उतने स्थान पर खड़ा रहने से, बैठने से या शयनादि करने से पृथ्वीकाय की विराधना होती है तथा असावधानी से वृक्षस्कंध का स्पर्श होने पर वनस्पतिकाय की विराधना होती है।

'ठाणं-सेज्ज-णिसीहियं'—"ठाणं-काउस्सग्गो, वसहि णिमित्तं सेज्जा, विसम-ठाण णिमित्तं-णिसीहिया।"—चूर्णि

"सचित्त-रुक्खमूले, ठाण-निसीयण-तुयट्टणं वावि" ॥१९०९॥

वृक्षस्कंध के समीप भूमि पर खड़े होने को स्थान, सोने को शय्या और बैठने को निषद्या करना कहा गया है।

"सज्झायं"—"अणुप्पेहा, धम्मकहा, पुच्छाओ सज्झायकरणं।"—चूर्णि

"सज्झाय" शब्द से अनुप्रेक्षा, धर्मकथा और प्रश्न पूछना, इनका ग्रहण हुआ है।

"उद्देस"—"उद्देसो अभिनव अधीतस्स"—नये मूलपाठ की वाचना देना।

"समुद्देस"—"अथिरस्स समुद्देसो"—कण्ठस्थ किये हुए को पक्का व शुद्ध कराना।

"अणुण्णा"—"थिरीभूयस्स अणुण्णा"—स्थिर एवं शुद्ध कण्ठस्थ हो जाने पर दूसरे को सिखाने की आज्ञा देना। —नि. चूर्णि।

उद्देश, समुद्देश और अणुण्णा का अन्य अर्थ भी अनुयोगद्वार सूत्र की हरिभद्रीय टीका में किया है, यथा—

१. उद्देश—सूत्र पढ़ने के लिये आज्ञा देना।
२. समुद्देश—स्थिर करने के लिए आज्ञा देना।
३. अणुण्णा—अन्य को पढ़ाने की आज्ञा देना।

"वायणा"—सूत्रार्थ की वाचना देना।

"पडिच्छणा"—सूत्रार्थ की वाचना ग्रहण करना।

यहाँ वृक्ष-स्कंध के पास ठहरने के निषेध और प्रायश्चित्त के विधान से अन्य सभी कार्यों का निषेध और प्रायश्चित्त स्वतः सिद्ध हो जाता है। फिर भी ग्यारह सूत्रों द्वारा अनेक कार्यों का तथा स्वाध्यायादि करने का निषेध और प्रायश्चित्त विधान विस्तृत शैली की अपेक्षा से कहा गया है।

गृहस्थ से चद्दर सिलवाने का प्रायश्चित्त—

१२. जे भिक्खू अप्पणो संघाडि अण्णउत्थिएणं वा, गारत्थिएण वा सिव्वावेइ, सिव्वावेंतं वा साइज्जइ।

१२. जो भिक्षु अपनी चादर को अन्यतीर्थिक से या गृहस्थ से सिलवाता है या सिलवाने वाले का अनुमोदन करता है।

विवेचन—**जइ णिक्कारणे अप्पणा सिव्वेति, कारणे वा अण्णउत्थिय-गारत्थिएहिं सिव्वावेति तस्स मासलहुं।'** —१९२१ चूर्णि।

स्वतीर्थिक और परतीर्थिक चार-चार प्रकार के गृहस्थ होने से कुल आठ प्रकार के गृहस्थ प्रथम उद्देशक सूत्र ग्यारह के विवेचन के अनुसार यहाँ समझ लेना चाहिए।

आवयकतानुसार लम्बा चौड़ा कपड़ा न मिलने पर या 'अणलं, अथिरं अधारणीयं' होने के पूर्व किसी कारण से फट जाने पर सीना आवश्यक हो तो स्वयं सीवे या अन्य साधु से सिलावे और कोई भी साधु सीने वाला न हो तो साध्वी से सिला लेने पर प्रायश्चित्त नहीं आता है, किन्तु गृहस्थ से सिलाने पर लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

चादर के दीर्घसूत्र करने का प्रायश्चित्त—

१३. जे भिक्खू अप्पणो संघाडीए दीह—सुत्ताइं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

१३. जो भिक्षु अपनी चादर के लम्बी डोरियाँ बाँधता है या बाँधने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—चादर या गाती लम्बाई में छोटी हो और बाँधना आवश्यक हो तो चार या उत्कृष्ट छः स्थानों पर डोरियाँ बांधी जा सकती हैं, जिसमे एक, दो या उत्कृष्ट तीन बंधन हो जाते हैं।

"जे ते संघाडिबंधणसुत्ता ते दीहा ण कायव्वा"

ये डोरियां बांध लेने के बाद चार अंगुल से ज्यादा न बचे, इतनी ही लम्बी करनी चाहिए। क्योंकि अधिक लम्बी होने से उठाने-रखने में अयतना होती है,

'संमद्दा व "अणेगरूवधुणा" नामक प्रतिलेखना दोष लगता है,

अल्पबुद्धि या कुतूहलवृत्ति वाले के उपहास का निमित्त हो जाता है।

अथवा डोरियों के उलझ जाने पर सुलझाने में समय लगने के कारण सूत्रार्थ की हानि होती है।

अतः आवश्यक हो तो "चउरंगुलप्पमाणं, तम्हा संघाडि-सुत्तगं कुज्जा" चार अंगुल लम्बे बंधन सूत्र बनाने चाहिए, ज्यादा बड़े बनाने पर प्रायश्चित्त आता है।

पत्ते खाने का प्रायश्चित्त—

१४. जे भिक्खू पिउमद-पलासयं वा, पडोल-पलासयं वा, बिल्लपलासयं वा, सीओदग-वियडेण वा उसिणोदग-वियडेण वा संफाणिय-संफाणिय आहारेइ, आहारेंतं वा साइज्जइ।

१४. जो भिक्षु नीम के पत्ते, पडोल—परवल के पत्ते, बिल्व के पत्ते, अचित्त शीतल या उष्ण जल में डुबा-डुबा कर—धो-धो कर खाता है या खाने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—ये सूत्र-निर्दिष्ट सूखे पत्ते औषध रूप में लेना आवश्यक हो तो गृहस्थ के यहाँ स्वयं के लिए सुखाकर स्वच्छ किये हुए मिल जाएँ ऐसी गवेषणा करनी चाहिए।

उन्हें भिक्षु स्वयं धोवे और धोया हुआ पानी फेंके तो जीव-विराधना व प्रमाद-वृद्धि होने से प्रायश्चित्त कहा गया है।

अन्य भी औषध-योग्य अचित्त पत्र-पुष्प आदि का धोना भी इसमें समाविष्ट है, ऐसा समझ लेना चाहिए।

यहाँ "पडोल" का अर्थ चूर्णि एवं भाष्य में नहीं किया है। अन्यत्र कोष आदि में 'बेली विशेष' तथा "परवल के पत्ते" अर्थ किया गया है।

प्रत्यर्पणीय पादप्रोंछन सम्बन्धी प्रायश्चित्त—

१५. जे भिक्खू पाडिहारियं पायपुंछणं जाइत्ता "तमेव रयणि पच्चप्पिणिस्सामित्ति" सुए पच्चप्पिणइ पच्चप्पिणंतं वा साइज्जइ।

१६. जे भिक्खू पाडिहारियं पायपुंछणं जाइत्ता "सुए पच्चप्पिणिस्सामि" त्ति तमेव रयणि पच्चप्पिणइ, पच्चप्पिणंतं वा साइज्जइ।

१७. जे भिक्खू सागारिय-संतियं पायपुंछणं जाइत्ता "तमेव रयणि पच्चप्पिणिस्सामि" त्ति सुए पच्चप्पिणइ, पच्चप्पिणंतं वा साइज्जइ।

१८. जे भिक्खू सागारिय-संतियं पायपुंछणं जाइत्ता "सुए पच्चप्पिणिस्सामि त्ति" तमेव रयणि पच्चप्पिणइ, पच्चप्पिणंतं वा साइज्जइ।

१५. जो भिक्षु गृहस्थ के पादप्रोंछन की याचना करके "आज ही लौटा दूंगा" ऐसा कहकर दूसरे दिन लौटाता है या लौटाने वाले का अनुमोदन करता है।

१६. जो भिक्षु गृहस्थ के पादप्रोंछन की याचना करके कल लौटा देने का कहकर उसी दिन लौटा देता है या लौटा देने वाले का अनुमोदन करता है।

१७. जो भिक्षु शय्यातर से पादप्रोंछन की याचना करके "आज ही लौटा दूंगा" ऐसा कहकर कल लौटाता है या लौटाने वाले का अनुमोदन करता है।

१८. जो भिक्षु शय्यातर के पादप्रोंछन की याचना करके "कल लौटा दूंगा" ऐसा कहकर उसी दिन लौटा देता है या लौटा देने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—दूसरे उद्देशक में काष्ठदंडयुक्त पादप्रोंछन के रखने का प्रायश्चित्त कहा गया है और यहाँ एक या दो दिन के लिए गृहस्थ का या शय्यातर का पादप्रोंछन प्रातिहारिक ग्रहण कर लौटाने का जो समय कहा हो उससे पहले-पीछे लौटाने का प्रायश्चित्त कहा है।

क्षेत्र काल सम्बन्धी किसी विशेष परिस्थिति में गृहस्थ से या शय्यातर से पैर पोंछने का उपकरण प्रातिहारिक लिया जा सकता है। यहाँ प्रातिहारिक पादप्रोंछन के ग्रहण करने का प्रायश्चित्त नहीं कहा गया है किन्तु भाषा के अविवेक का प्रायश्चित्त कहा गया है।

साधु के पास वस्त्रखंड का 'पादप्रोंछन' रहता है, कदाचित् आवश्यक होने पर दारुदंडयुक्त पादप्रोंछन भी रखता है और कभी विशेष परिस्थिति में गृहस्थ का या शय्यातर का पादप्रोंछन एक-दो दिन के लिये ग्रहण करता है। ऐसा इन सूत्रों से प्रतीत होता है।

प्रत्यर्पणीय 'दंड' आदि का प्रायश्चित्त—

१९. जे भिक्खू पाडिहारियं दंडयं वा, लट्ठियं वा, अवलेहणियं वा, वेणुसूइं वा जाइत्ता "तमेव रयणि पच्चप्पिणिस्सामि त्ति" सुए पच्चप्पिणइ, पच्चप्पिणंतं वा साइज्जइ।

२०. जे भिक्खू पाडिहारियं दंडयं वा, लट्ठियं वा, अवलेहणियं वा, वेणुसूइं वा जाइत्ता सुए पच्चप्पिणिस्सामि त्ति तमेव रयणि पच्चप्पिणइ, पच्चप्पिणंतं वा साइज्जइ।

२१. जे भिक्खू "सागारियसंतियं" दंडयं वा, लट्ठियं वा, अवलेहणियं वा, वेणुसूइं वा जाइत्ता "तमेव रयणि पच्चप्पिणिस्सामि त्ति" सुए पच्चप्पिणइ, पच्चप्पिणंतं वा साइज्जइ।

२२. जे भिक्खू "सागारिय-संतियं" दंडयं वा, लट्ठियं वा, अवलेहणियं वा, वेणुसूइं वा जाइत्ता "सुए पच्चप्पिणिस्सामि त्ति" तमेव रयणि पच्चप्पिणइ, पच्चप्पिणंतं वा साइज्जइ।

१९. जो भिक्षु गृहस्थ से दंड, लाठी, अवलेखनिका या बांस की सूई की याचना करके उसे 'आज ही लौटा दूंगा' ऐसा कहकर कल लौटाता है या लौटाने वाले का अनुमोदन करता है।

२०. जो भिक्षु गृहस्थ से दंड, लाठी, अवलेखनिका या वांस की सूई की याचना करके "कल लौटा दूंगा" ऐसा कहकर आज ही लौटा देता है या लौटा देने वाले का अनुमोदन करता है।

२१. जो भिक्षु शय्यातर से दंड, लाठी, अवलेखनिका या वांस की सूई की याचना करके 'आज ही लौटा दूंगा' ऐसा कहकर कल लौटाता है या लौटाने वाले का अनुमोदन करता है।

२२. जो भिक्षु शय्यातर से दंड, लाठी, अवलेखनिका या वांस की सूई की याचना करके "कल लौटा दूंगा' ऐसा कहकर आज ही लौटा देता है या लौटा देने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन--दंड, लाठी आदि भी औपग्रहिक उपधि हैं। ये भी शय्यातर की या अन्य की वापिस लौटाने का कहकर ग्रहण की जा सकती है। एक दो दिन के लिये या ज्यादा समय के लिये भी ग्रहण की जा सकती है। यहाँ भाषा के अविवेक का प्रायश्चित्त कहा गया है।

प्रत्यर्पित शय्यासंस्तारक संबंधी प्रायश्चित्त—

२३. जे भिक्खू पाडिहारियं वा सागारिय-संतियं वा सेज्जासंथारयं पच्चप्पिणित्ता दोच्चं पि ओग्गहं अणणुण्णविय अहिट्ठेइ, अहिट्ठेतं वा साइज्जइ।

२३. जो भिक्षु अन्य गृहस्थ का या शय्यातर का शय्यासंस्तारक लौटा करके (पुनः आवश्यक होने पर) दूसरी बार आज्ञा लिये विना ही उपयोग में लेता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—अन्यत्र से लाये गये शय्या-संस्तारक के लिये "पाडिहारिय" शब्द का प्रयोग किया गया है और ठहरने के स्थान पर रहे हुए शय्या-संस्तारक आदि के लिए "सागारिय—संतियं" शब्द का प्रयोग किया गया है।

यदि भिक्षु को शय्या-संस्तारक की आवश्यकता न रहे तो वह उन्हें उपाश्रय में ही गृहस्थ को संभला देवे, बाद में जब कभी आवश्यकता हो तो पुनः उनकी गृहस्थ से आज्ञा लेना आवश्यक होता है। यदि पुनः आज्ञा लिये विना ग्रहण करे तो इस सूत्र के अनुसार प्रायश्चित्त आता है।

शय्यातर के शय्या-संस्तारक तो उसके मकान में छोड़े जा सकते है किन्तु अन्य गृहस्थ के घर से लाये गये शय्या-संस्तारक भी अल्प समय के लिये उपाश्रय में छोड़े जा सकते हैं। ऐसा इस प्रायश्चित्त सूत्र से और व्यवहारसूत्र उद्देशक ८ से फलित होता है। किन्तु विहार करने के पूर्व उन्हें यथास्थान पहुँचा कर सम्भलाना आवश्यक होता है, ऐसा बृहत्कल्प उद्देशक ३ में विधान है और न लौटाने पर निशी. उद्देशक २ के अनुसार प्रायश्चित्त आता है।

कपास [रूई] कातने का प्रायश्चित्त—

२४. जे भिक्खू सणकप्पासओ वा, उण्णकप्पासओ वा, पोंडकप्पासओ वा, अमिल-कप्पासओ वा, दीहसुत्ताइं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

जो भिक्षु सन के कपास से, ऊन के [illegible] कपास से या अमिल के कपास से

कातकर दीर्घ सूत्र बनाता है या बनाने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—"दीहसुत्तं नामं कत्तति" दीर्घ सूत्र का अर्थ है कातना अर्थात् कपास को "तकली, चर्खा" आदि से कातना।

भाष्य गाथा सुतत्थे पलिमंथो, उड्डाहो झुसिर दोस सम्मद्दो।
हत्थोयाघय संचय, पसंग आदाण गमणं च ॥ १९९६ ॥

इस गाथा में कातने के दोषों का संग्रह किया गया है। कातना गृहस्थ का कार्य है, इसे करने से साधु की हीलना होती है। मच्छर आदि जीवों की विराधना होती है, अधिक कातने पर हाथ आदि शरीर के अवयवों में थकान आ जाती है। कातने से बुनने की प्रवृत्ति भी प्रचलित हो सकती है।

संग्रह आदि दोषों की भी सम्भावना रहती है। इस प्रकार इस गाथा में आत्मविराधना और संयमविराधना बताई है।

अतः भिक्षु को चर्खा कातना आदि प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये। ऐसी प्रवृत्ति करने पर या उसका अनुमोदन करने पर भी इस सूत्र से प्रायश्चित्त आता है।

सचित्त, रंगीन और आकर्षक दंड बनाने का प्रायश्चित्त—

२५. जे भिक्खू "सचित्ताइं" दारुदंडाणि वा, वेणुदंडाणि वा वेत्त-दंडाणि वा करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

२६. जे भिक्खू "सचित्ताइं" दारुदंडाणि वा, वेणुदंडाणि वा, वेत्तदंडाणि वा धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ।

२७. जे भिक्खू "चित्ताइं" दारुदंडाणि वा, वेणुदंडाणि वा, वेत्त दंडाणि वा करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

२८. जे भिक्खू "चित्ताइं" दारुदंडाणि वा, वेणुदंडाणि वा वेत्त दंडाणि वा धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ।

२९. जे भिक्खू "विचित्ताइं" दारुदंडाणि वा, वेणुदंडाणि वा, वेत्त दंडाणि वा करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

३०. जे भिक्खू "विचित्ताइं" दारुदंडाणि वा, वेणुदंडाणि वा, वेत्त दंडाणि वा धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ।

२५. जो भिक्षु सचित्त काष्ठ, बांस या बेंत के दंड बनाता है या बनाने वाले का अनुमोदन करता है।

२६. जो भिक्षु सचित्त काष्ठ, बांस या बेंत के दंड धारण करता है या धारण करने वाले का अनुमोदन करता है।

२७. जो भिक्षु काष्ठ, वांस या वेंत के रंगीन दंड बनाता है या बनाने वाले का अनुमोदन करता है।

२८. जो भिक्षु काष्ठ, वांस या वेंत के रंगीन दंड धारण करता है या धारण करने वाले का अनुमोदन करता है।

२९. जो भिक्षु काष्ठ, वांस या वेंत के अनेक रंग वाले दंड बनाता है या बनाने वाले का अनुमोदन करता है।

३०. जो भिक्षु काष्ठ, वांस या वेंत के अनेक रंग वाले दंड धारण करता है या धारण करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—"दंड" औपग्रहिक उपधि है। अर्थात् विशेष शारीरिक दुर्बलता आदि कारणों से ही कोई रख सकता है किन्तु सभी साधुओं को साधारणतया रखना नहीं कल्पता है।

अतः आवश्यक होने पर बना बनाया दंड मिले तो धारण किया जा सकता है। न मिले तो भिक्षु अचित्त काष्ठ आदि से स्वयं बना सकता है।

दंड बनाने में व धारण करने में निम्न बातों का ध्यान रखना आवश्यक है—

१- जीव-जन्तु युक्त लकड़ी नहीं होनी चाहिये अर्थात् काष्ठ आदि सर्वथा जीवरहित होना चाहिये।

२- लकड़ी आदि के स्वाभाविक रंग के सिवाय अन्य कोई रंग नहीं होना चाहिए।

३- अन्य अनेक आकर्षक रंग, कारीगरी या चित्र आदि से विचित्र नहीं होना चाहिए।

पारिभाषिक शब्द—

"सचित्त—जीवसहिता" "चित्रकः—एक वर्णः, विचित्रा – नाना वर्णा"। चूर्णि

दंड की सुरक्षा के लिए किसी प्रकार का लेप लगाना निषिद्ध नहीं है। विभूषा के लिए एक या अनेक वर्ण का बनाना अथवा कारीगरी युक्त बनाना और धारण करना नहीं कल्पता है।

सचित्त लकड़ी का दंड बनाने या रखने में जीव-विराधना स्पष्ट है। ये तीनों प्रकार के दंड करने का धारण करने का लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

"परिभुंजइ" क्रिया युक्त तीन सूत्रों की व्याख्या नहीं मिलती है और न उनका निर्देश ही है। क्योंकि औपग्रहिक उपधि आवश्यकता पड़ने पर ही धारण की जाती है। अतः इन तीन सूत्रों की आवश्यकता भी नहीं है। भाष्य व चूर्णिकार के समय की प्रतियों के मूल पाठ में ये सूत्र नहीं थे, बाद में बढ़ाये गये हैं। अतः उन तीन सूत्रों को यहां मूल पाठ में न लेकर केवल ६ सूत्रों को स्वीकार करके उनकी व्याख्या की गई है।

नवनिर्मित ग्रामादि में प्रवेश करने का प्रायश्चित्त–

३१. जे भिक्खू "णवग-णिवेसंसि" गामंसि वा, नगरंसि वा, खेडंसि वा कब्बडंसि वा, मडंबंसि वा, दोणमुहंसि वा, पट्टणंसि वा, आसमंसि वा, सण्णिवेसंसि वा, निगमंसि वा, संबाहंसि वा, रायहाणिंसि वा अणुप्पविसित्ता असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

३१. जो भिक्षु नये बसे हुए १. ग्राम, २. नगर, ३. खेड, ४. कर्वट, ५. मडंब, ६. द्रोणमुख, ७. पट्टण, ८. आश्रम, ९. सन्निवेश, १०. निगम, ११. संबाह या १२. राजधानी में प्रवेश करके अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है)

विवेचन—सूत्र में आए स्थानों की व्याख्या इस प्रकार है—

१. 'गामं'—"कराणामष्टादशानाम् गमनीयं" 'ग्रसते वा बुद्ध्यादीन् गुणान्"

२. 'नगरं'—"न विद्यते एकोऽपि करः।"

३. 'खेडं'—"धूलिप्राकारपरिक्षिप्तम्"

४. 'कब्बडं'—"कुनगरं कर्वटं।"

५. 'मडम्बं'—"सर्वासु दिक्षु अर्धतृतीयगव्यूतमर्यादायामविद्यमान ग्रामादिकं"।

६. 'पट्टणं'—'पत्तनं द्विधा जलपत्तनं च स्थलपत्तनं चं', जलमार्ग या स्थल-मार्ग से जहां सामान-माल आता हो।

७. 'दोणमुहं'—जहां जलमार्ग और स्थलमार्ग दोनो से माल आता हो।

८. 'निगमं'-वणिक् वसति। व्यापारीवर्ग का समूह जहां रहता हो।

९. 'आसमं'-तापस आदि के आश्रम की प्रमुखता वाली वसति। अर्थात् जहां प्रथम तापसों के आश्रम बने, फिर अन्य लोग आकर बसे ऐसा स्थान।

१०. 'सण्णिवेसं'—आचारांग श्रु. १, अ. ८, उ. ६ में व निशीथ उद्देशक १२ में तथा राजेन्द्रकोष में "सन्निवेष" शब्द का अर्थ किया है। निशीथ उ. ५. व बृहत्कल्पभाष्य में "निवेश" शब्द के निर्देश से व्याख्या की गई है। व्याख्या सर्वत्र समान होने से "सन्निवेस" शब्द ही मूल पाठ में रखा गया है।

११. 'रायहाणी'—जहां राजा का निवास हो।

१२. 'संबाहं'—पर्वत के निकट धान्यादि संग्रह करने एवं रहने का स्थान।

१३. 'घोसं'—गोपालकों की वस्ती।

१४. 'अंसियं'—ग्रामादि का तृतीय चतुर्थ अंश जहां जाकर रहा हो।

१५. 'पुडभेयणं'—अनेक दिशाओं से सामान आकर जहां बिकता हो, ऐसे मंडी स्थल के पास वसी हुई वस्ती।

१६. 'आगरं'—पत्थर तथा धातु आदि जहां उत्पन्न हों व निकाले जाएं, उसके पास की वसति।

बृह. भाष्य. भा. २, पृ. ३४२

ग्रामादि १६ स्थानों में से इस सूत्र में १२ स्थानों का निर्देश है और "आगर" का अगले सूत्र में वर्णन है, इस प्रकार कुल १३ स्थानों का यहां पर कथन है। शेष १३ वें, १४ वें, १५ वें स्थानों का कथन बृहत्कल्पसूत्र उद्देशक ? सूत्र ६ में हुआ है।

निशीथ-भाष्य में इन शब्दों का स्पष्ट निर्देश व व्याख्या नहीं है। चूर्णिकार ने व्याख्या की है। बृहत्कल्पभाष्य की गाथाओं में इन शब्दों की व्याख्या की गई है। वहां १६ शब्दों की व्याख्या है और मूलपाठ में भी १६ शब्द हैं। व्याख्या में (भाष्य में) एक नाम मतांतर से अधिक कहा है। "संकरो" नाम किंचित् ग्रामोऽपि, खेटमपि आश्रमोपि।

विभिन्न सूत्रों के मूल पाठों में इन शब्दों के विभिन्न क्रम हैं। कई स्थलों पर १६ नाम और कई स्थलों पर १२ नाम हैं। जिसमें नं. १३-१४-१५ तीन तो निश्चित कम होते हैं और आगर, निगम, आश्रम इन तीन में से कोई भी एक कम होता है। इसका कारण अज्ञात है।

बृहत्कल्प उद्देशक ? सूत्र ६ के भाष्य एवं टीका में "राजधानी" का क्रम दसवां है व कुल नाम १६ हैं। उसके बाद के सूत्र ७-८-९ में "गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा" पाठ सभी प्रतियों में समान मिलता है।

सर्वत्र एक समान पाठ करना हो तो बृहत्कल्पभाष्य की प्राचीनता को लक्ष्य में रखकर व उसके पाठ के अनुसार तथा "राजधानी" शब्द को अंत में रखते हुए १६ शब्द स्वीकार किये जाएं तो कोई विरोध होने की संभावना नहीं रहती है। इन १६ का क्रम इस प्रकार होना चाहिये।

१. ग्राम २. नगर ३. खेट ४. कर्वट ५. मडम्ब ६. पट्टण ७. आगर ८. द्रोणमुख ९. निगम १०. आश्रम ११. सन्निवेश १२. संबाध १३. घोष १४. अंशिका १५. पुटभेदन १६. राजधानी।

प्रस्तुत सूत्र में "आगर" के सिवाय १५ नाम ही उचित हैं, क्योंकि आगे में सूत्र के अनेक प्रकार के "आगर" का कथन है।

व्यवहारसूत्र, बृहत्कल्पसूत्र, निशीथसूत्र और आचारांग में १६ शब्द ही होने चाहिये तथा संक्षिप्त पाठ में सर्वत्र "गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा" होना चाहिये। कहीं-कहीं पर "गामंसि वा जाव सण्णिवेसंसि वा" ऐसा संक्षिप्त पाठ भी मिलता है, ऐसे संक्षिप्त पाठों में एकरूपता होना आवश्यक है, आगम स्वाध्यायियों को इस ओर ध्यान देना चाहिये। जिससे विभिन्न संख्याओं के विकल्प समाप्त हो सकते हैं।

"णवग-णिवेसंसि"– नये बसे हुए ग्रामादि में कुछ दिनों तक साधु, साध्वियों को प्रवेश नहीं करना चाहिये। क्योंकि शकुन और अपशकुन दोनों ही साधुओं की साधना में बाधक हैं। अपशकुन होने से अन्य साधुओं के लिये अंतराय होने का कारण हो सकता है। अतः ऐसे स्थानों पर ठहरने के लिए नहीं जाना चाहिये तथा गोचरी आदि के लिए भी नहीं जाना चाहिए।

नवनिर्मित स्थान में प्रवेश करने का प्रायश्चित्त–

३२. जे भिक्खू "णवग-णिवेसंसि" अयागरंसि वा, तंबागरंसि वा, तउयागरंसि वा, सीसागरंसि वा, हिरण्णागरंसि वा, सुवण्णागरंसि वा, वइरागरंसि वा, अणुप्पविसित्ता असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

अर्थ—जो भिक्षु १. लोहा, २. तांबा, ३. तरुआ (रांगा), ४. शीशा, ५. चांदी, ६. सोना या ७. वज्ररत्न की खान के समीप बसी हुई नवीन वसति में जाकर अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—खानें लोहे, सोने आदि अनेक प्रकार की होती हैं। उन खानों के समीप उनमें कार्य करने वाले लोग निवास करते हैं। ऐसी नई बसी हुई बस्तियों में गोचरी आदि के लिये नहीं जाना चाहिये।

पूर्व सूत्र में नये बसे हुए ग्रामादि में गोचरी जाने का प्रायश्चित्त कहा गया है। क्योंकि वहाँ कुछ लोग शकुन-अपशकुन की मान्यता वाले होते हैं तथा खानों में शकुन-अपशकुन के सिवाय वहां से निकाले जाने वाले पदार्थों के सम्बन्ध में कुछ लोगों के मन में लाभ-अलाभ की आशंका भी उत्पन्न हो सकती है, अतः प्रायश्चित्त का यह सूत्र अलग कहा गया है तथा खान के निकट होने से पृथ्वीकायिक जीवों की विराधना होना भी संभव है। कभी चोरी का आक्षेप भी साधु पर आ सकता है। इसलिए इन स्थानों पर गोचरी आदि के लिये नहीं जाना चाहिए।

कई प्रतियों में 'रयणागरंसि' शब्द अधिक है। जो लिपि दोष से आ गया है। यहां वज्ररत्न के कथन से सभी रत्नों का ग्रहण हो जाता है।

वीणा बनाने व बजाने का प्रायश्चित्त—

३३. जे भिक्खू मुंह-वीणियं वा, दंत-वीणियं वा, ओट्ठ-वीणियं वा, णासा-वीणियं वा, कक्ख-वीणियं वा, हत्थ-वीणियं वा, णह-वीणियं वा, पत्त-वीणियं वा, फल-वीणियं वा, बीय-वीणियं वा, हरिय-वीणियं वा करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

३४. जे भिक्खू मुंह-वीणियं वा जाव हरिय-वीणियं वा वाएइ, वाएंतं वा साइज्जइ।

३५. जे भिक्खू अण्णयराणि वा तहप्पगाराणि अणुदिण्णाइं सद्दाइं उदीरेइ, उदीरेंतं वा साइज्जइ।

३३. जो भिक्षु, १. मुंह, २. दांत, ३. ओष्ठ, ४. नाक, ५. कांख, ६. हाथ, ७. नख, ८. पत्र, ९. पुष्प, १०. फल, ११. बीज या १२. हरी घास को वीणा जैसी ध्वनि निकालने योग्य बनाता है या बनाने वाले का अनुमोदन करता है।

३४. जो भिक्षु मुख से यावत् हरी घास से वीणा बजाता है या बजाने वाले का अनुमोदन करता है।

३५. जो भिक्षु अन्य भी इसी प्रकार के अनुत्पन्न शब्दों को उत्पन्न करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—उपर्युक्त १२ प्रकार की वीणाओं में ७ शरीर से सम्बन्धित हैं शेष ५ वनस्पति से सम्बन्धित हैं। ये वीणाएं आकृति से या अन्य किसी पदार्थ के संयोग से बजाई जा सकती हैं। इनके बनाने व बजाने में कुतूहल वृत्ति या चंचल वृत्ति अथवा मानसंज्ञा प्रमुख होती है, जो साधु के लिए अनुचित है। इनके बनाने में शरीर के अवयवों को विकृत करना पड़ता है और वनस्पति का छेदन

होता है जिससे आत्मविराधना और वनस्पति की विराधना होती है और बजाने में वनस्पति की या वायुकाय की अथवा दोनों की एक साथ विराधना होती है। सुनने व देखने वाले के मन में अनेक प्रकार के विकृत विचार उत्पन्न होते हैं। यह प्रवृत्ति स्व-पर को व्यामोहित करने वाली भी होती है।

ये कार्य संयमी के करने योग्य नहीं है। अतः इनका प्रायश्चित्त कहा गया है। लघुमासिक का कथन होते हुए भी दोष-स्थिति के अनुसार जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट अनेक प्रकार के प्रायश्चित्त दिये जा सकते हैं।

'मुंहवीणियं' से कंठ द्वारा बजाई जाने वाली वीणा समझ लेनी चाहिये।

पत्थर, कांच या किसी भी वस्तु से भिन्न-भिन्न प्रकार की ध्वनि करने का या वादित्र आदि बजाने का प्रायश्चित्त उपरोक्त सूत्र ३५ से समझ लेना चाहिये।

चूर्णि (व्याख्या) काल के बाद कभी इन तीन सूत्रों से २५ या २४ सूत्र मूल पाठ में बन गये हैं, ऐसा अनेक प्रतियों में देखा गया है किन्तु भाष्य, चूर्णि आदि में ऐसा कोई निर्देश नहीं है, अतः यहां २५ सूत्र ग्रहण न करके तीन सूत्र रखना ही उचित प्रतीत हुआ है।

औद्देशिक शय्या में प्रवेश करने का प्रायश्चित्त—

३६. जे भिक्खू "उद्देसियं-सेज्जं" अणुप्पविसइ, अणुप्पविसंतं वा साइज्जइ।

३७. जे भिक्खू "सपाहुडियं सेज्जं" अणुप्पविसइ, अणुप्पविसंतं वा साइज्जइ।

३८. जे भिक्खू "सपरिकम्मं सेज्जं" अणुप्पविसइ, अणुप्पविसंतं वा साइज्जइ।

३६. जो भिक्षु औद्देशिक दोष युक्त (उद्दिष्ट) शय्या में प्रवेश करता है या प्रवेश करने वाले का अनुमोदन करता है।

३७. जो भिक्षु सप्राभृतिक शय्या में प्रवेश करता है या प्रवेश करने वाले का अनुमोदन करता है।

३८. जो भिक्षु सपरिकर्म शय्या में प्रवेश करता है या प्रवेश करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन १. साधु के लिये जिस मकान का निर्माण किया जाता है वह "औद्देशिक दोष" युक्त शय्या कही जाती है।

२. सपाहुडियं—उद्गम के १६ दोषों में छठा "पाहुडिया" नामक दोष है। वही दोष यहां शय्या के लिये समझना चाहिये। मकान का निर्माण गृहस्थ के लिये ही करना हो किन्तु निर्माण के समय को आगे पीछे करने पर या शीघ्रता से करने पर वही शय्या "पाहुडिय दोष-युक्त शय्या" कहलाती है।

३. सपरिकम्मं—गृहस्थ के लिये बने हुए मकान में साधु के लिये सफाई करना, कराना, लेपन-लिंपन करना, कराना, हवा वाला करना या हवा बंद करना। दरवाजा छोटा-बड़ा करना,

भूमि को सम-विषम करना, सचित्त-वस्तुओं को तथा अचित्त भारी सामान को स्थानांतरित करना आदि कार्य जहां किये गये हों वह "परिकर्म दोष" युक्त शय्या कही जाती है।

आचारांगसूत्र श्रु. २, अ. २. उ. १ में कहा गया है कि उपर्युक्त परिकर्म युक्त शय्या में रहना भिक्षु को नहीं कल्पता है। किन्तु ये परिकर्म कार्य साधु के लिये करने के बाद यदि गृहस्थ ने उस स्थान को अपने उपयोग में ले लिया हो तो उसके बाद साधु को वहां रहना कल्पता है।

अतः गृहस्थ के उपयोग में लेने से पूर्व ही परिकर्म दोषयुक्त शय्या में प्रवेश करने से सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है। १. "उद्देशिक"

जावतियं उद्देसो, पासंडाणं भवे समुद्देसो।
समणाणं तु आदेसो, णिग्गंथाणं समादेसो ॥ २०२० ॥

१. सभी प्रकार के यात्रियों के लिये,
२. सभी प्रकार के पाषंडी अर्थात् सभी मतों के गृहत्यागियों के लिये,
३. शाक्यादि पांच प्रकार के श्रमणों के लिये,

४. जैन साधुओं के लिए निर्मित मकान, इन चारों प्रकार की शय्या में प्रवेश करने से लघु-मासिक प्रायश्चित्त आता है।

आचारांग श्रु. २, अ. २, उ. १, में 'बहवे समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमए पगणिय पगणिय ...' १. यह सूत्र है। इस सूत्र के अर्थ की अपेक्षा को-भाष्यकृत प्रथम द्वितीय विकल्प में समझ लेना चाहिये। तीसरे विकल्प को आचारांग कथित 'सावद्य क्रिया' में व चौथे विकल्प को 'महासावद्य' क्रिया में समझ लेना चाहिये।

२. 'पाहुड'—मकान बनाने के समय का परिवर्तन करने के सिवाय अन्य कार्य भी आगे पीछे करने से पाहुड दोष होता है। ऐसा भाष्य में बताया गया है।

विद्धंसण छायण लेवणे य, भूमिकम्मे पडुच्च पाहुडिया।
ओसक्कण अहिसक्कण, देसे सव्वे य णायव्व ॥ २०२६ ॥
सम्मज्जण वरिसीयण, उवलेवण पुप्फ दीवए चेव।
ओसक्कण उस्सक्कण, देसे सव्वे य णायव्वा ॥ २०३१ ॥

इन दोनों गाथाओं में क्रमशः बादर व सूक्ष्म परिकर्म आदि कार्यों का कथन करके "ओसक्कण-उस्सक्कण" पद दिया गया है, जिसकी चूर्णि इस प्रकार है—

"एते पुव्वं अप्पणो कज्जमाणे चेव नवरं साहवो पडुच्च ओसक्कणं उस्सक्कणं वा"। अर्थात् अपने लिए पहले से किये जा रहे कार्य को साधु के निमित्त से पहले-पीछे करना।

सूक्ष्म बादर परिकर्म कार्यों का और उनके "ओसक्कण उस्सक्कण" का विस्तृत वर्णन भाष्य से जानना चाहिये।

३. 'परिकर्म'—पाहुड दोष में भी आगे-पीछे करने के प्रसंग से कुछ परिकर्म कार्यों का कथन हुआ है। तथापि इस सूत्र में परिकर्म कार्यों का मूलगुण व उत्तरगुण के भेद की विवक्षा से संग्रह किया गया है। वह इस प्रकार है—

पट्टीवंसो दो धारणा, चत्तारि मूल वेलीओ ।
मूलगुण-सपरिकम्मा, एसा सेज्जाउ णायव्वा ॥ २०४६ ॥
वंसग, कडण-उक्कंवण, छावण लेवण दुवार भूमि य ।
सपरिकम्मा सेज्जा, एसा मूलुत्तरगुणेसु ॥ २०४७ ॥
दूमिय धूमिय वासिय, उज्जोविय बलिकडा अवत्ता य ।
सित्ता सम्मट्ठा वि य, विसोही कोडी कया वसही ॥ २०४८ ॥

अन्य प्रकार से और भी दोषों का कथन गाथा २०५२-५३-५४ में हुआ है यथा—पत्रमार्ग, संक्रमणमार्ग, दगवीणिका, ग्रीष्मऋतु में दीवाल में खड्डा कर हवा का रास्ता बनाना, सर्दी, वर्षा में ऐसे स्थानों को बन्द करना, जीर्ण दीवाल आदि को ठीक करना, बिल, गड्ढे आदि को ठीक करना, मकान से पानी चूता हो तो ठीक करना, दीवाल आदि की संधियों को ठीक करना इत्यादि।

उपर्युक्त परिकर्म के कार्य साधु के उद्देश्य से करने पर वह शय्या "परिकर्म दोष" वाली होती है। हीनाधिक सावद्य प्रवृत्ति के अनुसार प्रायश्चित्तस्थान व तप में हीनाधिकता होती है। भाष्यकार ने बताया है कि उत्तरगुण के व अल्पआरम्भ के दोष वाली शय्या का लघुमासिक प्रायश्चित्त है।

आचारांगसूत्र के अनुसार अनेक परिकर्म युक्त शय्या गृहस्थ के स्वाभाविक उपयोग में आ जाने पर कालान्तर से साधु के लिये कल्पनीय हो जाती है। ऐसी अवस्था में उस मकान में प्रवेश करने व रहने से कोई प्रायश्चित्त नहीं आता है।

संक्षिप्त भावार्थ—

१. केवल जैन साधु के उद्देश्य से अथवा जैन साधु युक्त अनेक प्रकार के साधुओं या पथिकों के उद्देश्य से बनायी गयी धर्मशाला आदि "उद्देशिक-शय्या" है।

२. गृहस्थ के अपने लिये बनाये जाने वाले मकान का या परिकर्म कार्य का समय साधु के निमित्त आगे-पीछे करने पर या शीघ्रता से करने पर अर्थात् ५ दिन का कार्य एक दिन में करने पर वह गृहस्थ का व्यक्तिगत मकान भी "सपाहुड शय्या" हो जाती है।

३. मकान गृहस्थ के लिये बना हुआ है। उसमें साधु के लिये परिकर्म कार्य करने पर गृहस्थ के उपयोग में आने के पूर्व कुछ काल तक वह मकान "सपरिकर्म शय्या" है।

इन तीन प्रकार के दोषयुक्त शय्या में प्रवेश करने का अर्थात् रहने का लघुमासिक प्रायश्चित्त कहा गया है।

दूसरे व तीसरे दोष वाली शय्या का निर्माण गृहस्थ के स्वप्रयोजन से होता है और प्रथम दोष वाली शय्या में बनाने वालों का स्वप्रयोजन नहीं होकर केवल परप्रयोजन से उसका निर्माण किया जाता है, यह अन्तर ध्यान में रखना चाहिये।

वर्तमान में उपलब्ध उपाश्रयों की कल्प्याकल्प्यता—

साधु-साध्वी के ठहरने के स्थान को आगम में 'शय्या, वसति एवं उपाश्रय' कहा जाता है और लोकभाषा में 'उपाश्रय या स्थानक' कहा जाता है।

ग्राम नगरादि में ये स्थान तीन प्रकार के मिलते हैं—

१. कल्प्य—दोष रहित=पूर्ण शुद्ध, साधु-साध्वी के ठहरने योग्य।

२. अकल्प्य—दोष युक्त=साधु-साध्वी के ठहरने के अयोग्य।

३. कल्प्याकल्प्य—दोष युक्त होते हुए भी कालान्तर से या पुरुषान्तरकृत होने पर ठहरने योग्य।

कल्प्य उपाश्रय—

१. कोई एक व्यक्ति केवल अपने लिये या सामाजिक उपयोग के लिये अथवा धार्मिक क्रियाओं की सामूहिक आराधना के लिये नये मकान का निर्माण करवाता है।

२. किसी उदारमना गृहस्थ या किसी बहिन द्वारा अपना अतिरिक्त मकान धार्मिक आराधना के लिये अथवा साधु-साध्वियों के ठहरने के लिये संघ को समर्पित कर दिया जाता है।

३. बड़े-बड़े क्षेत्रों के समाज या संघ में मतभेद होने पर विभिन्न पक्षों के द्वारा भिन्न-भिन्न मकानो का निर्माण करवाया जाता है।

४. एक उपाश्रय होते हुए भी चातुर्मास आदि में भाई एवं बहिनों के स्वतन्त्र पोषध, प्रतिक्रमण आदि करने के लिये दूसरे उपाश्रय की आवश्यकता प्रतीत होने पर नये मकान का निर्माण करवाया जाता है।

५. धार्मिक क्रियाओं की आराधना के लिये किसी का बना हुआ मकान खरीद लिया जाता है।

इन मकानो में साधु-साध्वियों के निमित्त निर्माण कार्य आदि न होने से ये पूर्ण निर्दोष होते हैं।

अकल्प्य उपाश्रय—

१. कई ऐसे गांव होते है जिनमें जैन गृहस्थों के केवल एक-दो घर होते हैं या एक भी घर नहीं होता है, वहां साधु-साध्वियों के ठहरने के लिये नये मकान का निर्माण किसी एक व्यक्ति द्वारा या कुछ सम्मिलित व्यक्तियों द्वारा करवाया जाता है।

२. सन्त-सतियों के ठहरने के स्थान अलग-अलग होने चाहिये, ऐसा अनुभव होने पर दूसरे मकान का निर्माण करवाया जाता है।

३. नये बसे हुए गांव या उपनगर में अथवा पुराने गांव में धर्म भावना या प्रवृत्ति बढ़ने पर गृहस्थों की धार्मिक आराधनाओं के लिये और साधु-साध्वियों के ठहरने के लिये मकान का निर्माण करवाया जाता है।

४. सतियों के ठहरने के लिये और बहिनों की धार्मिक आराधनाओं के लिये भी नये मकान का निर्माण करवाया जाता है।

इन मकानों के बनवाने में प्रमुख उद्देश्य साधु-साध्वियों का होने से औद्देशिक एवं मिश्रजात दोष के कारण ये पूर्णतः अकल्पनीय होते हैं।

कल्प्याकल्प्य उपाश्रय—

१. बड़े-बड़े संघों में अपने आयोजनों को लेकर बनाये जाने वाले मकान में सन्त-सतियों की अनुकूलताओं को भी लक्ष्य में रखकर नये मकान का निर्माण करवाया जाता है।

२. साधु-साध्वियों के लिये मकान खरीद लिया जाता है।

३. गृहस्थों एवं साधु-साध्वियों के संयुक्त उपयोग के लिये भी कहीं-कहीं मकान खरीद लिया जाता है।

४. निर्दोष मकान में भी साधु-साध्वियों के उद्देश्य से कई प्रकार के सुधार करवाये जाते हैं या परिवर्तन परिवर्धन करवाये जाते हैं।

५. चातुर्मास के अवसर पर श्रोताओं की सुविधा के लिये, संघ की शोभा के लिये अथवा साधुओं के आवश्यक उपयोगों के निमित्त कुछ सुधार करवाये जाते हैं।

६. साधु-साध्वियों के उद्देश्य से सचित्त पदार्थ या अधिक वजन वाले अचित्त उपकरण स्थानान्तरित किये जाते हैं अथवा मकान की सफाई कर दी जाती है।

इन मकानों में सूक्ष्म उद्देश्य या अल्प आरम्भ अथवा परिकर्म कार्य होने से ये गृहस्थों के उपयोग में आने के बाद या कालान्तर से कल्पनीय हो जाते हैं।

आचा. श्रु. २ अ. ५ एवं ६ में साधु के लिये खरीदे गये वस्त्र-पात्र को गृहस्थ के उपयोग में आने के बाद कल्पनीय कहा गया है। अ. २ उ. १ में साधु के लिये किये गये अनेक प्रकार के आरम्भ एवं परिकर्म युक्त मकान भी गृहस्थ के उपयोग में आने के बाद कल्पनीय कहे हैं, इत्यादि आगम प्रमाणों के आधार से ही यहां उक्त मकानों को कालान्तर से कल्पनीय होना बताया गया है।

सारांश यह है—१. जिन मकानों के निर्माण एवं परिकर्म में साधु-साध्वी का किंचित् भी निमित्त नहीं है, वे पूर्ण कल्पनीय होते हैं। २. जिन मकानों के निर्माण में मुख्य उद्देश्य साधु-साध्वी का होता है, वे पूर्ण अकल्पनीय होते हैं। ३. जिन मकानों के निर्माण में साधु-साध्वियों का मुख्य लक्ष्य न होकर उनकी अनुकूलताओं का लक्ष्य रखा गया हो या उनके निमित्त सामान्य या विशेष परिकर्म [सुधार] आदि किये गये हों तो वे मकान अकल्पनीय होते हुए भी कालान्तर से या गृहस्थ के उपयोग में आ जाने से कल्पनीय हो जाते हैं। —आचा. श्रु. २ अ. २ उ. १।

पाट—

सदोष—निर्दोष उपाश्रय के विकल्पों की जानकारी होने के साथ पाट सम्बन्धी विकल्पों की जानकारी होना भी आवश्यक है। क्योंकि कई उपाश्रयों में सोने बैठने के लिये पाट भी रहते हैं, उन पाटों के सम्बन्ध में भी तीन विकल्प होते हैं—

१. निर्दोष, २. सदोष, ३. अल्पसावद्य।

निर्दोष पाट—कई प्रान्तों में प्रचलित परिपाटी के अनुसार गृहस्थों के घरों में, सामाजिक संस्थाओं के मकानों में, पाठशालाओं में तथा पुस्तकालयों आदि में आवश्यकतानुसार पाट बनाये जाते हैं। वे कभी उपाश्रय में भेंट दे दिये जाते हैं।

२. कई गांवों में मकोड़े, बिच्छू आदि जीवों के उपद्रव के कारण श्रावक-श्राविकाओं के सामायिक, पोषध, प्रतिक्रमण आदि करते समय उपयोग में लेने के लिये कई पाट बनवाये जाते हैं।

ये उक्त दोनों प्रकार के पाठ पूर्ण शुद्ध है।

सदोष पाट—१. सन्त-सतियों के बैठने या शयन करने के लिये अथवा व्याख्यान वांचते समय बैठने के लिये छोटे-बड़े पाट बनवाये जाते है।

२. कई जगह साधु और गृहस्थ दोनों के उपयोग में लेने के लिये पाट बनवाये जाते हैं।

३. बने हुए पाट साधु-साध्वियों के उद्देश्य से खरीदकर उपाश्रय में भेंट किये जाते हैं।

ये साधु के उद्देश्य से खरीदे या बनाये गये पाट है।

अव्यक्त दोष वाले पाट—१. विवाह आदि के विशेष अवसरों पर पाट बनवाकर भेंट दिये जाते है, उस समय उपाश्रय में आवश्यक है या नहीं इसका कोई विचार नही किया जाता है।

२. मेरा नाम उपाश्रय में रहे इसके लिये पाट ही देना विशेष उपयुक्त है, ऐसे विचार से भी उपाश्रयों में पाट भेंट किये जाते हैं।

ये निरुद्देश्य या अव्यक्त उद्देश्य से बनाये गये पाट हैं।

पाट आदि सस्तारकों के सम्बन्ध में औद्देशिकादि गुरुतर दोषों का कथन करने वाले आगम-पाठ नही मिलते है तथा किस दोष वाला पाट कब तक अकल्प्य रहता है और कब कल्प्य हो जाता है, इस प्रकार का स्पष्ट कथन करने वाले पाठ भी उपलब्ध नहीं होते है।

आचा. श्रु. २ अ. २ उ. ३ मे पाट से सम्बन्धित जो पाठ है। उसका सार यह है कि साधु-साध्वी पाट ग्रहण करना चाहें तो उन्हें यह ध्यान रखना आवश्यक है—

१. उसमें कही जीव जन्तु तो नहीं है।

२. गृहस्थ उसे पुनः स्वीकार कर लेगा या नही।

३. अधिक भारी तो नही है।

४. जीर्ण या अनुपयोगी तो नहीं है, इत्यादि।

यदि वह पाट जीवरहित, प्रातिहारिक, हल्का एवं स्थिर (मजबूत) है तो ग्रहण करना चाहिये अन्यथा नही लेना चाहिये।

इसके अतिरिक्त पाट से सम्बन्धित दोषों का कथन आगमों में उपलब्ध नहीं है। पाट आदि के निर्माण में केवल परिकर्म कार्य ही किये जाते है जो मकान के पुरुषान्तरकृत कल्पनीय दोषों से अत्यल्प होते हैं। अर्थात् इनके बनने में अग्नि, पृथ्वी आदि की विराधना तो सर्वथा नहीं होती है। लकड़ी भी सूखी होती है अतः वनस्पति की भी विराधना नही होती है। अप्काय की विराधना भी प्रायः नहीं होती है। अतः आधाकर्मादि दोषों की इसमें सम्भावना नहीं है। अतः इनके बनाने में केवल परिकर्म दोष या क्रीतदोष ही होता है।

क्रीत मकान या परिकर्म दोष युक्त मकान के कल्पनीय होने के समान ही इन उक्त सभी दोषों वाले पाटो को भी कालान्तर से कल्पनीय समझ लेना चाहिये।

जैन साधुओं के दिगम्बर, श्वेताम्बर, मन्दिरमार्गी, स्थानकवासी, तेरहपंथी आदि रूप जो भेद हैं, उनमें से एक संघ के साधुओं के उद्देश्य से बना हुआ आहार या मकान दूसरे संघ के साधुओं के लिये औद्देशिक दोषयुक्त नहीं है। इस विषय का कथन मूल आगमों में नहीं है किन्तु प्राचीन व्याख्या ग्रन्थों में है। उसका आशय यह है कि जिनके सिद्धान्त और वेश समान हों वे प्रवचन एवं लिंग (उभय) से साधर्मिक कहे जाते हैं। इस प्रकार के साधर्मिक साधु के लिये बना आहार मकान आदि दूसरे साधर्मिकों के लिये भी कल्पनीय नहीं होता है।

उपर्युक्त चारों जैन विभागों के वेश और सिद्धान्तों में भेद पड़ गये हैं और प्रत्येक संघ ने एक दूसरे से सर्वथा भिन्न व स्वतन्त्र अस्तित्व धारण कर लिया है। अतः एक जैन संघ का औद्देशिक मकान आदि दूसरे संघ वालों के लिये औद्देशिक नहीं है।

छोटे क्षेत्र के छोटे श्रावकसमाज में सभी जैन संघों के मिश्रित भाव से निर्मित औद्देशिक शय्या आदि सभी संघों के साधुओं के लिये औद्देशिकदोषयुक्त ही समझना चाहिये।

संभोग-प्रत्ययिक क्रियानिषेध का प्रायश्चित्त—

३९. जे भिक्खू "णत्थि संभोग-वत्तिया किरिया" वयइ, वयंतं वा साइज्जइ।

३९. जो भिक्षु "संभोग प्रत्ययिक क्रिया नहीं लगती है", इस प्रकार कहता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—"एकत्र भोजनं संभोगः, तत्प्रत्यया क्रिया—कर्मबंधः, नास्तीति, जो एवं भाषते, तस्स मासलहुं। एस सुत्तत्थो।"

"संभोइओ संभोइएण समं उग्गमदोसेहिं आहाकम्मादिएहिं उग्गमदोसेहिं सुद्धं उप्पाएति तो सुद्धो, अह असुद्धं उप्पाएइ, जेण उग्गमदोसेण असुद्धं गेण्हति, तस्स जावतिओ कम्मबंधो जं च पायच्छित्तं तं आवज्जति।"—नि. चूर्णि।

जिसके साथ में आहार आदि का संभोग होता है ऐसा कोई भी सांभोगिक साधु आहारादि की गवेषणा में कोई दोष लगाता है तो उस वस्तु का उपभोग करने वालों को भी गवेषणा दोष संबंधी क्रिया अर्थात् कर्मबंध व प्रायश्चित्त आता है।

अतः संभोगप्रत्ययिक क्रिया के संबंध में गलत धारणा तथा प्ररूपणा नहीं करनी चाहिये। संभोग-विसंभोग संबंधी विस्तृत जानकारी के लिये भाष्य का अध्ययन करना आवश्यक है। सामान्य जानकारी के लिये बृहत्कल्प उ. ४ सूत्र २३ का विवेचन देखें।

धारण करने योग्य उपधि के परित्याग का प्रायश्चित्त—

४०. जे भिक्खू लाउय-पायं वा, दारुपायं वा, मट्टियापायं वा, अलं थिरं धुवं धारणिज्जं परिभिंदिय-परिभिंदिय परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ।

४१. जे भिक्खू वत्थं वा, कंबलं वा, पायपुंछणं वा, अलं थिरं धुवं धारणिज्जं पलिच्छिंदिय-पलिच्छिंदिय [illegible] वा साइज्जइ।

४२. जे भिक्खू दंडगं वा, लट्ठियं वा, अवलेहणियं वा, वेणुसूइं वा पलिभंजिय-पलिभंजिय परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा, साइज्जइ।

४०. जो भिक्षु तुंबपात्र, काष्ठ पात्र या मिट्टी के पात्र को जो परिपूर्ण (प्रमाणयुक्त) हैं, दृढ़ (कार्य के योग्य) हैं, रखने योग्य हैं और कल्पनीय है, उन्हें टुकड़े कर करके परठता है या परठने वाले का अनुमोदन करता है।

४१. जो भिक्षु परिपूर्ण, दृढ़, रखने योग्य व कल्पनीय वस्त्र, कंबल या पादप्रोंछन को खंड-खंड करके परठता है या परठने वाले का अनुमोदन करता है।

४२. जो भिक्षु दड, लाठी, अवलेखनिका या वांस की सूई को तोड़-तोड़ कर परठता है य परठने वाले का अनुमोदन करता है। उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन—जं पज्जत्तं तं अलं, दढं थिरं, अपडिहारियं धुवं तु।
लक्खण जुत्तं पायं, तं होंति धारणिज्जं तु ॥२१५९॥

१. जो पर्याप्त है—परिपूर्ण है, जितना लंबा-चौड़ा परिमाण चाहिये उतना है, वह "अलं" कहलाता है।

२. जो दृढ है—मजबूत है—काम आने योग्य है, वह "थिरं" कहलाता है।

३. जो अपडिहारी है—अप्रत्यर्पणीय है, गृहस्थ या साधु अथवा आचार्य आदि किसी को पुनः देने योग्य नहीं है अर्थात् जिसके लिये रखने की आज्ञा प्राप्त है, वह "धुवं" कहलाता है।

४. जो आगमोक्त है, लक्षण युक्त है अथवा उद्गम आदि दोषो से रहित है अर्थात् शुद्ध एवं सुशोभित होने से कल्पनीय है, वह "धारणीय" कहलाता है।

कोई भी उपकरण प्रमाण युक्त होते हुए भी जीर्ण होने से कार्य के अयोग्य हो सकता है, प्रमाण-युक्त और कार्य योग्य होते हुए भी उसको सदा रखने की अनाज्ञा हो सकती है, प्रमाण युक्त, कार्य योग्य और अपडिहारी होते हुए भी लक्षणहीन या दोषयुक्त हो सकता है। अतः अलं, थिरं, धुवं, धारिणिज्जं ये चार विशेषण कहे गये हैं। चारों विशेषणो से युक्त पात्र धारण करने योग्य होता है। ऐसे पात्र को टुकड़े-टुकड़े करके परठने पर प्रायश्चित्त आता है।

आगमों में अनेक जगह तीन प्रकार के पात्रों को जातियुक्त कथन किया गया है, उसका आशय यह है कि साधु तीन प्रकार के पात्र ही धारण कर सकता है।

वत्थं-कंवलं-पायपुछणं—इस दूसरे सूत्र में तीन प्रकार के वस्त्रों का कथन हुआ है। यहां निर्युक्ति एवं भाष्यकार 'पायपुंछणं' से वस्त्र का ही निर्देश करते हैं किन्तु पायपुंछण से रजोहरण का अर्थ नहीं करते। इस दूसरे सूत्र के तथा तीसरे दंडादि सूत्र के संबंध में भाष्यगाथा इस प्रकार है—

पायम्मि उ जो गमो, णियमा वत्थम्मि होति सो चेव।
दंडगमादिसु तहा, पुव्वे अवरम्मि य पदम्मि ॥२१६४॥

द्वितीय सूत्र से संवंधित इस गाथा में भी वस्त्र का ही निर्देश है, रजोहरण का संकेत नहीं है। रजोहरण संबंधी दस सूत्र दंडसूत्र के वाद में हैं ही। उनमें रजोहरण संबंधी सभी विषयों का काए

जैन साधुओं के दिगम्बर, श्वेताम्बर, मन्दिरमार्गी, स्थानकवासी, तेरहपंथी आदि रूप जो भेद हैं, उनमें से एक संघ के साधुओं के उद्देश्य से बना हुआ आहार या मकान दूसरे संघ के साधुओं के लिये औद्देशिक दोषयुक्त नहीं है। इस विषय का कथन मूल आगमों में नहीं है किन्तु प्राचीन व्याख्या ग्रन्थों में है। उसका आशय यह है कि जिनके सिद्धान्त और वेश समान हों वे प्रवचन एवं लिंग (उभय) से सार्धमिक कहे जाते हैं। इस प्रकार के सार्धमिक साधु के लिये बना आहार मकान आदि दूसरे सार्धमिकों के लिये भी कल्पनीय नहीं होता है।

उपर्युक्त चारों जैन विभागों के वेश और सिद्धान्तों में भेद पड़ गये हैं और प्रत्येक संघ ने एक दूसरे से सर्वथा भिन्न व स्वतन्त्र अस्तित्व धारण कर लिया है। अतः एक जैन संघ का औद्देशिक मकान आदि दूसरे संघ वालों के लिये औद्देशिक नहीं है।

छोटे क्षेत्र के छोटे श्रावकसमाज में सभी जैन संघों के मिश्रित भाव से निर्मित औद्देशिक शय्या आदि सभी संघों के साधुओं के लिये औद्देशिकदोषयुक्त ही समझना चाहिये।

संभोग-प्रत्ययिक क्रियानिषेध का प्रायश्चित्त—

३९. जे भिक्खू "णत्थि संभोग-वत्तिया किरियत्ति" वयइ, वयंतं वा साइज्जइ।

३९. जो भिक्षु "संभोग प्रत्ययिक क्रिया नहीं लगती है", इस प्रकार कहता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—"एकत्र भोजनं संभोगः, तत्प्रत्यया क्रिया—कर्मबंधः, नास्तीति, जो एवं भाषते, तस्स मास लहुं। एस सुत्तत्थो।"

"संभोइओ संभोइएण समं उवहि सोलसेहिं आहाकम्मादिएहिं उग्गमदोसेहिं सुद्धं उप्पाएति तो सुद्धो, अह असुद्धं उप्पाएइ, जेण उग्गमदोसेण असुद्धं गेण्हति, तत्थ जावतिओ कम्मबंधो जं च पायच्छित्तं तं आवज्जति।"—नि. चूर्णि।

जिसके साथ में आहार आदि का संभोग होता है ऐसा कोई भी सांभोगिक साधु आहारादि की गवेषणा में कोई दोष लगाता है तो उस वस्तु का उपयोग करने वालों को भी गवेषणा दोष संबंधी क्रिया अर्थात् कर्मबंध व प्रायश्चित्त आता है।

अतः संभोगप्रत्ययिक क्रिया के संबंध में गलत धारणा तथा प्ररूपणा नहीं करनी चाहिये। संभोग-विसंभोग संबंधी विस्तृत जानकारी के लिये भाष्य का अध्ययन करना आवश्यक है। सामान्य जानकारी के लिये बृहत्कल्प उ. ४ सूत्र २३ का विवेचन देखें।

धारण करने योग्य उपधि के परित्याग का प्रायश्चित्त—

४०. जे भिक्खू लाउय-पायं वा, दारुपायं वा, मट्टियापायं वा, अलं थिरं धुवं धारणिज्जं परिभिंदिय-परिभिंदिय परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ।

४१. जे भिक्खू वत्थं वा, कंबलं वा, पायपुंछणं वा, अलं थिरं धुवं धारणिज्जं पलिछिंदिय-पलिछिंदिय परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ।

४२. जे भिक्खू दंडगं वा, लट्ठियं वा, अवलेहणियं वा, वेणुसूइं वा पलिभंजिय-पलिभंजिय परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा, साइज्जइ ।

४०. जो भिक्षु तुंबपात्र, काष्ठ पात्र या मिट्टी के पात्र को जो परिपूर्ण (प्रमाणयुक्त) हैं, दृढ़ (कार्य के योग्य) हैं, रखने योग्य है और कल्पनीय हैं, उन्हें टुकड़े कर करके परठता है या परठने वाले का अनुमोदन करता है ।

४१. जो भिक्षु परिपूर्ण, दृढ़, रखने योग्य व कल्पनीय वस्त्र, कंबल या पादप्रोंछन को खंड-खंड करके परठता है या परठने वाले का अनुमोदन करता है ।

४२. जो भिक्षु दंड, लाठी, अवलेखनिका या बांस की सूई को तोड़-तोड़ कर परठता है या परठने वाले का अनुमोदन करता है । उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है ।

विवेचन—जं पज्जत्तं तं अलं, दढं थिरं, अपडिहारियं धुवं तु ।
लक्खण जुत्तं पायं, तं होंति धारणिज्जं तु ॥२१५९॥

१. जो पर्याप्त है—परिपूर्ण है, जितना लंबा-चौड़ा परिमाण चाहिये उतना है, वह "अलं" कहलाता है ।

२. जो दृढ है—मजबूत है—काम आने योग्य है, वह "थिरं" कहलाता है ।

३. जो अपडिहारी है—अप्रत्यर्पणीय है, गृहस्थ या साधु अथवा आचार्य आदि किसी को पुनः देने योग्य नहीं है अर्थात् जिसके लिये रखने की आज्ञा प्राप्त है, वह "धुवं" कहलाता है ।

४. जो आगमोक्त है, लक्षण युक्त है अथवा उद्गम आदि दोषों से रहित है अर्थात् शुद्ध एवं सुशोभित होने से कल्पनीय है, वह "धारणीय" कहलाता है ।

कोई भी उपकरण प्रमाण युक्त होते हुए भी जीर्ण होने से कार्य के अयोग्य हो सकता है, प्रमाण-युक्त और कार्य योग्य होते हुए भी उसको सदा रखने की अनाज्ञा हो सकती है, प्रमाण युक्त, कार्य योग्य और अपडिहारी होते हुए भी लक्षणहीन या दोषयुक्त हो सकता है । अतः अलं, थिरं, धुवं, धारिणिज्जं ये चार विशेषण कहे गये हैं । चारों विशेषणों से युक्त पात्र धारण करने योग्य होता है । ऐसे पात्र को टुकड़े-टुकड़े करके परठने पर प्रायश्चित्त आता है ।

आगमों में अनेक जगह तीन प्रकार के पात्रों को जातियुक्त कथन किया गया है, उसका आशय यह है कि साधु तीन प्रकार के पात्र ही धारण कर सकता है ।

वत्थं-कंबलं-पायपुछणं—इस दूसरे सूत्र में तीन प्रकार के वस्त्रों का कथन हुआ है । यहां निर्युक्ति एवं भाष्यकार 'पायपुंछणं' से वस्त्र का ही निर्देश करते हैं किन्तु पायपुंछण से रजोहरण का अर्थ नहीं करते । इस दूसरे सूत्र के तथा तीसरे दंडादि सूत्र के संबंध में भाष्यगाथा इस प्रकार है—

पायम्मि उ जो गमो, णियमा वत्थम्मि होति सो चेव ।
दंडगमादिसु तहा, पुव्वे अवरम्मि य पदम्मि ॥२१६४॥

द्वितीय सूत्र से संबंधित इस गाथा में भी वस्त्र का ही निर्देश है, रजोहरण का संकेत नहीं है । रजोहरण संबंधी दस सूत्र दंडसूत्र के बाद में हैं ही । उनमें रजोहरण संबंधी सभी विषयों का कए

साथ प्रायश्चित्त कथन किया गया है। अतः वस्त्रों के साथ जो पायपुंछण का कथन है, वह वस्त्र का ही एक उपकरण है और वह रजोहरण से भिन्न है। यदि आगे कहे गये उन १० सूत्रों में रजोहरण के स्थान पर पायपुंछण शब्द का प्रयोग होता तो पायपुंछण से रजोहरण अर्थ मानना उचित होता, किन्तु ऐसा नहीं है। .. अर्थात् आगमों में जहां-जहां रजोहरण से संबंधित विषयों का कथन है वहां रजोहरण शब्द का ही प्रयोग हुआ है। पायपुंछण शब्द का जहां प्रयोग है वहां रजोहरण अर्थ करना उचित नहीं है।

अतः इस दूसरे सूत्र का भावार्थ है कि "अलं थिरं धारणिज्जं" वस्त्र को टुकड़े करके नहीं परठना चाहिये। जीर्ण होने पर किसी कार्य के योग्य नही रहे तो परठा जा सकता है। परठने योग्य वस्त्रादि को न परठ कर उपयोग में ले तो भी प्रायश्चित्त आता है।

दंड आदि—इस सूत्र में "अलं-थिरं" आदि विशेषण नहीं है। इसका कारण यह कि दंड आदि धारण करने योग्य हों अथवा न हों, अनुपयोगी होने पर उनको जिस अवस्था में हों उसी अवस्था में परठ देना या छोड़ देना चाहिये। ये चारों औपग्रहिक उपकरण हैं, अतः कारण के समाप्त होते ही उपयोग के योग्य होने पर भी ये छोड़े जा सकते हैं और अयोग्य होने पर स्थंडिल में परठना हो तो उसी अवस्था में परठ देना चाहिये। इनके टुकड़े करने से हाथ आदि में लगने की संभावना रहती है। अतः इनके लिये टुकड़े करने का निषेध और प्रायश्चित्त समझना चाहिये।

तीनों प्रकार के वस्त्र यदि जीर्ण हों तो टुकड़े करके परठने में कोई प्रायश्चित्त नहीं आता है। पात्रों में से मिट्टी और तुंबे के जीर्ण या अयोग्य होने पर टुकड़े करके परठने पर प्रायश्चित नहीं आता है। काष्ठ का पात्र यदि जीर्ण या अयोग्य हो तो भी उसके टुकड़े करने में हाथों में लगने की संभावना रहती है, अतः उसके लिये भी दंड आदि के समान टुकड़े नहीं करने का समझ लेना चाहिये।

दंड आदि का अलग सूत्र करने का आशय स्पष्ट है कि ये औपग्रहिक उपकरण हैं और लौटाने का कहकर भी लिये जा सकते हैं।

वस्त्र, पात्र के दो अलग सूत्र कहने का आशय भी यह है कि दोनों के परठने में तथा अप्रतिहारिकता में कुछ अंतर होता है अर्थात् वस्त्र के लेने और लौटाने का व्यवहार नहीं है और पात्र तो लेप लगाने आदि कई कारणों से कभी लेकर लौटाये भी जाते हैं। इसी अंतर के कारण इनके भिन्न-भिन्न सूत्र कहे हैं।

परिभिंदइ—तीन सूत्रों में भिन्न-भिन्न तीन क्रियाओं का प्रयोग हुआ है। अतः परिभिंदइ—फोड़ना। पलिछिंदइ—फाड़ना। पलिभंजइ—तोड़ना। इस प्रकार तीनों शब्दों की विशेषता समझनी चाहिये।

रजोहरण सम्बन्धी विपरीत अनुष्ठान-प्रायश्चित्त—

४३. जे भिक्खू अइरेगपमाणं रयहरणं धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ।

४४. जे भिक्खू सुहुमाइं रयहरण-सीसाइं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

४५. जे भिक्खू रयहरणं कंडूसग-बंधेणं, बंधइ बंधंतं वा साइज्जइ।

४६. जे भिक्खू रयहरणं अविहीए बंधइ, बंधंतं वा साइज्जइ ।

४७. जे भिक्खू रयहरणस्स एक्कं बंधं देइ, देतं वा साइज्जइ ।

४८. जे भिक्खू रयहरणस्स परं तिण्हं बंधाणं देइ, देतं वा साइज्जइ ।

४९. जे भिक्खू रयहरणं अणिसिट्ठं धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ ।

५०. जे भिक्खू रयहरणं वोसट्ठं धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ ।

५१. जे भिक्खू रयहरणं अहिट्ठइ, अहिट्ठेंतं वा साइज्जइ ।

५२. जे भिक्खू रयहरणं उस्सीस-मूले ठवेइ, ठवेंतं वा साइज्जइ ।

४३. जो भिक्षु प्रमाण से बड़ा रजोहरण रखता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है ।

४४. जो भिक्षु रजोहरण की फलियां सूक्ष्म बारीक बनाता है या बनाने वाले का अनुमोदन करता है ।

४५. जो भिक्षु रजोहरण को "कंडूसग बंधन" से बांधता है या बांधने वाले का अनुमोदन करता है ।

४६. जो भिक्षु रजोहरण को अविधि से बांधता है या बांधने वाले का अनुमोदन करता है ।

४७. जो भिक्षु रजोहरण के एक बंधन देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

४८. जो भिक्षु रजोहरण के तीन से अधिक बंधन देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

४९. जो भिक्षु अकल्पनीय रजोहरण धारण करता है या धारण करने वाले का अनुमोदन करता है ।

५०. जो भिक्षु रजोहरण को शरीर-प्रमाण क्षेत्र से दूर रखता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है ।

५१. जो भिक्षु रजोहरण पर अधिष्ठित होता है या अधिष्ठित होने वाले का अनुमोदन करता है ।

५२. जो भिक्षु सोते समय रजोहरण को शिर के नीचे—सिरहाने रखता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है । (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है ।)

विवेचन—"रजोहरण" शब्द का प्रयोग मुख्य रूप से फलियों के समूह भाग की अपेक्षा से कहा गया है । क्योंकि अधिक प्रमाण, सूक्ष्म फलियां, अधिष्ठित होना, सिरहाने रखना आदि कार्यों का सम्बन्ध उनके लिए ही संगत होता है ।

१. अइरेगपमाणं—फलियों के समूह का घेरा प्रमाणोपेत होना चाहिए । रजोहरण के द्वारा एक बार में पूंजी हुई भूमि में अपना पांव आ सके, इतना प्रमाण फलियों के समूह का होना चाहिए ।

व्याख्याओं में ३२ अंगुल का निर्देश मिलता है, उसे फलियों के घेराव के लिए समझना सुसंगत है। ३२ अंगुल के घेराव की फलियों का समूह कम से कम १६ अंगुल चौड़ी भूमि का प्रमार्जन करता है। पांव की लम्बाई १२ से १५ अंगुल तक की प्रायः होती है। जिससे पूंजकर चलने का कार्य सम्यक् प्रकार से सम्पन्न हो सकता है। अतः रजोहरण का प्रमाण उसके घेराव की अपेक्षा से समझना चाहिए। ३२ अंगुल का प्रमाण रजोहरण की डंडी के विषय में नहीं समझना चाहिए।

९ वर्ष का साधु अढाई फुट की अवगाहना वाला हो सकता है और २० वर्ष का साधु ६ फुट का भी हो सकता है। सब के लिए डंडी की लम्बाई ३२ अंगुल का नियम उपयुक्त नहीं है। ३२ अंगुल का घेराव भी एकांतिक न समझकर उत्कृष्ट सीमा का समझ सकते हैं।

सूत्रपाठ से तो इतना ही भाव समझना पर्याप्त है कि शरीर तथा पांव की लम्बाई के अनुसार पूंजने का कार्य सम्यक् प्रकार से सम्पन्न हो सके, उतना घेराव या लम्बाई का रजोहरण होना चाहिए। उससे अधिक घेराव अथवा लम्बाई अनावश्यक होने से वह प्रमाणातिरिक्त रजोहरण कहलाता है। उपलक्षण से प्रमाण से कम करना भी दोष व प्रायश्चित्त योग्य समझ लेना चाहिए।

२. सुहुमाइं रयहरणसीसाइं—सम्पूर्ण फलियों के घेराव रूप रजोहरण के प्रमाण के विषय को कहने के बाद उन फलियों के परिमाण का कथन इस पद से हुआ है। रजोहरणशीर्ष अर्थात् फलियों का शीर्षस्थान जो कि डोरे में पिरोया जाता है, वह ज्यादा सूक्ष्म-पतला होगा तो फली भी सूक्ष्म होगी। जिससे कुल फलियों की संख्या ज्यादा होगी तथा सूक्ष्म शीर्षफलियां ज्यादा टिकाऊ भी नहीं होती है, अतः प्रत्येक फली व उसका शीर्ष स्थान भी सूक्ष्म नहीं होना चाहिए किन्तु वे मध्यम प्रमाण वाले होने चाहिए।

३. 'कंडूसग बंधण'—कंडूसगबंधेणं, तज्जइतरेण जो उरयहरणं।
बंधति कंडूसो पुण पट्ट उ आणादिणो दोसा ॥ २१७५ ॥

भावार्थ—जिस जाति (ऊन आदि) का रजोहरण हो उस जाति के या अन्य जाति के डोरे से फलियों को आपस में बांधना "कंडूसग बंधन" है और कपड़े की पट्टी से बांधना "कंडूसग पट्ट" है। ये दोष रूप हैं, अतः इनका प्रायश्चित्त है।

भाष्य में कहा है कि रजोहरण की फलियों के जीर्ण होने पर यदि वे टूट कर बिखरती हों तो उनको सम्बद्ध कर देने से बिखरें भी नहीं तथा प्रतिलेखन भी सुविधा से हो सके, यथा—"एतेहिं कारणेहिं तमेव थिग्गल-कारेणं सम्बद्धं करेति, जेण एगपडिलेहणा भवति ॥ २१७७ ॥ इस व्याख्या से भी फलियों को एक दूसरी से सम्बद्ध करना यही "कंडूसग बंधन" का अर्थ है।

४. अविहीए—रजोहरण को कपड़े की पट्टी से बांधना या पूर्ण रजोहरण को एक वस्त्र या थैली में बांधना तथा दुष्प्रतिलेख्य (प्रतिलेखन के अयोग्य) व दुष्प्रमार्ज्य (प्रमार्जन के अयोग्य) हो, इस प्रकार रजोहरण बांधना 'अविधि बंधन' है।

५. परं तिण्हं—काष्ठदंड से रजोहरण व्यवस्थित रूप में बंधा रहे, इसके लिए तीन स्थानों पर बंधन लगाये जा सकते हैं। तीन से अधिक स्थानपर बंधन लगाना रजोहरण में आवश्यक नहीं है। अविवेक से ज्यादा बंधन लगावे या बिना प्रयोजन एक भी बंधन लगावे तो प्रायश्चित्त आता है।

६. अणिसिट्ठं—"अणिसिट्ठं नाम तित्थकरेहिं अदिण्णं" अहवा बितिओ आएसो—जं गुरुजणेणं अणणुण्णायं, तं अणिसिट्ठं।"

गाथा— पंचातिरित्तं दव्वे उ, अचित्तं दुल्लभं च दोसं तु।
भावम्मि वग्नमोल्ला, अणणुण्णायं व जं गुरुणा ॥ २१८२ ॥

ऊन का, ऊँट के केशों का, सन का, वच्चकघास का और मूंज का ये, पांच प्रकार का रजोहरण रखने की तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा है।—बृह. उ. २, तथा ठाणांग अ. ५। इनसे भिन्न प्रकार का रजोहरण रखना "अणिसिट्ठं" कहा गया है। भाष्य में भी द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के भेद से यह कहा गया है कि पांच प्रकार के रजोहरण से भिन्न प्रकार का अथवा दुर्लभ और बहुमूल्य तथा गुरु की आज्ञा के विना ग्रहण किया गया रजोहरण "अणिसिट्ठ" होता है।

७. 'वोसट्ठ'—आउग्गह खेत्ताओ, परेण जं तं तु होति वोसट्ठं।
आरेणं अवोसट्ठं, वोसट्ठे धरेंत आणादी ॥ २१८५ ॥

७. आत्मप्रमाण अर्थात् शरीरप्रमाण क्षेत्र से दूर रखा गया रजोहरण 'वोसट्ठ' कहा जाता है और आत्मप्रमाण अवग्रह के अन्दर हो तो 'अवोसट्ठ' कहा जाता है। 'वोसट्ठ' रखने पर आज्ञा का उल्लंघन होता है तथा प्रायश्चित्त आता है।

भावार्थ यह है कि रजोहरण को सदा अपने साथ व पास में ही रखना चाहिए। शरीर प्रमाण—एक धनुष जितना दूर रहने पर प्रायश्चित्त नही आता है। उससे ज्यादा दूर होने पर लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

प्रचलित प्रवृत्ति में कोई ५ हाथ की मर्यादा करते है। कोई पूरे मकान की मर्यादा भी कहते है। किन्तु आत्मप्रमाण कहना अधिक उचित है, आवश्यकता होने पर सरलता से उसका शीघ्र उपयोग हो सकता है।

'मुहपोत्तिय णिसेज्जाए एसेव गमो वोसट्ठा वोसट्ठेसु पुव्वावरपदेसु ॥ २१८८ ॥

इस प्रकार भाष्यकार ने मुखवस्त्रिका और निषद्या (आसन) के लिए भी उपलक्षण से 'अवोसट्ठ' 'वोसट्ठ' का विवेक रखना सूचित किया है।

८. अहिट्ठेइ—अधिष्ठित होने मे खड़ा होना, बैठना तथा उस पर सोना आदि का समावेश हो सकता है। 'उस्सीस-मूले'—शिर के नीचे देने का अलग सूत्र होने से उसके सिवाय सभी सम्भवित क्रियाओं का अधिष्ठित होने में समावेश समझ लेना चाहिए। पांवो का या शरीर का प्रमार्जन करने में तो रजोहरण का उपयोग किया जाता है किन्तु आसन या शय्या के रूप में उसका उपयोग नहीं करना चाहिये। शिर के नीचे देना सिरहाना करना कहलाताहै और शेष अंग से सोना, बैठना आदि अधिष्ठित होना कहलाता है। अर्थात् शरीर के किसी भी अवयव के नीचे रजोहरण को दवाना नहीं कल्पता है।

९. उस्सीसमूले—इस सूत्र की चूर्णि के वाद उद्देशक का मूल पाठ समाप्त हो जाता है। अतः उपलब्ध ग्यारहवां "तुयट्टेइ" का सूत्र वाद में बढ़ाया गया प्रतीत होता है। भाष्यकार ने भी

"तुयट्टेंते" शब्द का प्रयोग "उस्सीसमूले" के विश्लेषण के लिये किया है और "उस्सीसमूले ठवेइ" सूत्र के विवेचन में ही व्याख्या पूर्ण कर दी है। "तुयट्टेइ" क्रिया वाला स्वतन्त्र सूत्र नहीं दिखाया है। वह सूत्र चूर्णिकार व भाष्यकार के सामने नहीं था, ऐसा स्पष्ट ज्ञात होता है। अतः यहां रजोहरण के कुल १० सूत्र ही संगत प्रतीत होते हैं।

भाष्य गाथा—"जे भिक्खू तुयट्टेंते, रयहरणं सीसगे ठवेज्जाहि" ॥ २१९२ ॥

"उस्सीसमूले ठवेइ" की व्याख्या रूप यह भाष्य गाथा है। इसमें "तुयट्टेंते" का प्रयोग देख कर किसी ने नया सूत्र लिख दिया हो, ऐसा भी सम्भव हो सकता है। किन्तु गद्यांश का यह स्पष्टार्थ है कि 'जो भिक्षु सोते समय रजोहरण को सिरहाने रखता है, वह प्रायश्चित्त का पात्र होता है।' अतः इस गद्यांश से भी अलग-अलग दो सूत्र की कल्पना करना उचित नहीं होता है।

पांचवें उद्देशक का सारांश—

१-११. वृक्ष स्कन्ध के आस-पास की सचित्त पृथ्वी पर खड़े रहना, बैठना, सोना, आहार करना, मल त्याग करना, स्वाध्यायादि करना।

१२. अपनी चादर (आदि) गृहस्थ के द्वारा सिलवाना।

१३. छोटी चादर आदि को बांधने को डोरियां लम्बी करना।

१४. नीम आदि के अचित्त पत्तों को पानी से धोकर खाना।

१५-२२. शय्यातर के या अन्य के पादप्रोंछन व दण्ड आदि निर्दिष्ट समय पर नहीं लौटाना।

२३. शय्या-संस्तारक लौटाने के बाद पुनः आज्ञा लिये बिना उपयोग में लेना।

२४. ऊन, सूत आदि कातना।

२५-३०. सचित्त, रंगीन तथा अनेक रंगों से आकर्षक दण्ड बनाना या रखना।

३१-३२. नये बसे हुए ग्रामादि में या नई खानों में गोचरी के लिये जाना।

३३-३५. मुख आदि से वीणा बनाना या बजाना तथा अन्य वाद्य आदि बजाना।

३६-३८. औद्देशिक, सप्राभृत, सपरिकर्म शय्या में प्रवेश करना या रहना।

३९. संभोगप्रत्ययिक क्रिया लगने का निषेध करना।

४०-४१. उपयोग में आने योग्य पात्र को फोड़कर या वस्त्र, कम्बल, पादप्रोंछन के टुकड़े करके परठना।

४२. दण्ड लाठी के टुकड़े करके परठना।

४३-५२. रजोहरण-प्रमाण से बड़ा बनाना, फलियां सूक्ष्म बनाना, फलियों को आपस में संबद्ध करना, अविधि से बांधकर रखना, अनावश्यक एक भी बन्धन करना, आवश्यक भी तीन से अधिक बन्धन करना।

पांच प्रकार के सिवाय अन्य जाति का रजोहरण बनाना, दूर रखना, पांव आदि के नीचे दबाना, सिर के नीचे रखना।

इत्यादि प्रवृत्तियों का लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

उपसंहार—प्रारम्भ के चार उद्देशकों में संपूर्ण सूत्रों को दो विभागों में संग्रह किया है किन्तु

इस उद्देशक के ५२ सूत्रों का दो विभागों में संग्रह न करके मात्र संक्षिप्त निर्देश ही कर देना पर्याप्त है।

सूत्र नं. २३ के विषय का व्यवहार सूत्र के आठवें उद्देशक में तथा सूत्र ३६ व ३८ के विषयों का आचारांग श्रु० २ अ० २ उ० १ में विधान हुआ है, इस उद्देशक के शेष सभी विषय अन्य आगम में नहीं आये हैं, किन्तु विधि-निषेध की स्पष्ट सूचना करते हुए प्रायश्चित्त का विधान करने वाले है। यह इस उद्देशक की पूर्व के उद्देशकों से विशेषता है।

१. इस उद्देशक के ३ सूत्रों के विषय का कथन अन्य आगमों में है यथा—सूत्र—२३, ३६, ३८।

२. इस उद्देशक के शेष ४९ सूत्रों के विषय का कथन अन्य आगमों में नहीं है।

॥ पांचवां उद्देशक समाप्त ॥

छठा उद्देशक

अब्रह्म के संकल्प से किये जाने वाले कृत्यों के प्रायश्चित्त—

१. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणं वडियाए विण्णवेइ, विण्णवेंतं वा साइज्जइ।

२-१०. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए हत्थकम्मं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ। एवं पढमुद्देशगमेण णेयव्वं जाव जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अंगादाणं अण्णयरंसि अचित्तंसि सोयंसि अणुप्पवेसित्ता सुक्कपोग्गले णिग्घायइ, णिग्घायंतं वा साइज्जइ।

११. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अवाउडि सयं कुज्जा, सयं बूया, करेंतं वा, बूएंतं वा साइज्जइ।

१२. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए कलहं कुज्जा, कलहं बूया, कलहवडियाए बाहिं गच्छइ, गच्छंतं वा साइज्जइ।

१३. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए लेहं लिहइ, लेहं लिहावेइ, लेहवडियाए बाहिं गच्छइ, गच्छंतं वा साइज्जइ।

१४. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए पोसंतं वा पिट्ठंतं वा भल्लायएण उप्पाएइ, उप्पाएंतं वा साइज्जइ।

१५. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए पोसंतं वा पिट्ठंतं वा भल्लायएण उप्पाएत्ता।

सीओदग-वियडेण वा उसिणोदग-वियडेण वा, उच्छोलेज्ज वा, पधोवेज्ज वा, उच्छोलेंतं वा, पधोवेंतं वा साइज्जइ।

१६. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए पोसंतं वा, पिट्ठंतं वा, भल्लायएण उप्पाएत्ता सीओदग-वियडेण वा, उसिणोदग-वियडेण वा, उच्छोलित्ता, पधोवित्ता, अण्णयरेणं आलेवणजाएणं आलिंपेज्ज वा, विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा, विलिंपंतं वा साइज्जइ।

१७. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए पोसंतं वा पिट्ठंतं वा, भल्लायएण उप्पाएत्ता, सीओदग-वियडेण वा, उसिणोदग-वियडेण वा, उच्छोलेत्ता पधोवित्ता, अण्णयरेणंआलेवण-जाएणं आलिंपित्ता विलिंपित्ता, तेल्लेण वा जाव णवणीएण वा अब्भंगेज्ज वा, मक्खेज्ज वा, अब्भंगेंतं वा मक्खेंतं वा साइज्जइ।

१८. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए पोसंतं वा पिट्ठंतं वा,
भल्लायएण उप्पाएत्ता
सीओदगवियडेण वा, उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेत्ता पधोवित्ता,
अण्णयरेणं आलेवणजाएणं आलिंपित्ता विलिंपित्ता तेल्लेण वा जाव णवणीएण वा अब्भंगेत्ता मक्खेत्ता, अण्णयरेण धूवजाएण धूवेज्ज वा पधूवेज्ज वा धूवेंतं वा पधूवेंतं वा साइज्जइ ।

१९. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए "कसिणाइं" वत्थाइं धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ ।

२०. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए "अहयाइं" वत्थाइं धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ ।

२१. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए "धोयरत्ताइं" वत्थाइं धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ ।

२२. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए "चित्ताइं" वत्थाइं धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ ।

२३. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए "विचित्ताइं" वत्थाइं धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ ।

२४-७७. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अप्पणो पाए आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा, आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ ।

एवं तइयउद्देसगगमेण णेयव्वं जाव जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए गामाणुगामं दूइज्जमाणे अप्पणो सीसदुवारियं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ ।

७८. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए खीरं वा, दहिं वा, णवणीयं वा, सप्पिं वा, गुलं वा, खंडं वा, सक्करं वा, मच्छंडियं वा, अण्णयरं पणीयं आहारं आहारेइ, आहारेंतं वा साइज्जइ ।
तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ।

१. जो भिक्षु स्त्री को मैथुन सेवन के लिये कहता या कहने वाले का अनुमोदन करता है ।

२-१०. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से हस्तकर्म करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है । इस तरह प्रथम उद्देशक के सूत्र १ से ९ तक के समान पूरा आलापक यहां जान लेना चाहिये यावत् जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से अंगादान को किसी अचित स्रोत—छिद्र में प्रविष्ट करके शुक्र पुद्गल निकालता है या निकालने वाले का अनुमोदन करता है ।

११. जो भिक्षु मैथुन सेवन के संकल्प से स्त्री को स्वयं वस्त्ररहित करता है या वस्त्ररहित होने के लिए कहता है या ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है ।

१२. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से कलह करता है या कलह उत्पादक वचन कहता है या कलह करने के लिए बाहर जाता है या जाने वाले का अनुमोदन करता है ।

१३. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से पत्र लिखता है, लिखवाता है या पत्र लिखने के लिये बाहर जाता है या जाने वाले का अनुमोदन करता है ।

१४. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से स्त्री की योनि या अपानद्वार के अग्र भाग को "भिलावा" आदि औषधि के द्वारा शोथ युक्त अर्थात् पीड़ायुक्त करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

१५. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से स्त्री की योनि या अपानद्वार के अग्र भाग को भिलावा आदि औषधि के द्वारा रोगग्रस्त करके उसे अचित्त शीतल जल या उष्ण जल से एक बार या अनेक बार धोता है या धोने वाले का अनुमोदन करता है।

१६. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से स्त्री की योनि या अपानद्वार के अग्र भाग को भिलावा आदि औषधि के द्वारा रोग ग्रस्त करके अचित्त शीतल या उष्ण जल से धोकर किसी प्रकार का लेप एक बार या अनेक बार लगाता है या लगाने वाले का अनुमोदन करता है।

१७. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन से संकल्प के स्त्री की योनि या अपानद्वार के अग्र भाग को भिलावा आदि औषधि के द्वारा रोगग्रस्त करके अचित्त शीतल जल या उष्ण जल से धोकर किसी प्रकार का लेप लगाकर तेल यावत् मक्खन से एक बार या अनेक बार मालिश करता है या मालिश करने वाले का अनुमोदन करता है।

१८. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से स्त्री की योनि या अपानद्वार के अग्रभाग को भिलावा आदि औषधि के द्वारा रोगग्रस्त करके अचित्त शीतल या उष्ण जल से धोकर, कोई एक प्रकार का लेप लगाकर, तेल यावत् मक्खन से मालिश करके किसी सुगंधित पदार्थ से एक बार या अनेक बार सुवासित करता है या सुवासित करने वाले का अनुमोदन करता है।

१९. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से 'बहुमूल्य वस्त्र' रखता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है।

२०. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के सकल्प से 'अखण्ड वस्त्र (थान)' रखता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है।

२१. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से 'धोकर रंग (नील आदि) लगाए हुए वस्त्र' रखता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है।

२२. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से 'रंगीन वस्त्र' रखता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है।

२३. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से 'अनेक रंग के या चित्रित (छपाई युक्त) वस्त्र' रखता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है।

२४-७७. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से अपने पैरों का एक बार या अनेक बार घर्षण करता है या घर्षण करने वाले का अनुमोदन करता है, इस प्रकार तीसरे उद्देशक के सूत्र १६ से ६९ तक के आलापक के समान यहां जान लेना चाहिए यावत् जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से ग्रामानुग्राम विहार करते हुए अपना मस्तक ढँकता है या ढँकने वाले का अनुमोदन करता है।

७८. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से दूध, दही, मक्खन, घी, गुड़, खांड, शक्कर या मिश्री आदि पौष्टिक आहार करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

उपर्युक्त ७८ सूत्रों में कथित दोष-स्थानों का सेवन करने वाले को गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन—माउग्गामं 'मातिसमाणो गामो• मातुगामो, मरहट्ठविसयभासाए' वा "इत्थी' माउग्गामो भण्णति"—माता के समान है शरीरावयव जिसके उसे अर्थात् स्त्री को मातृग्राम कहते है तथा महाराष्ट्र देश की भाषा में भी स्त्री को "माउग्गाम" कहा जाता है। अतः ये दोनों पर्यायवाची शब्द समझना चाहिये।

विण्णवेइ—'विण्णवण—विज्ञापना—इह तु प्रार्थना परिगृह्यते।'

वेदमोहनीयकर्म का प्रबल उदय होने पर जो भिक्षु आगमवाक्यों के चिंतन से उसे निष्फल नही करता है और स्त्री से प्रार्थना करता है अर्थात् मैथुन सेवन के लिए कहता है तो भाव से ब्रह्मचर्य भंग होने के कारण अथवा मैथुन सेवन करने पर चतुर्थ व्रत के भंग होने से उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

आगमकार ब्रह्मचर्यव्रत की दुष्करता का वर्णन इस प्रकार करते है—

विरई अबंभचेरस्स, कामभोग रसण्णुणा।
उग्गं महव्वयं बंभं, धारेयव्वं सुदुक्करं॥ —उत्त. अ. १९, गा. २८

दुक्खं बंभवयं घोरं, धारेउं अमहप्पणो। —उत्त. अ. १९, गा. ३३

कामभोगों के रस के अनुभवी के लिए अब्रह्मचर्य से विरत होना और उग्र एवं घोर ब्रह्मचर्य महाव्रत को धारण—पालन करना अत्यन्त कठिन है।

जो आत्मा महान् नहीं है किन्तु क्षुद्र है, उसके लिए घोर दुष्कर ब्रह्मचर्य महाव्रत को धारण करना अतीव कष्टकर है।

आगमकार ब्रह्मचर्य व्रत के लिये उत्साहित करते हुए कहते हैं—

मूलमेयं अहम्मस्स, महादोससमुस्सयं।
तम्हा मेहुणसंसग्गं, णिग्गंथा वज्जयंति णं॥ —दसवै. अ, ६, गा, १७

मैथुन अधर्म का मूल है और महान् दोषों का समूह है अतः निर्ग्रंथ मैथुन संसर्ग का वर्जन करते है।

'संसार-मोक्खस्स विपक्खभूया, खाणी अणत्थाण हु कामभोगा। —उत्तरा. १४ गा,

कामभोग मोक्ष के विरोधी हैं अर्थात् संसार बढाने वाले हैं अतएव ये अनर्थों की खान हैं।

आगमकार अनेक सूत्रों में यथाप्रसंग ब्रह्मचर्य महाव्रत की सुरक्षा के लिये सावधान करते हैं—

१. दसवै. अ. ८, गा. ५३-६० २. उत्त. अ. ८, गा. ४-६, १८-१९
३. दसवै. अ. २, गा. २-९ ४. उत्त अ. ९, गा. ५३

५. उत्त. अ. १३, गा. १६-१७ ६. उत्त. अ. १९, गा. १७
७. उत्त. अ. २५, गा. २७, ४१-४३ ८. उत्त. अ. ३२, गा. ९-२०
९. उत्त. अ. २, गा. १६-१७ १०. उत्त अ. १, गा. २६

११. सूयगडांग श्रु. १, अ. ४, ब्रह्मचर्य विषयक है।

१२. आचारांगसूत्र अ. ५, उ. ४ में सूत्रकार ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए अनेक उपायों का कथन करते हुए अन्तिम उपाय संथारा करने का सूचित करते है।

१३. आचारांगसूत्र अ. ८, उ. ४ में सूत्रकार ने ब्रह्मचर्य की सुरक्षा हेतु फांसी लगाकर मर जाने के लिए भी सूचित किया है और ऐसे मरण को कल्याणकारी कहा है।

१४. 'नव वाड' और 'दस ब्रह्मचर्यसमाधिस्थान' इन दोनों में प्रायः समान विषयों का प्रतिपादन किया गया है। ब्रह्मचर्य की पूर्ण सुरक्षा के लिए इनका पूर्ण रूप से पालन अनिवार्य है।

'नव वाड' का पालन न करने पर यदा-कदा मोहकर्म का प्रबल उदय हो जाता है जिसमें इस पूरे उद्देशक में वर्णित सभी क्रियायें हो सकती है। अतिचारों का या अनाचारों का आचरण करने पर साधक अपने को संयम में स्थिर नहीं रख सकता है। आगमों में अन्य अन्धों की अपेक्षा मोहांध को प्रगाढ अन्ध कहा है। अतः साधक को सतत सावधान रहकर आगमानुसार जीवनयापन करना चाहिए।

इस उद्देशक के सभी सूत्रों में ब्रह्मचर्य महाव्रत को दूषित करने का प्रायश्चित्त कहा है। साथ ही ब्रह्मचर्य व्रत को दूषित करने वाली अनेक प्रकार की प्रवृत्तियां कही गई है और सभी सूत्रों में 'माउग्गामस्स मेहुणवडियाए' ये पद लगाये गये हैं। इसका कारण यह है कि—प्रत्येक प्रवृत्ति में मूल संकल्प 'स्त्री के साथ मैथुन सेवन करने का है।'

छट्ठे और सातवें उद्देशक में ब्रह्मचर्य भंग के विस्तृत प्रायश्चित्त का वर्णन होने के कारण भी इस निशीथसूत्र को गोपनीय माना गया है। यहाँ गोपनीयता का तात्पर्य यह है कि इस सूत्र का स्वाध्यायी अत्यधिक योग्य हो और इसके अध्ययन से उसकी आत्मा किसी प्रकार के विषय-कषाय में प्रवृत्त न हो।

प्रकाशन के इस युग में मुद्रण-यन्त्रों के उत्तरोत्तर विकास काल में किसी प्रसिद्ध आगम या ग्रन्थ का प्रकाशन न हो यह असंभव है। फिर भी इस सूत्र के स्वाध्यायी को चाहिए कि वह अपनी विकृत प्रवृत्तियों को शांत रखने का दृढ निश्चय कर ले, तभी इस सूत्र का अध्ययन उसके लिए समाधि का कारण हो सकता है।

सूत्र नं. १३ से पत्रलेखन की जानकारी मिलती है। इस सूत्र के अनुसार आगम काल में साधु समुदाय में लेखन की प्रवृत्ति और लेखन सामग्री रखने की परम्परा भी प्रचलित थी, ऐसा ज्ञात होता है। मैथुन के संकल्प से पत्र लिखने का प्रायश्चित्त इस उद्देशक में कहा है। मैथुन संकल्प के अतिरिक्त लिखने की प्रवृत्ति का प्रायश्चित्त अन्य उद्देशकों में कहीं नहीं कहा गया है। आगमों का व्यवस्थित लेखनकार्य देवर्द्धिगणी के समय हुआ होगा, तो भी उसके पहले साधु समुदाय में लेखनप्रवृत्ति का या लेखनसामग्री के रखने का सर्वथा निषेध रहा हो ऐसा प्रतीत नहीं होता। इस सूत्र से यह स्पष्ट है।

पोप:—मृगोपदमित्यर्थः तस्य अंतानि पोषंतानि । पिट्ठीए अंतं पिट्ठंतं-अपानद्वारमित्यर्थः । उत् प्रावल्येन पाकयति-उप्पाएति, दंसणे-कोउएण—'उप्पक्कं ममेयं दंसेइ' त्ति काउं ।

स्त्री के अपानद्वार या योनिद्वार में किसी प्रकार की पीड़ा होने पर वह मुझ से कहेगी या दिखायेगी या औषध पूछेगी इत्यादि संकल्प से 'भिलावा आदि औषध' किसी भी उपचार के निमित्त से देना, जिससे मैथुन के संकल्प को सफल करने का अवसर मिलेगा ।

अथवा पति उसका परित्याग कर दे, इस संकल्प से स्त्री के पूछने पर या अपने मलिन विचारों से ऐसी औषध या लेप देकर उस स्थान को रोगग्रस्त करना ।

इसका विवेचन भाष्य गाथा २२६९ से २२७२ तक है । धोखे से ऐसा करने पर तो वह पति से शिकायत करे इत्यादि दोषों की सम्भावना रहती है । अतः स्त्री की इच्छा से करने पर ही फिर उसे ठीक करने की जो क्रियाएँ की जाती हैं, उनका कथन आगे के सूत्रों में है ।

छट्ठे उद्देशक का सारांश—

१-१० कुशील-सेवन के लिए स्त्री को निवेदन करना, हस्त कर्म करना, अंगादान का संचालन आदि प्रवृत्ति करना यावत् शुक्रपात करना ।

११-१३ विषयेच्छा से स्त्री को वस्त्ररहित करना, वस्त्ररहित होने के लिये कहना, कलह करना, पत्र लिखना ।

१४-१८ मैथुन-सेवन के संकल्प से स्त्री की योनि या अपानद्वार का लेप, प्रक्षालन आदि कार्य करना ।

१९-२३ बहुमूल्य, अखंड, धुले, रंगीन और रंगबिरंगे वस्त्र रखना ।

२४-७७ शरीर का परिकर्म करना ।

७८. दूध, दही आदि पौष्टिक आहार करना इत्यादि प्रवृत्तियां मैथुन के संकल्प से करने पर गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है ।

चतुर्थ महाव्रत तथा उसकी सुरक्षा के सम्बन्ध में अनेक सूचनाएँ आगमों में दी गई हैं । फिर भी इस उद्देशक के ७८ सूत्रों में मैथुन के संकल्प से कैसी-कैसी प्रवृत्तियां हो सकती है, उनका कथन है जो अन्य सूत्रों के वर्णन से भिन्न प्रकार की है । यह इस उद्देशक की विशेषता है ।

॥ छठा उद्देशक समाप्त ॥

सातवां उद्देशक

माला-निर्माणादि के प्रायश्चित्त—

१. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए—

१. तणमालियं वा, २. मुंजमालियं वा, ३. वेंतमालियं वा, ४. कट्ठमालियं वा, ५. मयण-मालियं वा, ६. भिंडमालियं वा, ७. पिच्छमालियं वा, ८. हड्डमालियं वा, ९. दंतमालियं वा, १०. संखमालियं वा, ११. सिंगमालियं वा, १२. पत्तमालियं वा, १३. पुप्फमालियं वा, १४. फलमालियं वा, १५. बीयमालियं वा, १६. हरियमालियं वा करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

२. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए तणमालियं वा 'जाव' हरियमालियं वा धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ।

३. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए तणमालियं वा 'जाव' हरियमालियं वा पिणद्धेइ, पिणद्धेंतं वा साइज्जइ।

१. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से—

१. तृण की माला, २. मूंज की माला, ३. बेंत की माला, ४. काष्ठ की माला, ५. मैण (मोम) की माला ६. भींड की माला ७. मोरपिच्छी की माला, ८. हड्डी की माला, ९. दांत की माला, १०. शंख की माला, ११. सींग की माला, १२. पत्रों की माला, १३. पुष्पों की माला, १४. फलों की माला, १५. बीजों की माला या १६. हरित (वनस्पति) की माला बनाता है या बनाने वाले का अनुमोदन करता है।

२. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से तृण की माला यावत् हरित की माला धारण करता है या धारण करने वाले का अनुमोदन करता है।

३. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से तृण की माला यावत् हरित की माला पहनता है या पहनने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—सूत्रोक्त मालाएं विभूषा का एक अंग हैं। मैथुन का संकल्प सिद्ध करने के लिये कभी-कभी विभूषित होना भी आवश्यक होता है।

शंख की माला के स्थान पर चूर्णिकार ने कोडी की माला का उल्लेख किया है। सम्भवतः उनके सामने 'शंख' के स्थान पर 'कोडी' का पाठ रहा होगा।

बीज व हरित सम्बन्धी दो मालाओं का पाठ चूर्णिकार के सामने नहीं रहा होगा। 'फल-माला' तक शब्दों की व्याख्या की गई है।

इस सूत्र के मूल पाठ में तथा शब्दों के क्रम व संख्या में भिन्नता मिलती है। चूर्णि के अनुसार क्रम को सुधारा गया है। कुल शब्द १६ रखे हैं, चूर्णि में १३ शब्दों की ही व्याख्या है। शंख, फल,

वीज, हरित माला की व्याख्या नहीं है तथा वराटिका (कौडी) शब्द की व्याख्या अधिक है। वह शब्द किसी भी प्रति में उपलब्ध नही है।

इन तीन सूत्रों में तीन क्रियायें कही गई हैं—

प्रथम सूत्र में 'करेइ' क्रिया का कथन है।

द्वितीय सूत्र में 'धरेइ' क्रिया का कथन है।

तृतीय सूत्र में 'पिणद्धेइ' क्रिया का कथन है।

यहां करेइ का अर्थ करना है अर्थात् बनाना है, धरेइ का अर्थ धारण करना है अर्थात् अपने पास रखना है। पिणद्धेइ का अर्थ पहनना है अर्थात् स्वय पहनता है इत्यादि। इस प्रकार तीनों क्रियाओं के भिन्न-भिन्न अर्थ है।

इसी प्रकार आगे के सूत्रों में इन तीन क्रियाओं का प्रयोग है, उनमें भी सर्वत्र उक्त अर्थ ही........ होता है।

धातुओं के निर्माण आदि का प्रायश्चित्त—

४. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए—

१. अयलोहाणि वा, २ तंबलोहाणि वा, ३. तउयलोहाणि वा, ४. सीसलोहाणि वा, ५. रुप्पलोहाणि वा, ६. सुवण्णलोहाणि वा करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

५. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अयलोहाणि वा जाव सुवण्णलोहाणि वा धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ।

६. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अयलोहाणि वा जाव सुवण्णलोहाणि वा पिणद्धेइ, पिणद्धेंतं वा साइज्जइ।

४. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से—

१. लोहे का कड़ा, २. तांबे का कड़ा, ३. त्रपुप का कड़ा, ४. शीशे का कड़ा, ५. चांदी का कड़ा, ६, सोने का कड़ा बनाता है या बनाने वाले का अनुमोदन करता है।

५. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से लोहे का कड़ा यावत् सोने का कड़ा धारण करता है या धारण करने वाले का अनुमोदन करता है।

६. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से लोहे का कड़ा यावत् सोने का कड़ा पहनता है या पहनने वाले का अनुमोदन करता है।

(उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—धमंत फुमंतस्स संजम—छक्कायविराहणा। राउले भुइज्जइ तत्थ बंधणादिया य दोसा। "जम्हा एते दोसा तम्हा णो करेंति, णो धरेंति, णो पिणद्धेंति"॥ —चूर्णि॥

लोहे आदि को गर्म करने के लिये धमण के द्वारा अग्नि जलाने में, वायु को प्रेरित करने मे संयम की एवं छः काय जीवों की विराधना होती है। 'राउल'—एक प्रकार का यन्त्र है जिसमें बने हुए छिद्रों में मोटे तार डालकर तथा उन्हें खींच कर पतले तार बनाकर तैयार किये जाते हैं' उसमें तारों का डालना, उन्हें कसना एवं खींचना आदि क्रियाजन्य दोष होते है इत्यादि दोष हैं, अतः भिक्षु कड़े या उनके तार नही बनाता है, नहीं रखता है एवं नहीं पहनता है।

सूत्र नं. १, २, ३ में मालाओं के बनाने, रखने और पहनने का कहा है।

सूत्र नं. ७, ८, ९ में आभूषण बनाने, रखने और पहनने का कहा है। अतः सूत्र ४, ५, ६, से लोहे के कड़े पहनना—यह अर्थ करना उपयुक्त लगता है।

कड़े हाथों में या पांवों में अपनी रुचि अनुसार पहने जा सकते हैं।

सूत्र नं ६ में 'पिणद्धेइ' क्रिया के स्थान पर 'परिभुंजइ' क्रिया का पाठ उपलब्ध होता है। चूर्णिकार ने 'पिणद्धेइ' क्रिया को स्वीकार करके ही व्याख्या की है तथा सत्रहवें उद्देशक में 'पिणद्धेइ' क्रिया का संकेत किया है। अतः यहां मूल पाठ में 'पिणद्धेइ' क्रिया ही रखी गई है।

आभूषण-निर्माण आदि के प्रायश्चित्त—

७. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए—

१. हाराणि वा, २. अद्धहाराणि वा, ३. एगावली वा, ४. मुत्तावली वा, ५. कणगावली वा, ६. रयणावली वा, ७. कडगाणि वा, ८. तुडियाणि वा, ९. केऊराणि वा, १०. कुंडलाणि वा, ११. पट्टाणि वा, १२. मउडाणि वा, १३. पलंबसुत्ताणि वा, १४. सुवण्णसुत्ताणि वा करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

८. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए हाराणि वा 'जाव' सुवण्णसुत्ताणि वा धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ।

९. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए हाराणि वा 'जाव' सुवण्णसुत्ताणि वा पिणद्धेइ, पिणद्धेंतं वा साइज्जइ।

७. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से—

१ हार, २. अर्द्धहार, ३. एकावली, ४. मुक्तावली, ५. कनकावली, ६. रत्नावली, ७. कटिसूत्र, ८. भुजबंध, ९. केयूर-कंठा, १०. कुंडल, ११. पट्ट, १२. मुकुट, १३. प्रलंबसूत्र या १४. सुवर्णसूत्र बनाता है या बनाने वाले का अनुमोदन करता है।

८. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से हार 'यावत्' सुवर्णसूत्र धारण करता है या धारण करने वाले का अनुमोदन करता है।

९. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से हार 'यावत्' सुवर्णसूत्र पहनता है या पहनने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—चूर्णिकार के सामने जो प्रति रही होगी उसके मूल पाठ में और शब्दों के क्रम में प्रस्तुत प्रतियों से भिन्नता रही है।

चूर्णिकार 'कुंडल' शब्द की सर्वप्रथम व्याख्या करते हैं और भाष्यकार 'कडगाई आभरणा' इस प्रकार का कथन करते हैं।

आचारांगसूत्र श्रु. २ अ. १३, में तथा श्रु. २, अ. १५ में 'हार' शब्द प्रारम्भ में है तथा आचारांगसूत्र श्रु. २, अ. २, उ. १ में 'कुंडल' शब्द प्रारम्भ में है।

चूर्णिकार के सामने संभवतः आचारांग श्रु. २, अ. २, उ. १ के समान पाठ था, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। प्रायः उन शब्दों की ही क्रमपूर्वक व्याख्या की गई है। दोनो तरह के प्रमाण मिलने के कारण इसे केवल विवक्षाभेद समझना चाहिये।

वस्त्र-निर्माण आदि के प्रायश्चित्त—

१०. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए—

१. आइणाणि वा, २. सहिणाणि वा, ३. सहिणकल्लाणाणि वा, ४. आयाणि वा, ५. कायाणि वा, ६. खोमियाणि वा, ७. दुगुल्लाणि वा, ८. तिरीडपट्टाणि वा, ९. मलयाणि वा, १०. पत्तुण्णाणि वा, ११. अंसुयाणि वा, १२. चिणंसुयाणि वा, १३. देसरागाणि वा, १४. अमिलाणि वा, १५. गज्जलाणि वा, १६. फालिहाणि वा, १७. कोययाणि वा, १८. कंबलाणि वा, १९. पावराणि वा, २०. उद्दाणि वा, २१. पेसाणि वा, २२. पेसलेसाणि वा, २३. किण्हमिगाईणगाणि वा, २४. नीलमिगाईणगाणि वा, २५. गोरमिगाईणगाणि वा, २६. कणगाणि वा, २७. कणगंताणि वा, २८. कणगपट्टाणि वा, २९. कणगखचियाणि वा, ३०. कणगफुसियाणि वा, ३१. वग्घाणि वा, ३२. विवग्घाणि वा, ३३. आभरण-चित्ताणि वा, ३४. आभरण-विचित्ताणि वा करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

११. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए आइणाणि वा, 'जाव' आभरण-विचित्ताणि वा धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ।

१२. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए आइणाणि वा 'जाव' आभरण-विचित्ताणि वा पिणद्धेइ, पिणद्धेंतं वा साइज्जइ।

१०. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से

१. मूषक आदि के चर्म से निष्पन्न वस्त्र,
२. सूक्ष्म वस्त्र,
३. सूक्ष्म व सुशोभित वस्त्र,
४. अजा के सूक्ष्म रोम से निष्पन्न वस्त्र,
५. इन्द्रनीलवर्णी कपास से निष्पन्न वस्त्र,
६. सामान्य कपास से निष्पन्न सूती वस्त्र,
७. गौड देश में प्रसिद्ध या दुगुवल वृक्ष से निष्पन्न विशिष्ट कपास का वस्त्र,
८. तिरीड वृक्षावयव से निष्पन्न वस्त्र,

९. मलयागिरिचन्दन के पत्रों से निष्पन्न वस्त्र,
१०. बारीक बालों-तंतुओं से निष्पन्न वस्त्र,
११. दुगुल वृक्ष के अभ्यंतरावयव से निष्पन्न वस्त्र,
१२. चीन देश में निष्पन्न अत्यन्त सूक्ष्म वस्त्र,
१३. देश विशेष के रंगे वस्त्र,
१४. रोम देश में बने वस्त्र,
१५. चलने पर आवाज करने वाले वस्त्र,
१६. स्फटिक के समान स्वच्छ वस्त्र,
१७. वस्त्र विशेष 'कोतवो—वरको' १८. कंबल
१९. कंबल विशेष—'खरडग पारिगादि, पावारगा'।
२०. सिंधु देश के मच्छ के चर्म से निष्पन्न वस्त्र।
२१. सिन्धु देश के सूक्ष्म चर्म वाले पशु से निष्पन्न वस्त्र,
२२. उसी पशु की सूक्ष्म पश्मी से निष्पन्न,
२३. कृष्ण मृग चर्म,
२४. नील मृग चर्म,
२५. गौर मृग चर्म,
२६. स्वर्ण-रस से लिप्त साक्षात् स्वर्णमय दिखे ऐसा वस्त्र,
२७. जिसके किनारे स्वर्ण-रसरंजित किये हों ऐसा वस्त्र,
२८. स्वर्ण-रसमय पट्टियों से युक्त वस्त्र,
२९. सोने के तार जड़े हुए वस्त्र,
३०. सोने के स्तबक या फूल जड़े हुये वस्त्र,
३१. व्याघ्र चर्म,
३२. चीते का चर्म,
३३. एक प्रकार के आभरणों से युक्त वस्त्र,
३४. अनेक प्रकार के आभरणों से युक्त वस्त्र,

बनाता है या बनाने वाले का अनुमोदन करता है।

११. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से मूषक आदि के चर्म से निष्पन्न वस्त्र यावत् अनेक प्रकार के आभरणों से युक्त वस्त्र धारण करता है या धारण करने वाले का अनुमोदन करता है।

१२. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से मूषक आदि के चर्म से निष्पन्न वस्त्र यावत् अनेक प्रकार के आभरणों से युक्त वस्त्र पहनता है या पहनने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है)

विवेचन—अनेक प्रकार के वस्त्रों का व चर्मनिर्मित वस्त्रों का इन सूत्रों में वर्णन किया गया है।

आचारांग सूत्र में ये वस्त्र बहुमूल्य तथा चर्ममय कहे गये हैं। तथा इनके ग्रहण करने का सर्वथा निषेध किया गया है।

आचारांग सूत्र श्रु. २, अ. ५, उ. १ में आये शब्दों के अनुसार ही चूर्णिकार ने व्याख्या की है। उनके सामने आचारांग सूत्र के सदृश ही पाठ था। निशीथसूत्र का उपलब्ध मूल पाठ अन्य किसी सूत्र में उपलब्ध नहीं है। तथा चूर्णिकार के सामने भी नहीं था ऐसा उनकी व्याख्या से स्पष्ट ज्ञात होता है। अतः यहां आचारांग सूत्र तथा चूर्णि सम्मत पाठ ही रखा है।

इन १२ सूत्रों में "धरेइ" से रखना व "पिणद्धेइ" से पहनना एवं उपयोग में लेना ऐसा अर्थ समझना चाहिये। कई प्रतियों में 'पिणद्धेइ, के स्थान पर 'परिभुंजइ, क्रिया किसी सूत्र में उपलब्ध होती है जो चूर्णिकार के बाद हुआ लिपिदोष ही सभव है।

अंग संचालन का प्रायश्चित्त–

१३. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अक्खंसि वा, ऊरुंसि वा, उयरंसि वा, थणंसि वा गहाय संचालेइ, संचालेंतं वा साइज्जइ।

१३. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से स्त्री के अक्ष, उरू उदर या स्तन को ग्रहण कर संचालित करता है या संचालित करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—चूर्णि—"अक्खा णाम संखाणियपएसा"—योनिस्थान

"अहवा अण्णयरं इंदियजायं अक्खं भण्णति" अथवा कोई भी इन्द्रिय अक्ष कहलाती है। "अक्खं—चक्षुः"—राजेन्द्र कोश भा. ? "अक्खपाय" शब्द। यहां योनि रूप अर्थ ही प्रासंगिक है।

शरीरपरिकर्म आदि के प्रायश्चित्त–

१४-६७ जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अण्णमण्णस्स पाए आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा, आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ एवं तइयउद्देसगगमेण णेयव्वं जाव जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए गामाणुगामं दूइज्जमाणे अण्णमण्णस्स सीसदुवारियं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से आपस में एक दूसरे के पांव का एक बार या अनेक बार घर्षण करता है या घर्षण करने वाले का अनुमोदन करता है। इस प्रकार तीसरे उद्देशक के (सूत्र १६ से ६९) ५४ सूत्रों के आलापक के समान जान लेना चाहिए यावत् जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से ग्रामानुग्राम विहार करते हुए आपस में एक दूसरे के मस्तक को ढांकता है या ढांकने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—यहां 'अण्णमण्णस्स' शब्द से दो साधु आपस में सूत्रोक्त प्रवृत्तियां करें इस अपेक्षा ये प्रायश्चित्तसूत्र कहे हैं। व्याख्याकार ने कहा है कि अर्थ विस्तार की अपेक्षा स्त्री के साथ या नपुंसक के साथ भी इन ५४ सूत्रों में कहे कार्य करने पर प्रायश्चित्त आता है—ऐसा समझ लेना चाहिए।

सचित्त पृथ्वी आदि पर निषद्यादि करने का प्रायश्चित्त—

६८. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुण-वडिवाए 'अणंतरहियाए' पुढवीए' णिसीयावेज्ज वा तुयट्टावेज्ज वा, णिसीयावेंतं वा तुयट्टावेंतं वा साइज्जइ।

६९. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए 'ससिणिद्धाए पुढवीए' णिसीयावेज्ज वा, तुयट्टावेज्ज वा, णिसीयावेंतं वा, तुयट्टावेंतं वा साइज्जइ ।

७०. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए 'ससरक्खाए पुढवीए' णिसीयावेज्ज वा, तुयट्टावेज्ज वा, णिसीयावेंतं वा, तुयट्टावेंतं वा साइज्जइ ।

७१. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए 'मट्टियाकडाए पुढवीए' णिसीयावेज्ज वा, तुयट्टावेज्ज वा, णिसीयावेंतं वा, तुयट्टावेंतं वा साइज्जइ ।

७२. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए 'चित्तमंताए पुढवीए' णिसीयावेज्ज वा तुयट्टावेज्ज वा, णिसीयावेंतं वा, तुयट्टावेंतं वा साइज्जइ ।

७३. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए 'चित्तमंताए सिलाए' णिसीयावेज्ज वा तुयट्टावेज्ज वा, णिसीयावेंतं वा, तुयट्टावेंतं वा साइज्जइ ।

७४. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए 'चित्तमंताए लेलुए' णिसीयावेज्ज वा तुयट्टावेज्ज वा, णिसीयावेंतं वा तुयट्टावेंतं वा साइज्जइ ।

७५. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए कोलावासंसि वा दारुए जीवपइट्ठीए; सअंडे, सपाणे, सबीए, सहरिए, सओसे, सउदए, सउत्तिंगपणग-दग-मट्टिय-मक्कडासंताणए णिसीयावेज्ज वा तुयट्टावेज्ज वा णिसीयावेंतं वा तुयट्टावेंतं वा साइज्जइ ।

६८. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से सचित्त पृथ्वी के निकट की भूमि पर स्त्री को बिठाता है या सुलाता है अथवा बिठाने वाले का या सुलाने वाले का अनुमोदन करता है।

६९. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से सचित्त जल से स्निग्ध भूमि पर स्त्री को बिठाता है या सुलाता है अथवा बिठाने वाले का या सुलाने वाले का अनुमोदन करता है ।

७०. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से सचित्त रजयुक्त भूमि पर स्त्री को बिठाता है या सुलाता है अथवा बिठाने वाले का या सुलाने वाले का अनुमोदन करता है ।

७१. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से सचित्त मिट्टीयुक्त भूमि पर स्त्री को बिठाता है या सुलाता है अथवा बिठाने वाले का या सुलाने वाले का अनुमोदन करता है ।

७२. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से सचित्त पृथ्वी पर स्त्री को बिठाता है या सुलाता है अथवा बिठाने वाले का या सुलाने वाले का अनुमोदन करता है ।

७३. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से सचित्त शिला पर स्त्री को बिठाता है या सुलाता है अथवा बिठाने वाले का या सुलाने वाले का अनुमोदन करता है ।

७४. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से सचित्त मिट्टी के ढेले पर या पत्थर पर स्त्री को बिठाता है या सुलाता है अथवा बिठाने वाले का या सुलाने वाले का अनुमोदन करता है ।

७५. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से घुन या दीमक लग जाने से जो काष्ठ जीव युक्त हो उस पर तथा जिस स्थान में अंडे, त्रस जीव, बीज, हरीघास, ओस, पानी, कीडी आदि के बिल, लीलन-फूलन, गीली मिट्टी या मकडी के जाले हों, वहा पर स्त्री को बिठाता है या सुलाता है अथवा बिठाने वाले का या सुलाने वाले का अनुमोदन करता है (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—प्रारम्भ के चार सूत्रों में मूल भूमि तो अचित्त ही कही गई है किन्तु प्रथम सूत्र में सचित्त पृथ्वी के निकट की अचित्त भूमि कही गई है, दूसरे सूत्र में वर्षा आदि के जल से स्निग्धता युक्त भूमि कही गई है, तीसरे सूत्र में सचित्त रजयुक्त भूमि कही गई है और चौथे सूत्र में सचित्त मिट्टी बिखरी हुई भूमि कही गई है। पांचवें, छट्ठे व सातवें सूत्र में भूमि, शिला व ढेला-पत्थर स्वयं सचित्त कहे गए हैं।

आठवें सूत्र के प्रारभ में जीवयुक्त काष्ठ का कथन है। उसके पश्चात् समुच्चय रूप से अनेक प्रकार के जीवो से युक्त स्थानों का निर्देश किया गया है।

'सअडे' शब्द से यहाँ विकलेंद्रियों के अंडों से युक्त स्थान समझना चाहिये।

ओस और उदक इन दो शब्दों से अप्काय का सूचन किया है, अतः आगे आये "दगमट्टि" से पृथ्वीकाय और अप्काय के मिश्रण का सूचन किया है। इसमें तालाव आदि के किनारे की मिट्टी तथा कुंभार द्वारा गीली बनाई गई मिट्टी भी हो सकती है, वह सचित्त या मिश्र होती है।

अंक में पल्यंक-निषद्यादि करने का प्रायश्चित्त—

७६. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अंकंसि वा, पलियंकंसि वा णिसीयावेज्ज वा, तुयट्टावेज्ज वा, णिसीयावेंतं वा तुयट्टावेंतं वा साइज्जइ।

७७. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अंकंसि वा, पलियंकंसि वा णिसीयावेत्ता वा, तुयट्टावेत्ता वा, असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अणुग्घासेज्ज वा अणुप्पाएज्ज वा, अणुग्घासंतं वा अणुप्पाएंतं वा साइज्जइ।

७६. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से स्त्री को अर्धपल्यंक आसन में या पूर्ण पल्यंकासन में—गोद में बिठाता है या सुलाता है अथवा बिठाने वाले का या सुलाने वाले का अनुमोदन करता है।

७७. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से स्त्री को एक जंघा पर या पर्यंकासन में बिठाकर या सुलाकर अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य खिलाता या पिलाता है अथवा खिलाने-पिलाने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

धर्मशाला आदि में निषद्यादिकरण-प्रायश्चित्त—

७८. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए आगंतारेसु वा, आरामागारेसु वा, गाहावइकुलेसु वा, परियावसहेसु, वा, णिसीयावेज्ज वा, तुयट्टावेज्ज वा, णिसीयावेंतं वा, तुयट्टावेंतं वा साइज्जइ।

७९. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए आगंतारेसु वा, आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु

६९. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए 'ससिणिद्धाए पुढवीए' णिसीयावेज्ज वा, तुयट्टावेज्ज वा, णिसीयावेंतं वा, तुयट्टावेंतं वा साइज्जइ ।

७०. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए 'ससरक्खाए पुढवीए' णिसीयावेज्ज वा, तुयट्टावेज्ज वा, णिसीयावेंतं वा, तुयट्टावेंतं वा साइज्जइ ।

७१. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए 'मट्टियाकडाए पुढवीए' णिसीयावेज्ज वा, तुयट्टावेज्ज वा, णिसीयावेंतं वा, तुयट्टावेंतं वा साइज्जइ ।

७२. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए 'चित्तमंताए पुढवीए' णिसीयावेज्ज वा तुयट्टावेज्ज वा, णिसीयावेंतं वा, तुयट्टावेंतं वा साइज्जइ ।

७३. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए 'चित्तमंताए सिलाए' णिसीयावेज्ज वा तुयट्टावेज्ज वा, णिसीयावेंतं वा, तुयट्टावेंतं वा साइज्जइ ।

७४. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए 'चित्तमंताए लेलुए' णिसीयावेज्ज वा तुयट्टावेज्ज वा, णिसीयावेंतं वा तुयट्टावेंतं वा साइज्जइ ।

७५. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए कोलावासंसि वा दारुए जीवपइट्ठीए; सअंडे, सपाणे, सबीए, सहरिए, सओसे, सउदए, सउत्तिंगपणग-दग-मट्टिय-मक्कडासंताणए णिसीयावेज्ज वा तुयट्टावेज्ज वा णिसीयावेंतं वा तुयट्टावेंतं वा साइज्जइ ।

६८. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से सचित्त पृथ्वी के निकट की भूमि पर स्त्री को बिठाता है या सुलाता है अथवा बिठाने वाले का या सुलाने वाले का अनुमोदन करता है।

६९. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से सचित्त जल से स्निग्ध भूमि पर स्त्री को बिठाता है या सुलाता है अथवा बिठाने वाले का या सुलाने वाले का अनुमोदन करता है ।

७०. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से सचित्त रजयुक्त भूमि पर स्त्री को बिठाता है या सुलाता है अथवा बिठाने वाले का या सुलाने वाले का अनुमोदन करता है ।

७१. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से सचित्त मिट्टीयुक्त भूमि पर स्त्री को बिठाता है या सुलाता है अथवा बिठाने वाले का या सुलाने वाले का अनुमोदन करता है ।

७२. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से सचित्त पृथ्वी पर स्त्री को बिठाता है या सुलाता है अथवा बिठाने वाले का या सुलाने वाले का अनुमोदन करता है ।

७३. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से सचित्त शिला पर स्त्री को बिठाता है या सुलाता है अथवा बिठाने वाले का या सुलाने वाले का अनुमोदन करता है ।

७४. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से सचित्त मिट्टी के ढेले पर या पत्थर पर स्त्री को बिठाता है या सुलाता है अथवा बिठाने वाले का या सुलाने वाले का अनुमोदन करता है ।

७५. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से घुन या दीमक लग जाने से जो काष्ठ जीव युक्त हो उस पर तथा जिस स्थान में अंडे, त्रस जीव, बीज, हरीघास, ओस, पानी, कीडी आदि के बिल, लीलन-फूलन, गीली मिट्टी या मकडी के जाले हों, वहा पर स्त्री को बिठाता है या सुलाता है अथवा बिठाने वाले का या सुलाने वाले का अनुमोदन करता है (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—प्रारम्भ के चार सूत्रों मे मूल भूमि तो अचित्त ही कही गई है किन्तु प्रथम सूत्र में सचित्त पृथ्वी के निकट की अचित्त भूमि कही गई है, दूसरे सूत्र में वर्षा आदि के जल से स्निग्धता युक्त भूमि कही गई है, तीसरे सूत्र में सचित्त रजयुक्त भूमि कही गई है और चौथे सूत्र में सचित्त मिट्टी बिखरी हुई भूमि कही गई है। पांचवें, छट्ठे व सातवें सूत्र में भूमि, शिला व ढेला-पत्थर स्वयं सचित्त कहे गए हैं।

आठवें सूत्र के प्रारभ मे जीवयुक्त काष्ठ का कथन है। उसके पश्चात् समुच्चय रूप से अनेक प्रकार के जीवों से युक्त स्थानों का निर्देश किया गया है।

'सअंडे' शब्द से यहां विकलेन्द्रियों के अंडों से युक्त स्थान समझना चाहिये।

ओस और उदक इन दो शब्दों से अप्काय का सूचन किया है, अतः आगे आये "दगमट्टि" से पृथ्वीकाय और अप्काय के मिश्रण का सूचन किया है। इसमें तालाब आदि के किनारे की मिट्टी तथा कुंभार द्वारा गीली बनाई गई मिट्टी भी हो सकती है, वह सचित्त या मिश्र होती है।

अंक में पल्यंक-निषद्यादि करने का प्रायश्चित्त—

७६. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अंकंसि वा, पलियंकंसि वा णिसीयावेज्ज वा, तुयट्टावेज्ज वा, णिसीयावेंतं वा तुयट्टावेंतं वा साइज्जइ।

७७. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अंकंसि वा, पलियंकंसि वा णिसीयावेत्ता वा, तुयट्टावेत्ता वा, असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अणुग्घासेज्ज वा अणुप्पाएज्ज वा, अणुग्घासंतं वा अणुप्पाएंतं वा साइज्जइ।

७६. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से स्त्री को अर्धपल्यंक आसन में या पूर्ण पल्यंकासन में—गोद में बिठाता है या सुलाता है अथवा बिठाने वाले का या सुलाने वाले का अनुमोदन करता है।

७७. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से स्त्री को एक जंघा पर या पर्यंकासन में बिठाकर या सुलाकर अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य खिलाता या पिलाता है अथवा खिलाने-पिलाने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

धर्मशाला आदि में निषद्यादिकरण-प्रायश्चित्त—

७८. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए आगंतारेसु वा, आरामागारेसु वा, गाहावइकुलेसु वा, परियावसहेसु, वा, णिसीयावेज्ज वा, तुयट्टावेज्ज वा, णिसीयावेंतं वा, तुयट्टावेंतं वा साइज्जइ।

७९. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए आगंतारेसु वा, आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु

वा, परियावसहेसु वा, णिसीयावेत्ता वा, तुयट्टावेत्ता वा, असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अणुग्घासेज्ज वा, अणुपाएज्ज वा, अणुग्घासंतं वा, अणुपाएंतं वा साइज्जइ ।

७८. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से स्त्री को धर्मशाला में, बगीचे में, गृहस्थ के घर में या परिव्राजक के स्थान में बिठाता है या सुलाता है अथवा बिठाने या सुलाने वाले का अनुमोदन करता है ।

७९. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से स्त्री को धर्मशाला में, बगीचे में, गृहस्थ के घर में या परिव्राजक के स्थान में बिठाकर या सुलाकर अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य खिलाता है; या पिलाता है अथवा खिलाने-पिलाने वाले का अनुमोदन करता है । (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है ।)

विवेचन—'अणुग्घासेज्ज' अनु-पश्चाद्भावे । अप्पणा ग्रसितु पच्छा तीए ग्रासं देति, एवं करोडगादिसु अप्पणा पाउं पच्छा तं पाएति । —चूर्णि ।

पहले खुद खाता है और फिर स्त्री को खिलाता है अर्थात् ग्रास उसके मुंह में देता है । कटोरी आदि से स्वयं पेय पीकर फिर उसे पिलाता है ।

चिकित्साकरण-प्रायश्चित्त—

८०. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अण्णयरं तेइच्छं आउट्टइ, आउट्टंतं वा साइज्जइ ।

८०. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से किसी प्रकार की चिकित्सा करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है । (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है ।)

विवेचन—चिकित्सा ४ प्रकार की होती है—१. वात, २. पित्त, ३. कफ एवं ४. सान्निपातिक रोगों की । इनमें से किसी प्रकार की चिकित्सा मैथुन सेवन के संकल्प से स्वयं की करता है अथवा स्त्री की करता है तो उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है । यहाँ स्त्री की चिकित्सा की प्रधानता समझनी चाहिए ।

पुद्गलप्रक्षेपणादि के प्रायश्चित्त—

८१. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अमणुन्नाइं पोग्गलाइं नीहरइ, नीहरंतं वा साइज्जइ ।

८२. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए मणुण्णाइं पोग्गलाइं उवकिरइ, उवकिरंतं वा साइज्जइ ।

८१. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से अमनोज्ञ पुद्गलों को निकालता है (दूर करता है) या निकालने वाले का अनुमोदन करता है ।

८२. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से मनोज्ञ पुद्गलों का प्रक्षेप करता है या प्रक्षेप करने वाले का अनुमोदन करता है । (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है ।)

विवेचन—अमनोज्ञ पुद्गल को दूर करने का तात्पर्य है शरीर एवं उपकरणों को या मकानों

की अशुद्धि को दूर करना तथा मनोज्ञ पुद्‌गल के प्रक्षेप करने का तात्पर्य है शरीर, उपधि या मकान को सुसज्जित करना ।

शरीर को पुष्ट करने के लिये छट्ठे उद्देशक के अंतिम सूत्र में पौष्टिक आहार सेवन करने का प्रायश्चित्त कथन हुआ है। अतः यह कथन शरीर की बाह्य त्वचा आदि की अपेक्षा से समझना चाहिये ।

चिकित्सा संबंधी कथन सूत्र ८० में किया गया है । उसके अनंतर ही इन दो सूत्रों में बाह्य शुद्धि अथवा सुसज्जित करने का प्रायश्चित्त कहा गया है । व्याख्याकार ने इसका संबंध शरीर के अतिरिक्त उपधि और मकान के साथ भी किया है । जो शुद्धि और शोभा से ही संबंधित होता है ।

पशु-पक्षियों के अंगसंचालन आदि का प्रायश्चित्त—

८३. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अन्नयरं पसुजायं वा, पक्खिजायं वा, पायंसि वा, पक्खंसि वा, पुच्छंसि वा, सीसंसि वा गहाय संचालेइ संचालेंतं वा,साइज्जइ ।

८४. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अण्णयरं पसुजायं वा, पक्खिजायं वा, सोयंसि कट्ठं वा, किलिचं वा अंगुलियं वा, सलागं वा अणुप्पवेसित्ता संचालेइ, संचालेंतं वा साइज्जइ ।

८५. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अण्णयरं पसुजायं वा, पक्खिजायं वा अयमित्थित्ति कट्टु आलिंगेज्ज वा, परिस्सएज्ज वा, परिचुम्बेज्ज वा छिदेज्ज वा, विच्छिंदेज्ज वा, आलिंगंतं वा, परिस्सयंतं वा, परिचुंबंतं वा, छिदंतं वा, विच्छिंदंतं वा साइज्जइ ।

८३. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से किसी भी जाति के पशु या पक्षी के १. पांव को, २. पार्श्वभाग को, (पंख को) ३. पूंछ को या ४. मस्तक को पकड़ कर संचालित करता है या संचालित करने वाले का अनुमोदन करता है ।

८४. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से किसी भी जाति के पशु या पक्षी के श्रोत अर्थात् अपानद्वार या योनिद्वार में काष्ठ, खपच्ची, अंगुली या बेत आदि की शलाका प्रविष्ट करके संचालित करता है या संचालित करने वाले का अनुमोदन करता है ।

८५. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से किसी भी जाति के पशु या पक्षी को "यह स्त्री है" ऐसा जानकर उसका आलिंगन (शरीर के एक देश का स्पर्श) करता है, परिष्वजन (पूरे शरीर का स्पर्श) करता है, मुख का चुंबन करता है या नख आदि से एक बार या अनेक बार छेदन करता है या आलिंगन आदि करने वाले का अनुमोदन करता है । (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है ।)

विवेचन—आलिंगन आदि प्रवृत्तियां मोहकर्म के उदय से होती है । आचारांगसूत्र श्रु. २, अ. ९ में भी इस प्रकार का पाठ है । वहां एकांत में स्वाध्यायस्थल पर गये साधुओं द्वारा परस्पर ऐसी प्रवृत्तियां करने का निषेध किया है ।

अनेक प्रतियों में "विच्छिदेज्ज" शब्द नहीं है, जो लिपि दोष से या भ्रम से नही लिखा गया है । किन्तु चूर्णिकार के सामने यह शब्द रहा होगा तथा आचारांगसूत्र में तो यह शब्द है ही, यथा—

"नो अण्णमण्णस्स कायं आलिंगेज्ज वा विलिंगेज वा, चुंबेज्ज वा, दंतेहिं वा, नहेहिं वा आच्छिदेज्ज वा विच्छिदेज्ज वा।"

अतः यहां पर सभी शब्द मूल पाठ में रखे हैं। आलिंगन आदि क्रियाएं केवल मोह वश की जाती हैं, जब कि नख आदि से छेदन क्रिया मोह एवं कषाय वश भी की जाती है।

भक्त-पान आदान-प्रदान-प्रायश्चित्त—

८६. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा साइमं वा देइ, देंतं वा साइज्जइ।

८७. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ।

८८. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा देइ, देंतं वा साइज्जइ।

८९. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए वत्थं वा, पडिग्गहं वा, कंबलं वा, पायपुंछणं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

८६. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से उसे अशन पान खाद्य या स्वाद्य देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

८७. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से उससे अशन पान खाद्य या स्वाद्य ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

८८. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से उसे वस्त्र, पात्र, कंबल या पादप्रोंछन देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

८९. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से उससे वस्त्र पात्र कंबल या पादप्रोंछन ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

(उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

वाचना देने-लेने का प्रायश्चित्त—

९०. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए सज्झायं वाएइ, वाएंतं वा साइज्जइ।

९१. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए सज्झायं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ।

९०. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से सूत्रार्थ की वाचना देता है या वाचना देने वाले का अनुमोदन करता है।

९१. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से सूत्रार्थ की वाचना लेता है या वाचना लेने वाले का अनुमोदन करता है।

(उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विकारवर्धक आकार बनाने का प्रायश्चित्त—

९२. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अण्णयरेणं इंदिएणं आकारं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं।

९२. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से किसी भी इन्द्रिय से अर्थात् आंख, हाथ आदि किसी भी अंगोपांग से किसी भी प्रकार के आकार को बनाता है या बनाने वाले का अनुमोदन करता है।

इन ९२ सूत्रों में कहे गये दोषस्थानों का सेवन करने को गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन—आकारों का वर्णन भाष्य में इस प्रकार है—आँख से इशारा करना, रोमांचित होना, शरीर को कंपित करना, पसीना आना, दृष्टि या मुख (चेहरा) रागयुक्त करना, निश्वास छोड़ते हुए बोलना, बार-बार बातें करना, बार-बार उबासी लेना इत्यादि।

सातवें उद्देशक का सारांश

१-१२ मैथुनसेवन के संकल्प से अनेक प्रकार की मालाएँ, अनेक प्रकार के कड़े, अनेक प्रकार के आभूषण व अनेक जाति के चर्म व वस्त्र बनाना, रखना या पहनना।

१३ मैथुनसेवन के संकल्प से स्त्री के अंगोपांग का संचालन करना।

१४-६७ मैथुन के संकल्प से शरीरपरिकर्म के ५४ बोल परस्पर करना।

६८-७९ स्त्री को पृथ्वीकाय, अप्काय, वनस्पतिकाय व त्रसकाय की विराधना के स्थानों पर बिठाना या सुलाना, गोद में या धर्मशाला आदि स्थानों में बिठाना, सुलाना या आहार करना।

८०-८२ मैथुनसेवन के संकल्प से चिकित्सा करना, शरीर आदि की शुद्धि करना, शरीर आदि को सजाना।

८३-८५ पशु-पक्षी के अंगोपांग का संचालन करना, उनके स्रोतस्थानों में काष्ठादि प्रविष्ट करना तथा उनका संचालन करना, उनकी स्त्री जाति का आलिंगन करना।

८६-९१ स्त्री को आहार व वस्त्रादि देना-लेना तथा उनसे सूत्रार्थ लेना या उनको सूत्रार्थ देना।

९२ अपने शरीर के किसी अवयव से कामचेष्टा करना।

इत्यादि प्रवृत्तियों का गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

उपसंहार—चतुर्थ महाव्रत व उसकी सुरक्षा के लिए आगमों में अनेक विधान है, फिर भी इस उद्देशक के ९२ सूत्रों में जो प्रायश्चित्त कहे गये हैं, ऐसे स्पष्ट निषेध अन्य आगमों में नहीं हैं। यह इस उद्देशक की विशेषता है।

"नो अण्णमण्णस्स कायं आलिंगेज्ज वा विलिंगेज वा, चुंबेज्ज वा, दंतेहिं वा, णहेहिं वा आच्छिदेज्ज वा विच्छिदेज्ज वा।"

अतः यहां पर सभी शब्द मूल पाठ में रखे है। आलिंगन आदि क्रियाएं केवल मोह वश की जाती हैं, जब कि नख आदि से छेदन क्रिया मोह एवं कषाय वश भी की जाती है।

भक्त-पान आदान-प्रदान-प्रायश्चित्त—

८६. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा साइमं वा देइ, देंतं वा साइज्जइ।

८७. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ।

८८. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा देइ, देंतं वा साइज्जइ।

८९. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए वत्थं वा, पडिग्गहं वा, कंबलं वा, पायपुंछणं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

८६. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से उसे अशन पान खाद्य या स्वाद्य देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

८७. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से उससे अशन पान खाद्य या स्वाद्य ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

८८. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से उसे वस्त्र, पात्र, कंबल या पादप्रोंछन देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

८९. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से उससे वस्त्र पात्र कंबल या पादप्रोंछन ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

(उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

वाचना देने-लेने का प्रायश्चित्त—

९०. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए सज्झायं वाएइ, वाएंतं वा साइज्जइ।

९१. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए सज्झायं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ।

९०. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से सूत्रार्थ की वाचना देता है या वाचना देने वाले का अनुमोदन करता है।

९१. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से सूत्रार्थ की वाचना लेता है या वाचना लेने वाले का अनुमोदन करता है।

(उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विकारवर्धक आकार बनाने का प्रायश्चित्त–

९२. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अण्णयरेणं इंदिएणं आकारं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं।

९२. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से किसी भी इन्द्रिय से अर्थात् आंख, हाथ आदि किसी भी अंगोपांग से किसी भी प्रकार के आकार को बनाता है या बनाने वाले का अनुमोदन करता है।

इन ९२ सूत्रों में कहे गये दोषस्थानों का सेवन करने को गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन—आकारों का वर्णन भाष्य में इस प्रकार है—आंख से इशारा करना, रोमांचित होना, शरीर को कंपित करना, पसीना आना, दृष्टि या मुख (चेहरा) रागयुक्त करना, निश्वास छोड़ते हुए बोलना, बार-बार बातें करना, बार-बार उबासी लेना इत्यादि।

सातवें उद्देशक का सारांश

१-१२ मैथुनसेवन के सकल्प से अनेक प्रकार की मालाएँ, अनेक प्रकार के कड़े, अनेक प्रकार के आभूषण व अनेक जाति के चर्म व वस्त्र बनाना, रखना या पहनना।

१३ मैथुनसेवन के सकल्प से स्त्री के अंगोपांग का संचालन करना।

१४-६७ मैथुन के संकल्प से शरीरपरिकर्म के ५४ बोल परस्पर करना।

६८-७९ स्त्री को पृथ्वीकाय, अप्काय, वनस्पतिकाय व त्रसकाय की विराधना के स्थानों पर बिठाना या सुलाना, गोद में या धर्मशाला आदि स्थानों में बिठाना, सुलाना या आहार करना।

८०-८२ मैथुनसेवन के संकल्प से चिकित्सा करना, शरीर आदि की शुद्धि करना, शरीर आदि को सजाना।

८३-८५ पशु-पक्षी के अंगोपांग का संचालन करना, उनके स्रोतस्थानों में काष्ठादि प्रविष्ट करना तथा उनका संचालन करना, उनकी स्त्री जाति का आलिंगन करना।

८६-९१ स्त्री को आहार व वस्त्रादि देना-लेना तथा उनसे सूत्रार्थ लेना या उनको सूत्रार्थ देना।

९२ अपने शरीर के किसी अवयव से कामचेष्टा करना।

इत्यादि प्रवृत्तियों का गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

उपसंहार—चतुर्थ महाव्रत व उसकी सुरक्षा के लिए आगमों में अनेक विधान हैं, फिर भी इस उद्देशक के ९२ सूत्रों में जो प्रायश्चित्त कहे गये हैं, ऐसे स्पष्ट निषेध अन्य आगमों में नहीं हैं। यह इस उद्देशक की विशेषता है।

इन छठे व सातवें उद्देशकों में केवल मैथुनसेवन के संकल्प से किये गये कार्यों के ही प्रायश्चित्त कहे गए हैं, अतः इनके अध्ययन-अध्यापन में विशेष विवेक रखना चाहिए।

इस उद्देशक में मैथुन के संकल्प से सचित्त भूमि पर बैठने आदि प्रवृत्तियों के प्रायश्चित्त कहे हैं। किन्तु मैथुन का संकल्प न होते हुए भी वे प्रवृत्तियाँ संयमजीवन में अकल्पनीय हैं। उनके प्रायश्चित्त ग्यारहवें उद्देशक में कहे गए हैं। इस प्रकार छठे-सातवें उद्देशक के अन्य अनेक विषयों के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए।

॥ सातवाँ उद्देशक समाप्त ॥

आठवां उद्देशक

अकेली स्त्री के साथ संपर्क करने के प्रायश्चित्त—

१. जे भिक्खू आगंतारंसि वा, आरामागारंसि वा, गाहावइकुलंसि वा, परियावसहंसि वा, एगो एगित्थिए सद्धिं विहारं वा करेइ, सज्झायं वा करेइ, असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा, आहारेइ, उच्चारं वा, पासवणं वा परिट्ठवेइ, अण्णयरं वा अणारियं णिट्ठुरं असमणपाउग्गं कहं कहेइ, कहेंतं वा साइज्जइ ।

२. जे भिक्खू उज्जाणंसि वा, उज्जाणगिहंसि वा, उज्जाणसालंसि वा, णिज्जाणंसि वा, णिज्जाणगिहंसि वा, णिज्जाणसालंसि वा एगो एगित्थिए सद्धिं विहारं वा करेइ जाव असमणपाउग्गं कहं कहेइ, कहेंतं वा साइज्जइ ।

३. जे भिक्खू अट्टंसि वा, अट्टालयंसि वा, चरियंसि वा, पागारंसि वा, दारंसि वा गोपुरंसि वा एगो एगित्थीए सद्धिं विहारं वा करेइ जाव असमणपाउग्गं कहं कहेइ, कहेंतं वा साइज्जइ ।

४. जे भिक्खू दग-मग्गंसि वा, दग- पहंसि वा, दग-तीरंसि वा, दग-ठाणंसि वा एगो एगित्थिए सद्धिं विहारं वा करेइ, जाव असमणपाउग्गं कहं कहेइ, कहेंतं वा साइज्जइ ।

५. जे भिक्खू सुण्णगिहंसि वा, सुण्णसालंसि वा, भिण्णगिहंसि वा, भिण्णसालंसि वा, कूडागारंसि वा, कोट्ठागारंसि वा एगो एगित्थीए सद्धिं विहारं वा करेइ जाव असमणपाउग्गं कहं कहेइ, कहेंतं वा साइज्जइ ।

६. जे भिक्खू तणगिहंसि वा, तणसालंसि वा, तुसगिहंसि वा, तुससालंसि वा, भुसगिहंसि वा, भुससालंसि वा एगो एगित्थीए सद्धिं विहारं वा करेइ जाव असमणपाउग्गं कहं कहेइ, कहेंतं वा साइज्जइ ।

७. जे भिक्खू जाणसालंसि वा, जाणगिहंसि वा, वाहणगिहंसि वा, वाहणसालंसि वा एगो एगित्थीए सद्धिं विहारं वा करेइ, जाव असमणपाउग्गं कहं कहेइ, कहेंतं वा साइज्जइ ।

८. जे भिक्खू पणियगिहंसि वा, पणियसालंसि वा, कुवियगिहंसि वा, कुवियसालंसि वा, एगो एगित्थीए सद्धिं विहारं वा करेइ जाव असमणपाउग्गं कहं कहेइ, कहेंतं वा साइज्जइ ।

९. जे भिक्खू गोणसालंसि वा, गोणगिहंसि वा, महाकुलंसि वा, महागिहंसि वा एगो एगित्थीए सद्धिं विहारं वा करेइ जाव असमणपाउग्गं कहं कहेइ, कहेंतं वा साइज्जइ ।

१ जो भिक्षु १. धर्मशाला में, २. उद्यानगृह में, ३. गृहस्थ के घर में या ४. परिव्राजक के आश्रम में अकेला, अकेली स्त्री के साथ रहता है, स्वाध्याय करता है, अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य का आहार करता है, उच्चार-प्रस्रवण परठता है या कोई साधु के न कहने योग्य कामकथा कहता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है।

२. जो भिक्षु १. नगर के समीप ठहरने के स्थान में, २. नगर के समीप ठहरने के गृह में, ३. नगर के समीप ठहरने की शाला में, ४. राजा आदि के नगर, निर्गमन के समय में ठहरने के स्थान में, ५. घर में, ६. शाला में अकेला, अकेली स्त्री के साथ रहता है यावत् साधु के न कहने योग्य कामकथा कहता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है।

३. जो भिक्षु १. प्राकार के ऊपर के गृह में, २. प्राकार के झरोखे में, ३. प्राकार व नगर के बीच के मार्ग में, ४. प्राकार में, ५. नगरद्वार में या ६. दो द्वारों के बीच के स्थान में अकेला, अकेली स्त्री के साथ रहता है यावत् साधु के न कहने योग्य कामकथा कहता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है।

४. जो भिक्षु १. जलाशय में पानी आने के मार्ग में, २. जलाशय से पानी ले जाने के मार्ग में, ३. जलाशय के तट पर, ४. जलाशय में अकेला, अकेली स्त्री के साथ रहता है यावत् साधु के न कहने योग्य कामकथा कहता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है।

५. जो भिक्षु १. शून्यगृह में, २. शून्यशाला में, ३. खण्डहरगृह में, ४. खण्डहरशाला में, ५. झोंपड़ी में, ६. धान्यादि के कोठार में अकेला, अकेली स्त्री के साथ रहता है यावत् साधु के अयोग्य कामकथा कहता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है।

६. जो भिक्षु १. तृणगृह में, २. तृणशाला में, ३. शालि आदि के तुषगृह में, ४. तुषशाला में, ५. मूंग उड़द आदि के भुसगृह में, ६. भुसशाला में अकेला, अकेली स्त्री के साथ रहता है यावत् साधु के अयोग्य कामकथा कहता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है।

७. जो भिक्षु १. यानगृह में, २. यानशाला में, ३. वाहनगृह में या ४. वाहनशाला में अकेला, अकेली स्त्री के साथ रहता है यावत् साधु के अयोग्य कामकथा कहता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है।

८ जो भिक्षु १. विक्रयशाला (दुकान) में, २. विक्रयगृह (हाट) में, ३. चूने आदि बनाने की शाला में या ४. चूना बनाने के गृह में अकेला, अकेली स्त्री के साथ रहता है यावत् साधु के अयोग्य कामकथा कहता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है।

९. जो भिक्षु १. गोशाला में, २. गोगृह में, ३. महाशाला में या ४. महागृह में अकेला, अकेली स्त्री के साथ रहता है यावत् साधु के अयोग्य कामकथा कहता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है।

(उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—इन सभी सूत्रोक्त स्थानों में तथा अन्य किसी भी स्थान में साधु को अकेली स्त्री

के साथ बातचीत करना, खड़े रहना आदि नही करना चाहिये। स्त्रीसंसर्ग को दशवैकालिक सूत्र मे तालपुटविष की उपमा दी गई है और शतायु स्त्री के साथ भी संसर्ग करने का निषेध किया गया है। भाष्य में कहा है—

अवि मायरं पि सद्धिं, कहा तु एगागियस्स पडिसिद्धा।
किंपुण अणारियादि, तरुणित्थीहिं सहगयस्स ॥२३४४॥

चूर्णि—"माइभगिणिमादीहिं अगमित्थीहिं सद्धिं एगागिगस्स धम्मकहा वि काउं णं वट्टति। किं पुण अण्णाहिं तरुणित्थीहिं सद्धिं।"

भावार्थ—वृद्ध माता या बहिन आदि यदि अकेली हो तो उसके साथ धर्मकथा भी करना नही कल्पता है तो तरुण व अन्य स्त्री के साथ अन्य कथा करने का निषेध तो स्वतः ही सिद्ध है।

विशिष्ट शब्दों की व्याख्या इस प्रकार है—

१. विहारं करेइ—यहा विहार का अर्थ साथ में रहना है। अतः ग्रामानुग्राम विहार करना अर्थ यहां नही समझना चाहिये।

२ उच्चारं वा पासवणं वा परिट्ठवेइ—'वियारभूमिं गच्छति।'

३. अणारियं आदि—'अणारिया—कामकहा, निरंतरं वा अप्रियं कहं कहेति—कामणिट्ठुर-कहाओ, एता चेव असमणपाओग्गा।'

४. उज्जाणं—'जत्थ लोगा उज्जाणियाए वच्चति, जं वा ईसिं नगरस्स उवकंठं ठियं तं उज्जाणं। 'नगरात् प्रत्यासन्नवर्तियानवाहनक्रीडागृहादि।' —रायप्पसेणिय सूत्र टीका॥

५ णिज्जाणं—रायादियाण निग्गमणठाणं णिज्जाणिया, णगरनिग्गमे जं ठियं तं णिज्जाणं। एतेसु चेव गिहा कया—उज्जाण-णिज्जाण-गिहा।'

६ अट्टंसि—प्रासादस्योपरिगृहे, प्राकारोपरिस्थसैन्यगृहे च।

७. अट्टालयंसि—प्राकारोपरिवर्ति-आश्रयविशेषः। 'प्राकारकोष्टकोपरिवर्तिमंदिरः।' नगरे पागारो, तस्सेव देसे अट्टालगो। 'युद्ध करने के बुर्ज'

८. चरियंसि—'नगरप्राकारयोरंतरे अष्टहस्तप्रमाणमार्गः।' पागारस्स अहो अट्ठहत्थो रहमग्गो—चरिया।

९. गोपुर—प्रतोलिकाद्वारः। उत्तरा. अ. ९ ॥ 'बलाणगं दारं दो बलाणगा पागारपडिबद्धा, ताण अंतरं गोपुरं।'

१०. तण-तुस-भुस—'दब्भादि तणठाणं अधोपगासं तणसाला, सालिमादितुसट्ठाणं तुससाला मुग्गमादियाणं भुसा।

११. जाण-जुग्ग 'जुगादि जाणाणं अकुड्डा साला सकुड्डं गिहं । अस्सादियाण वाहणा साणं साला गिहं वा ।'

१२. परियागा—'पासंडिणो परियागा तेसिं आवसहो साला गिहं ।' भाष्य गाथा २४२६ व २४२८ में तथा चूर्णि में भी इस शब्द की व्याख्या की है । जब कि प्रथम सूत्र में "परियावसहेसु" आया है अतः पुनः कथन की आवश्यकता नहीं लगती है ।

१३. कुवियं—भाष्यकार ने इसकी व्याख्या नहीं की है । चूर्णिकार ने इस शब्द की जगह "कम्मिय साला" की व्याख्या की है । अन्यत्र "कुविय" शब्द का अर्थ लोहे आदि के उपकरण बनाने की शाला होता है । चूर्णि में—'छुहादि जत्थ कम्मविज्जंति सा कम्मंतशाला गिहं वा' इस प्रकार व्याख्या की गई है ।

१४. महागिहं—महंतं गिहं महागिहं=बड़ा घर या प्रधान घर ।

१५. महाकुलं—'इब्भकुलादि' 'बहुजणाइण्णं' ।

इन स्थानों के अतिरिक्त स्थानों का अर्थात् उपाश्रय आदि का ग्रहण भी उपलक्षण से समझ लेना चाहिये ।

उत्तरा. अ. १ गा. २६ में भी अनेक स्थानों में अकेली स्त्री के साथ अकेले भिक्षु को खड़े रहने का एवं वार्तालाप करने का निषेध किया है । अतः अन्य स्त्री या पुरुष पास में हो तो ही भिक्षु स्त्री से वार्तालाप कर सकता है । अकेली स्त्री से भिक्षा लेने का एवं दर्शन करने उपाश्रय में आ जाय तो उसे मंगल पाठ सुनाने का निषेध नहीं समझना चाहिये ।

स्त्रीपरिषद् में रात्रि-कथा करने का प्रायश्चित्त—

१०. जे भिक्खू राओ वा, वियाले वा, इत्थिमज्झगए, इत्थिसंसत्ते इत्थि-परिवुडे अपरिमाणाए कहं कहेइ, कहेंतं वा साइज्जइ ।

अर्थ—जो भिक्षु रात्रि में या सध्याकाल में १. स्त्री परिषद् में, २. स्त्रीयुक्त परिषद् में, ३ स्त्रियों से घिरा हुआ अपरिमित कथा कहता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है । (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है ।)

विवेचन—आगमों में स्त्री-संसर्ग का निषेध होते हुए भी स्त्रियों को धर्मकथा कहने का सर्वथा निषेध नहीं किया है । अकेला साधु और अकेली स्त्री हो तो धर्मकथा आदि का निषेध अन्य सूत्रों में तथा उपर्युक्त सूत्रों में हुआ है । अनेक स्त्रियां या अनेक साधु हों तो उसका निषेध नहीं है । अर्थात् अनेक स्त्रियां हो या पुरुष युक्त स्त्रियां हों तो दिन में धर्मकथा कही जा सकती है । फिर भी समय, योग्यता व गुरु की आज्ञा लेने का विवेक रखना आवश्यक है ।

प्रस्तुत सूत्र में रात्रि में धर्मकथा कहने का निषेध किया गया है । अतः रात्रि में केवल स्त्री परिषद् हो या पुरुष युक्त स्त्रीपरिषद् हो तो भी धर्मकथा नहीं कहनी चाहिये ।

अपरिमाणाए—

भिक्षाचरी आदि के लिये गया हुआ साधु गृहस्थ के घर में धर्मकथा नही कह सकता है। किन्तु अत्यावश्यक प्रश्न का उत्तर संक्षिप्त में दे सकता है—वृहत्कल्प उद्देशक ३। इसी आशय से यहां भी 'अपरिमाणाए' शब्द का प्रयोग सूत्र में किया गया है। भाष्यचूर्णि आदि में भी इसी आशय का कथन है।

भाष्यगाथा—'इत्थीणं मज्झम्मि, इत्थीसंसत्ते परिवुडे तांहि।

चउ पंच उ परिमाणं, तेण परं कहंत आणादी ॥२४३०॥

'परिमाणं जाव तिण्णि चउरो पंच वा वागरणानि, परतो छट्ठादि अपरिमाणं।'

यहां तीन, चार या पाँच पृच्छा या गाथा का कथन परिमित कहा गया है। छ पृच्छा आदि को अपरिमाण कहा है।

भिक्षा ले लेने के बाद गृहस्थ के घर में खड़े रहने का निषेध वृहत्कल्प में किया गया है, किन्तु आपवादिक स्थिति में वृहत्कल्प सूत्र के अनुसार संक्षिप्त उत्तर देने का विधान भी है। अतः इस सूत्र में 'अपरिमाणाए' शब्द से आपवादिक कथन ही समझना चाहिये।

साधु के लिये अन्य कथा या विकथा तो सर्वथा निषिद्ध है ही अतः यहां कथा से धर्मोपदेश आदि करना ही अपेक्षित है। यदि उचित प्रतीत हो तो रात्रि में उक्त परिषद में संक्षिप्त धर्मकथा या प्रश्न का उत्तर कह सकता है, परिमाण उल्लंघन होने पर ही गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

निर्ग्रंथी से संपर्क करने का प्रायश्चित्त—

११. जे भिक्खू सगणिच्चियाए वा, परगणिच्चियाए वा, णिग्गंथीए सद्धिं गामाणुगामं दूइज्जमाणे पुरओ गच्छमाणे, पिट्ठओ रीयमाणे, ओहयमणसंकप्पे चिंता-सोयसागरसंपविट्ठे, करयल-पल्हत्यमुहे, अट्टज्झाणोवगए, विहारं वा करेइ जाव असमणपाउग्गं कहं कहेइ, कहेंतं वा साइज्जइ।

अर्थ—जो भिक्षु स्वगण की या अन्य गण की साध्वी के साथ आगे या पीछे ग्रामानुग्राम विहार करते हुए संकल्प-विकल्प करता है, चिंतातुर रहता है, शोक-सागर में डूबा हुआ रहता है, हथेली पर मुंह रखकर आर्तध्यान करता रहता है यावत् साधु के न कहने योग्य कामकथा कहता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है।

(उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—धर्मकथा या गोचरी के सिवाय जिस तरह स्त्री के साथ संपर्क या परिचय निषिद्ध है उसी तरह साध्वी के साथ भी साधु को स्वाध्याय, सूत्रार्थ वाचन के सिवाय सम्पर्क करना भी निषिद्ध समझना चाहिये।

साधारणतया साधु साध्वी को एक दूसरे के स्थान (उपाश्रय) में बैठना या खड़े रहना आदि भी निषिद्ध है—वृहत्कल्प उद्देशा ३, सू. १-२।

प्रस्तुत सूत्र में साधु साध्वी के साथ विहार का और अतिसम्पर्क का निर्देश करके प्रायश्चित्त कहा गया है।

आपवादिक स्थिति में साधु-साध्वी एक दूसरे की अनेक प्रकार से सेवा कर सकते हैं और परस्पर आलोचना प्रायश्चित्त भी कर सकते हैं। किन्तु उत्सर्ग रूप से वे परस्पर सेवा एवं आलोचनादि भी नहीं कर सकते—व्यवहार सूत्र उद्देशा-५।

अतः साधु-साध्वी परस्पर सेवा आदि का सम्पर्क आपवादिक स्थिति में ही रखें तथा आवश्यक वाचना आदि का आदान-प्रदान करें। इसके अतिरिक्त परस्पर सम्पर्क-वृद्धि नहीं करें। यही जिनाज्ञा है।

उपाश्रय में रात्रि स्त्रीनिवास प्रायश्चित्त—

१२. जे भिक्खू णायगं वा, अणायगं वा, उवासगं वा, अणुवासगं वा अंतो उवस्सयस्स अद्धं वा राइं, कसिणं वा राइं संवसावेइ, संवसावेंतं वा साइज्जइ।

अर्थ—जो भिक्षु स्वजन या परजन की, उपासक या अन्य की स्त्री को उपाश्रय के अन्दर अर्द्ध रात्रि या पूर्ण रात्रि तक रखता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—सूत्र में "स्त्री" या "पुरुष" का स्पष्ट कथन नहीं है, प्रसंगवश स्त्री के रखने का ही प्रायश्चित्त समझना चाहिये। भाष्यचूर्णि में भी कहा है कि—

"इमं पुण सुत्तं इत्थिं पडुच्च" यह सूत्र स्त्री की अपेक्षा से है।

गाथा—इत्थिं पडुच्च सुत्तं, सहिरण्ण समोयणे य आवासे।
जइ निस्संगय जे या मेहुण निसिभोयणं कुज्जा ॥२४६९॥

अद्धं वा राइं—अद्धं राईए दो जामा, 'वा' विकप्पेण एगं जामं। चउरो जामा कसिणा राई 'वा' विकप्पेण तिण्णी जामा। अर्द्ध शब्द का अर्थ आधी रात न करके अपूर्ण रात्रि भी किया जा सकता है। उत्तराध्ययन सूत्र अ. ३४ में "मुहुत्तद्धं" शब्द है। उसका अर्थ केवल आधा मुहूर्त ही नहीं है अपितु मुहूर्त से कम भी हो सकता है। तदनुसार यहां भी संपूर्ण रात्रि के अतिरिक्त कम ज्यादा रात्रि का भी ग्रहण हो सकता है। अतः इस सूत्र का भावार्थ यह है कि रात्रि में अल्प या अधिक समय स्त्री को उपाश्रय में रखे तो प्रायश्चित्त आता है।

संवसावेइ—"रखना" दो तरह से हो सकता है १. रहने के लिए कहना २. रहते हुए को मना नहीं करना। अतः रात्रि में उपाश्रय के अन्दर स्त्री को रहने के लिये कहना नहीं और बिना कहे कोई आ जावे और रहना चाहे तो उसे मना कर देना चाहिये। 'मना नहीं करना' भी रहने देना ही होता है। अतः रहने का कहे या मना नहीं करे तो भी "संवसावेइ" कथन से प्रायश्चित्त आता है।

उक्त व्याख्या के कारण कई प्रतियों में मना नहीं करने का स्वतन्त्र सूत्र भी अलग मिलता है। किन्तु उसकी वाक्यरचना अशुद्ध प्रतीत होती है। अतः यह सूत्र प्रक्षिप्त ही प्रतीत होता है। क्योंकि इस स्वीकृत सूत्र से ही विषय की पूर्ति हो जाती है। प्रकाशित चूर्णि के मूल पाठ में यह सूत्र नहीं है।

स्त्री के साथ रात्रि में गमनागमन करने का प्रायश्चित्त—

१३. जे भिक्खू णायगं वा, अणायगं वा, उवासगं वा, अणुवासगं वा, अंतो उवस्सयस्स अद्धं वा राइं, कसिणं वा राइं संवसावेइ, तं पडुच्च णिक्खमइ वा, पविसइ वा, णिक्खमंतं वा, पविसंतं वा साइज्जइ।

१३. जो भिक्षु स्वजन या परजन (अन्य), उपासक या अन्य किसी भी स्त्री को अर्द्धरात्रि या पूर्णरात्रि उपाश्रय के अन्दर रखता है या उसके निमित्त गमनागमन करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

(उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—पूर्व सूत्र में स्त्री के रखने का प्रायश्चित्त कहा है। तदनन्तर कहे गए इस सूत्र का भाव यह है कि साधु स्त्री को न रखे और मना करने पर भी यदि कोई स्त्री वहां परिस्थितिवश रह जाये तो रात्रि में शारीरिक बाधा से वह बाहर जावे तो उसके निमित्त उसके साथ जाना-आना नहीं करना चाहिए।

साथ जाने-आने में दो कारण हो सकते है—१. स्त्री को भय लगता हो, २. अथवा साधु को भय लगता हो।

रात्रि में उनके साथ बाहर जाने-आने मे अनेक प्रकार के दोषों की एवं आशंकाओं की सम्भावना रहती है।

मूर्द्धाभिषिक्त राजा के महोत्सवादि स्थलों से आहारग्रहण करने का प्रायश्चित्त—

१४. जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं, १. समवाएसु वा, २. पिंड-नियरेसु वा, ३. इंदमहेसु वा, ४. खंदमहेसु वा, ५. रुद्दमहेसु वा, ६. मुगुंदमहेसु वा, ७. भूयमहेसु वा, ८. जक्खमहेसु वा, ९. णागमहेसु वा, १०. थूभमहेसु वा, ११. चेइय-महेसु वा, १२. रुक्खमहेसु वा, १३. गिरिमहेसु वा, १४. दरिमहेसु वा, १५. अगडमहेसु वा, १६. तडागमहेसु वा, १७. दहमहेसु वा, १८. णइमहेसु वा, १९. सरमहेसु वा, २०. सागरमहेसु वा, २१. आगारमहेसु वा, अण्णयरेसु वा, तहप्पगारेसु विरूवरूवेसु महामहेसु असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

१५ जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं उत्तरसालंसि वा, उत्तरगिहंसि वा, रीयमाणाणं असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

१६. जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं १. हयसाला-गयाण वा, २. गय-सालागयाण वा, ३. मंतसालागयाण वा, ४. गुज्झसालागयाण वा, ५. रहस्ससालागयाण वा, ६. मेहुणसालागयाण वा असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

१७ जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं सण्णिहिसण्णिचयाओ खीरं वा,

दहिं वा, णवणीयं वा, सप्पिं वा, गुलं वा, खंडं वा, सक्करं वा, मच्छंडियं वा, अण्णयरं भोयणजायं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

१८. जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं उस्सट्ठ-पिंडं वा, संसट्ठ-पिंडं वा, अणाह-पिंडं वा, वणीमग-पिंडं वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं।

१४. जो भिक्षु मूर्द्धाभिषिक्त शुद्धवंशीय क्षत्रिय राजा के—१. मेले आदि में, २. पितृभोज में, ३. इन्द्र, ४. कार्तिकेय, ५. ईश्वर, ६ बलदेव, ७ भूत, ८. यक्ष, ९. नागकुमार, १०. स्तूप, ११. चैत्य, १२. वृक्ष, १३. पर्वत, १४. गुफा, १५ कुआ, १६. तालाब, १७. ह्रद, १८. नदी, १९. सरोवर, २०. समुद्र, २१. खान इत्यादि किसी प्रकार के महोत्सव में तथा अन्य भी इसी प्रकार के अनेक महोत्सवों में उनके निमित्त से बना अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

१५. जो भिक्षु श्रेष्ठ कुलोत्पन्न मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा जब उत्तरशाला या उत्तरगृह (मंडप) में रहता हो तब उसका अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

१६. जो भिक्षु १. अश्वशाला, २. हस्तिशाला, ३. मंत्रणाशाला, ४. गुप्तशाला, ५. गुप्त-विचारणाशाला या ६. मैथुनशाला में गये हुए श्रेष्ठ कुलोत्पन्न मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा के अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य को ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

१७. जो भिक्षु श्रेष्ठ कुलोत्पन्न मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा के विनाशी द्रव्यों या अविनाशी द्रव्यों के संग्रहस्थान से दूध, दही, मक्खन, घृत, गुड, खांड, शक्कर या मिश्री तथा अन्य भी कोई खाद्य पदार्थ ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

१८. जो भिक्षु श्रेष्ठ कुलोत्पन्न मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा के १. उत्सृष्टपिंड, २. भुक्तविशेष-पिंड, ३. अनाथपिंड या ४. वनीपकपिंड, (भिखारीपिंड) को ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

उपर्युक्त १४ से १८ सूत्रों में कहे गये दोषस्थान का सेवन करने पर गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन– छट्ठे उद्देशक से लेकर इस उद्देशक के १३वें सूत्र तक स्त्री सम्बन्धी प्रायश्चित्तों का कथन निरन्तर हुआ है। उनका गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है। सूत्र १४ से आठवें उद्देशक के पूर्ण होने तक और संपूर्ण नवमें उद्देशक में अनेक प्रकार के राजपिंड तथा राजा से संबंधित अनेक प्रसंगों के प्रायश्चित्त कहे गये हैं।

यहां राजा के लिए तीन विशेषणों का प्रयोग है, जिसका संक्षिप्त अर्थ है—'बहुत बड़े राजा" प्रत्येक शब्द का अर्थ इस प्रकार है—

१ मुदिय—शुद्धवंशीय,

२ मुद्धाभिसित्त—अनेक राजाओं के मस्तक जिसे झुकते हैं अर्थात् अनेक राजाओं द्वारा अभिषिक्त अथवा माता-पिता के द्वारा अभिषिक्त।

३. रण्णो खत्तियाणं—ऐसा क्षत्रिय राजा। अनेक राजाओं द्वारा या माता-पिता आदि के द्वारा अभिषिक्त शुद्धवंशीय क्षत्रिय राजा। ये तीनों विशेषण केवल स्वरूपदर्शक व महत्त्व बताने के लिये कहे गये हैं। अतः बहुत बड़े राजा की अपेक्षा ही इन शब्दों का प्रयोग है, ऐसा समझना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि मूर्द्धाभिषिक्त बड़े राजा का आहार आदि २४वें तीर्थंकर के शासन में साधु-साध्वियों को ग्रहण करना नही कल्पता है। अतः इसमे जागीरदार, ठाकुर आदि का निषेध नहीं समझना चाहिये।

१ समवाएसु—समवायो—गोष्ठीनां मेलापकः, वणिजादिनां संघातः। राजेन्द्र कोश।

समवायो मेलकः—संखच्छेद श्रेण्यादेः। —आचा. श्रु. २, अ. १, उ. २।

समवायो गोट्ठी भत्तं। —चूर्णि।

२ पिंडनियरेसु—पितृपिंड मृतकभक्तमित्यर्थः। —आचा. १ पिंडनिगरो दाइभत्तं, पितिपिंड-पदाणं—(पितृपिंडप्रदान) वा पिंडनिगरो। —चूर्णि।

३. रुद्र—भागिणेयो रुद्रः। रुद्रः शिवः। आचारांग में इसका अर्थ ईश्वर किया है।

राजेन्द्र कोश में "महादेव-महेश्वर" कहकर उसकी उत्पत्ति का विस्तृत कथानक किया है।

४. मुकुंद—मुकुंदो बलदेवः। —चूर्णि। वासुदेव महोत्सवः। —भग श. ९, उ. ३३

५. चेइय—चेइयं-देवकुलं।

६. सर—खुदाई किये बिना स्वतः निष्पन्न जलाशय-तालाब।

७. तडाग—खुदाई करके तैयार किया गया तालाब।

अनेक प्रकार के महोत्सव अनेक निमित्तों से भिन्न-भिन्न काल में प्रारम्भ कर दिये जाते हैं तथा लम्बे काल तक उस निश्चित तिथि में चलते रहते हैं।

राजा की तरफ से इन महोत्सवों में बनाया गया आहार ग्रहण करने पर भिक्षु को गुरु-चौमासी प्रायश्चित्त आता है। ऐसे स्थलों में जाने पर अनेक दोषों की संभावना रहती है तथा राजा का प्रसन्न होना या नाराज होना दोनों ही स्थितियां अनेक दोषों का निमित्त हो सकती हैं। अतः ऐसे स्थलों में भिक्षा के लिये नहीं जाना चाहिये।

सूत्र १५-१६. में कार्यवश कहीं अन्यत्र गये हुए राजा के विभिन्न स्थानों का निर्देश किया गया है। उन स्थानों पर राजा के लिये जो आहार बनता है, उसके ग्रहण करने का प्रायश्चित्त कहा गया है। व्याख्याकार ने कहा है कि ये उदाहरण रूप में कहे गये है, अन्य भी इस तरह के स्थानों के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिये।

१. उत्तरशाला—'जत्थ य कीडापुव्वं गच्छति, तत्थ णं वसति ते उत्तरशाला गिहा घत्तव्वा' 'अत्थानिगादिमंडवो उत्तरसाला, मूलगिहं असंबद्धं उत्तरगिहं।'

सूत्र १८ में दान दिये जाने वाले आहार का कथन है।

'उस्सट्ठं'—काकादिभ्यः—प्रक्षेपणाय स्थापितं पिंडं । उस्सट्ठे—उज्झियधम्मिए ।

उपलब्ध अनेक प्रतियों में "किविणपिंडं" पाठ अधिक है। भाष्य, चूर्णि में इसकी व्याख्या नहीं की गई है तथा इस शब्द की यहां आवश्यकता भी प्रतीत नहीं होती है। उसका आशय दानपिंड एवं वनीपकपिण्ड में गर्भित हो जाता है।

आठवें उद्देशक का सारांश—

छट्ठे, सातवें उद्देशक में मैथुन के संकल्प से की गई प्रवृत्तियों के प्रायश्चित्त कहे हैं। आठवें उद्देशक में मैथुनसेवन के संकल्प को निमित्त रूप स्त्री संबंधी प्रायश्चित्त का कथन है, बाद में राजपिंड से संबंधित प्रायश्चित्त कहे गये हैं।

सूत्र १ से ९ तक—धर्मशाला आदि ४ में, उद्यानादि ४ में, अट्टालिका आदि ६ में, दगमार्ग आदि ४ में, शून्यगृह आदि ६ में, तृणगृह आदि ६ में, यानशाला आदि ४ में, दुकान आदि ४ में, गोशाला आदि ४ में अकेला साधु अकेली स्त्री के साथ रहे, आहारादि करे, स्वाध्याय करे, स्थंडिलभूमि जाये या विकारोत्पादक वार्तालाप आदि करे।

१०. रात्रि के समय स्त्रीपरिषद् में या स्त्री युक्त पुरुषपरिषद् में अपरिमित कथा करे।

११. साध्वी के साथ विहार आदि करे या अति संपर्क रखे।

१२-१३. उपाश्रय में स्त्री को रात्रि में रहने देवे, मना नहीं करे तथा उसके साथ बाहर आना-जाना करे।

१४. मूर्द्धाभिषिक्त राजा के अनेक प्रकार के महोत्सवों में आहार ग्रहण करे।

१५-१६. उत्तरशाला अथवा उत्तरगृह में तथा अश्वशाला आदि में आहार ग्रहण करे।

१७. राजा के दूध-दही आदि के संग्रहस्थानों से आहार ग्रहण करे।

१८. राजा के उत्सृष्टपिंड आदि—दान निमित्त स्थापित आहार को ग्रहण करे।

इत्यादि प्रवृत्तियों का गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

उपसंहार—

इस उद्देशक के १४ सूत्रों के विषय का कथन निम्न आगमों में है, यथा—

स्त्रीसंसर्ग का निषेध दशवै. अ. ८, गा. ५२-५८, उत्तरा. अ. १, गा २६, अ. ३२, गा. १३-१६ आदि अनेक आगम स्थलों में है। उसी का कुछ स्पष्टीकरण व स्थलनिर्देश युक्त वर्णन सूत्र १ से ९ में है।

१. दशवैकालिक अ. ३ व आचारांगसूत्र श्रु. २, अ. १, उ. ३ में राजपिंड,

२. दशवै. अ. ५, गा. ४७ से ५२ में दानपिण्ड,

३. आचारांगसूत्र श्रु. २, अ. १, उ. २ में संखडी में बने भोजन का ग्रहण करना निषिद्ध है। इनका यहां सूत्र १४-१८ तक विस्तार पूर्वक प्रायश्चित्त कथन है। इस तरह १ से ९, व १४ से १८ कुल १४ सूत्रों में अन्य आगम निर्दिष्ट विषयों का प्रायश्चित्त कथन है।

इस उद्देशक के ४ सूत्रों के विषय का कथन अन्य आगमों में नहीं है, यथा—

शेष चार सूत्रों का विषय भी स्त्रीसम्पर्क के अन्तर्गत आ सकता है किन्तु कुछ विशेष कथन होने से उनका कथन अलग किया गया है।

१०. रात्रि में स्त्रियों को तथा स्त्रियों सहित पुरुषों को धर्मकथा आदि नहीं कहना चाहिये और कहे तो प्रायश्चित्त आता है तथा कुछ अपवादों [छूट] का निर्देश भी हुआ है।

११. साध्वियों के उपाश्रय में अनेक कार्यों के करने का निषेध बृहत्कल्प उद्देशक ३ में है किन्तु ग्रामानुग्राम विहार का तथा अन्य अनेक प्रवृत्तियों का निषेध और प्रायश्चित्त का कथन तो यहीं पर है।

१२-१३—स्त्रीयुक्त स्थान में नहीं ठहरना ऐसा वर्णन अन्यत्र आता है किन्तु स्त्री साधु के स्थान पर रहना चाहे या रह जाये तो कैसा व्यवहार करना, इसका सूचन तथा प्रायश्चित्त का कथन इन दो सूत्रों में ही है।

इस उद्देशक में कुछ कथन विशेषता युक्त हैं। इन के अतिरिक्त कुछ मौलिक विषयों का कथन तो अन्य आगमों में भी वर्णित है।

॥ आठवां उद्देशक समाप्त ॥

नवम उद्देशक

राजपिंड-ग्रहण-प्रायश्चित्त—

१. जे भिक्खू रायपिंडं गिण्हइ, गिण्हंतं वा साइज्जइ ।

२. जे भिक्खू रायपिंडं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ ।

१. जो भिक्षु राजपिंड ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है ।

२. जो भिक्षु राजपिंड भोगता है या भोगने वाले का अनुमोदन करता है । (उसे गुरु-चौमासी प्रायश्चित्त आता है ।)

विवेचन—राजपिंड आठ प्रकार का होता है—१. अशन, २ पान, ३. खाद्य, ४. स्वाद्य, ५ वस्त्र, ६ पात्र, ७. कंबल, ८. पादप्रोंछन ।—भाष्य गाथा २५०० ।

प्रथम व अंतिम तीर्थंकर के शासन में राजपिंड निषिद्ध है । मध्यकालीन तीर्थंकरों के शासन में और महाविदेह क्षेत्र में निषिद्ध नहीं है ।

अंतःपुर–प्रवेश व भिक्षाग्रहण प्रायश्चित्त—

३. जे भिक्खू रायंतेपुरं पविसइ, पविसंतं वा साइज्जइ ।

४ जे भिक्खू रायंतेपुरियं वएज्जा "आउसो रायंतेपुरिए ! णो खलु अम्हं कप्पइ रायंतेपुरं णिक्खमित्तए वा, पविसित्तए वा, इमं णं तुमं पडिग्गहं गहाय रायंतेपुराओ असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा अभिहडं आहट्टु दलयाहि", जो तं एवं वयइ वयंतं वा साइज्जइ ।

५. जे भिक्खू नो वएज्जा रायंतेपुरिया वएज्जा "आउसंतो समणा ! णो खलु तुब्भं कप्पइ रायंतेपुरं णिक्खमित्तए वा पविसित्तए वा, आहरेयं पडिग्गहं अंतो अहं रायंतेपुराओ असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा अभिहडं आहट्टु दलायामि", जो तं एवं वयंतिं पडिसुणइ, पडिसुणंतं वा साइज्जइ ।

३. जो भिक्षु राजा के अंतःपुर में प्रवेश करता है या प्रवेश करने वाले का अनुमोदन करता है ।

४. जो भिक्षु राजा की अंतःपुरिका से कहे कि "हे आयुष्मती रायंतेपुरिके ! हमें राजा के अंतःपुर में प्रवेश करना या निकलना नहीं कल्पता है, इसलिए तुम यह पात्र लेकर राजा के अंतःपुर में से अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य यहां लाकर दे दो", जो उसको इस प्रकार कहता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है ।

५. यदि भिक्षु न कहे किन्तु अंतःपुरिका कहे कि "हे आयुष्मन् श्रमण ! तुम्हें राजा के अंतः-

पुर में प्रवेश करना या निकलना नहीं कल्पता है, अतः यह पात्र मुझे दो। मैं अ
पान, खाद्य वा स्वाद्य यहां लाकर दूं," जो उसके इस प्रकार कहने पर उसे स्वीक
स्वीकार करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है

विवेचन—राजा का अंतःपुर तीन प्रकार का होता है—

१. जुण्णंतेपुर—अपरिभोग्या-वृद्धा रानियों का अन्तःपुर।
२. नवंतेपुर—परिभोग्या—युवा रानियों का अन्तःपुर।
३. कण्णंतेपुर—अप्राप्त यौवना—कन्या राजकुमारियों का अन्तःपुर।

रायंतेपुरिया—चूर्णिकार ने इसका अर्थ "राजा की रानी" किया है। यह अर्थ
नहीं है, इसलिए यहां नहीं लिया है।

दूसरा अर्थ है—'दासी'

तीसरा अर्थ है—अंतःपुर का रक्षक, जो प्रायः द्वार के पास खड़ा रहता है। यह
संगत है।

अतः 'अंतेपुरिया' का अर्थ है अंतःपुर में रहने वाला या अंतःपुर की रक्षा करने वा

इस अर्थभेद के कारण सूत्र नं. ५ के पाठ में भी कुछ विकल्प उत्पन्न हुए हैं, उनका
निर्णय नहीं हो पाया है।

जहां स्त्री द्वारपालिका रहती है वहां स्त्रीलिंगवाची "जो तं एवं वदंती पडिसुणेइ" जह
द्वारपाल हो वहां पुलिंगवाची "जो तं एवं वदंत पडिसुणेइ" इस प्रकार दोनों पाठ शुद्ध हो सकते

द्वारपाल से मंगवाकर राजपिंड ग्रहण करने में एषणादोषयुक्त, विषयुक्त, अभिमंत्रित आ
या अधिक आहार ग्रहण किया जा सकता है। अन्य भी अनेक दोषों के लगने की संभावना रहती

राजा का दानपिंड-ग्रहण प्रायश्चित्त—

६. जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं, १. दुवारिय-भत्तं वा, २. पसु-भ
वा, ३. भयग-भत्तं वा, ४. बल-भत्तं वा, ५. कयग-भत्तं वा, ६. हय-भत्तं वा, ७. गय-भत्तं वा, ८. कंता
भत्तं वा, ९. दुब्भिक्ख-भत्तं वा, १०. दुकाल-भत्तं वा, ११. दमग-भत्तं वा, १२. गिलाण-भत्तं वा
१३. बद्दलिया-भत्तं वा, १४. पाहुण-भत्तं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

६. जो भिक्षु शुद्धवंशज मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा के—

१. द्वारपालों के निमित्त बना भोजन,
२. पशुओं के निमित्त बना भोजन,
३. नौकरों के निमित्त बना भोजन,
४. सैनिकों के निमित्त बना भोजन,
५. दासों के निमित्त या कर्मचारियों के निमित्त बना भोजन,
६. घोड़ों के निमित्त बना भोजन,
७. हाथी के निमित्त बना भोजन,

८. अटवी के यात्रियों के निमित्त बना भोजन,
९. दुर्भिक्ष-पीड़ितों के लिए दिया जाने वाला भोजन,
१०. दुष्काल-पीड़ितों के लिए दिया जाने वाला भोजन,
११. दीन जनों के निमित्त बना भोजन,
१२. रोगियों के निमित्त बना भोजन,
१३. वर्षा से पीड़ित जनों के निमित्त बना भोजन,
१४. आगंतुकों के निमित्त बना भोजन ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—अनेक राजकुलों में या अनेक श्रीमन्त कुलों में प्रतिदिन उक्त प्रकार का भोजन देने की एक प्रकार की मर्यादा होती है। उनमें से किसी प्रकार का भोजन साधु ग्रहण करे तो जिनके निमित्त भोजन बनाया है, उनके अंतराय लगती है अथवा दूसरी बार भोजन बनाने की आरम्भजा क्रिया लगती है तथा राजपिंड ग्रहण संबंधी दोष भी लगता है।

विशेष शब्दों की व्याख्या—

१. दुवारिय-भत्तं—दोवारिया—दारपाला—नगर के द्वारपाल।

२. बलं—चउव्विहं-पाइक्कबलं, आसबलं, हत्थिबलं, रहबलं।

३. कंतार—अडविनिग्गयाण-भुक्खत्ताणं।

४. दुब्भिक्ख—जं दुब्भिक्खे राया देति तं दुब्भिक्खभत्तं।

५. दमग—दमगा—रंका, तेसिं भत्तं—दमगभत्तं।

६. वद्दलिया—सत्ताह (सात दिन) वद्दले पडंते भत्तं करेइ राया—अतिवृष्टि से पीड़ितों का भोजन।

चूर्णिकार ने कुछ शब्दों की व्याख्या की है. मूल पाठ में कहीं ११, १३ व १४, शब्द भी मिलते हैं। निर्णय करने का पर्याप्त आधार उपलब्ध न होने से मूल में १४ शब्द ही लिये गये हैं।

राजा के कोठार आदि स्थानों को जाने बिना भिक्षागमन का प्रायश्चित्त—

७. जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं इमाइं छद्दोसाययणाइं अजाणिय-अपुच्छिय-अगवेसिय परं चउराय-पंचरायाओ गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए निक्खमइ वा पविसइ वा निक्खमंतं वा पविसंतं वा साइज्जइ,

तं जहा—१. कोट्ठागार-सालाणि वा, २. भंडागार-सालाणि वा, ३. पाण-सालाणि वा, ४. खीर-सालाणि वा, ५. गंज-सालाणि वा, ६. महाणस-सालाणि वा।

७. जो भिक्षु शुद्धवंशज मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा के इन छह दोषस्थानों को ४-५ दिन के भीतर जानकारी किए बिना, पूछताछ किए बिना व गवेषणा किए बिना गाथापति कुलों में आहार

के लिये निकलता है या प्रवेश करता है या निकलने वाले का या प्रवेश करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

छः दोषस्थान ये हैं—

१. कोष्ठागारशाला,	२. भाण्डागारशाला,
३. पानशाला,	४. क्षीरशाला,
५. गंजशाला,	६. महानसशाला।

विवेचन—राजधानी आदि में प्रवेश करने के बाद भिक्षा के लिये जाने वाले साधु को शय्यातर एवं स्थाप्य कुल के समान सर्वप्रथम राजा के इन ६ स्थानों की जानकारी कर लेनी चाहिये। क्योंकि ये छहों दोषों के स्थान हैं। ४-५ दिन में उक्त छह स्थानों की जानकारी न करे और भिक्षार्थ चला जाए तो उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विशेष शब्दों की व्याख्या—

१. **कोट्ठागार**—धान्य, मेवा आदि का कोठार।

२. **भंडागार**—सोना, चांदी, रत्न आदि धन का भंडार।

३. **पाण**—"सुरा-मधु-सीधु-खंडग-मच्छंडिय-मुद्दिया पभिईण पाणगाणि।" मद्यस्थान आदि।

४. **'खीर'**—खीरघरं, जत्थ खीरं-दधि-णवणीयं-तक्कादि अच्छंति—दूध, दही, घी आदि का स्थान।

५. **'गंज'**—"जत्थ धण्णं दभिज्जति सा गंजसाला।
जत्थ सणसत्तरसाणि धण्णाणि कोट्टिज्जंति"—जहां सत्रह प्रकार के धान्य कूटे जाते हैं, वह स्थान।

६. **'महाणस'**—उवक्खडणसाला—रसोईघर।

इन स्थानों की जानकारी न होने पर वहां भिक्षु भिक्षार्थ पहुंच सकता है। उन स्थानों के रक्षक पुरुष यदि भद्र हों तो राजपिंड ग्रहण करने का दोष लगता है और प्रतिकूल हों तो चोर आदि समझ कर वे कष्ट भी दे सकते हैं। गिरफ्तार कर सकते हैं—

'जे रक्खगा ते भद्द पंता, भद्देसु रायपिंडदोसा, पंतेसु गेण्हणादयो दोसा' —चूर्णि।

अतः इन स्थानों की जानकारी करना आवश्यक है।

राजा आदि को देखने के लिए प्रयत्न करने का प्रायश्चित्त—

८. जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं आगच्छमाणाणं वा णिग्गच्छमाणाणं वा पयमवि चक्खुदंसण-वडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ।

९. जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं इत्थीओ सव्वालंकार-विभूसियाओ पयमवि चक्खुदंसण-वडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ।

८. जो भिक्षु शुद्ध वंशज मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा के आने-जाने के समय उन्हें देखने के संकल्प से एक कदम भी चलता है या चलने वाले का अनुमोदन करता है।

९. जो भिक्षु शुद्ध वंशज मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा की सर्व अलंकारों से विभूषित रानियों को देखने के संकल्प से एक कदम भी चलता है या चलने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरु-चौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—आचारांगसूत्र में अनेक दर्शनीय पदार्थों व स्थलों को देखने का निषेध किया गया है तथा निशीथसूत्र के १२वें उद्देशक में उनका लघुचौमासी प्रायश्चित्त कहा गया है। राजा या रानी को देखने की प्रवृत्ति विशेष आपत्तिजनक होने से उसका गुरुचौमासी प्रायश्चित्त इन दो सूत्रों में कहा है। व्याख्याकार ने इसका प्रायश्चित्तक्रम इस प्रकार भी बताया है—

'मणसा चिंतेति मास गुरु, उट्ठिते चउलहुं, पदभेदे चउगुरु'

'एगपदभेदे वि चउगुरुगा किमंग पुण दिट्ठे ! आणादिविराहणा भद्दपंता दोसा य।'

अर्थात् देखने का विचार करे तो मास गुरु, देखने के लिये उठे तो चतुर्लघु और चले तो चतुर्गुरु प्रायश्चित्त आता है और जब एक कदम चलने पर भी चतुर्गुरु प्रायश्चित्त आता है तो देखने की तो बात ही क्या ? इससे आज्ञाभंग दोष होता है तथा राजा अनुकूल या प्रतिकूल हो तो अन्य अनेक दोष भी लग जाते हैं।

शिकारादि के निमित्त निकले राजा का आहार ग्रहण करने पर प्रायश्चित्त—

१०. जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं मंसखायाण वा, मच्छखायाण वा, छविखायाण वा बहिया णिग्गयाणं असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

१०. जो भिक्षु मांस, मछली व छवि आदि खाने के लिये बाहर गये हुए, शुद्ध वंशज मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा के अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य को ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—"राईणं णिग्गयाणं तत्थेव असणं-पाणं-खाइमं-साइमं उवकरेंति तद्दियकप्पडियाणं वा तत्थेव भत्तं करेज्ज।" अर्थात् मांस, मच्छ आदि खाने के लिये वन में या नदी, द्रह—समुद्र आदि स्थलों पर गये हुए राजा के यहां पर अशनादि भोजन भी हो सकता है, ऐसा आहार भी ग्रहण करना नहीं कल्पता है।

राजा ने जहां भोजन किया हो, वहां से आहार ग्रहण करने का प्रायश्चित्त—

११. जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं अण्णयरं उववूहणीयं समीहियं पेहाए तीसे परिसाए अणुट्ठियाए, अभिण्णाए अवोच्छिन्नाए जो तमन्नं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

११. जो भिक्षु शुद्धवंशज मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा को कहीं पर भोजन दिया जा रहा हो, उसे देखकर उस राज-परिषद् के उठने के पूर्व, जाने के पूर्व तथा सबके चले जाने के पूर्व वहां से आहार ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—किसी व्यक्ति ने अल्पाहार या पूर्णाहार का आयोजन किया हो और उसमें राजा को भी निमंत्रित किया हो, वहां जब तक राजा व उसके साथ वाले भोजन करते हों तब तक भिक्षार्थ नहीं जाना चाहिए। उनके चले जाने के बाद वह आहार ग्रहण करना निषिद्ध नहीं है। उसके पूर्व ग्रहण करना और वहां जाना आपत्तिजनक है। अतः देखने में या जानने में आ जाए कि यहां राजा निमंत्रित किये गये हैं अर्थात् वहां भोजन कर रहे हैं तो उस समय घर में जाये या आहार ग्रहण करे तो गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

'अण्णतरगहणेन भेददर्शनं, शरीरं उपवूहयंतीति उपवूहणीया' 'सा य चउव्विहा असणादि।' 'जेमंतस्स रण्णो उववूहणीया आणिया, 'पिट्ठओ' त्ति वुत्तं भवति।। तं जो ताए परिसाए अणुट्ठिताए गेण्हति तस्स ङ्का (चउगुरु)। रायपिंडो चेव सो। आसणाणि मोत्तु उद्धट्ठियाए अच्छंति, ततो केइ णिग्गता भिण्णा, असेसेसु णिग्गतेसु वोच्छिण्णा, एरिसे ण रायपिंडो।' —चूर्णि पृ. ४५९-६०॥

इस सूत्र का भावार्थ यह है कि राजा जहां भोजन कर रहा हो उस समय उस घर में भिक्षार्थ जाना नहीं कल्पता है। उनके भोजन करके चले जाने के बाद जाने पर इस सूत्र के अनुसार प्रायश्चित्त नहीं आता है।

राजा के उपनिवासस्थान के समीप ठहरने आदि का प्रायश्चित्त—

१२. अह पुण एवं जाणेज्जा 'इहज्ज रायखत्तिए परिवुसिए' जे भिक्खू ताहे गिहाए ताए पएसाए ताए उवासंतराए विहारं वा करेइ, सज्झायं वा करेइ, असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा आहारेइ, उच्चारं वा पासवणं वा परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ।

१२. जब यह ज्ञात हो जाए कि आज इस स्थान में राजा ठहरे हैं तब जो भिक्षु उस गृह में, उस गृह के किसी विभाग में या उस गृह के निकट किसी स्थान में ठहरता है, स्वाध्याय करता है, अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य का आहार करता है या मल-मूत्र त्यागता है या ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—पूर्व सूत्र में राजा जिस घर में भोजन करने आया हो वहां गोचरी जाने का प्रायश्चित्त कहा है और इस सूत्र में जिस घर में राजा ने एक दो दिन के लिये निवास किया हो, वहां ठहरने का प्रायश्चित्त कहा है।

इन सूत्रों का तात्पर्य यह है कि राजा के भोजन, निवास, अल्पकालीन आवास आदि के स्थानों से साधु को दूर रहना चाहिये। राजा साधु के स्थान पर आये यह कोई आपत्तिजनक नहीं है किन्तु साधु राजा के किसी आवास में या उसके निकट भी न जाये।

सूत्रकृतांगसूत्र अ. २, उ. २, गा. १८ में भी कहा है कि—

'उसिणोदग तत्तभोइणो, धम्मठियस्स मुणिस्स हीमओ ।
संसग्गि असाहु राईहिं, असमाहि उ तहागयस्स वि ।।'

राजा के निवासस्थान के बाहर व आस-पास कई रक्षक राजपुरुष रहते हैं, कई प्रकार की शंकाओं की संभावना रहती है । अतः ऐसे स्थानों को जान लेने के बाद साधु को उस ओर नहीं जाना चाहिये ।

यात्रा में गये हुए राजा का आहार-ग्रहण करने पर प्रायश्चित्त—

१३. जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं बहिया जत्तासंपट्ठियाणं असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ ।

१४. जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं बहिया जत्तापडिणियत्ताणं असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ ।

१५. जे भिक्खू खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं णइ-जत्तासंपट्ठियाणं असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ ।

१६. जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं णइ-जत्तापडिणियत्ताणं असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ ।

१७. जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं गिरि-जत्तासंपट्ठियाणं असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ ।

१८ जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं गिरि-जत्तापडिणियत्ताणं असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ ।

१३. जो भिक्षु युद्ध आदि की यात्रा के लिये जाते हुए शुद्धवंशज मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा का अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है ।

१४. जो भिक्षु युद्ध आदि की यात्रा से पुनः लौटते हुए शुद्धवंशज मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा का अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है ।

१५. जो भिक्षु नदी की यात्रा के लिये जाते हुए शुद्धवंशज मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा का अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है ।

१६. जो भिक्षु नदी की यात्रा से पुनः लौटते हुए शुद्धवंशज मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा का अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है ।

१७. जो भिक्षु पर्वत की यात्रा के लिये जाते हुए शुद्धवंशीय मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा का अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है ।

१८. जो भिक्षु पर्वत की यात्रा से पुनः लौटते हुए शुद्धवंशीय मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा का अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है ।

(उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—इन यात्राओं के लिये जाते समय और पुनः लौटते समय मार्ग में जहां पड़ाव किया जाता है वहां आहार बनाया जाता है। उसे ग्रहण करने का यहां प्रायश्चित्त कहा गया है। क्योंकि ऐसी यात्राओं के निमित्त बनाए गए आहार के लेने में मंगल-अमंगल तथा शंका आदि अनेक दोषों की संभावना रहती है।

राज्याभिषेक के समय गमनागमन का प्रायश्चित्त—

१९. जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं महाभिसेयंसि वट्टमाणंसि णिक्खमइ वा पविसइ वा, णिक्खमंतं वा, पविसंतं वा साइज्जइ।

१९. जो भिक्षु शुद्धवंशीय मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा के महान् राज्याभिषेक होने के समय निकलता है या प्रवेश करता है या ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—जिस समय राज्याभिषेक हो रहा हो उस समय उस नगरी में अनेक कार्यों के लिये राजपुरुषों का व लोगों का आना-जाना आदि बना रहता है। ऐसे समय साधु को अपने स्थान में ही रहना चाहिये, कही पर जाना-आना नहीं करना चाहिये। अथवा उस दिशा में जाना-आना नहीं करना चाहिये। जाने-आने में मंगल-अमंगल की भावना व जनाकीर्णताजन्य अनेक दोषों की सम्भावना रहती है।

राजधानी में बारंबार प्रवेश का प्रायश्चित्त—

२०. जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं इमाओ दस अभिसेयाओ रायहाणीओ उद्दिट्ठाओ गणियाओ वंजियाओ अंतो मासस्स दुक्खुत्तो वा, तिक्खुत्तो वा णिक्खमइ वा पविसइ वा, णिक्खमंतं वा पविसंतं वा साइज्जइ। तं जहा—१. चम्पा, २. महुरा, ३. वाणारसी, ४. सावत्थी, ५. कुंपिल्लं, ६. कोसंबी, ७. साकेयं, ८. मिहिला, ९. हत्थिणाउरं, १०. रायगिहं।

२०. शुद्धवंशीय मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजाओं के राज्याभिषेक की नगरियां, जो राजधानी के रूप में घोषित हैं, उनकी संख्या दस है। वे सब अपने नामों से प्रख्यात हैं, इन राजधानियों में जो भिक्षु एक महीने में दो बार या तीन बार जाना-आना करता है या जाने-आने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है) उन नगरियों के नाम इस प्रकार हैं—१. चंपा, २. मथुरा, ३. वाराणसी, ४. श्रावस्ती, ५. साकेतपुर, ६. कांपिल्य नगर ७. कौशांबी, ८. मिथिला ९. हस्तिनापुर १०. राजगृही।

विवेचन—इन दस राजधानियों में बारह चक्रवर्ती हुये हैं। शांतिनाथ, कुंथुनाथ और अरनाथ ये तीन चक्रवर्ती एक ही हस्तिनापुर नगरी में हुये हैं। इन राजधानियों में एक महीने में एक बार से अधिक जाने-आने का निषेध है। प्रायश्चित्त तो किसी विशेष कारण से दूसरी बार जाने पर नहीं भी आता है, किन्तु तीसरी बार जाने पर तो प्रायश्चित्त आता ही है।

इन बड़ी राजधानियों में एक महीने में एक बार से ज्यादा जाने-आने पर राजपुरुषों को गुप्तचर होने की शंका होना आदि अनेक दोषों की सम्भावनाएं रहती हैं। पूर्व सूत्रों में राजा के

'उसिणोदग तत्तभोइणो, धम्मठियस्स मुणिस्स हीमओ।
संसग्गि असाहु राईहि, असमाहि उ तहागयस्स वि ।।'

राजा के निवासस्थान के बाहर व आस-पास कई रक्षक राजपुरुष रहते हैं, कई प्रकार की शंकाओं की संभावना रहती है। अतः ऐसे स्थानों को जान लेने के बाद साधु को उस ओर नहीं जाना चाहिये।

यात्रा में गये हुए राजा का आहार-ग्रहण करने पर प्रायश्चित्त—

१३. जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं बहिया जत्तासंपट्ठियाणं असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

१४. जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं बहिया जत्तापडिणियत्ताणं असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

१५. जे भिक्खू खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं णइ-जत्तासंपट्ठियाणं असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

१६. जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं णइ-जत्तापडिणियत्ताणं असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

१७. जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं गिरि-जत्तासंपट्ठियाणं असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

१८ जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं गिरि-जत्तापडिणियत्ताणं असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

१३. जो भिक्षु युद्ध आदि की यात्रा के लिये जाते हुए शुद्धवंशज मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा का अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

१४. जो भिक्षु युद्ध आदि की यात्रा से पुनः लौटते हुए शुद्धवंशज मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा का अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

१५. जो भिक्षु नदी की यात्रा के लिये जाते हुए शुद्धवंशज मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा का अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

१६. जो भिक्षु नदी की यात्रा से पुनः लौटते हुए शुद्धवंशज मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा का अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

१७. जो भिक्षु पर्वत की यात्रा के लिये जाते हुए शुद्धवंशीय मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा का अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

१८. जो भिक्षु पर्वत की यात्रा से पुनः लौटते हुए शुद्धवंशीय मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा का अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

भोजन, निवासस्थान, राज्याभिषेक आदि प्रसंगो के संबंध में विवेक रखने का सूचन किया गया है तो इस सूत्र में उन बड़े राजाओं की राजधानी मे बारम्बार प्रवेश का निषेध और प्रायश्चित्त सूचित किया है ।

भाष्य में अन्य अनेक संयम सम्बन्धी दोषों की सम्भावनाएं भी कही हैं । इन राजधानियों में अनेक महोत्सव राजा के तथा नगरवासियों के होते रहते हैं । नृत्य, गीत, वादित्र वादन, स्त्री पुरुषों के अनेक मोहक रूप आदि विषयवासनावर्धक वातावरण रहता है । यह देखकर भुक्तभोगी को पूर्व-कालिक स्मृति, अभुक्त को कुतूहल आदि से संयम-अरति एवं असमाधि उत्पन्न हो सकती है तथा जनता के कोलाहल आदि से स्वाध्याय, ध्यान की भी हानि होती है । वाहनों की प्रचुरता से और जनाकीर्ण मार्ग रहने से भिक्षागमन आदि में संघट्टन परिघट्टन आदि होते हैं, इत्यादि दोषों के कारण इन दस बड़ी राजधानियों में तथा ऐसी अन्य बड़ी नगरियों में भी बारम्बार जाना-आना संयमी के लिए हितकर नहीं है ।

राजा के अधिकारी व कर्मचारी वर्ग के निमित्त बना हुआ आहार ग्रहण करने का प्रायश्चित्त—

२१. जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा साइमं वा परस्स नीहडं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ ।

तंजहा—१. खत्तियाण वा, २. राईण वा, ३ कुराईण वा, ४. रायवंसियाण वा, ५. रायपेसियाण वा ।

२२. जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा, परस्स णीहडं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ ।

तंजहा—१. णडाण वा, २. णट्टाण वा, ३. कच्छुयाण वा, ४. जल्लाण वा, ५. मल्लाण वा, ६. मुट्ठियाण वा, ७. वेलंबगाण वा, ८. खेलयाण वा, ९. कहगाण वा, १० पवगाण वा, ११. लासगाण वा ।

२३. जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा, परस्स णीहडं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ ।

तंजहा—१. आस-पोसयाण वा, २. हत्थि-पोसयाण वा, ३. महिस-पोसयाण वा, ४. वसह-पोसयाण वा, ५. सीह-पोसयाण वा, ६. वग्घ-पोसयाण वा, ७. अय-पोसयाण वा, ८. पोय-पोसयाण वा, ९. मिग-पोसयाण वा, १०. सुणय-पोसयाण वा, ११. सूयर-पोसयाण वा, १२. मेंढ-पोसयाण वा, १३. कुक्कुड-पोसयाण वा, १४. मक्कड-पोसयाण वा, १५. तित्तिर-पोसयाण वा, १६. वट्टय-पोसयाण वा, १७. लावय-पोसयाण वा, १८. चीरल्ल-पोसयाण वा, १९. हंस-पोसयाण वा, २०. मयूर-पोसयाण वा, २१. सुय-पोसयाण वा ।

२४. जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा, परस्स णीहडं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ ।

तंजहा—१. आस-दमगाण वा, २. हत्थि-दमगाण वा, आस-परियट्टाण वा, ४. हत्थि-परियट्टाण वा, ५. आस-मिठाण वा, ६. हत्थि-मिठाण वा, ७. आसरोहाण वा, ८. हत्थिरोहाण वा।

२५. जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा परस्स णीहडं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

तंजहा—१. सत्थवाहाण वा, २. संवाहयाण वा, ३. अब्भंगयाण वा, ४. उव्वट्टयाण वा, ५. मज्जावयाण वा, ६. मंडावयाण वा, ७. छत्तग्गहाण वा, ८. चामरग्गहाण वा, ९. हडप्पग्गहाण वा, १०. परियट्टग्गहाण वा, ११. दीवियग्गहाण वा, १२. असिग्गहाण वा, १३. धणुग्गहाण वा, १४. सत्तिग्गहाण वा, १५. कोंतग्गहाण वा।

२६. जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा, परस्स णीहडं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

तंजहा—१. वरिसधराण वा, २. कंचुइज्जाण वा, ३. दुवारियाण वा, ४. दंडारक्खियाण वा।

२७. जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा परस्स णीहडं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा, साइज्जइ।

तंजहा— १. खुज्जाण वा, २. चिलाइयाण वा, ३. वामणीण वा, ४. वडभीण वा, ५. बब्बरीण वा, ६. बउसीण वा, ७. जोणियाण वा, ८. पल्हवियाण वा, ९. इसीणीयाण वा, १०. थोरुगीणीण वा, ११. लासियाण वा, १२. लउसीयाण वा, १३. सिंहलीण वा, १४. दमिलीण वा, १५. आरबीण वा, १६ पुलिंदीण वा, १७. पक्कणीण वा, १८. बहलीण वा, १९. मुरंडीण वा, २०. सबरीण वा, २१. पारसीण वा।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं।

२१. जो भिक्षु शुद्धवंशीय राज्यमुद्राधारक मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा के—१. अंगरक्षक, २. आधीन राजा, ३. जागीरदार, ४. राजा के आश्रित रहने वाले वंशज, ५. और इन चारों के सेवकों के लिये निकाला हुआ अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

२२. जो भिक्षु शुद्धवंशीय राज्य मुद्राधारक मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा के— १. नाटक करने वाले, २. नृत्य करने वाले, ३. डोरी पर नृत्य करने वाले, ४. स्तुतिपाठ करने वाले, ५. मल्लयुद्ध करने वाले, ६. मुष्टियुद्ध करने वाले, ७. उछल-कूद करने वाले, ८. अनेक प्रकार के खेल करने वाले, ९. कथा करने वाले, १०. नदी आदि में तैरने वाले, ११. जय-जय ध्वनि करने वाले, इनके लिये निकाला हुआ अशन-पान-खाद्य या स्वाद्य आहार ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

२३. जो भिक्षु शुद्धवंशीय राज्यमुद्राधारक मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा के— १. अश्व, २. हस्ती, ३. महिष, ४. वृषभ, ५. सिंह, ६. व्याघ्र, ७. अजा, ८. कबूतर, ९. मृग, १०. श्वान, ११. शूकर, १२. मेंढा, १३. कुक्कुट, १४. बंदर, १५. तीतर, १६. वतख, १७. लावक,

१८. चिरल्ल, १९. हंस, २०. मयूर, २१. तोता, इन पशु-पक्षियों के पोषण करने वाले अर्थात् इनको पालने वालों या रक्षण करने वालों के लिये निकाला हुआ अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

२४. जो भिक्षु शुद्धवंशज, राज्यमुद्राधारक मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजाओं के (१-२) अश्व और हस्ती को विनीत अर्थात् शिक्षित करने वाले के लिए (३-४) अश्व और हस्ती को फिराने वालों के लिए (५-६) अश्व और हस्ती को आभूषण, वस्त्र आदि से सुसज्जित करने वालों के लिए तथा (७-८) अश्व और हस्ती पर युद्ध आदि में आरूढ होने वालों के लिए अर्थात् सवारी करने वालों के लिए निकाला हुआ अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

२५. जो भिक्षु शुद्धवंशज राज्यमुद्राधारक मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजाओं के— १. संदेश देने वाले, २. मर्दन करने वाले, ३. मालिश करने वाले, ४. उबटन करने वाले, ५. स्नान कराने वाले, ६. मुकुट आदि आभूषण पहिनाने वाले, ७. छत्र धारण कराने वाले, ८. चामर धारण कराने वाले, ९. आभूषणों की पेटी रखने वाले, १०. बदलने के वस्त्र रखने वाले, ११. दीपक रखने वाले, १२. तलवार धारण करने वाले, १३. त्रिशूल धारण करने वाले, १४. भाला धारण करने वाले, इनके लिये निकाला हुआ अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य आहार ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

२६. जो भिक्षु शुद्धवंशज राज्यमुद्राधारक मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजाओं के— १. अंतःपुर रक्षक-कृत्रिमनपुंसक, २. अंतःपुर में रहने वाले जन्मनपुंसक, ३. अंतःपुर के द्वारपाल, ४. दंड-रक्षक=अंतःपुर के दंडधारी-प्रहरी, इनके लिये निकाला हुआ अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

२७. जो भिक्षु शुद्धवंशीय राज्यमुद्राधारक मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा की— १. कुब्जा दासी (कुबड़े शरीर वाली), २. किरात देशोत्पन्न दासी, ३. वामन (छोटे क़द वाली) दासी, ४. वक्र शरीरवाली दासी, ५. वर्बर देशोत्पन्न दासी, ६. बकुश देशोत्पन्न दासी, ७. यवन देशोत्पन्न दासी, ८. पल्हव देशोत्पन्न दासी, ९. इसीनिका देशोत्पन्न दासी, १०. थोरूक देशोत्पन्न दासी, ११. लाट देशोत्पन्न दासी, १२. लकुश देशोत्पन्न दासी, १३. सिंहल देशोत्पन्न दासी, १४. द्रविड़ देशोत्पन्न दासी, १५. अरब देशोत्पन्न दासी, १६. पुलिंद देशोत्पन्न दासी १७. पक्कण देशोत्पन्न दासी, १८. बहल देशोत्पन्न दासी, १९. मुरंड देशोत्पन्न दासी, २०. शबर देशोत्पन्न दासी, २१. पारस देशोत्पन्न दासी, इनके लिए निकाला हुआ अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

उपर्युक्त सूत्र कथित दोष-स्थानों का सेवन करने वाले को गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन—[२१-२७] इन सात सूत्रों में वर्णित व्यक्तियों के लिये निकाला गया आहार ग्रहण करने में राजपिंड दोष और उससे सम्बन्धित अन्य अनेक दोष, अंतराय दोष या पुनः आरम्भ

करने का दोष इत्यादि दोषों की सम्भावना रहती है। राजा की तरफ से इन व्यक्तियों को दिये जाने के बाद और उनके स्वीकार कर लेने पर वे व्यक्ति यदि अजुगुप्सित-अगर्हित कुल के हों तो एषणा समिति पूर्वक उनसे आहार ग्रहण करने में कोई प्रायश्चित्त नहीं आता है।

राजा के यहां इनके लिये बनाया गया हो या इनके लिये विभक्त करके रखा गया हो तब तक अकल्पनीय होता है। उसी आहार को ग्रहण करने का उपर्युक्त सूत्रों में प्रायश्चित्त कहा गया है।

सूत्र २१—"खत्तियाणं आदि"—क्षतात् त्रायंते इति क्षत्रिया आरक्षका इत्यर्थः। अधिवो—राया। कुत्सितो राया कुराया अहवा पच्चंतनिवो कुराया। "राजवंशे स्थिताः राज्ञो मातुल-भागिनेयादयः रायवंसट्ठिया।" जे एतेसि चेव प्रेष्या—प्रेसिता—दंडपासिकप्रभृतयः।

—नि. चूर्णि व आचा. श्रु. २, अ. १, उ. ३

सूत्र २२—इस सूत्र में "वेलंबगाण" से उछल-कूद खेल आदि करने वाले ऐसा अर्थ हो सकता है तथापि लिपिदोष के कारण यथार्थ निर्णय न होने से और अनेक प्रतियों में मिलने से "खेलयाण वा" =अनेक प्रकार के खेल करने वाले" ऐसा अलग पाठ व उसका अर्थ रखा है।

इस सूत्र में "छत्ताणुयाण वा" शब्द भी ज्यादा मिलता है जो लिपि-प्रमाद से आया हुआ प्रतीत होता है। चूर्णिकार के सामने भी यह पाठ नही रहा होगा, ऐसा लगता है तथा सूत्र २५ में इसका अलग कथन है। अतः यहां आवश्यक न होने से नही रखा गया है।

सूत्र २३—"पोषक"—आहार, औषध, पानी संबंधी ध्यान रखने वाले, शारीरिक सेवा, स्नान, मर्दन आदि करने वाले, निवासस्थान की शुद्धि का ध्यान रखने वाले अर्थात् पूर्ण संरक्षण करने वाले 'पोषक' कहलाते हैं।

अनेक प्रतियों में 'मक्कडपोसयाण' नही है। किन्तु आचारांग श्रु. २, अ. १० में कुक्कुड व तीतर शब्द के बीच में मक्कड शब्द कुछ प्रतियों में है अतः यहां भी सूत्र में "मक्कड" शब्द रखा है।

"बृहत्तरा रक्तपादा वट्टा, अल्पतरा लावगा" अल्प लाल पांव वाले "लावक" होते हैं। अधिक लाल पांव वाले "बत्तक" कहलाते है।

सूत्र २४—इस सूत्र के स्थान पर कई प्रतियों में तीन और कहीं चार सूत्र भी मिलते हैं।

"चूर्णि और भाष्य में" इमं सुत्तवक्खाणं—

"आसाण य हत्थीण य, दमगा जे पढमताए विणियंति।
परियट्ट-मेंठ पच्छा, आरोहा जुद्धकालम्मि ॥२६०१॥"

"जे पढमं विणयं गाहेंति ते दमगा, जे जणा जोगासणेहिं वावरं या वहेंति ते मेंठा, जुद्ध काले जे आरुहंति ते आरोहा ॥२६०१॥"

पूर्व सूत्र में अश्व व हस्ती आदि २१ पशु-पक्षियों के पोषण करने वालों का कथन है। इस सूत्र में अश्व व हस्ती इन दो को शिक्षित करने वाले, घुमाने-फिराने वाले, आसन वस्त्र आभूषण से सुसज्जित करने वाले तथा युद्ध में इनकी सवारी करने वालों का कथन है, ऐसा गाथा से ज्ञात होता है। चूर्णि में "परियट्ट" शब्द की व्याख्या नही है। इसी कारण से पृथक्-पृथक सूत्र करने पर तीन

सूत्र बन गये, चार नहीं बने । चूर्णि में "इमं सुत्तक्खाणं" पद से गाथा दी गई है । अतः चूर्णि काल तक एक सूत्र रहा होगा । इत्यादि विचारणा से यहाँ एक ही सूत्र रखा गया है ।

सूत्र २५—"राईसत्यमादियाणि रायसत्थाणि आहयंति कथयंति ते" सत्यवाहा, "राजा सार्थानि सचिवादिरूपाणि (तान्) आहयंति आमंत्रयंति राजसंदेशं वा कथयंति ये ते तथा ।"

शेष शब्दों के मूल शब्द इस प्रकार हैं—

१. संवाहक, २. अभ्यंगक, ३. उद्वर्तक, ४. मज्जापक, ५. मंडापक ।

इसलिये इनका मूल पाठ इस प्रकार से है—

१. संवाहयाणं, २. अब्भंगयाणं, ३. उव्वट्टयाणं, ४. मज्जावयाणं, ५. मंडावयाणं ।

प्रथम तीन पदों में 'मर्दन आदि करने वाले' ऐसा अर्थ होता है, अंतिम दो पदों में 'स्नान कराने वाले, आभूषण आदि पहनाने वाले' ऐसा अर्थ होता है । अतः मूल शब्दों की रचना के लिपिदोषों का संशोधन किया है । 'छत्तग्गहाण' आदि आगे के शब्द तो शुद्ध ही मिलते हैं ।

सूत्र २६—इस सूत्र में अंतःपुर में काम करने वाले चार व्यक्तियों का कथन है—

१. कृत-नपुंसक=अंतःपुर के अंदर रहने वाले रक्षक ।

२. दंडरक्षक=प्रहरी, बाहर चोतरफ से रक्षा करने वाला दंडधारी पुरुष ।

३. द्वारपाल=द्वार के ऊपर खड़ा रहने वाला ।

४. कंचुकी=जन्म, नपुंसक, रानियों के आभ्यंतर, बाह्य कार्य करते हुए अंतःपुर में ही रहने वाले ।

सूत्र २७—इस सूत्र में दासियों के नाम के पाठ को कई प्रतियों में 'जाव' शब्द से सूचित करके दो नाम ही दिये है तथा कई प्रतियों में संख्या १७, १८ व २१ है । २१ की संख्या वाला पाठ उपयुक्त है, क्योंकि '१८ देश की दासियां' सूत्रों में प्रसिद्ध हैं और तीन शरीर की आकृति से—१. कुब्ज, २. वक्र (झुकी हुई), ३. वामन दासियां कही हैं ।

नवम उद्देशक का सारांश

१-५—राजपिंड ग्रहण करे, खावे । अंतःपुर में प्रवेश करे, अंतःपुर में से आहार मंगवावे ।

६—द्वारपाल-पशु आदि के निमित्त का राजपिंड ग्रहण करे ।

७—भिक्षार्थ जाते ४-५ दिन हो जाएं फिर भी राजा के ६ स्थानों की जानकारी न करे ।

८-९—राजा या रानी को देखने के संकल्प से एक कदम भी चले ।

१०—शिकार आदि के लिये गये राजा का आहार ग्रहण करे ।

११—राजा भोजन करने गये हों, उस स्थल में उस समय भिक्षार्थ जावे ।

१२—राजा जहां कहीं ठहरे हों, वहां [illegible]

१३-१८—युद्ध, यात्रा या पर्वत, नदी [illegible] ते-आते [illegible] ग्रहण करे ।

१९—राज्याभिषेक की हलचल [illegible]

२०—दस बड़ी राजधानियों में [illegible]

२१-२५—राजा के अधिकारी व कर्मचारी आदि के निमित्त निकाला आहार ग्रहण करे ।

इत्यादि प्रवृत्तियां करने पर गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है ।

उपसंहार—इस नवम उद्देशक में राजपिंड व राजा से सम्बन्धित अनेक प्रसगों का ही प्रायश्चित्त कथन है ।

दशवै. अ. ३ में राजपिंड ग्रहण को अनाचार कहा गया है तथा ठाणांग के पाचवें ठाणे में ५ कारण से राजा के अंतःपुर में प्रवेश करने का आपवादिक कथन है। इस तरह इस उद्देशक के प्रथम तीन सूत्रों का विषय अन्य आगमों में आया हुआ है । शेप सूत्र ४ से २७ तक के सूत्रों में अन्य आगमों में अनिर्दिष्ट विपय का कथन तथा प्रायश्चित्त है ।

इस प्रकार इस उद्देशक में अन्य आगमों में अनुक्त विपय ही अधिक (२४ सूत्रों में) है और विषय भी एक राजा सम्बन्धी है। यही इस उद्देशक की विशेपता है ।

॥ नवम उद्देशक समाप्त ॥

दसवां उद्देशक

आचार्यादि के अविनय करने का प्रायश्चित्त—

१. जे भिक्खू भदंतं आगाढं वयइ, वयंतं वा साइज्जइ।

२. जे भिक्खू भदंतं फरुसं वयइ, वयंतं वा साइज्जइ।

३. जे भिक्खू भदंतं आगाढं फरुसं वयइ, वयंतं वा साइज्जइ।

४. जे भिक्खू भदंतं अण्णयरीए अच्चासायणाए अच्चसाएइ, अच्चासाएंतं वा साइज्जइ।

१. जो भिक्षु आचार्य आदि को रोषयुक्त वचन बोलता है या बोलने वाले का अनुमोदन करता है।

२. जो भिक्षु आचार्य आदि को स्नेहरहित रूक्ष वचन बोलता है या बोलने वाले का अनुमोदन करता है।

३. जो भिक्षु आचार्य आदि को रोषयुक्त रूक्ष वचन बोलता है या बोलने वाले का अनुमोदन करता है।

४. जो भिक्षु आचार्य आदि की तेतीस आशातनाओं में से किसी भी प्रकार की आशातना करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

(उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—जाति आदि निम्न सतरह विषयों को लेकर आचार्य आदि को आगाढ और फरुस वचन कहे जा सकते हैं, यथा—

१ जाति २ कुल ३ रूय ४ भासा ५ धण ६ बल ७ परियाय ८ जस ९ तवे १० लाभे।
११ सत्त १२ वय १३ बुद्धि १४ धारण, १५ उग्गह १६ सीले १७ समायारी ।। २६०९ ।।

आचार्य आदि को ऐसा स्पष्ट कहना कि "तुम तो हीन जाति के हो" अथवा व्यंग्ययुक्त वाक्य से कहना कि "आप बड़े ही जातिसम्पन्न हैं, मैं तो हीन जाति वाला हूँ।"

इसी तरह कुल, रूप आदि से भी समझ लेना चाहिये।

आगाढं—शरीरस्य उष्मा येन उक्तेन जायते तमागाढं—जिस वचन के बोलने से भीतर का कषाय प्रकट होता है।

फरुस—णेहरहियं णिप्पिवासं फरुस भण्णति—स्नेहरहित अप्रिय वचन, अर्थात् रोषयुक्त न होते हुए भी जो वचन सुनने वाले को अप्रिय लगते हैं, हृदय में चुभने वाले होते हैं।

आगाढफरुस—गाढफरुसं उभयं, ततियसुत्ते संजोगो दोण्ह वि—जो वचन रोषयुक्त भी हो तथा अप्रिय भी हो।

भदंत—इन तीन सूत्रों में "आयरिय" शब्द का प्रयोग न करके "भदंत" शब्द का प्रयोग किया गया है। उससे आचार्य, उपाध्याय आदि पदवीधर तथा गुरु या रत्नाधिक सबका ग्रहण किया गया है। यदि यहां आचार्य के लिए ही यह प्रायश्चित्त-विधान होता तो "आयरिय" शब्द का ही प्रयोग किया जाता।

आसायणा—भाष्य में दशाश्रुतस्कन्धवर्णित ३३ आशातनाओं का निर्देश किया गया है और द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव ये चार भेद करके आशातनाओं का विस्तृत विवेचन किया है। वहां आशातना के अनेक अपवादों का भी उल्लेख किया है, यथा—

१. गुरु बीमार हो तो उनके लिए जो अपथ्य आहार हो वह उन्हें न दिखाना किन्तु स्वयं खा लेना या बिना पूछे अन्य को दे देना।
२. मार्ग में कांटे आदि हटाने के लिए आगे चलना।
३. विषम स्थान में या रुग्ण अवस्था में सहारे के लिये अत्यन्त निकट चलना।
४. शारीरिक परिचर्या करने के लिए निकट बैठना एवं स्पर्श करना।
५. अपरिणत साधु न सुन सके, इसके लिये छेदसूत्र की वाचना के समय निकट बैठना।
६. गृहस्थ का घर निकट हो तो गुरु के आवाज देने पर भी न बोलना अथवा संघर्ष की सम्भावना हो तो भी न बोलना।
७. साधुओं से मार्ग अवरुद्ध हो तो स्थान पर से ही उत्तर दे देना।
८. स्वयं बीमार हो या अन्य बीमार की सेवा में संलग्न हो तो बुलाने पर भी न बोलना।
९. मलविसर्जन करते हुए न बोलना।
१०. गुरु से कभी उत्सूत्र प्ररूपणा हो जाये तो विवेकपूर्वक या एकान्त में कह देना।
११. गुरु आदि के संयम में शिथिल हो जाने पर उन्हें संयम में स्थिर करने के लिये कर्कश भाषा का प्रयोग करना।

उक्त आशातना की प्रवृत्ति करने पर भी सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नहीं आता है। क्योंकि इनमें आशातना के भाव न होकर उचित विवेकदृष्टि होती है।

अनन्तकायसंयुक्त आहार करने का प्रायश्चित्त—

५. जे भिक्खू अणंतकाय-संजुत्तं आहारं आहारेइ, आहारेंतं वा साइज्जइ।

५. जो भिक्षु अनंतकायसंयुक्त (मिश्रित) आहार करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

(उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—सूत्र में अनंतकाय से मिश्रित आहार का प्रायश्चित्त कहा है, शुद्ध अनन्तकाय का नहीं। क्योंकि भिक्षु जान-बूझकर सचित्त अनन्तकाय तो नहीं खाता है किन्तु किसी खाद्य पदार्थ में सचित्त कन्दमूल के टुकड़े मिश्रित हों और उनकी जानकारी न हो, ऐसी स्थिति में यदि खाने में आ जाए तो वह अनन्तकायसंयुक्त आहार कहा जाता है। अथवा किसी अचित्त खाद्य पदार्थ में नीलन-फूलन (काई) आ जाये और ग्रहण करते समय व खाते समय तक भी उसकी जानकारी न हो पाए, तब भी अनन्तकायसंयुक्त आहार करने का प्रसंग बन सकता है।

अनन्तकाय—जिस वनस्पति में अनन्त जीव हों वह अनन्तकायिक वनस्पति कहलाती है। कन्दमूल और फूलन तो अनन्तकाय के रूप है ही किन्तु पन्नवणा आदि आगमों में इसके अतिरिक्त भी अनेक प्रकार के अनन्तकाय कहे है। वनस्पति के स्कन्ध से लेकर बीज तक के आठ विभाग हैं, वे भी अनन्तकाय के लक्षणों से युक्त हों तो अनन्तकाय समझे जा सकते हैं। आगमों में अनन्तकाय के कुछ लक्षण इस प्रकार कहे गये हैं—

"जस्स मूलस्स भग्गस्स, समो भंगो पदीसइ।
अणंतजीवे उ से मूले, जे यावण्णे तहाविहा॥ ९॥

जस्स मूलस्स कट्ठाओ छल्ली बहुलयरी भवे।
अणंतजीवा उ सा छल्ली जे यावण्णे तहाविहा॥२०॥

चक्कागं भज्जमाणस्स, गंठी चुण्णं घणो भवे।
पुढवी सरिसभेएणं, अणंतजीवं वियाणाहि॥३८॥

गूढछिरागं पत्तं, सच्छीरं जं च निच्छीरं।
जं पिय पणट्ठ-संधिं, अणंतजीवं वियाणाहि॥३९॥

जे केइ णालियाबद्धा पुप्फा, संखिज्जजीविया भणिया।
णिहुया अणंतजीवा, जे यावण्णे तहाविहा॥४१॥

सव्वोवि किसलओ खलु, उग्गममाणो अणंतओ भणिओ।
सो चेव विवड्ढंतो, होइ परित्तो अणंतो वा॥५२॥

—पण्णवणासूत्र, पद १

सारांश—१. जिस वनस्पति के टुकड़े में से दूध निकले।

२. हाथ से टुकड़े करने पर जिस वनस्पति के दो समतल विभाग हों।

३. जिस वनस्पति के विभाग को चक्राकार काटने पर कटे हुए भाग मे पृथ्वीरज के समान कण-कण दिखाई दे।

४. जिस वनस्पति के मूल, कंद, खंध और शाखा की छाल अधिक मोटी हो।

५. जिस पत्ते में शिराएं (रेखे) न दिखें। संधियां न दिखें।

६. जो फूल णालबद्ध न हो।

७. उगते हुए अंकुर हों।

इस प्रकार शाक, पत्ते आदि वनस्पतियां भी अनंतकाय हो सकती हैं तथा पणग, सेवाल, आलू, लहसुन, कांदा, गाजर, मूला, अदरक, हल्दी, रतालु, शकरकद, अरवी तथा अनेक जलज वनस्पतियां तो अनन्तकाय ही हैं। अचित्त आहार में इनके सचित्त खंड या अंश हों तो वह परठने योग्य होता है।

आधाकर्म आहारादि के उपयोग में लेने का प्रायश्चित्त—

६. जे भिक्खू आहाकम्मं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ।

६. जो भिक्षु आधाकर्मी आहार, उपधि व शय्या का उपभोग करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—"आहाकम्मं ग्रहणादात्मनि कर्म आहितं, आत्मा वा कर्मणि आहितः।" (इति आहाकम्मं)

२. "आहाकम्मग्गहणातो जम्हा विसुद्धसंजमठाणेहितो अप्पाणं अविसुद्धठाणेसु अहो अहो करेति तम्हा भाव आहोकम्मं।"

३. "भाव-आते णाण-दंसण-चरणा तं हणंतो भावाताहम्मं।"

४. "आहाकम्मपरिणतो परकम्मं अत्तकम्मीकरेति त्ति अत्तकम्मं।"

व्याख्याकार ने आधाकर्म के चार पर्याय करके अर्थ किये हैं—

१. आधाकर्म आहार आदि ग्रहण करने से आत्मा पर कर्मों का आवरण आता है। अथवा आत्मा कर्मों से आवृत होती है।

२. आधाकर्म आहारादि ग्रहण करने से आत्मा विशुद्ध संयमस्थानों से गिरकर अविशुद्ध संयमस्थानों में आ जाती है। अथवा आत्मा का पुनः पुनः अधःपतन होता रहता है।

३. आधाकर्म आहारादि ग्रहण करने से आत्मा के भाव-गुण, ज्ञान, दर्शन, चारित्र का हनन होता है।

४. आधाकर्म आहारादि ग्रहण करने के परिणामों से आत्मा गृहस्थ के कार्यों से अपने कर्मों का बंध करती है।

आधाकर्म के प्रकार—

"आहाकम्मे तिविहे, आहारे उवधि वसहिमादीसु।
आहाराहाकम्मं, चउव्विधं होइ असणादी ॥२६६३॥

उवहि-आहाकम्मं, वत्थे पाए य होइ णायव्वं।
वत्थे पंचविधं पुणं, तिविहं पुण होइ पायम्मि ॥२६६४॥

वसही-आहाकम्मं, मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य।
एक्केक्कं सत्तविहं, णायव्वं आणुपुव्वीए ॥२६६५॥

१. आहार-आधाकर्म—चार प्रकार का है—१. अशन, २. पान, ३. खाद्य, ४. स्वाद्य।

२. उपधि-आधाकर्म—दो प्रकार का है—वस्त्र और पात्र।

वस्त्र पाँच प्रकार के हैं और पात्र तीन प्रकार के हैं। उपलक्षण से अन्य भी औधिक और औपग्रहिक उपधि समझ लेनी चाहिये।

३. वसति-आधाकर्म—शय्या के मूल विभाग व उत्तर विभाग की अपेक्षा सात-सात प्रकार होते हैं।

आधाकर्म की कल्प्याकल्प्यता—

प्रथम व अन्तिम तीर्थंकर के शासन में एक या अनेक साधु के उद्देश्य से बना हुआ आधाकर्म आहार किसी भी साधु या साध्वी को नहीं कल्पता है।

मध्यवर्ती तीर्थंकरों के शासन में—आधाकर्म में जिन साधु या साध्वी का उद्देश्य नहीं है, उन्हें ग्रहण करना कल्पता है। जिस एक साधु का या संघ का उद्देश्य हो तो उस साधु को या संघ को ग्रहण करना नहीं कल्पता है।

आधाकर्म और औद्देशिक—आधाकर्म के दो विभाग हैं—

१. जिस आधाकर्म आहारादि में एक या अनेक साधुओं का उद्देश्य है, उनके लिये वह आहारादि आधाकर्म है।

२. जिनका उद्देश्य नहीं है, उनके लिये वही आहारादि औद्देशिक हैं।

मध्यम तीर्थंकरों के शासन में "आधाकर्म" अग्राह्य होता है। प्रथम व अन्तिम तीर्थंकर के शासन में "आधाकर्म और औद्देशिक" दोनों अग्राह्य होते है।

इस अन्तर के कारण को समझाने के लिये व्याख्याकार ने सरलता और वक्रता का कारण कहा है और उन्हें गृहस्थ और साधु दोनों पर उदाहरण सहित घटित किया है।

निमित्तकथन-प्रायश्चित्त—

७. जे भिक्खू पडुप्पण्णं निमित्तं वागरेइ, वागरेंतं वा साइज्जइ।

८. जे भिक्खू अणागयं निमित्तं वागरेइ, वागरेंतं वा साइज्जइ।

७. जो भिक्षु वर्तमान संबंधी निमित्त का कथन करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

८. जो भिक्षु भविष्य सम्बन्धी निमित्त का कथन करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

(उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—लाभ, अलाभ, सुख, दुःख और मरण ये निमित्त के छह प्रकार हैं। इन छह के भूत भविष्य और वर्तमान ये तीन-तीन भेद हैं।

निमित्त बताने के अनेक हेतु हैं, यथा—

१. आहारादि की उपलब्धि के लिये, २. यशःकीति या प्रतिष्ठा के लिये, ३. किसी के लिहाज से, ४. किसी के हित के लिए या अनुकम्पा के लिये इत्यादि।

निमित्त बताने के अनेक तरीके हैं, यथा—

१. हस्तरेखा से, पादरेखा से, मस्तकरेखा से, २. शरीर के अन्य लक्षणों से, ३. तिथि, वार या राशि से, ४. जन्मतिथि या जन्मकुण्डली से, ५. प्रश्न करने से इत्यादि।

वर्तमान निमित्त के उदाहरण—

१. मैंने अमुक व्यक्ति को अमुक के पास भेजा है, वहाँ उसे धन की राशि मिल गई या नहीं? वह आ रहा है या नहीं?

२. कोई विदेश गया है, वह वहाँ जीवित है या मर गया?

३. कोई परीक्षा करने की दृष्टि से पूछे कि "मैं अभी सुखी हूं या दुःखी ?"

इत्यादि प्रश्नों का उत्तर देना वर्तमान निमित्त कथन है।

इसी प्रकार भविष्यकाल के हानि, लाभ, सुख, दुःख, जन्म, मरण सम्बन्धी निमित्त के प्रश्न व उनके उत्तर भी समझ लेने चाहिये।

प्रस्तुत प्रकरण में वर्तमान और भविष्य के निमित्त-कथन का गुरुचौमासी प्रायश्चित्त कहा गया है। भूतकाल के निमित्तकथन का लघुचौमासी प्रायश्चित्त तेरहवें उद्देशक में है।

निमित्तकथन का निषेध आगमों में भिन्न-भिन्न प्रकार से हुआ है।

कुछ उद्धरण इस प्रकार हैं—

१. "जे लक्खणं च सुविणं च, अंगविज्जं च जे पउंजंति।
ण हु ते समणा वुच्चंति, एवं आयरिएहिं अक्खायं॥
—उत्तरा. अ. ८, गा. ३

२. जे लक्खणं सुविणं पउंजमाणे, णिमित्त कोउहल संपगाढे।
कुहेड विज्जासवदारजीवी, न गच्छइ सरणं तम्मि काले॥
—उत्तरा. अ. २०, गा. ४५

३. सयं गेहं परिच्चज्ज, परगेहंसि वावरे।
निमित्तेण य ववहरइ, पावसमणे त्ति वुच्चइ।
—उत्तरा. अ. १७, गा. १८

४. छिन्नं सरं भोममन्तलिक्खं, सुविणं लक्खण-दण्ड-वत्थु-विज्जं।
अंग-वियारं सरस्स विजयं, जे विज्जाहिं न जीवई स भिक्खू॥
—उत्तरा. अ. १५, गा. ७

५. नक्खत्तं सुमिणं जोगं, निमित्तं मंत-भेसज्जं।
गिहिणो तं न आइक्खे, भूयाहिगरणं पयं॥
—दशवै. अ. ८, गा. ५०

१. जो साधक लक्षणशास्त्र, स्वप्नशास्त्र एवं अंगविद्या का प्रयोग करते हैं उन्हें सच्चे अर्थों में श्रमण नहीं कहा जाता, ऐसा तीर्थंकरों ने कहा है।

२. जो लक्षणशास्त्र और स्वप्नशास्त्र का प्रयोग करता है, जो निमित्तशास्त्र और कौतुक-कार्य में लगा रहता है, मिथ्या आश्चर्य उत्पन्न करने वाली आस्रवयुक्त विद्याओं से आजीविका करता है, वह मरण के समय किसी की शरण नहीं पा सकता।

३. जो अपना घर छोड़कर दूसरों के घर में जाकर उनका कार्य करता है और निमित्तशास्त्र से शुभाशुभ बताकर जीवन-व्यवहार चलाता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

४. जो छेदन, स्वर (उच्चारण), भौम, अंतरिक्ष, स्वप्न, लक्षण, दंड, वास्तुविद्या, अंगस्फुरण और स्वरविज्ञान आदि विद्याओं के द्वारा आजीविका नहीं करता है, वह भिक्षु है।

५. नक्षत्र, स्वप्न, वशीकरण योग, निमित्त, मन्त्र और भेषज—ये जीवों की हिंसा के स्थान हैं, इसलिए मुनि गृहस्थों को इनके फलाफल न बताए।

निमित्तकथन से जिनाज्ञा का उल्लंघन होता है।

साधक संयमसाधना से चलित हो जाता है।

सावद्य प्रवृत्तियों का निमित्त बनता है।

निमित्तकथन से ही अनेक अनर्थ होने की संभावना रहती है।

सूत्रकृतांगसूत्र अ. १२, गा. १० में बताया है कि "कई निमित्त कई बार सत्य होते हैं तो कई बार असत्य भी हो जाते हैं।" जिससे साधु का यश और द्वितीय महाव्रत कलंकित होता है।

शिष्य-अपहरण का प्रायश्चित्त–

९. जे भिक्खू सेहं अवहरइ, अवहरंतं वा साइज्जइ।

१०. जे भिक्खू सेहं विप्परिणामेइ, विप्परिणामेंतं वा साइज्जइ।

९. जो भिक्षु (अन्य के) शिष्य का अपहरण करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

१०. जो भिक्षु (अन्य के) शिष्य के भावों को परिवर्तित करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—शिष्य दो प्रकार के होते हैं—१. दीक्षित (साधु) और २. दीक्षार्थी (वैरागी)। आगे के सूत्रों में दीक्षार्थी सम्बन्धी कथन है अतः यहाँ दीक्षित साधु ही समझना चाहिये।

अपहरण—अन्य के शिष्य को अनुकूल बनाने के लिए अर्थात् आकर्षित करने के लिये आहार आदि देना, शिक्षा या ज्ञान देना और उसे लेकर अन्यत्र चले जाना, भेज देना या छिपा देना।

विप्परिणमन—शिष्य के या गुरु के अवगुण बताकर निन्दा करना व गुरु के गुण बताकर प्रशंसा करना। अन्य के पास रहने की हानियाँ बताकर अपने पास रहने के लाभ बताकर उसके भावों का परिवर्तन कर देना।

विपरिणमन और अपहरण में अंतर—१. अपहरण—आकर्षित करके ले जाना।

२. विपरिणमन—गुरु के प्रति अश्रद्धा पैदा करके विचारों में परिवर्तन कर देना, जिससे वह स्वयं गुरु को छोड़ दे।

भाष्यकार ने तेरह द्वारों से विपरिणमन का विस्तार किया है तथा शिष्य के पूछने पर या बिना पूछे काया से, वचन से और मन से जिस-जिस तरह निन्दा, गर्हा की जाती है, उसका विस्तृत वर्णन किया है।

दिशा-अपहरण का प्रायश्चित्त–

११. जे भिक्खू दिसं अवहरइ, अवहरंतं वा साइज्जइ।

१२. जे भिक्खू दिसं विप्परिणामेइ, विप्परिणामेंतं वा साइज्जइ।

११. जो भिक्षु नवदीक्षित की दिशा का अपहार करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

१२. जो भिक्षु नवदीक्षित की दिशा को विपरिणामित करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—"दिशा—इति व्यपदेशः, प्रव्रजनकाले उपस्थापनकाले वा, यां आचार्य उपाध्यायो वा व्यपदिश्यते सा तस्य दिशा इत्यर्थः। तस्यापहारी—तं परित्यज्य अन्यं आचार्य-उपाध्यायं वा प्रतिपद्यते इत्यर्थः। संजतीए पवत्तिणी।" —चूर्णि

भावार्थ—प्रव्रज्या या उपस्थापना (बड़ी दीक्षा) के समय नवदीक्षित को जिस आचार्य, उपाध्याय के नेतृत्व का निर्देश किया जाता है वह उसकी "दिशा" कहलाती है। उन आचार्य, उपाध्याय के निर्देश को छुड़ाकर अन्य आचार्य, उपाध्याय का कथन करवाना यह उस शिष्य की दिशा का अपहरण करना कहलाता है।

इसी प्रकार साध्वी के लिये भी जिस प्रवर्तिनी का निर्देश करना हो, उसे दूसरी प्रवर्तिनी का निर्देश कर देना उसकी दिशा का अपहरण करना कहलाता है।

अपहरण में स्वयं अन्य आचार्य, उपाध्याय का निर्देश कर दिया जाता है और विपरिणमन में नवदीक्षित के विचारों में परिवर्तन कराया जाता है।

सूत्र ९-१० में पूर्वदीक्षित शिष्य के अपहरण या भावपरिवर्तन का प्रायश्चित्त है और सूत्र ११-१२ में दीक्षार्थी के अपहरण या भावपरिवर्तन का प्रायश्चित्त है।

अपहरण और विपरिणमन ये दोनों भिन्न-भिन्न क्रियायें हैं, जो व्यक्ति से संबंध रखती हैं। अतः "सेहं" का अर्थ "दीक्षित शिष्य" समझा जाता है, वैसे ही "दिस" दिशा जिसकी हो वह दिशावान् अर्थात् दीक्षार्थी। अतः "दिस" से दीक्षार्थी का अपहरण और विपरिणमन समझ लेना चाहिये।

अज्ञात भिक्षु को आश्रय देने का प्रायश्चित्त—

१३. जे भिक्खू बहियावासियं आएसं परं ति-रायाओ अविफालेत्ता संवसावेइ, संवसावेंतं वा साइज्जइ।

१३. जो भिक्षु अन्य गच्छ के आये हुए (एकाकी) साधु को पूछताछ किये बिना तीन दिन से अधिक साथ में रखता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—यदि आने वाला साधु परिचित है तो आने का कारण पूछना चाहिए। यदि अपरिचित है तो वह कहां से आया है? कहां जाना चाहता है? इत्यादि प्रश्न पूछकर पूरी जानकारी करके यथायोग्य करना चाहिये। क्योंकि अपरिचित व्यक्ति चोर, ठग, द्वेषी, राजा का अपराधी, मैथुन-सेवी, छिद्रान्वेषी, हत्यारा या उत्सूत्रप्ररूपक आदि भी हो सकता है।

परिचित व्यक्ति से भी पूछताछ करना व्यवहार की अपेक्षा से आवश्यक है।

जहाँ तक सम्भव हो उसी दिन जानकारी कर लेनी चाहिए। बीमारी आदि कारणों से ऐसा

करना सम्भव न हो तो भी तीसरे दिन का उल्लंघन तो नहीं करना चाहिये, अन्यथा प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

गच्छनायक का या वहां जो प्रमुख साधु हो उसी का यह कर्त्तव्य है और वही प्रायश्चित्त का पात्र है।

आने वाला साधु ख्याति सुनकर आलोचना—(शुद्धि) के लिये, ज्ञानप्राप्ति के लिये, संघ के कार्य के लिए या उपसम्पदा के लिये भी आ सकता है। पूछताछ न करने से उसकी श्रद्धा में परिवर्तन होना, अपयश होना आदि सम्भव होता है। अतः प्रमुख साधु को इस कर्त्तव्य का विवेकपूर्वक पालन करना चाहिये।

कलह करके आये हुए भिक्षु के साथ आहार करने का प्रायश्चित्त—

१४. जे भिक्खू साहिगरणं, अविओसविय-पाहुडं, अकड-पायच्छित्तं, परं ति—रायाओ विप्फालिय अविप्फालिय संभुंजइ, संभुंजंतं वा साइज्जइ।

१४. जिसने क्लेश करके उसे उपशान्त नहीं किया है, उसका प्रायश्चित्त नहीं किया है, उससे पूछताछ किये बिना या पूछताछ करके भी जो भिक्षु उसके साथ तीन दिन से अधिक आहार-सम्भोग रखता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—बृहत्कल्पसूत्र उद्देशक ४ में बताया गया है कि किसी साधु का किसी साधु के साथ क्लेश हो गया हो तो उसे उपशान्त किये बिना या आलोचना प्रायश्चित्त किये बिना गोचरी आदि किसी भी कार्य के लिये बाहर जाना नहीं कल्पता है।

इस प्रायश्चित्तसूत्र से यह फलित होता है कि क्लेशयुक्त भिक्षु यदि पूछताछ आदि कर लेने के बाद भी उपशान्त नहीं होता है, प्रायश्चित्त ग्रहण नहीं करता है तो तीन दिन के बाद उसके साथ आहार आदि करने का व्यवहार नहीं रखा जा सकता।

तीन दिन के बाद जो उसके साथ आहार का आदान-प्रदान करते हैं वे प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

यहां व्याख्याकार ने क्लेश उत्पत्ति के अनेक कारण कहे हैं और अनुपशान्त भिक्षु को उपशांत करने के अनेक उपाय भी कहे हैं। इन उपायों को न करके उनकी उपेक्षा करने से होने वाली अनेक हानियों को एक रोचक दृष्टान्त से समझाया गया है।

विपरीत प्रायश्चित्त कहने एवं देने का प्रायश्चित्त—

१५. जे भिक्खू उग्घाइयं अणुग्घाइयं वयइ, वयंतं वा साइज्जइ।

१६. जे भिक्खू अणुग्घाइयं उग्घाइयं वयइ, वयंतं वा साइज्जइ।

१७. जे भिक्खू उग्घाइयं अणुग्घाइयं देइ, देंतं वा साइज्जइ।

१८. जे भिक्खू अणुग्घाइयं उग्घाइयं देइ, देंतं वा साइज्जइ।

१५. जो भिक्षु लघुप्रायश्चित्तस्थान को गुरु प्रायश्चित्तस्थान कहता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है।

१६. जो भिक्षु गुरुप्रायश्चित्तस्थान को लघु प्रायश्चित्तस्थान कहता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है।

१७. जो भिक्षु लघुप्रायश्चित्तस्थान का गुरुप्रायश्चित्त देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

१८. जो भिक्षु गुरुप्रायश्चित्तस्थान का लघु प्रायश्चित्त देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—दो सूत्रों में विपरीत प्ररूपणा करने का प्रायश्चित्त कहा गया है और दो सूत्रों में राग-द्वेष से या अज्ञान से कम या अधिक प्रायश्चित्त देने का प्रायश्चित्त कथन है।

अधिक प्रायश्चित्त देने से साधु को पीड़ा होती है, उसकी अननुकम्पा होती है तथा आलोचक भय के कारण फिर कभी आलोचना नहीं करता है।

कम प्रायश्चित्त देने से पूर्ण शुद्धि नहीं होती है और पुनः दोष सेवन की सम्भावना रहती है। अतः प्रायश्चित्त देने वाले अधिकारी को विपरीत प्रायश्चित्त न देने का ध्यान रखना चाहिए।

प्रायश्चित्त योग्य भिक्षु के साथ आहार करने का प्रायश्चित्त—

१९. जे भिक्खू उग्घाइयं सोच्चा णच्चा संभुंजइ, संभुंजंतं वा साइज्जइ।

२०. जे भिक्खू उग्घाइय-हेउं सोच्चा णच्चा संभुंजइ, संभुंजंतं वा साइज्जइ।

२१. जे भिक्खू उग्घाइय-संकप्पं सोच्चा णच्चा संभुंजइ, संभुंजंतं वा साइज्जइ।

२२. जे भिक्खू अणुग्घाइयं सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ।

२३. जे भिक्खू अणुग्घाइय-हेउं सोच्चा णच्चा संभुंजइ, संभुंजंतं वा साइज्जइ।

२४. जे भिक्खू अणुग्घाइय-संकप्पं सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ।

१९. जो भिक्षु लघु प्रायश्चित्तस्थान के सेवन करने का सुनकर या जानकर उस साधु के साथ आहारादि का व्यवहार रखता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है।

२०. जो भिक्षु लघुप्रायश्चित्त के हेतु को सुनकर या जानकर उस साधु के साथ आहारादि का व्यवहार रखता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है।

२१. जो भिक्षु लघुप्रायश्चित्त के संकल्प को सुनकर या जानकर उस साधु के साथ आहारादि का व्यवहार रखता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है।

२२. जो भिक्षु गुरुप्रायश्चित्तस्थान के सेवन करने का सुनकर या जानकर उस साधु के साथ आहारादि का व्यवहार रखता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है।

२३. जो भिक्षु गुरुप्रायश्चित्त के हेतु को सुनकर या जानकर उस साधु के साथ आहारा का व्यवहार रखता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है।

२४. जो भिक्षु गुरुप्रायश्चित्त के संकल्प को सुनकर या जानकर उस साधु के सा आहारादि का व्यवहार रखता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुचौमासी प्रा श्चित्त आता है।)

विवेचन— १. *उग्घाइयं ति पायच्छित्तं वहंतस्स,*

२. *पायच्छित्तमापण्णस्स जाव अणालोइयं ताव "हेउं" भण्णति,*

३. *आलोइए अमुगदिणे तुज्झेयं पच्छित्तं दिज्जिहिति त्ति "संकप्पियं" भण्णति।*—चूणि

१. उग्घाइयं—प्रायश्चित्तस्थान सेवन करते समय,

२. हेउं—उसके बाद आलोचना करे तब तक,

३. संकप्पं—प्रायश्चित्त में स्थापित करने का जो दिन निश्चित किया हो उस दिन तक

प्रायश्चित्त स्थान सेवन करने के समय से लेकर प्रायश्चित्त के निमित्त कृत तप के पूर्ण हो तक उस साधु के साथ आहार का आदान-प्रदान करने का निषेध है।

प्रायश्चित्त के निमित्त किये जाने वाले तप की जो विशिष्ट विधि होती है, उसमें तो प्रायश्चि करने वाले के साथ सभी सामान्य व्यवहार समाप्त कर दिये जाते हैं। किन्तु यहाँ उसके पूर्व अवस्था में आहार का व्यवहार बंद करने का तीन विभागों द्वारा कथन कर प्रायश्चित्त कहा गया है

तीन सूत्रों में उद्घातिक से सम्बन्धित प्रायश्चित्त कहा गया है और तीन सूत्रों में अनुद्घाति से सम्बन्धित प्रायश्चित्त कहा गया है।

चूर्णिकार ने इन सूत्रों की व्याख्या के प्रारम्भ में ही कहा है कि "एते छः सुत्ता।" इसं बाद उद्घातिक आदि शब्दों का अर्थ किया है। फिर भी इन छः सूत्रों के कभी बारह सूत्र य गये हैं जो उपलब्ध सभी प्रतियों में मिलते हैं। सम्भव है बढ़ने का आधार भाष्य गाथा २८८७ के चूर्णि में कहे गए भंग हो सकते हैं। वहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि सूत्र तो ६ ही हैं। संयोगसू इन ६ से बना लेना चाहिए, जिनकी संख्या ३५ है।

सूर्योदय-वृत्तिलंघन का प्रायश्चित्त—

२५. जे भिक्खू उग्गय-वित्तीए अणत्थमिय-संकप्पे संथडिए निव्वितिगिच्छा-समावण्णे अप्पाणेणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेत्ता आहारं आहारेमाणे, अह पु एवं जाणेज्जा—"अणुग्गए सूरिए, अत्थमिए वा" से जं च मुहे, जं च पाणिंसि, जं च पडिग्गहे, विगिंचेमाणे विसोहेमाणे नाइक्कमइ जो तं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ।

२६. जे भिक्खू उग्गयवित्तीए अणत्थमिय-संकप्पे संथडिए वितिगिच्छा-समावण्णेणं अप्पाणे असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेत्ता आहारं आहारेमाणे, अह पुण एवं जाणेज्जा— "अणुग्गए सूरिए, अत्थमिए वा" से जं च मुहे, जं च पाणिंसि, जं च पडिग्गहे, तं विगिंचेमाणे विसोहे माणे नाइक्कमइ, जो तं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ।

२७. जे भिक्खू उग्गय-वित्तीए अणत्थमिय-संकप्पे असंथडिए निव्वितिगिच्छासमावण्णेणं पाणेणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेत्ता आहारमाहारेमाणे, अह पुण एवं णेज्जा—"अणुग्गए सूरिए, अत्थमिए वा," से जं च मुहे, जं च पाणिंसि. जं च पडिग्गहे, तं विगिंचे-णे विसोहेमाणे नाइक्कमइ, जो तं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ।

२८. जे भिक्खू उग्गय-वित्तीए अणत्थमिय-संकप्पे असंथडिए वितिगिच्छासमावण्णेणं अप्पा-गं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेत्ता आहारमाहारेमाणे, अह पुण एवं जाणेज्जा "अणुग्गए, सूरिए, अत्थमिए वा" से जं च मुहे, जं च पाणिंसि, जं च पडिग्गहे, तं विगिंचेमाणे सोहेमाणे नाइक्कमइ, जो तं भुंजइ, भुंजंतं साइज्जइ।

२५. भिक्षु का सूर्योदय के बाद और सूर्यास्त के पूर्व आहार लाने का एवं खाने का संकल्प ता है। जो समर्थ भिक्षु संदेह रहित आत्मपरिणामों से अशन, पान, खाद्य या स्वाद ग्रहण करके ता हुआ यह जाने कि "सूर्योदय नहीं हुआ है या सूर्यास्त हो गया है" उस समय जो आहार मुँह या हाथ में लिया हुआ हो और जो पात्र में रखा हुआ हो उसे निकालकर परठता हुआ तथा मुख, थ व पात्र को पूर्ण विशुद्ध करता हुआ वह जिनाज्ञा का उल्लंघन नही करता है। किन्तु जो उस शेप हार को खाता है या खाने वाले का अनुमोदन करता है।

२६. भिक्षु का सूर्योदय के बाद और सूर्यास्त के पूर्व आहार लाने व खाने का संकल्प होता । जो समर्थ भिक्षु संदेहयुक्त आत्मपरिणामों से अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य ग्रहण कर खाता हुआ ह जाने कि "सूर्योदय नही हुआ है या सूर्यास्त हो गया है" उस समय जो आहार मुख में या हाथ लिया हुआ हो और पात्र में रखा हुआ हो, उसे निकालकर परठता हुआ तथा मुख, हाथ व पात्र ो पूर्ण विशुद्ध करता हुआ जिनाज्ञा का उल्लंघन नहीं करता है। किन्तु जो उस शेप आहार को ाता है या खाने वाले का अनुमोदन करता है।

२७. भिक्षु का सूर्योदय के बाद और सूर्यास्त के पूर्व आहार लाने व खाने का संकल्प होता । जो असमर्थ भिक्षु संदेहरहित आत्मपरिणामों से अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य ग्रहण करके खाता आ यह जाने कि "सूर्योदय नही हुआ है या सूर्यास्त हो गया है" उस समय जो आहार मुंह में या ाथ में लिया हुआ हो और जो पात्र में रखा हो उसे निकालकर परठता हुआ तथा मुख, हाथ व पात्र ो पूर्ण विशुद्ध करता हुआ वह जिनाज्ञा का उल्लंघन नहीं करता है। किन्तु जो उस शेप आहार ो खाता है या खाने वाले का अनुमोदन करता है।

२८. भिक्षु का सूर्योदय के बाद और सूर्यास्त के पूर्व आहार लाने व खाने का संकल्प होता । जो असमर्थ भिक्षु संदेहयुक्त आत्मपरिणामों से अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य ग्रहण कर खाता आ यह जाने कि "सूर्योदय नहीं हुआ है या सूर्यास्त हो गया है" उस समय जो आहार मुंह में ा हाथ में लिया हुआ हो और जो पात्र में रखा हुआ हो, उसे निकालकर परठता हुआ तथा मुख, ाथ व पात्र को पूर्ण विशुद्ध करता हुआ वह जिनाज्ञा का उल्लंघन नहीं करता है। किन्तु जोउस ाहार को खाता है या खाने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता।)

विवेचन—इन चारों सूत्रों में 'समर्थ-असमर्थ, संदेहरहित-संदेहयुक्त' की चौभंगी की गई है—

१. समर्थ साधु संदेहरहित होकर आहार ग्रहण करता है।

२. समर्थ साधु संदेहयुक्त होकर आहार ग्रहण करता है।

३. असमर्थ साधु संदेहरहित होकर आहार ग्रहण करता है।

४. असमर्थ साधु संदेहयुक्त होकर आहार ग्रहण करता है।

चूर्णिकार का कथन है—

१. संथडिओ नाम हट्ठ-समत्थो,

२. वितिगिच्छा—विमर्षः—मतिविप्लुता संदेह इत्यर्थः, सा निग्गता वितिगिच्छा जस्स सो निव्वितिगिच्छो भवति।

३. अब्भादिएहिं कारणेहिं अदिट्ठे आइच्चे संका भवति—किं उदितो अणुदितो त्ति। अत्थमणकाले वि किं धरति न वा त्ति संका भवति। (सो वितिगिच्छाओ)।

४. छट्ठऽट्ठमादिणा तवेण किलंतो असंथडो, गेलण्णेण वा दुब्बलसरीरो असंथडो, दीहद्धाणेण वा पज्जत्तं अलभंतो असंथडो।

१. संस्तृत अर्थात् स्वस्थ या समर्थ।

२. निर्विचिकित्सा अर्थात् संदेहरहित।

३. बादल आदि कारणों से सूर्य के नहीं दिखने पर शंका होती है कि सूर्योदय हुआ या नहीं अथवा सूर्यास्त के समय सूर्य है या अस्त हो गया, ऐसी शंका होती है।

४. बेले, तेले आदि तप से अशक्त बना हुआ, रुग्णता से दुर्बल शरीर वाला या लम्बे विहार में आहार के अलाभ से क्षुधातुर भिक्षु असंस्तृत कहलाता है।

विहार करते समय आगे आहार मिलने की सम्भावना न हो और रात्रि-विश्राम जहाँ किया हो उस ग्राम के प्रायः सभी लोग प्रातःकाल ही खेत आदि के लिये जा रहे हों, ऐसे समय में समर्थ (स्वस्थ) साधु भी ग्रहण करने जा सकता है। इसी तरह दूसरे दिन आहारादि मिलने की सम्भावना न हो, ऐसे समय में शाम को भिक्षा लाने का प्रसंग उपस्थित हो सकता है।

असमर्थ (ग्लान) के लिये तो ऐसे अवसर सहज सम्भव हैं।

बादल या पहाड़ आदि से कभी-कभी सूर्योदय होने या सूर्यास्त न होने का आभास हो सकता है। फिर थोड़ी देर बाद सही स्थिति सामने आ जाती है।

संदिग्ध या असंदिग्ध अवस्था में आहार ग्रहण करने के बाद यदि निर्णय हो जाए कि सूर्योदय नहीं हुआ या सूर्यास्त हो गया है, या आहार ग्रहण करने के बाद सूर्योदय हुआ है तो वह आहार साधु को खाना नहीं कल्पता है। खाये जाने पर रात्रिभोजन का दोष लगता है तथा उसका गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है। अतः वह आहार पात्र में हो या हाथ में हो या मुख में हो, परठ देना चाहिये और हाथ आदि को पानी से धो लेना चाहिये।

उद्गाल निगलने का प्रायश्चित्त—

२९. जे भिक्खू राओ वा वियाले वा सपाणं सभोयणं उग्गालं उग्गिलित्ता पच्चोगिलइ, पच्चोगिलंतं वा साइज्जइ।

जो भिक्षु रात्रि में या विकाल में आहार या पानी सहित उद्गाल के मुंह में आने के बाद पुनः उसे निगल जाता है या निगलने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—मर्यादा से अधिक खा लेने पर दिन में, रात्रि में या विकाल (संधिकाल) में उद्गाल आ सकता है। उद्गाल यदि गले तक आकर पुनः लौट जाये तो प्रायश्चित्त नहीं आता है किन्तु मुंह में आ जाय और उसे निगल जाए तो भिक्षु को प्रायश्चित्त आता है, किन्तु दिन में निगलने पर प्रायश्चित्त नहीं आता है।

इस सूत्र में व्याख्याकार (भाष्य, चूर्णिकार) ने गर्म 'तवे' पर पानी की बूंद का दृष्टान्त देकर समझाया है कि साधु को इतना मर्यादित आहार करना चाहिये कि जिसका जठराग्नि द्वारा पूर्ण पाचन हो जाए, अपाचन सम्बन्धी कोई विकार न होने पाए।

यह सूत्र रात्रिभोजन से सम्बन्धित सूक्ष्म मर्यादा के पालन का प्रेरक है।

आगमकार ने उद्गाल निगलने को भी रात्रिभोजन ही माना है। अतः इसका गुरुचौमासी प्रायश्चित्त कहा है।

ग्लान की सेवा में प्रमाद करने का प्रायश्चित्त—

३०. जे भिक्खू गिलाणं सोच्चा णच्चा ण गवेसइ, ण गवेसंतं वा साइज्जइ।

३१. जे भिक्खू गिलाणं सोच्चा णच्चा उम्मग्गं वा पडिपहं वा गच्छइ, गच्छंतं वा साइज्जइ।

३२. जे भिक्खू गिलाण-वेयावच्चे अब्भुट्ठिए सएण लाभेण असंथरमाणे जो तस्स ण पडितप्पइ, ण पडितप्पंतं वा साइज्जइ।

३३. जे भिक्खू गिलाण-वेयावच्चे अब्भुट्ठिए गिलाण-पाउग्गे दव्वजाए अलब्भमाणे, जो तं ण पडियाइक्खइ, ण पडियाइक्खंतं वा साइज्जइ।

३०. जो भिक्षु ग्लान साधु का समाचार सुनकर या जानकर उसका पता नहीं लगता है या पता नहीं लगाने वाले का अनुमोदन करता है।

३१ जो भिक्षु ग्लान साधु का समाचार सुनकर या जानकर ग्लान भिक्षु की ओर जाने वाले मार्ग को छोड़कर दूसरे मार्ग से या प्रतिपथ से (जिधर से आया उधर ही) चला जाता है या जाने वाले का अनुमोदन करता है।

३२. जो भिक्षु ग्लान की सेवा में उपस्थित होकर अपने लाभ से ग्लान का निर्वाह न होने पर उसके समीप खेद प्रकट नहीं करता है या नहीं करने वाले का अनुमोदन करता है।

३३. जो भिक्षु ग्लान की सेवा में उपस्थित होकर उसके योग्य औषध, पथ्य आदि नहीं मिलने पर उसको आकर नहीं कहता है या नहीं कहने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचनः—१. किसी ग्लान के सम्बन्ध में सूचना मिले कि सेवा करने वाले की उसे आवश्यकता है तो पूरी जानकारी प्राप्त करके उसकी सेवा में जाना चाहिये।

२. किन्तु ग्लान भिक्षु के ग्राम की या स्थान की जानकारी होने पर सेवा न करने की भावना से उन्मार्ग से अन्यत्र न जावे तथा जिस मार्ग से आ रहा हो उसी मार्ग से वापिस न लौटे।

३. ग्लान के लिए आवश्यक पदार्थ न मिले या पूर्ण मात्रा में न मिले तो उसकी संतुष्टि के लिये नहीं मिलने का दोष अपने ऊपर लेकर खेद प्रकट करना चाहिए।

४. औषध या पथ्य गवेषणा करने पर भी न मिले तो न अन्य काम में लगे और न कहीं बैठे किन्तु पहले ग्लान को यह जानकारी दे कि "इतनी गवेषणा करने पर भी आवश्यक वस्तु नहीं मिली है या कुछ देर बाद मिलने की सम्भावना है।"

आगम में वैयावृत्य को आभ्यन्तर तप कहा है। अतः साधु को इसे अपनी आत्मशुद्धि का कार्य समझकर करना चाहिये तथा यह सोचना चाहिये कि यह ग्लान मुझ पर उपकार कर रहा है, मुझे सहज आभ्यन्तर तप का अवसर दे रहा है। इस तरह उपकार मानकर सेवा करने से अत्यधिक निर्जरा होती है। उत्तराध्ययन सूत्र अ. २९ में सेवा से तीर्थंकर पद का सर्वोत्तम लाभ होना कहा है। सूत्रकृतांग सूत्र श्रु. १ अ. ३ उद्दे. ३ तथा ४ में ग्लान भिक्षु की अग्लान भाव से सेवा करने का निर्देश किया गया है।

वर्षाकाल में विहार करने पर प्रायश्चित्त—

३४. जे भिक्खू पढम-पाउसम्मि गामाणुगामं दूइज्जइ, दूइज्जंतं वा साइज्जइ।

३५. जे भिक्खू वासावासं पज्जोसवियंसि गामाणुगामं दूइज्जइ, दूइज्जंतं वा साइज्जइ।

३४. जो भिक्षु प्रथम प्रावृट् ऋतु में ग्रामानुग्राम विहार करता है या विहार करने वाले का अनुमोदन करता है।

३५. जो भिक्षु वर्षावास में पर्युषण करने के बाद ग्रामनुग्राम विहार करता है या विहार करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन:—भिक्षु हेमन्त और ग्रीष्म के आठ महीनों में विचरण करे और वर्षाकाल के चार मास में विचरण नहीं करे। यथा—

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा वासावासासु चारए।
कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा हेमंतगिम्हासु चारए॥
—बृहत्कल्प० उ० १, सू० ३६-३७

इन दो सूत्रों में बारह महीनों का वर्णन किया गया है, जिसमें वर्षावास-चातुर्मास का काल चार मास का गिना गया है।

तीर्थंकर भगवान् महावीर के जन्म आदि के महीनों का कथन इस प्रकार है—

गिम्हाणं चउत्थे मासे अट्ठमे पक्खे आसाढसुद्धे
वासावासाणं तच्चे मासे पंचमे पक्खे आसोयबहुले
हेमंताणं पढमे मासे पढमे पक्खे मिगसरबहुले। —आचा० श्रु० २, अ० १५

इन पाठों से यह स्पष्ट है कि वर्षावास, हेमंत और ग्रीष्मकाल चार-चार मास के होते हैं।

वस्त्रग्रहण सम्बन्धी विधि-निषेध व प्रायश्चित्त संबंधी सूत्रों में भी बारह महीनों का विभाग इस प्रकार किया है—

नो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा पढम-समोसरणुद्देसपत्ताइं चेलाइं पडिग्गाहेत्तए।
कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा दोच्चसमोसरणुद्देसपत्ताइं चेलाइं पडिग्गाहेत्तए।

—बृहत्कल्प० उ० ३, सू० १६-१७

जे भिक्खू पढमसमोसरणुद्देसे पत्ताइं चीवराइं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

—निशीथ० उ० १०, सु० ४७

बितियं समोसरणं उडुबद्धं, तं पडुच्च वासावासोग्गहो पढमसमोसरणं भण्णति।

—निशीथ चूर्णि उ० १०, पृ० १५८

इन सूत्रों में भी ४ महीनों के वर्षावास को प्रथम समवसरण कहा है और आठ महीनों के ऋतुबद्ध काल को दूसरा समवसरण कहा है। इस प्रकार बारह महीनों को दो समवसरणों में विभक्त किया है।

अह पुण एवं जाणिज्जा—चत्तारि मासा वासावासाणं वीइक्कंता।

—आचा० श्रु० २, अ० ३, उ० १

इस पाठ में भी चातुर्मास के चार महीने ही कहे हैं। अतः वर्षावास (चातुर्मास) चार मास का होता है, उपर्युक्त सूत्र पाठों से यह स्पष्ट निर्णय हो जाता है।

"चातुर्मास रहने" के लिये क्रिया-प्रयोग इस प्रकार है—

सेवं णच्चा णो गामाणुगामं दूइज्जेज्जा तओ संजयामेव वासावासं उवल्लिएज्जा।

तहप्पगारं गामं वा जाव रायहाणिं वा णो वासावासं उवल्लिएज्जा।

तहप्पगारं गामं वा जाव रायहाणिं वा तओ संजयामेव वासावासं उवल्लिएज्जा।

—आचा० श्रु० २, अ० ३, उ० १

इन सूत्रों में चार मास तक रहने के लिए 'उवल्लिएज्जा' क्रिया का प्रयोग किया गया है।

पज्जोसवणा और पज्जोसवेइ क्रिया का प्रयोग—

जे भिक्खू अपज्जोसवणाए पज्जोसवेइ, पज्जोसवेंतं वा साइज्जइ।

जे भिक्खू पज्जोसवणाए ण पज्जोसवेइ ण पज्जोसवेंतं वा साइज्जइ।

जे भिक्खू पज्जोसवणाए इत्तरियंपि आहारं आहारेइ, आहारेंतं वा साइज्जइ।

—निशीथ उ० १०, सु० ३६-३८

इन सूत्रों में संवत्सरी के लिए पज्जोसवणा और संवत्सरी करने के लिए 'पज्जोसवेइ' क्रिया का प्रयोग हुआ है।

ठाणांगसूत्र अ. ५ उ. २ सु. २ में चातुर्मास में विहार करने के कारणों का कथन दो विभाग करके कहा गया है—प्रथम विभाग को 'पढम पाउसम्मि' कहा है और द्वितीय विभाग को 'वासावासं पज्जोसवियंसि' कहा है।

दोनों विभागों में विहार करने के भिन्न-भिन्न ५-५ कारण कहे हैं। ये दोनों विभाग चातुर्मास के ही है। क्योंकि शेष आठ महीनों में विहार करने को कल्पनीय कहा गया है। अपवाद तो अकल्पनीय में होता है।

ठाणांगसूत्र के इन सूत्रों के समान प्रस्तुत सूत्र ३४-३५ में भी चातुर्मास के दो विभागों का कथन करते हुए प्रायश्चित्त कहा गया है।

'पज्जोसवेइ' क्रिया का प्रयोग संवत्सरी करने के लिए ऊपर बताया है, अतः ये दो विभाग चातुर्मास के इस प्रकार समझना आगमसम्मत है। प्रथम विभाग संवत्सरी के पूर्व और दूसरा विभाग संवत्सरी (पर्युषणा) के बाद।

विहार करने का प्रायश्चित्त-विधान और कारणों से विहार करने का कथन चातुर्मास (वर्षावास) के चार महीनों की अपेक्षा सही है। जिसके लिए प्रस्तुत दोनों सूत्र ३४-३५ में तथा ठाणांगसूत्र में 'पढमपाउसम्मि' तथा 'वासवासं पज्जोसवियंसि' शब्द हैं, जिनका 'पाउस—वर्षाकाल के प्रथम विभाग में' और 'वर्षावास में पर्युषणा (संवत्सरी) करने के बाद में', ऐसा अर्थ करना ही प्रसंग-संगत है।

प्रवृत्ति की अपेक्षा से भी यही अर्थ उचित होता है। भगवान् महावीर स्वामी के चातुर्मास रहने का और चार मासखमण का पारणा होने का वर्णन भी भगवतीसूत्र में है। उसके बाद के आज तक के २५०० वर्षों के इतिहास में भी प्रायः चार मास का वर्षावास ही करते आए हैं।

अतः 'वासावास' के साथ आने वाली पज्जोसवियंसि क्रिया निशीथ व ठाणांग में पर्युषण का ही कथन करने वाली है, ऐसा मानने पर ही अर्थ की पूर्वापर संगति होती है।

भाष्यकार और चूर्णिकार ने छः ऋतु में पहली प्रावृट् ऋतु कही है। इसमें विहार करने के प्रायश्चित्त का विधान है तथा 'दूइज्जइ' का अर्थ करते हुए कहा है कि दो (शीत और ग्रीष्म) काल में भिक्षु चलता है, इसलिए दूइज्जइ किया है।

संवत्सर के हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षाकाल रूप तीन विभाग और प्रावृट्ऋतु आदि छह विभाग निश्चित हैं। प्राकृतिक परिवर्तन होने पर या एक मास की वृद्धि-हानि हो जाने पर भी इन विभागों की कालगणना में जो महीने कहे गये है, उनमें कोई परिवर्तन नही होता है।

पर्युषणकाल में पर्युषण न करने का प्रायश्चित्त—

३६ जे भिक्खू पज्जोसवणाए ण पज्जोसवेइ ण पज्जोसवेंतं वा साइज्जइ।

३७ जे भिक्खू अपज्जोसवणाए पज्जोसवेइ पज्जोसवेंतं वा साइज्जइ।

३६. जो भिक्षु पर्युषण (संवत्सरी) के दिन पर्युषण नहीं करता है या नहीं करने वाले का अनुमोदन करता है।

३७. जो भिक्षु पर्युषण के दिन से अन्य दिन मे पर्युषण करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है)।

विवेचन—चातुर्मास-वर्षावास चार महीने का होता है, यह पूर्व में स्पष्ट किया गया है। इन दो सूत्रों में पर्युषण सम्बन्धी कथन है। यह पर्युषण एक दिन का होता है, यह भी निश्चित है। इसलिये इन दो सूत्रों में उस दिन पर्युषण न करने का तथा अन्य दिन करने का प्रायश्चित्त कहा है।

आगमों में इस दिन के सम्बन्ध में स्पष्ट कथन नही है, फिर भी इन दो सूत्रों में प्रायश्चित्त-विधान करने से संवत्सरी के दिन का निश्चित निर्देश किया गया है।

इन सूत्रों की व्याख्या करते हुए गाथा ३१४६ व गाथा ३१५३ की चूर्णि में भादवा सुदी पंचमी का कथन किया गया है तथा गाथा ३१५२-५३ की व्याख्या में १ मास २० दिन का कथन भी किया है। ऐसा ही कथन ७०वें समवाय में भी है। अतः तात्पर्य यह है कि इस दिन को छोड़कर अन्य दिन पर्युषण करने पर सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है और उस दिन के लिए भादवा सुदी पंचमी तिथि निश्चित्त है।

इस विषय में कहा जाता है कि शातवाहन राजा के आग्रह से कालकाचार्य ने चौथ की संवत्सरी की, तब से चौथ की संवत्सरी की जाती है।

कोई भी गीतार्थ या आगमविहारी मुनि परिस्थितिवश अपवादमार्ग के सेवन का निर्णय ले सकते हैं। आपवादिक स्थिति के समाप्त होने पर उसका यथोचित प्रायश्चित्त कर पुनः सूत्रोक्त आचरण स्वीकार कर लेते हैं। परिस्थितिवश सेवन किये गए अपवाद के लिए सूत्रविपरीत परम्परा चलाने का अधिकार किसी भी गीतार्थ या आगमविहारी को नहीं है। अतः पूर्वधर कालकाचार्य के द्वारा किसी देश के राजा के आग्रह से चौथ की संवत्सरी करना कदाचित् सम्भव हो सकता है, किन्तु उनके द्वारा परम्परा चलाना या चलने देना उचित नहीं है। क्योंकि अपवाद आचरण को उत्सर्ग आचरण बनाना अपराध है। अतः उपर्युक्त कथन के अनुसार संवत्सरी के काल का परिवर्तन उचित नहीं कहा जा सकता।

आगमोक्त निश्चित दिवस तो भादवा सुदी पंचमी का ही था और है। उससे भिन्न किसी भी दिन पर्युषण करने पर प्रायश्चित्त आता है, यही इन दो सूत्रों का आशय समझना चाहिए।

आज भी पंचांगों में ऋषिपंचमी, इसी दिन लिखी जाती है। १०-२० वर्षों के पंचाङ्ग देखकर निर्णय किया जा सकता है।

अपने-अपने मताग्रहों को त्याग कर पंचाङ्गों में लिखी ऋषिपंचमी के दिन पर्युषण (संवत्सरी) करने का निर्णय सम्पूर्ण जैन संघ स्वीकार कर ले तो आगम परम्परा और एकरूपता दोनों का निर्वाह सम्भव है।

"ऋषिपंचमी" नाम भी इस अर्थ का सूचक है कि ऋषि-मुनियों का पर्वदिवस। इस "ऋषि" शब्द में जैन-जैनेतर सभी साधुओं का समावेश हो जाता है। जैनागमों में भी साधु के लिए "ऋषि" शब्द का प्रयोग हुआ है।

आज से सैकड़ों (१२००-१३००) वर्षों पूर्व गीतार्थ आचार्यों ने लौकिक पंचांग से ही सभी पर्वदिवस मनाने का निर्णय लिया था, यथा—

विगमे समयविसेसे, करणगह-चार-वार-रिक्खाणं ।
पव्वतिहीण य सम्मं, पसाहगं विगलियं सुत्तं ॥ १ ॥
तो पव्वाइविरोहं णाउं, सव्वेहिं गीयसूरीहिं ।
आगममूलमिणंपि अ, तो लोइय टिप्पणयं पगयं ॥ २ ॥

अर्थ—समय की विषमता के कारण, ग्रहों की गति, वार, नक्षत्र और पर्व-तिथियों की सम्यक् सिद्धि करने वाला श्रुत नष्ट हो चुका है, अतः पर्व-तिथि आदि के निर्णय में विरोध आता जानकर सभी गीतार्थ आचार्यों ने यह "लौकिक पंचांग भी आगमानुसार ही है" ऐसा मानकर इसी से पर्व-तिथि आदि करना स्वीकार किया है ।

अतः सम्पूर्ण जैन समाज को लौकिक पंचांग-निर्दिष्ट पक्ष एवं चातुर्मास के अन्तिम दिन अर्थात् अमावस पूनम को पक्खी, चौमासी पर्व तथा ऋषिपंचमी को संवत्सरी महापर्व मनाने का निर्णय स्वीकार करना चाहिये । ऐसा करने में सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नहीं आता है तथा अनेक गीतार्थ पूर्वाचार्यों के सम्यक् निर्णय का पालन भी होता है ।

पर्युषण के दिन बाल रहने देने का और आहार करने का प्रायश्चित्त—

३८. जे भिक्खू पज्जोसवणाए गोलोमाइं पि बालाइं उवाइणावेइ, उवाइणावेंतं वा साइज्जइ ।

३९. जे भिक्खू पज्जोसवणाए इत्तरियं पि आहारं आहारेइ आहारेंतं वा साइज्जइ ।

३८. जो भिक्षु पर्युषण (संवत्सरी) के दिन गाय के रोम जितने बालों को रखता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है ।

३९. जो भिक्षु पर्युषण (संवत्सरी) के दिन थोड़ा भी आहार करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है । (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है ।)

विवेचन—पर्युषण सम्बन्धी भिक्षु के कर्तव्य—

१. वर्षावास योग्य क्षेत्र न मिलने पर यदि चातुर्मास की स्थापना न की हो तो इस दिन चातुर्मास निश्चित कर देना चाहिये ।

२. अनुबद्ध काल के लिए ग्रहण किये गए शय्या, संस्तारक की चातुर्मास-समाप्ति तक रखने की पुनः याचना न की हो तो इस दिन अवश्य कर लेनी चाहिये ।

३. सिर या दाढ़ी-मूंछ के गो-रोम जितने बाल भी हो गए हों तो उनका लोच अवश्य कर लेना चाहिये । क्योंकि गो-रोम जितने बालों को पकड़कर लोच किया जा सकता है ।

४. संवत्सरी के दिन चारों आहारों का पूर्ण त्याग करना चाहिये अर्थात् चौविहार उपवास करना चाहिये ।

इन कर्तव्यों का पालन न करने पर भिक्षु प्रायश्चित्त का पात्र होता है । इनका पालन करना ही पर्युषण को पर्युषित करना कहा जाता है ।

इसके अतिरिक्त वर्ष भर की संयम आराधना-विराधना का चिन्तन कर हानि-लाभ का पर्यालोचन करना, आलोचना, प्रतिक्रमण व क्षमापना आदि कर आत्मा को शान्त व स्वस्थ करें

वर्धमान परिणाम रखना इत्यादि विशिष्ट धर्म-जागरणा करने के लिये यह पर्युषण का दिन है। इन कर्तव्यों का पालन करने पर ही आत्मा के लिये इसी दिन का महत्त्व है। आगम में इसी दिन के लिये "पर्युषण" शब्द प्रयोग किया गया है। श्वेताम्बर परम्परा के पूर्व साधना के सात दिन युक्त आठवें दिन को पर्युषण कहा जाता है और इस दिन को "संवत्सरी" कहा जाता है। किन्तु वास्तव में संवत्सरी का दिन ही आगमोक्त पर्युषण दिन है। शेष दिन पर्युषण की भूमिका रूप हैं। दिगम्बर परम्परा में पर्युषण के दिन से बाद में १० दिन तक धर्म-आराधना करने की परिपाटी है। कालान्तर से दसवें दिन (अनन्त चतुर्दशी को) संवत्सरी पर्व का आराधन किया जाने लगा है।

पर्युषणाकल्प गृहस्थ को सुनाने का प्रायश्चित्त—

४०. जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा पज्जोसवेइ, पज्जोसवेंतं वा साइज्जइ।

४०. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ को पर्युषणाकल्प (साधु-समाचारी) सुनाता है या सुनाने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—"अन्यतीर्थिक और गृहस्थ" से आठ प्रकार के गृहस्थ समझना चाहिये जिनका स्पष्टीकरण पहले उद्देशक के सूत्र १५ में कर दिया गया है।

दशाश्रुतस्कन्ध के आठवें अध्ययन का नाम "पज्जोसवणाकप्प" है। उसमें वर्षावास की साधु-समाचारी का कथन है।

पर्युषण के दिन सायंकालीन प्रतिक्रमण करके सभी साधु "पज्जोसवणाकप्प' अध्ययन का सामूहिक उच्चारण करें या श्रवण करें तथा उसमें वर्णित साधु-समाचारी का वर्षावास में व अन्य काल में पालन करे।

चूर्णि में कहा है—'पज्जोसवणाकप्पकहणे इमा सामायारी'—'अप्पणो उवस्सए पाओसिए आवस्सए कए कालं घेत्तुं (काल प्रतिलेखन कर) काले सुद्धे पट्ठवेत्ता कहिज्जति।.... । सव्वे साहू समप्पायणियं काउस्सग्गं करेंति ...... ।'

स्वाध्याय-काल का प्रतिलेखन कर इस अध्ययन का श्रवण कर फिर समाप्ति का कायोत्सर्ग करना इत्यादि विधि चूर्णि में बताई गई है।

प्रस्तुत सूत्र में "पर्युषणाकल्प-अध्ययन" गृहस्थों को सुनाने का या गृहस्थ-युक्त साधु-परिषद् में सुनाने का प्रायश्चित्त कहा गया है। अतः रात्रि के समय साधु-परिषद् में ही कहने और सुनने का विधान है।

"पज्जोसवणाकप्प" अध्ययन की यह परम्परा अज्ञात काल से विच्छिन्न हो गई है।

दशाश्रुतस्कन्ध की निर्युक्ति आदि व्याख्याओं की रचना के समय तक यह अध्ययन अपने स्थान पर ही पूर्ण रूप से था। उसके बाद सम्भव है तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में इसे संक्षिप्त करके वर्तमान प्रख्यात कल्पसूत्र से जोड़ा गया है तथा किसी प्रति के लेखक ने इस अध्ययन के स्थान पर पूरे कल्पसूत्र को ही लिख दिया है। इससे इस अध्ययन का सही स्वरूप ही नहीं रहा। तीर्थंकरों के वर्णन व स्थविरावली के साथ-साथ मौलिक समाचारी में भी अनेक पाठ प्रक्षिप्त किये गये हैं, जो निर्युक्ति व उसकी चूर्णि के अध्ययन से स्पष्ट जाने जा सकते हैं।

कालिक दशाश्रुतस्कन्धसूत्र का 'पज्जोसवणाकप्प' अध्ययन गृहस्थों को सुनाने का निषेध है, फिर भी उसे उत्कालिक (चुल्ल) कल्पसूत्र आदि किसी से जोड़ा गया है और नया कल्पसूत्र संकलन कर दोपहर (उत्काल) में तथा गृहस्थों के सामने वांचन किया जाने लगा है।

यह अध्ययन वर्तमान में विकृत अवस्था में है। इसकी मौलिकता के साथ ही इससे सम्बन्धित शुद्ध परम्परा भी व्यवच्छिन्न हो गई। जिसमें इस प्रायश्चित्तसूत्र ४० की अर्थपरम्परा व प्रायश्चित्त-परम्परा भी विच्छिन्नप्रायः हो चुकी है।

वर्षाकाल में वस्त्र ग्रहण करने का प्रायश्चित्त—

४१. जे भिक्खू पढमसमोसरणुद्देसे-पत्ताइं चीवराइं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।
तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहार-ट्ठाणं अणुग्घाइयं।

४१. जो भिक्षु चातुर्मासकाल प्रारम्भ हो जाने पर भी वस्त्र ग्रहण करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

इन ४१ सूत्रोक्त स्थानों का सेवन करने पर गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन—'प्रथम समवसरण' व 'द्वितीय समवसरण' ये शब्द क्रमशः चातुर्मास काल तथा ऋतुबद्ध काल के लिए आगम में प्रयुक्त हुए हैं। साधु के ग्रामादि में आगमन को समवसृत होना कहा जाता है। यह आगमन दो प्रकार का है—ऋतुबद्धकाल के लिए आगमन और चातुर्मासकाल के लिए आगमन। इस आगमन काल को ही 'समवसरण' कहा जाता है। उसके दो विभाग हैं अतः प्रथम व द्वितीय समवसरण कहा जाना व्युत्पत्तियुक्त है।

बृहत्कल्पसूत्र उद्देशक ३, सूत्र १६ में चातुर्मास में वस्त्रग्रहण करने का निषेध है और इस सूत्र में उसका प्रायश्चित्त कहा गया है।

सूत्र में 'पत्ताइं' शब्द है उसकी व्याख्या में दोनों व्याख्याकारों ने 'प्राप्तानि' छाया करके 'पत्त' 'अपत्त' क्षेत्र एवं काल के भंग बनाये हैं।

'पत्ताइं' शब्द का 'पात्र' अर्थ भी होता है किन्तु सूत्ररचना के अनुसार 'प्राप्तानि' अर्थ संगत होता है। क्योंकि दो का कथन करना हो तो आगमकार 'वा' का प्रयोग करते हैं, यथा—'वत्थं वा पडिग्गहं वा'।

अतः इस सूत्र में केवल वस्त्र का ही कथन है, फिर भी व्याख्याकार ने सभी उपकरणों का चातुर्मास में ग्रहण करने का निषेध किया है और चातुर्मास से पूर्व आवश्यक और अतिरिक्त कौन-कौन सी उपधि व कितनी संख्या में ग्रहण करनी चाहिए, यह भी स्पष्ट किया है।

उद्देशक का सारांश—

सूत्र—१-४ आचार्य या रत्नाधिक श्रमण को कठोर, रूक्ष या उभय वचन कहे तथा किसी भी प्रकार की आशातना करे।

सूत्र ५ अनन्तकाय-संयुक्त आहार करे।
सूत्र ६ आधाकर्म दोष का सेवन करे।
सूत्र ७-८ वर्तमान या भविष्य सम्बन्धी निमित्त कहे।
सूत्र ९-१० शिष्य का अपहरण आदि करे।
सूत्र ११-१२ दीक्षार्थी का अपहरण आदि करे।
सूत्र १३ आने वाले साधु के आने का कारण जाने विना आश्रय दे।
सूत्र १४ कलह उपशान्त न करने वाले के या प्रायश्चित्त न करने वाले के साथ आहार करे।
सूत्र १५-१८ प्रायश्चित्त का विपरीत प्ररूपण करे या विपरीत प्रायश्चित्त दे।
सूत्र १९-२४ प्रायश्चित्त सेवन, उसके हेतु और संकल्प को सुनकर या जानकर भी उस भिक्षु के साथ आहार करे।
सूत्र २५-२८ सूर्योदय या सूर्यास्त के संदिग्ध होने पर भी आहार करे।
सूत्र २९ रात्रि के समय मुख में आये उद्गाल को निगल जावे।
सूत्र ३०-३३ ग्लान की सेवा न करे अथवा विधिपूर्वक सेवा न करे।
सूत्र ३४-३५ चातुर्मास में विहार करे।
सूत्र ३६-३६ पर्युषण (संवत्सरी) निश्चित दिन न करे और अन्य दिन करे।
सूत्र ३८ पर्युषण के दिन तक लोच न करे।
सूत्र ३९ पर्युषण के दिन चौविहार उपवास न करे।
सूत्र ४० पर्युषणाकल्प गृहस्थों को सुनावे।
सूत्र ४१ चातुर्मास में वस्त्र ग्रहण करे।

ऐसी प्रवृत्तिया का गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

इस उद्देशक के १६ सूत्रों के विषय का कथन निम्न आगमों मे है, यथा—

सूत्र १-४ अविनय आशातनाओं का कथन दशाश्रुतस्कन्ध दशा १ व ३ में, उत्तराध्ययन अ. १ व अ. १७ में, दशवैकालिक अ. ९ में तथा अन्य आगमों में भी हुआ है।

सूत्र ५ अनन्तकाययुक्त आहार आ जाने पर उसके परिष्ठापन करने का कथन आचा. श्रु. २, अ. १, उ. १ में है।

सूत्र ६ आधाकर्म दोषयुक्त आहार ग्रहण करने का निषेध आचा. श्रु. २, अ. १, उ. ९ तथा सूय. श्रु. १, अ. १०, गा. ८ व ११ में तथा अन्य अनेक स्थलों में है।

सूत्र ७-८ निमित्त कथन का वर्णन उत्तरा. अ. ८, अ. १७ तथा अ. २० में है।

सूत्र २५-२९ रात्रि भोजन निषेध के चार भांगे और उद्गाल निगलने का सूत्र वृहत्कल्प उ. ५ में है।

सूत्र ३४-३५ चातुर्मास में विहार करने का निषेध वृहत्कल्प उद्देश. १, सूत्र ३६ में है।

सूत्र ४१ चातुर्मास में वस्त्र ग्रहण करने का निषेध वृहत्कल्प उद्देश. ३, सू. १६ में है।

इस उद्देशक के २५ सूत्रों के विषय का कथन अन्य आगमों में नहीं है, यथा—

सूत्र ९-१२ शिष्य व दीक्षार्थी सम्बन्धी इस तरह का स्पष्ट कथन व प्रायश्चित्त इनका समावेश तीसरे महाव्रत में हो सकता है।

सूत्र १३ आगन्तुक साधु को आश्रय देने का प्रायश्चित्त ।
सूत्र १४ अनुपशान्त के साथ आहार करने का प्रायश्चित्त ।
सूत्र १५-२४ प्रायश्चित्तों की विपरीत प्ररूपणा आदि का प्रायश्चित्त ।
सूत्र ३०-३३ ग्लान की सेवा का निर्देश सूयगडांग अ. ३ तथा अन्य आगमों में भी है, किन्तु यहां स्पष्ट सूचनायुक्त विशेष प्रायश्चित्त कहे हैं ।
सूत्र ३६-४० पर्युषणा के विशेष विधान और प्रायश्चित्त ।

॥ दसवां उद्देशक समाप्त ॥

□

ग्यारहवाँ उद्देशक

निषिद्ध पात्रग्रहण-धारण-प्रायश्चित्त—

१. जे भिक्खू १. अय-पायाणि वा, २. तंब-पायाणि वा, ३. तउय-पायाणि वा, ४. सीसग-पायाणि वा, ५. हिरण्ण-पायाणि वा, ६. सुवण्ण-पायाणि वा, ७. रीरिय-पायाणि वा, ८. हारपुड-पायाणि वा, ९. मणि-पायाणि वा, १०. काय-पायाणि वा, ११. कंस-पायाणि वा, १२. संख-पायाणि वा, १३. सिंग-पायाणि वा, १४. दंत-पायाणि वा, १५. चेल-पायाणि वा, १६. सेल-पायाणि वा, १७. चम्म-पायाणि वा करेइ, करेंतं वा साइज्जइ ।

२. जे भिक्खू अय-पायाणि वा जाव चम्म-पायाणि वा धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ ।

३. जे भिक्खू अय-बंधणाणि वा जाव चम्म-बंधणाणि वा (पायाणि) करेइ, करेंतं वा साइज्जइ ।

४. जे भिक्खू अय-बंधणाणि वा जाव चम्म-बंधणाणि वा (पायाणि) धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ ।

१. जो भिक्षु १. लोहे के पात्र, २. तांबे के पात्र, ३. रांगे के पात्र, ४. शीशे के पात्र, ५. चांदी के पात्र, ६. सोने के पात्र, ७. पीतल के पात्र, ८. मुक्ता आदि रत्न जड़ित लोहे आदि के पात्र, ९. मणि के पात्र, १०. कांच के पात्र, ११. कांसे के पात्र, १२. संख के पात्र, १३. सींग के पात्र, १४. दांत के पात्र, १५. वस्त्र के पात्र, १६. पत्थर के पात्र, १७. चर्म के पात्र बनाता है या बनाने वाले का अनुमोदन करता है ।

२. जो भिक्षु लोहे के पात्र यावत् चर्म के पात्र रखता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है ।

३ जो भिक्षु पात्र पर लोहे के बंधन लगाता है या लगाने वाले का अनुमोदन करता है ।

४. जो भिक्षु लोहे के बंधन यावत् चर्म के बंधन वाले पात्र रखता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है । (उसे गुरुचोमासी प्रायश्चित्त आता है ।)

विवेचन—आचा. श्रु. २, अ. ६. उ. १ में तथा ठाणांगसूत्र अ. ३ में साधु-साध्वी के लिये तीन प्रकार के पात्र ग्रहण करने एवं धारण करने का विधान है, यथा—१. तुम्बे के पात्र, २. लकड़ी के पात्र, ३. मिट्टी के पात्र ।

अन्य अनेक आगमों में भी इन्हीं तीन प्रकार के पात्रों का निर्देशपूर्वक वर्णन किया गया है ।

आचा. श्रु. २, अ. ६, उ. १ में लोहे आदि के पात्र तथा लोहे आदि के बंधन युक्त पात्र ग्रहण

करने का निषेध किया गया है। प्रस्तुत चार सूत्रों में उन्हीं लोहे आदि के पात्रों को ग्रहण करने का प्रायश्चित्त कहा गया है।

आचारांगसूत्र में लोहे से चर्म पर्यन्त कथन करने के साथ अन्य भी इस प्रकार के पात्र ग्रहण करने का निषेध किया है तथा इन्हें बहुमूल्य विशेषण से सूचित किया है।

लकड़ी, तुम्बा व मिट्टी के पात्र भिक्षु की लघुता के सूचक हैं। भगवतीसूत्र श. ३, उ. १ में तामलितापस के काष्ठ-पात्र ग्रहण करने का वर्णन है। उववाईसूत्र में तापस-परिव्राजक आदि के वर्णन में उनके लिए काष्ठ आदि तीन प्रकार के ही पात्र रखने का वर्णन है एवं अनेक प्रकार के पात्र रखने का निषेध है।

काष्ठादि तीनों प्रकार के पात्र अल्पमूल्य एवं सामान्य जातीय होने से उनकी चोरी होने का भय नहीं रहता है। काष्ठ व तुम्बे के पात्र में वजन भी कम होता है।

लोहे आदि के पात्र भारी तथा बहुमूल्य होते हैं, अतः इनका निषेध व प्रायश्चित्त कहा गया है।

वर्तमान में प्लास्टिक के पात्र भी साधु-साध्वी उपयोग में लेते हैं। प्लास्टिक को काष्ठ-रस संयोग से निर्मित माना जाता है। प्लास्टिक के पात्र का वजन व मूल्य काष्ठपात्र से भी कम होता है। अतः लोहे आदि के पात्र में होने वाले दोषों की इसमें सम्भावना नहीं है। किन्तु ये पात्र सभी प्रकार के खाद्य पदार्थ ग्रहण करने व रखने के योग्य नहीं होते हैं। अतः आगम-निर्दिष्ट काष्ठादि पात्र के समान ये पूर्ण रूप से उपयोगी नहीं हैं।

आचारांगसूत्र में निषिद्ध पात्रों के वर्णन में १७ जाति का नामोल्लेख है। जो प्रायः सभी प्रतियों में एक समान है। किन्तु प्रस्तुत प्रायश्चित्तसूत्र में जो उल्लेख है, वह विभिन्न प्रतियों में विभिन्न रूप से उपलब्ध है अर्थात् क्रम और नामों में भी कुछ-कुछ भिन्नता है।

निशीथसूत्र की अनेक प्रतियों में कुल मिलाकर (२२) बावीस नाम आते हैं, जिनमें (१२) बारह नाम सभी प्रतियों में समान हैं और (१०) दस नाम किसी में हैं, किसी में नहीं हैं।

वे बारह नाम इस प्रकार है—

१. अय-पायाणि, २. तंब-पायाणि, ३. तउय-पायाणि, ४. सुवण्ण-पायाणि, ५. कंस-पायाणि, ६. मणि-पायाणि, ७. दंत-पायाणि, ८. सिंग-पायाणि, ९. संख-पायाणि, १०. चम्म-पायाणि, ११. चेल-पायाणि, १२. वइर-पायाणि।

दस नाम इस प्रकार हैं—

१. सीसग-पायाणि, २. रुप्प-पायाणि, ३. जायरूव-पायाणि, ४. कणग-पायाणि, ५. हिरण्ण-पायाणि, ६. रीरिय-पायाणि, ७. हारपुड-पायाणि, ८. काय-पायाणि, ९. सेल-पायाणि, १०. अंक-पायाणि।

निशीथचूर्णि में चार-पांच नाम निर्दिष्ट [illegible] दो शब्दों की व्याख्या है। आचारांग-टीका में केवल एक शब्द [illegible] व नाम [illegible] इन पाठान्तरों का कोई प्रामाणिक समाधान सम्भव नहीं है।

लिपि-काल में प्रविष्ट अशुद्धियां समझकर एकरूपता से उपलब्ध आचारांग के पाठ के अनुसार (१७) सतरह नाम मूल पाठ में स्वीकार किये है जो निशीथ की भी एक प्रति में उपलब्ध हैं तथा प्रश्नव्याकरणसूत्र में भी १७ ही नाम मिलते हैं। पाच नाम छोड़ दिये हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. रूप्प-पायाणि, २. जायरूव-पायाणि, ३. कणग-पायाणि, ४ अंक-पायाणि, ५. वइर-पायाणि।

इन्हें छोड़ने के तीन कारण हैं—

१. ये पांचों आचारांगसूत्र में नहीं हैं।

२. ये पांचों प्रश्नव्याकरणसूत्र में भी किसी प्रति में नहीं है।

३. "रुप्प" का "हिरण्ण" में, "जायरूव एवं कणग" का "सुवण्ण" में तथा "अंक एवं वइर" का "हारपुड" में समावेश हो जाता है। हारपुड का अर्थ इस प्रकार है—

"हारपुडं नाम-अयमाद्याः पात्रविशेषाः मौक्तिकलताभिरुपशोभिताः।"

—नि. चू. उ. ११, सू. १

अर्थ—लोहे आदि (सोना-चांदी आदि) के पात्रविशेष, जो कि मुक्ता आदि से शोभित हैं अर्थात् मुक्ता—रत्न आदि से जड़ित लोहे, सोने, चांदी आदि के पात्र को हारपुड पात्र समझना चाहिए। अंक और वज्र भी एक प्रकार के रत्नविशेष हैं। अतः हारपुड़ पात्र के अन्तर्गत इन्हें समझ लेना चाहिए।

अनेक उपलब्ध प्रतियों में पात्र प्रायश्चित्त के ६ सूत्र मिलते हैं। किन्तु चूर्णिकार ने संख्या-निर्देश करके चार सूत्रों की व्याख्या इस प्रकार की है—

"प्रथमसूत्रे स्वयमेव करणं कज्जइ।
द्वितीयसूत्रे अन्यकृतस्य धरणं।
तृतीयसूत्रे अयमादिभिः स्वयमेव बंधं करोति।
चतुर्थसूत्रे अन्येन अयमादिभिर्बद्धं धारयति।" —नि. चूर्णि।

चूर्णिकार ने तीसरे-छट्ठे सूत्र का उल्लेख नहीं किया है किन्तु चार सूत्र ही होने का स्पष्ट निर्देश किया है। अतः मूल पाठ में चार सूत्र ही स्वीकार किये हैं।

लोहे आदि के पात्र स्वयं करने का आशय यह समझना चाहिये कि—अपने उपयोग मे आने के योग्य बनाना। किन्तु मूलतः बनाना साधु के लिये सम्भव नहीं हो सकता।

"काष्ठ आदि के पात्र पर लोहे आदि के तार से बंधन करना या कांच आदि को पात्र के किनारे चौतरफ लगाकर उसकी किनार बनाना", इनका बंधन करना समझना चाहिये।

इस प्रकार के पात्र या इन बंधनों वाले पात्र रखना व उपयोग में लेना ही धारण करना है।

आचारांगसूत्र के समान निशीथसूत्र की एक प्रति में "अण्णयराणि वा तहप्पगाराणि पायाइं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ" इस प्रकार पाठ मिलता है, किन्तु चूर्णि व्याख्या में व अनेक प्रतियों में नहीं मिलता है। अतः वह शब्द नहीं रखा है। फिर भी आचारांग में निषेध होने से इस प्रकार के अन्य भी पात्रों के करने एवं रखने का यही प्रायश्चित्त समझ लेना चाहिये।

मूल में स्वीकार नहीं किया गया तीसरा व छट्ठा सूत्र इस प्रकार है—

जे भिक्खू अय-पायाणि वा जाव चम्म-पायाणि वा परिभुंजइ, परिभुंजंतं वा साइज्जइ ॥३॥

जे भिक्खू अय-बंधणाणि वा जाव चम्म-बंधणाणि वा परिभुंजइ, परिभुंजंतं वा साइज्जइ ॥६॥

सूत्रकथित लोहे आदि के पात्र किस-किस कीमत के ग्रहण करने से कितना-कितना प्रायश्चित्त आता है तथा किन-किन दोषों की सम्भावना रहती है इत्यादि जानकारी के लिये भाष्य देखें।

पात्र हेतु अर्धयोजन की मर्यादा भंग करने का प्रायश्चित्त—

५. जे भिक्खू परं अद्धजोयणमेराओ पायवडियाए गच्छइ, गच्छंतं वा साइज्जइ।

६. जे भिक्खू परं अद्धजोयणमेराओ सपच्चवायंसि पायं अभिहडं आहट्टु देज्जमाणं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

५. जो भिक्षु आधे योजन से आगे पात्र के लिये जाता है या जाने वाले का अनुमोदन करता है।

६. जो भिक्षु बाधा वाले मार्ग के कारण आधे योजन की मर्यादा के बाहर से सामने लाकर दिया जाने वाला पात्र ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—आचारांगसूत्र श्रु. २, अ. ६, उ. १ में आधे योजन से आगे पात्र के लिये जाने का निषेध है। अपने ठहरने के स्थान से गवेषणा के लिये जाने की यह क्षेत्र-मर्यादा है कि दो कोस तक जा सकता है। उससे अधिक दूर जाने में एवं पुनः आने में समय की अधिकता तथा अनवस्था आदि दोषों की सम्भावना रहती है। अतः पांचवें सूत्र में इसका प्रायश्चित्त कहा है।

आचारांगसूत्र श्रु. २, अ. ६, उ. १ में सामने लाया हुआ पात्र ग्रहण करने का निषेध है, जिसका प्रायश्चित्त कथन निशीथसूत्र उद्देशक १४ में है। यहां छट्ठे सूत्र में विशेष स्थिति का प्रायश्चित्त है।

जिस दिशा में पात्र उपलब्ध हो वहां जाने का मार्ग सिंह, सर्प या उन्मत्त हाथी आदि से अवरुद्ध हो गया हो या जल से अवरुद्ध हो गया हो और पात्र की यदि अत्यन्त आवश्यकता हो और आधा योजन (दो कोस) क्षेत्र में से सामने लाकर दिया जा रहा हो तो ग्रहण करने पर इस सूत्र के अनुसार गुरुचौमासी प्रायश्चित्त नहीं आता है, किन्तु आधा योजन के आगे से सामने लाया गया पात्र ग्रहण करने पर यह प्रायश्चित्त आता है।

सूत्र में "सपच्चवायंसि" शब्द है। जिसका "किसी प्रकार की बाधाजनक स्थिति' ऐसा अर्थ होता है। अतः बीमारी आदि कारणों से भी सामने लाया गया पात्र ग्रहण किया जा सकता है किन्तु अर्द्ध योजन की मर्यादा भंग करने पर सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है।

धर्म की निंदा करने का प्रायश्चित्त—

७. जे भिक्खू धम्मस्स अवण्णं वयइ, वयंतं वा साइज्जइ ।

७. जो भिक्षु धर्म की निंदा करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरु-चौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—धर्म दो प्रकार का है १. श्रुतधर्म, २. चारित्रधर्म ।

१. **श्रुतधर्म**—ग्यारह अंग, पूर्वज्ञान और आवश्यकसूत्र एवं इनके अर्थ तथा पांच प्रकार के स्वाध्याय की निंदा करना अथवा उसे "अयुक्त" कहना "श्रुतधर्म" का अवर्णवाद है। यथा—

(१) छह काया आदि जीवों का, महाव्रत आदि आचार का तथा प्रमाद-अप्रमाद का अनेक स्थलों में बार-बार कथन किया गया है, वह अयुक्त है।

(२) वैराग्य से प्रव्रजित होने वाले भिक्षुओं को ज्योतिष वर्णन, 'जोणिपाहुड' व निमित्तवर्णन से क्या प्रयोजन है ? अतः इनके वर्णन की आगम में भी क्या आवश्यकता है ?

(३) सभी आगम एक अर्धमागधी भाषा में ही हैं, यह ठीक नहीं है। अलग-अलग भाषा में होने चाहिये।

इत्यादि प्रकार से श्रुत की आसातना करना श्रुतधर्म की निंदा है।

२. **चारित्रधर्म**—श्रावक-धर्म अथवा साधु-धर्म के आचार-नियमों के मूलगुणों या उत्तर-गुणों के विषय में निंदा करना, उन्हें "अयुक्त" कहना चारित्रधर्म का अवर्णवाद है। यथा—

(१) जीवरहित स्थान हो तो प्रतिलेखन करना निरर्थक है।

(२) सम्पूर्ण लोक जीवों से व्याप्त है तो गमनागमन आदि क्रिया करते हुए निर्दोष चारित्र कैसे रह सकता है ?

(३) प्रत्येककाय-एकेन्द्रिय के संघट्टन मात्र का लघुमासिक प्रायश्चित्त देना इत्यादि अल्प अपराध में उग्र दंड देना अयुक्त है।

(४) अपवाद में मोकाचमन (मूत्रप्रयोग) का कथन भी अयुक्त है।

(५) आधाकर्म दोष युक्त आहार गृहस्थ ने बना ही दिया तो फिर लेने में साधु को क्या दोष है, इत्यादि। यह चारित्रधर्म की निंदा है।

श्रुतधर्म या चारित्रधर्म की निंदा करने से उसे सुनकर मंदबुद्धि साधक साधना से च्युत हो सकते हैं। निंदा करने वाला ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का बंध करके दुर्लभबोधि होता है।

मूलगुण या उत्तरगुण की निंदा, देशधर्म या सर्वधर्म की निंदा एवं गृहस्थधर्म या संयमधर्म की निंदा के विकल्पों से युक्त प्रायश्चित्त की विशेष जानकारी के लिये भाष्य देखें।

अधर्म-प्रशंसा-करण-प्रायश्चित्त—

८. जे भिक्खू अहम्मस्स वण्णं वयइ, वयंतं वा साइज्जइ ।

८. जो भिक्षु अधर्म की प्रशंसा करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरु-चौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—हिंसा, असत्य के समर्थक पापश्रुतों की, चरक-परिव्राजक आदि के पंचाग्नि व्रत आदि व्रतविशेषों की तथा हिंसा आदि अठारह पापों की प्रशंसा करना अधर्मप्रशंसा है। अधर्म की प्रशंसा करने से उन पापकार्यों को करने की प्रेरणा मिलती है। जीवों के मिथ्यात्व का पोषण होता है। सामान्य व्यक्ति मिथ्यात्व की तरफ आकर्षित होते हैं।

अतः पाप या अधर्म की प्रशंसा करने का प्रसंग उपस्थित होने पर भिक्षु मौन रहे एवं उपेक्षा भाव रखे तथा अवसर देखकर शुद्ध धर्म का प्ररूपण करे।

गृहस्थ का शरीर-परिकर्म-करण प्रायश्चित्त—

९ से ६२. जे भिक्खू अण्णउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा पाए आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा, आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ। एवं तइयउद्देसगमेण णेयव्वं जाव जे भिक्खू गामाणुगामं दूइज्जमाणे अण्णउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा सीसदुवारियं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

९ से ६२. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ के पैरों का एक बार या अनेक बार "आमर्जन" करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है। इस प्रकार तीसरे उद्देशक के (सूत्र १६ से ६९) के समान आलापक जान लेने चाहिए यावत् जो भिक्षु ग्रामानुग्राम विहार करते समय अन्यतीर्थिक या गृहस्थ का मस्तक ढांकता है या ढांकने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—गृहस्थ-परिकर्म प्रायश्चित्त के ५४ सूत्र हैं। साधु के द्वारा गृहस्थ की सेवा करने पर इन सूत्रों से गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है। इनका विवेचन उद्देशक ३ सूत्र १६ से ६९ तक में किया गया है। अतः वहां देखें। अन्यतीर्थिक तथा गृहस्थ का स्पष्टार्थ उ. १, सूत्र १५ के विवेचन में देखें।

भयभीतकरण-प्रायश्चित्त—

६३. जे भिक्खू अप्पाणं बीभावेइ, बीभावेंतं वा साइज्जइ।

६४. जे भिक्खू परं बीभावेइ, बीभावेंतं वा साइज्जइ।

६३. जो भिक्षु स्वयं को डराता है या डराने वाले का अनुमोदन करता है।

६४. जो भिक्षु दूसरे को डराता है या डराने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरु-चौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—भिक्षु को भूत, पिशाच, राक्षस, सर्प, सिंह, चोर आदि से स्वयं को भयग्रस्त बनाना या अन्य को भयभीत करने के लिये भयजनक वचन कहना योग्य नहीं है।

भाष्यकार ने बताया है कि इन भय-निमित्तों का अस्तित्व हो तो भयभीत करने पर लघु-चौमासी प्रायश्चित्त आता है और बिना अस्तित्व के ही भयभीत करने पर गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

भिक्षु को स्वभाव से ही गम्भीर और निर्भीक रहना चाहिये। भयकारी निमित्तों के उत्पन्न होने पर भी सावधान और विवेकपूर्वक रहना चाहिये तथा अन्य सन्तों को सूचित करना हो तो भयोत्पादक तरीके से कथन न करते हुए सावधान करने योग्य गम्भीर एवं सांत्वनापूर्ण शब्दों में कहना चाहिए।

भयकारी निमित्तों के न होने पर अन्य को भयभीत करना या स्वयं भयभीत होना अति भय-भीरुता या कुतूहल वृत्ति से होता है, जो भिक्षु के लिये अयोग्य है।

भयभीत करने से होने वाले दोष—

१. अपने या अन्य के सुख की उपेक्षा होती है।

२. दूसरों के भयभीत होने की प्रसन्नता से दृप्तचित्त हो जाता है।

३. भयभीत होने पर कोई क्षिप्तचित्त हो जाता है या उसे रोगातंक हो जाता है।

४. भयभीत होने पर या अन्य को भयभीत करने पर कभी 'भूत' आदि का प्रवेश हो जाए तो उससे अनेक दोषोत्पत्ति होती है।

५. भय के कारण होनेवाली उपयोगरहित प्रवृत्तियों से छःकाय के जीवों की विराधना हो सकती है।

अतः स्वय भी भयभीत नहीं होना चाहिए और अन्य को भयभीत नही करना चाहिये।

विस्मितकरण प्रायश्चित्त—

६५—जे भिक्खू अप्पाणं विम्हावेइ, विम्हावेंतं वा साइज्जइ।

६६—जे भिक्खू परं विम्हावेइ, विम्हावेंतं वा साइज्जइ।

६५—जो भिक्षु स्वयं को विस्मित करता है या विस्मित करने वाले का अनुमोदन करता है।

६६—जो भिक्षु दूसरे को विस्मित करता है या विस्मित करने वाले का अनुमोदन करता है। *(उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)*

विवेचन—विद्या, मंत्र, तपोलब्धि, इन्द्रजाल, भूत-भविष्य-वर्तमान सम्बन्धी निमित्त वचन, अंतर्धान, पादलेप और योग (पदार्थों के सम्मिश्रण) आदि से स्वयं विस्मित होना या अन्य को विस्मित करना भिक्षु के लिये योग्य नही है।

जो स्वयं ने प्रयोग नहीं किये हों और दूसरों के द्वारा किये जाते हुये को देखा-सुना भी न हो ऐसे असद्भूत प्रयोगों की कल्पना द्वारा कथन से स्वयं को या अन्य को विस्मित करने का प्रस्तुत सूत्रों में गुरुचौमासी प्रायश्चित्त कहा गया है। भाष्य में वास्तविक विस्मयकारक प्रयोगों से स्वयं को या अन्य को विस्मित करने का लघुचौमासी प्रायश्चित्त बताया है।

अन्य भी अनेक कुतूहलवृत्तियों से आश्चर्यान्वित (चकित) करने का प्रायश्चित्त भी इसी सूत्र से समझ लेना चाहिये। विस्मयकारक प्रयोगों से होने वाली हानियां—

१. 'मैंने ऐसा विस्मयकारक प्रयोग किया', इस हर्ष से उन्मत्त हो सकता है।

२. अन्य को विस्मित करने से वह विक्षिप्तचित्त हो सकता है।

३. उस विद्या आदि की कोई याचना कर सकता है। उसे देने पर सावद्य प्रवृत्ति होती है और नहीं देने पर वह विरोधी बनता है।

४. विद्या आदि के प्रयोग में प्रवृत्त होने से तप-संयम की हानि होती है।

५. असद्भूत प्रयोगों से विस्मित करने में माया-मृषावाद का सेवन होता है।

अतः सद्भूत या असद्भूत दोनों प्रकार की विस्मयकारक प्रवृत्तियाँ करने पर प्रायश्चित्त आता है।

विपर्यासकरण-प्रायश्चित्त—

६७—जे भिक्खू अप्पाणं विप्परियासेइ, विप्परियासंतं वा साइज्जइ।

६८—जे भिक्खू परं विप्परियासेइ, विप्परियासंतं वा साइज्जइ।

६७—जो भिक्षु स्वयं को विपरीत बनाता है या बनाने वाले का अनुमोदन करता है।

६८—जो भिक्षु दूसरे को विपरीत बनाता है या विपरीत बनाने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—स्वयं की जो भी अवस्था है, यथा—स्त्री, पुरुष, बाल, वृद्ध, जवान, सरोग, नीरोग, सुरूप, कुरूप आदि, उनसे विपरीत अवस्था करना—यह स्वविपर्यासकरण है। इसी तरह अन्य की भी जो अवस्था हो उससे विपरीत बनाना यह परविपर्यासकरण है। ऐसा करने से गुरुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

सूत्र ६३ से ६८ तक इन छहों सूत्रों में कुतूहलवृत्ति और मायाचरण दोष के कारण प्रायश्चित्त का कथन है।

सूत्र ६७-६८ में भाष्यकार ने विपर्यास करने की जगह विपर्यास कथन का अधिक विवेचन किया है।

अन्यमतप्रशंसाकरण-प्रायश्चित्त—

६९—जे भिक्खू मुहवण्णं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

जो भिक्षु अन्य धर्म की प्रशंसा करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—जो जिस धर्म का भक्त हो उसके सामने उसके धर्म आदि की प्रशंसा करना मुखवर्ण है। ये प्रशंसा के स्थान ये हैं, यथा—

१. गंगा आदि तीर्थों की।

२. शाक्य मत आदि कुसिद्धांतों की।
३. मल्लगणधर्म आदि कुधर्मों की।
४. गोव्रत आदि कुव्रतों की।
५. भूमिदान आदि कुदानों की।
६. ३६३ पाखंड रूप उन्मार्गों की।

इनकी प्रशंसा करने से मिथ्यात्व व मिथ्या प्रवृत्ति की पुष्टि होती है। जिनप्रवचन की प्रभावना में कमी होती है। साधु की अपकीर्ति होती है कि ये खुशामदी हैं, इसीलिये हर किसी के समक्ष उसके मत की प्रशंसा करते हैं।

अतः कुतीर्थिकों के सामने उनके मत की प्रशंसा करे, अन्य धर्म के मुख्य तत्वों की या मुख्य प्रवर्तक की प्रशंसा करे तो उस भिक्षु को गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

सूत्र में 'मुखवर्ण' शब्द है, जिसका अर्थ है—जो सामने हो उसकी प्रशंसा करना। जिस किसी के सामने उसकी प्रशंसा करना खुशामद करना कहा जाता है और असत् गुणकथन से माया व असत्य वचन का दोष भी लगता है। जिससे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त का कारण बनता है। इसके पूर्व के सूत्रों में भी असत् भयभीतकरण, विस्मितकरण और विपर्यासकरण के प्रायश्चित्त का कथन है। अतः प्रस्तुत सूत्र में भी कोई व्यक्ति सामने है, उसकी अतिशयोक्तियुक्त असत् प्रशंसा (झूठी प्रशंसा) करने का यह प्रायश्चित्त है, ऐसा समझना अधिक संगत प्रतीत होता है।

भाष्य में "भावमुख" की अपेक्षा अन्य धर्म एवं उनके मुख्य तत्वों की प्रशंसा उसी धर्म के अनुयायी के सामने करने की अपेक्षा से विवेचन किया गया है, जिसका सारांश ऊपर दिया गया है।

विरुद्धराज्य-गमनागमन-प्रायश्चित्त—

७०. जे भिक्खू वेरज्ज-विरुद्धरज्जंसि सज्जं गमणं, सज्जं आगमणं, सज्जं गमणागमणं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

७०. दो राजाओं का परस्पर विरोध हो और परस्पर राज्यों में गमनागमन निषिद्ध हो, वहां जो भिक्षु बारंबार गमन, आगमन या गमनागमन करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—एक विरोधी राज्य से दूसरे विरोधी राज्य में जाना "गमन" है। जाकर पुनः लौटना "आगमन" है तथा बार-बार जाना-आना "गमनागमन" है। अथवा—प्रज्ञापक की अपेक्षा "गमन", अन्य स्थान की अपेक्षा "आगमन" है।

दो राजाओं में परस्पर विरोध चल रहा हो, एक राज्य से दूसरे राज्य की सीमा में जाने पर प्रतिबंध हो तो वहां भिक्षु को नहीं जाना चाहिये। वहां जाना आवश्यक ही हो तो एक बार जाना या आना करे तो सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नहीं आता है। किन्तु बारंबार जाने या आने में अनेक दोषों की संभावना होने से उसका प्रायश्चित्तविधान है।

बृहत्कल्पसूत्र उद्देशक एक में इस सम्बन्ध में निषेध किया गया है तथा ऐसा करने वाला भगवदाज्ञा तथा राजाज्ञा दोनों का उल्लंघन करने वाला होता है, ऐसा कहा गया है।

इससे यह फलित होता है कि ऐसे विरुद्ध राज्य में भिक्षु को एक वार जाना या आना अत्यावश्यक हो तो राजाज्ञा या भगवदाज्ञा का उल्लंघन नहीं होता है।

विरोध के भी अनेक प्रकार हो सकते हैं। अतः जिन विरोधी क्षेत्रों में जिस समय सर्वथा गमनागमन निषेध हो उस समय वहाँ एक वार भी नहीं जाना चाहिये। किन्तु जहाँ "व्यापारी" आदि के लिये गमनागमन की कुछ छूट हो या विरोधी राज्य के सिवाय अन्यत्र जाने आने की छूट हो तो वहाँ आवश्यक होने पर जाया जा सकता है।

यदि आवश्यक न हो तो ऐसे विरोधी क्षेत्रों में गमनागमन नहीं करना चाहिये।

दिवसभोजननिंदा तथा रात्रिभोजनप्रशंसा करने का प्रायश्चित्त—

७१. जे भिक्खू दियाभोयणस्स अवण्णं वयइ, वयंतं वा साइज्जइ।

७२. जे भिक्खू राइभोयणस्स वण्णं वयइ, वयंतं वा साइज्जइ।

७१. जो भिक्षु दिन में भोजन करने की निन्दा करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

७२. जो भिक्षु रात्रिभोजन करने की प्रशंसा करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन—दशवैकालिक सूत्र अ. ४ में कथन है कि—भिक्षु रात्रि भोजन का तीन करण तीन योग से जीवन पर्यंत के लिये प्रत्याख्यान करता है। अतः प्रशंसा करने से अनुमोदन के त्याग का भंग होता है।

एयं च दोसं दट्ठूण णायपुत्तेण भासियं।
सव्वाहारं न भुंजंति निग्गंथा राइभोयणं॥ —दशवै. अ. ६, गा. २५

अर्थ—रात्रिभोजन को दोषयुक्त जानकर ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान् महावीर ने कहा है कि निर्ग्रन्थ किसी प्रकार का आहार रात्रि में नहीं करते।

तात्पर्य यह है कि रात्रिभोजन दोषयुक्त है और भिक्षु के लिये सर्वथा त्याज्य है।

दिवस-भोजन की निन्दा एवं रात्रिभोजन की प्रशंसा करने से भिक्षु रात्रिभोजन का प्रेरक होता है, जिससे तीन करण तीन योग से किया गया रात्रिभोजनप्रत्याख्यान व्रत दूषित हो जाता है और जिनवाणी से विपरीत प्ररूपणा करने का दोष भी लगता है। अतः प्रस्तुत सूत्रद्वय में इनका प्रायश्चित्त कहा गया है।

दिवस-भोजन की निन्दा के प्रकार—

१. वायु आतप आदि से आहार का सत्त्व शोषित हो जाता है। अतः आहार बलवर्धक नहीं रहता है।

२. दूसरों के देखने से आहार का सत्त्व अपहृत हो जाता है।

३. किसी की दूषित दृष्टि से नजर लग जाती है।

४. मक्खियाँ आदि जन्तु आहार में गिर जाते है।

५. आकाश में उड़ने वाले चिड़िया-चमगुलि आदि की बींट आदि गिर जाती है।

६. दिन में आहार करने के बाद अनेक प्रकार का परिश्रम किया जाता है, जिससे पसीना अधिक होता है और पानी का अधिक सेवन किया जाता है, फलतः आहार शक्तिवर्धक नहीं रहता है।

रात्रिभोजन की प्रशंसा के प्रकार—

१. आयुबल की वृद्धि होती है।

२ आहार के बाद विश्राम कर लेने से इन्द्रियाँ पुष्ट होती हैं।

३. शुभ पुद्गलों का अधिक उपचय होने से शरीर शीघ्र जीर्ण नही होता है, इत्यादि।

इस प्रकार का कथन करने से भिक्षु को गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

रात्रिभोजन करने का प्रायश्चित्त—

७३. जे भिक्खू दिया असणं पाणं खाइमं साइमं पडिग्गाहेत्ता दिया भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ।

७४. जे भिक्खू दिया असणं पाणं खाइमं साइमं पडिग्गाहेत्ता रत्तिं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ।

७५. जे भिक्खू रत्तिं असणं पाणं खाइमं साइमं पडिग्गाहेत्ता दिया भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ।

७६. जे भिक्खू रत्तिं असणं पाणं खाइमं साइमं पडिग्गाहेत्ता रत्तिं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ।

७३ जो भिक्षु दिन में अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य ग्रहण करके (रात्रि में रखकर दूसरे दिन) दिन में खाता है या खाने वाले का अनुमोदन करता है।

७४. जो भिक्षु दिन में अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य ग्रहण कर रात्रि में खाता है या खाने वाले का अनुमोदन करता है।

७५. जो भिक्षु रात्रि में अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य ग्रहण करके दिन में खाता है या खाने वाले का अनुमोदन करता है।

७६. जो भिक्षु रात्रि में अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य ग्रहण करके रात्रि में खाता है या खाने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—इन सूत्रों में चौभंगी द्वारा रात्रिभोजन का प्रायश्चित्त कहा गया है और इनमें ग्रहण करने के समय का तथा खाने के समय का कथन भी किया है। जिसमें रात्रि में आहार ग्रहण करने का, रात्रि में खाने का तथा रात्रि में रखकर दिन में खाने

रात्रिभोजन से प्राणातिपात आदि मूलगुणों की विराधना होती है तथा छठा रात्रिभोजन-विरमण व्रत भी मूलगुण है, उसका भंग होता है। कुंथुए आदि सूक्ष्म प्राणी तथा फूलण आदि का शोधन होना अशक्य होता है। रात्रि में आहार की गवेषणा करने में एषणासमिति का पालन भी नहीं होता है। चूर्णिकार ने कहा है—

"किं च येऽपि प्रत्यक्षज्ञानिनो ते विशुद्धं भक्तपानं पश्यंति तथापि रात्रौ न भुंजते, मूलगुण-भंगत्वात्।" तीर्थंकरगणधराचार्यः अनाचीर्णत्वात्, जम्हा छट्ठो मूलगुणो विराहिज्जति तम्हा ण रातो भोत्तव्वं।

अर्थ—जो प्रत्यक्ष ज्ञानी होते हैं वे आहारादि को विशुद्ध जानते हुए भी रात्रि में नहीं खाते, क्योंकि मूलगुण का भंग होता है। तीर्थंकर, गणधर और आचार्यों से अनासेवित है, इससे छट्ठे मूल-गुण की विराधना होती है, अतः रात्रिभोजन नहीं करना चाहिये।

आगमों में रात्रिभोजन निषेध-सूचक स्थल इस प्रकार है—

१. दशवैकालिक सूत्र अ. ३ में रात्रिभोजन निर्ग्रंथ के लिये अनाचार कहा गया है।

२. दशवैकालिक अ. ६ में रात्रिभोजन करने से निर्ग्रंथ अवस्था से भ्रष्ट होना कहा है तथा दोषों का कथन भी किया है।

३. दशवै. अ. ४ में पांच महाव्रत के साथ रात्रिभोजनविरमण को छट्ठा व्रत कहा है।

४. दशवै. अ. ८ में सूर्यास्त से सूर्योदय तक आहार की मन से भी चाहना करने का निषेध है।

५. उत्तरा. अ. १९ गा. ३१ में संयम की दुष्करता के वर्णन में चारों प्रकार के आहार का रात्रि में वर्जन करना भी सुदुष्कर कहा है।

६. बृहत्कल्प उ. १ में रात्रि या विकाल (संध्या) के समय चारों प्रकार के आहार ग्रहण करने का निषेध है।

७. बृहत्कल्प उ. ५ में आहार करते समय ज्ञात हो जाये कि—सूर्योदय नहीं हुआ है या सूर्यास्त हो गया है तो मुंह में रखा हुआ आहार भी निकालकर परठने का विधान किया है और खाने का प्रायश्चित्त कहा है तथा रात्रि में आहार-पानी युक्त 'उद्गाल' आ जाए तो उसे निगलने का भी प्रायश्चित्त कहा गया है और उसे भी परठने का विधान है।

८. दशा. द. २ तथा समवायांग स. २१ में रात्रिभोजन करना 'शबल दोष' कहा है।

९. बृहत्कल्प उ. ४ में रात्रिभोजन का अनुद्घातिक (गुरु) प्रायश्चित्त कहा है।

१०. ठाणांग अ. ३ तथा अ. ५ में रात्रिभोजन का अनुद्घातिक प्रायश्चित्त कहा है।

११. सूयगडांगसूत्र श्रु. १, अ. २, उ. ३ में रात्रिभोजन त्याग सहित पांच महाव्रत परम रत्न कहे गये हैं, जिन्हें साधु धारण करते हैं। इस प्रकार महाव्रत के तुल्य रात्रिभोजनविरमण का महत्त्व कहा गया है।

अन्यत्र भी रात्रिभोजन के लिये निम्नांकित कथन है—

१. उलूक-काक-मार्जार-गृद्ध-संबर-शूकराः ।
अहि-वृश्चिक-गोधाश्च, जायंते रात्रिभोजनात् ॥१॥

२. एकभक्ताशनान्नित्यं, अग्निहोत्रफलं लभेत् ।
अनस्तभोजनो नित्यं, तीर्थयात्राफलं लभेत् ॥२॥

३. नैवाहुतिर्न च स्नानं, न श्राद्धं देवतार्चनम् ।
दानं न विहितं रात्रौ, भोजनं तु विशेषतः ॥३॥

४. पतंग-कीट-मंडूक-सत्वसंघातघातकम् ।
अतोऽतिनिन्दितं तावत् धर्मार्थं निशिभोजनम् ॥४॥

—योगशास्त्र प्र. ३

रात्रि में आहार रखने व खाने का प्रायश्चित्त—

७७—जे भिक्खू असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अणागाढे परिवासेइ, परियासंतं वा साइज्जइ ।

७८—जे भिक्खू परिवासियस्स असणस्स वा पाणस्स वा खाइमस्स वा साइमस्स वा तयप्पमाणं वा भूइप्पमाणं वा बिंदुप्पमाणं वा आहारं आहारेइ, आहारेंतं वा साइज्जइ ।

७७. जो भिक्षु आगाढ परिस्थिति के अतिरिक्त अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य रात्रि में रखता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु अनागाढ परिस्थिति से रात्रि में रखे हुए अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य का त्वक्-प्रमाण (चुटकी), भूति प्रमाण अथवा बिन्दुप्रमाण भी आहार करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है । (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है ।)

विवेचन—भिक्षु अशनादि चार, तीन, दो या एक भी प्रकार का आहार रात्रि में अनागाढ स्थिति में रखे तो उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है ।

आगमों के अनेक स्थलों में अशनादि संग्रह अर्थात् रात्रि में आहार रखने का निषेध है । प्रस्तुत सूत्रद्वय में आगाढ परिस्थिति में रखने का प्रायश्चित्त न कहते हुए अनागाढ स्थिति में रात्रि के समय आहार रखने का प्रायश्चित्त कथन है और अनागाढ परिस्थिति में रखे गये आहार में से कुछ भी खाने या पीने का गुरुचौमासी प्रायश्चित्त कहा है ।

आगाढ परिस्थिति में रखे गये अशनादि के भी किंचित् मात्र खाने पर प्रायश्चित्त कहा गया है इसलिये आगाढ परिस्थिति का यह अर्थ समझना चाहिये कि अन्य कोई उपाय न हो सकने से रात्रि में अशनादि रखने का प्रायश्चित्त नहीं है किन्तु उसे खाने का प्रायश्चित्त है । वह आगाढ परिस्थिति इस प्रकार सम्भव है, यथा—

१. सायंकालीन गोचरी लाने के बाद महावात (आंधी, तूफान) युक्त वर्षा आ जाय और अंधेरा हो जाने से आहार नहीं कर सके, फिर सूर्यास्त हो जाए और वर्षा न रुके । इस कारण से आहार रात्रि में रखना पड़े ।

२. आहार अधिक मात्रा में आ गया हो, परठना आवश्यक हो उस समय अचानक मूसलधार वर्षा प्रारम्भ हो जाय जो कि सूर्यास्त के बाद रात्रि तक चालू रहे और आहार रखना पड़े तो यह आगाढ परिस्थिति है।

इस प्रकार रखे हुए आहार को किंचिन्मात्र भी खाना नहीं कल्पता है। खाने पर द्वितीय (७८ वें) सूत्र के अनुसार प्रायश्चित्त आता है।

व्याख्याकार ने आगाढ परिस्थिति से रोगादि कारणों को ग्रहण किया है तथा दुर्लभ द्रव्य आदि रखने को भी आगाढ कारण में बताया है। किन्तु आगम-वर्णनों से यही स्पष्ट होता है कि भिक्षु रात्रि में खाद्य पदार्थ आदि का संग्रह कदापि न करे क्योंकि दश. अ. ६ में कहा है कि 'जो भिक्षु खाद्य पदार्थों के संग्रह का इच्छुक भी होता है वह 'गृहस्थ' है, साधु नहीं है।'

सन्निधि (संग्रह) निषेधसूचक कुछ आगमस्थल इस प्रकार हैं—

१. दशवें० अ० ३ गा. ३ में 'सण्णिही' अनाचार कहा है।

२. विडमुब्भेइमं लोणं, तिल्लं सप्पिं च फाणियं।
ण ते सण्णिहिमिच्छंति, णायपुत्तवओरया॥
—दश० अ० ६ गा० १८

३. जे सिया सण्णिहीकामे, गिही, पव्वइए-न से।
—दश० अ० ६ गा० १९

४. सण्णिहिं च न कुव्वेज्जा, अणुमायं पि संजए।
मुहाजीवी असंबद्धे हवेज्ज जगणिस्सिए॥
—दश० अ० ८ गा० २४

५. तहेव असणं पाणगं वा, विविहं खाइमं साइमं लभित्ता।
होही अट्ठो सुए परे वा, तं न निहे न निहावए, जे स भिक्खू॥
—दश० अ० १० गा० ८

६. कय-विक्कय-सण्णिहिओ विरए, सव्वसंगावगए य जे स भिक्खू॥
—दश० अ० १० गा० १६

७. चउव्विहे वि आहारे, राइभोयणवज्जणा।
सण्णिही संचओ चेव, वज्जेयव्वो सुदुक्करं॥
—उत्तरा० अ० १९ गा० ३०

८. सण्णिहिं च न कुव्वेज्जा, लेवमायाए संजए।
पक्खीपत्तं समादाय, निरवेक्खो परिव्वए॥
—उत्तरा० अ० ६, गा० १५

९. ण सण्णिहिं कुव्वइ आसुपण्णे ।
—सूय० श्रु० १, अ० ६, गा० २५

१०. जंपि य ओदण-कुम्मास-गंज-तप्पण-मंथु-भुज्जिय-पलल-सूप--सक्कुलि--वेढिम--वरसरक-चुण्ण--कोसग--पिंड--सिहरिणि--वट्ट--मोयग-खीर-दहि-सप्पि-णवणीय-तेल्ल-गुल-खंड-मच्छंडिय-खज्जक-वंजणविहिमादियं पणीयं; उवस्सए, परघरे व रण्णे न कप्पइ तं पि सण्णिहिं काउं सुविहियाणं ।।
प्रश्न. श्रु २, अ. ५, सू. ४

११. जं पि य समणस्स सुविहियस्स उ रोगायंके बहुप्पगारम्मि समुप्पन्ने-वाताहिग पित्त जाव जीवियंतकरे, सव्वसरीरपरितावणकरे, न कप्पइ तारिसे वि अप्पणो तह परस्स वा ओसह-भेसज्जं, भत्तपाणं च तं पि सण्णिहीकयं ।।

प्रश्न श्रु. २, अ. ५. सू. ७

इस आगम स्थलों से यह स्पष्ट हो जाता है कि आहार एवं औषधि के किसी भी पदार्थ का रात्रि में रखना भिक्षु के लिए सर्वथा निषिद्ध है । भाष्य निर्दिष्ट अपवाद परिस्थिति में अशनादि रखने पर सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है ।

रोगपरीषह एवं क्षुधा-पिपासापरीषह विजेता भिक्षु इस अपवाद का कदापि सेवन नहीं करे किन्तु निरतिचार शुद्ध संयम का एवं भगवदाज्ञा का आराधन करे ।

आहारार्थ अन्यत्र रात्रिनिवास-प्रायश्चित्त—

७९. जे भिक्खू आहेणं वा, पहेणं वा, हिंगोलं वा, संमेलं वा अण्णयरं वा तहप्पगारं विरूवरूवं हीरमाणं पेहाए ताए आसाए, ताए पिवासाए तं रयणि अण्णत्थ उवाइणावेइ, उवाइणावेंतं वा साइज्जइ ।

अर्थ—जो भिक्षु वर के घर के भोजन, वधु के घर के भोजन, मृत व्यक्ति की स्मृति में बनाये गये भोजन, गोठ आदि में बनाये गये भोजन अथवा अन्य भी ऐसे विविध प्रकार के भोजन को ले जाते हुए देखकर उस आहार की आशा से, उसकी पिपासा (लालसा) से अन्यत्र जाकर (अन्य उपाश्रय में) रात्रि व्यतीत करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है । (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है ।)

विवेचन—"आहेणं" आदि शब्दों की व्याख्या आचारांगसूत्र श्रु. २, अ. १, उ. ४ में की गई है । तदनुसार यहाँ अर्थ किया गया है । इसके अतिरिक्त वहाँ "हिंगोलं" का अर्थ यक्षादि की यात्रा का भोजन भी किया है तथा "समेलं" से परिजन आदि के सम्मानार्थ बनाया गया भोजन अर्थ किया गया है ।

प्रस्तुत सूत्र की चूर्णि में इन शब्दों की वैकल्पिक व्याख्याएँ दी हैं, जो इस प्रकार हैं—

"आहेणं"—१. अन्य के घर से उपहार रूप में आने वाला खाद्य पदार्थ आदि । २. वधू के घर से वर के घर उपहार रूप में ले जाया जाने वाला खाद्य पदार्थ आदि । ३. वर या वधू के घर परस्पर भेजा जाने वाला खाद्य पदार्थ आदि ।

"पहेणं"—अन्य के घर उपहार रूप में भेजा जाने वाला खाद्य पदार्थ आदि। २. वर के घर से वधू के घर उपहार रूप में भेजा जाने वाला खाद्य पदार्थ आदि। ३. वर-वधू के सिवाय अन्य के द्वारा कहीं उपहार रूप में भेजा जाने वाला आहारादि।

"हिंगोलं"—मृतकभोज-श्राद्धभोजन आदि।

"संमेलं"—१. विवाह सम्बन्धी भोजन। २. गोष्ठीभोज—गोठ का भोजन। ३. किसी भी कार्य के प्रारम्भ में किया जाने वाला भोजन।

भिक्षु इन प्रसंगों से आहार को इधर-उधर ले जाते देखे और जाने कि शय्यादाता के घर विशेष भोजन का आयोजन है। उस आहार को ग्रहण करने की आकांक्षा उत्पन्न होने से उस शय्यादाता का मकान छोड़कर अन्य किसी के मकान में (उस भोजन के पहले दिन की) रात्रि में रहने के लिये जाता है, इस विचार से कि इस मकान में रहते हुए शय्यातर का आहार ग्रहण नहीं किया जा सकता।

गृहपरिवर्तन करने में गृहस्वामी शय्यादाता का भी भक्तिवश आग्रह हो सकता है अथवा भिक्षु का स्वतः भी संकल्प हो सकता है। इन दोनों स्थितियों में उस भोजन को ग्रहण करने के संकल्प से जाने पर सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है।

ऐसा करने में आहार की आसक्ति, लोकनिन्दा या अन्य संखडी सम्बन्धी दोषों की संभावना रहती है।

व्याख्याकार ने शय्यादाता के अलावा अन्य व्यक्ति के घर का भोजन हो तो भी गृहपरिवर्तन करने का प्रायश्चित्त इसी सूत्र से बताया है। यथा—जिस किसी भक्तिमान् व्यक्ति के घर में भोजन है और वह स्थान दूर है तो उसके निकट में जाकर रात्रि-निवास किया जा सकता है। इस प्रकार शय्यातर व अन्य भोजन की अपेक्षा स्थानपरिवर्तन का प्रायश्चित्त गुरुचौमासी समझना चाहिये।

नैवेद्य का आहार करने पर प्रायश्चित्त—

८०—जे भिक्खू णिवेयणपिंडं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ।

८०. जो भिक्षु नैवेद्य पिंड खाता है या खाने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—पूर्णभद्र माणिभद्र आदि जो अरिहंतशासक देवता हैं, उनके लिए अर्पित पिंड "नैवेद्यपिंड" कहलाता है। यह नैवेद्य पिंड दो प्रकार का होता है, यथा—

१. भिक्षु की निश्राकृत २. भिक्षु की अनिश्राकृत।

१. निश्राकृत—१. जो भिक्षु को देने की भावना से युक्त है। अर्थात् मिश्रजात दोष युक्त नैवेद्य पिंड बना है। २. जो साधु को देने की भावना से नियत दिन के पहले या पीछे किया गया है। ३. नैवेद्यपिंड तैयार होने के बाद साधु के लिए स्थापित करके रख दिया है। ये सभी निश्राकृत नैवेद्य पिंड हैं।

२. अनिश्राकृत—साधु गांव में हो अथवा न हो, स्वाभाविक रूप से ही निश्चित दिन नैवे पिंड बनाया हो और अचानक साधु वहाँ पहुँच गया हो तो वह अनिश्राकृत नैवेद्यपिंड है।

तात्पर्य यह है कि साधु के लिए पाहुडिया दोष, मिश्रजात दोष और ठवणादोष आदि उद्गम के दोष जिस नैवेद्य पिंड में हों उसकी अपेक्षा यह गुरुचौमासी प्रायश्चित्त कहा गया है और उस पिं को निश्राकृत नैवेद्यपिंड कहा जाता है।

जो अनिश्राकृत स्वाभाविक नैवेद्यपिंड है अर्थात् देवता को अर्पित करने के बाद दान के लि रखा हुआ है वह अनिश्राकृत नैवेद्यपिंड अर्थात् दानपिंड होने से निशीथसूत्र के दूसरे उद्देशक आये दानपिंड के प्रायश्चित्त सूत्रों में इसका समावेश होता है। वहाँ इसको लघुमासिक प्रायश्चित्त कहा गया है।

इससे ज्ञात होता है कि आगमकाल में देवताओं को अधिक मात्रा में खाद्य पदार्थ अर्पित किया जाता था जो पूजा-विधि करके दान रूप में वितरित कर दिया जाता था।

किसी श्रद्धाशील के द्वारा भिक्षु को किसी निमित्त से दान देने के लिये भी ऐसी प्रवृत्ति की जाती थी। अतः उसी अपेक्षा से इस सूत्र में निश्राकृत नैवेद्यपिंड का प्रायश्चित्त कहा गया है।

यथाछंद को वंदन करने तथा उसकी प्रशंसा करने का प्रायश्चित्त—

८१. जे भिक्खू अहाछंदं पसंसइ, पसंसंतं वा साइज्जइ।

८२. जे भिक्खू अहाछंदं वंदइ, वंदंतं वा साइज्जइ।

८१. जो भिक्षु स्वच्छंदाचारी की प्रशंसा करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है

८२. जो भिक्षु स्वच्छंदाचारी को वंदन करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन—जो आगमविपरीत एवं स्वमतिकल्पित प्ररूपणा करता है, वह 'यथाछंद' कहा जाता है।

ऐसे स्वच्छंदाचारी भिक्षु की प्रशंसा एवं वंदना करने से उसे प्रोत्साहन मिलता है तथा अन्य भी अनेक दोषों की उत्पत्ति की संभावना होने से प्रस्तुत सूत्र में इसका गुरुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त कहा गया है तथा उपलक्षण से शिष्य या आहारादि का आदान-प्रदान करने पर भी यही प्रायश्चित्त समझ लेना चाहिये।

पासत्था आदि ९ प्रकार के साधुओं को वंदना एवं उनकी प्रशंसा करने पर लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है। —नि० उ० १३.

उनके साथ अन्य सम्पर्क रखने का भी लघुचौमासी या लघुमासिक प्रायश्चित्त का कथन अन्य उद्देशकों में है। किन्तु यथाछंद उत्सूत्र प्ररूपक होने से इसके साथ सम्पर्क का यहाँ गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त कहा गया है।

"पहेणं"—अन्य के घर उपहार रूप में भेजा जाने वाला खाद्य पदार्थ आदि। २. वर के घर से वधू के घर उपहार रूप में भेजा जाने वाला खाद्य पदार्थ आदि। ३. वर-वधू के सिवाय अन्य के द्वारा कहीं उपहार रूप में भेजा जाने वाला आहारादि।

"हिंगोलं"—मृतकभोज-श्राद्धभोजन आदि।

"संमेलं"—१. विवाह सम्बन्धी भोजन। २. गोष्ठीभोज—गोठ का भोजन। ३. किसी भी कार्य के प्रारम्भ में किया जाने वाला भोजन।

भिक्षु इन प्रसंगों से आहार को इधर-उधर ले जाते देखे और जाने कि शय्यादाता के घर विशेष भोजन का आयोजन है। उस आहार को ग्रहण करने की आकांक्षा उत्पन्न होने से उस शय्यादाता का मकान छोड़कर अन्य किसी के मकान में (उस भोजन के पहले दिन की) रात्रि में रहने के लिये जाता है, इस विचार से कि इस मकान में रहते हुए शय्यातर का आहार ग्रहण नहीं किया जा सकता।

गृहपरिवर्तन करने में गृहस्वामी शय्यादाता का भी भक्तिवश आग्रह हो सकता है अथवा भिक्षु का स्वतः भी संकल्प हो सकता है। इन दोनों स्थितियों में उस भोजन को ग्रहण करने के संकल्प से जाने पर सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है।

ऐसा करने में आहार की आसक्ति, लोकनिन्दा या अन्य संयदी सम्बन्धी दोषों की संभावना रहती है।

व्याख्याकार ने शय्यादाता के अलावा अन्य व्यक्ति के घर का भोजन हो तो भी गृहपरिवर्तन करने का प्रायश्चित्त इसी सूत्र से बताया है। यथा—जिस किसी भक्तिमान् व्यक्ति के घर में भोजन है और वह स्थान दूर है तो उसके निकट में जाकर रात्रि-निवास किया जा सकता है। इस प्रकार शय्यातर व अन्य भोजन की अपेक्षा स्थानपरिवर्तन का प्रायश्चित्त गुरुचौमासी समझना चाहिये।

नैवेद्य का आहार करने पर प्रायश्चित्त—

८०—जे भिक्खू णिवेयणपिंडं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ।

८०. जो भिक्षु नैवेद्य पिंड खाता है या खाने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरु-चौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—पूर्णभद्र माणिभद्र आदि जो अरिहंतपाक्षिक देवता हैं, उनके लिए अर्पित पिंड "नैवेद्यपिंड" कहलाता है। वह नैवेद्य पिंड दो प्रकार का होता है, यथा—

१. भिक्षु की निश्राकृत २. भिक्षु की अनिश्राकृत।

१. निश्राकृत—१. जो भिक्षु को देने की भावना से युक्त है। अर्थात् मिश्रजात दोष युक्त नैवेद्य पिंड बना है। २. जो साधु को देने की भावना से नियत दिन के पहले या पीछे किया गया है। ३. नैवेद्यपिंड तैयार होने के बाद साधु के लिए स्थापित करके रख दिया है। ये सभी निश्राकृत नैवेद्य पिंड हैं।

अयोग्य को प्रव्रजित करने का प्रायश्चित्त—

८३. जे भिक्खू णायगं वा अणायगं वा उवासगं वा अणुवासगं वा अणलं पव्वावेइ, पव्वावेंतं वा साइज्जइ।

८४. जे भिक्खू णायगं वा अणायगं वा उवासगं वा अणुवासगं वा अणलं उवट्ठावेइ, उवट्ठावेंतं वा साइज्जइ।

८३. जो भिक्षु अयोग्य स्वजन या परजन, उपासक या अनुपासक को प्रव्रजित करता है या प्रव्रजित करने वाले का अनुमोदन करता है।

८४. जो भिक्षु अयोग्य स्वजन या परजन, उपासक या अनुपासक को उपस्थापित करता है या उपस्थापित करने वाले का अनुमोदन करता है।

(उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—प्रथम सूत्र में अयोग्य को दीक्षा देने का प्रायश्चित्त कथन है। यदि किसी को दीक्षा देने के बाद जानकारी हो कि यह दीक्षा के अयोग्य है तो जानकारी होने के बाद उसे उपस्थापित करने पर द्वितीय सूत्र के अनुसार प्रायश्चित्त आता है।

प्रथम सूत्र में जानकर अयोग्य को दीक्षा देने का प्रायश्चित्त कहा है। द्वितीय सूत्र में अनजान में दीक्षा दिये बाद अयोग्य जानकर के भी बड़ी दीक्षा देने का प्रायश्चित्त कहा है।

इससे यह ध्वनित होता है कि दीक्षा देने के बाद अयोग्यता की जानकारी होने पर बड़ी दीक्षा नहीं देनी चाहिए।

अयोग्यता की जानकारी न होने के दो कारण हो सकते हैं। यथा—

१. दीक्षार्थी द्वारा अपनी अयोग्यता को छिपा लेना।

२. दीक्षादाता के द्वारा छानबीन करके पूर्ण जानकारी न करना।

दूसरे कारण में दीक्षादाता का प्रमाद है, अतः वह सूत्रोक्त प्रायश्चित्त को प्राप्त करता है। उपस्थापित करने के बाद उसे छोड़ना या न छोड़ना यह गीतार्थ के निर्णय पर निर्भर है।

प्रव्रज्या के अयोग्य व्यक्ति निम्नलिखित हैं—

१. बाल—आठ वर्ष से कम उम्र वाला। २. वृद्ध—सत्तर (७०) वर्ष से अधिक उम्र वाला। ३. नपुंसक—जन्म-नपुंसक, कृतनपुंसक, स्त्रीनपुंसक तथा पुरुष नपुंसक आदि। ४. जड़—शरीर से अशक्त, बुद्धिहीन व मूक। ५. क्लीब—स्त्री के शब्द, रूप, निमन्त्रण आदि के निमित्त से उदित मोह-वेद को निष्फल करने में असमर्थ ६. रोगी—१६ प्रकार के रोग और आठ प्रकार की व्याधि में से किसी भी रोग या व्याधि से युक्त। शीघ्रघाती व्याधि कहलाती है और चिरघाती रोग कहलाते हैं। —भाष्य गा० ३६४७। ७. चोर—रात्रि में घर-घर प्रवेश कर चोरी करने वाला, जेब काटने वाला इत्यादि अनेक प्रकार के चोर डाकू लुटेरे। ८. राज्य का अपराधी—किसी प्रकार का राज्यविरुद्ध कार्य करने पर अपराधी घोषित किया हुआ। ९. उन्मत्त—यक्षाविष्ट या पागल। १०. चक्षुहीन—जन्मान्ध हो या बाद में किसी एक या दोनों आँखों की ज्योति चली गई हो। ११. दास—

किसी का खरीदा हुआ या अन्य किसी कारण से दासत्व को प्राप्त। १२. दुष्ट—कषाय दुष्ट (अति क्रोधी), विषयदुष्ट (विषयासक्त)। १३. मूर्ख—द्रव्यमूढ आदि अनेक प्रकार के मूर्ख-भ्रमित बुद्धि वाले। १४. कर्जदार—अन्य की सम्पत्ति उधार लेकर न देने वाला। १५. जुंगित (हीन)—जाति से, कर्म से, शिल्प से हीन और शरीर से हीनांग (जिसके नाक, कान, पैर, हाथ आदि कटे हुए हों)। १६. बद्ध—कर्म, शिल्प, विद्या, मंत्र आदि सीखने या सिखाने के निमित्त किसी के साथ प्रतिज्ञा-बद्ध हो। १७. भृतक—दिवसभृतक, यात्राभृतक आदि। १८. अपहृत—माता-पिता आदि की आज्ञा विना अदत्त लाया हुआ बालक आदि। १९. गर्भवती—स्त्री। २०. बालवत्सा—दुधमुंहे बच्चे वाली स्त्री। भाष्य में इनके अनेक भेद प्रभेद किए हैं तथा इन्हें दीक्षा देने से होने वाले दोषों और उनके प्रायश्चित्तों के अनेक विकल्प कहे हैं।

दीक्षा के अयोग्य इन २० प्रकार के व्यक्तियों का वर्णन निशीथभाष्य तथा अन्य व्याख्या-ग्रंथों में मिलता है। आगम में इस विषयक कथन बृहत्कल्पसूत्र उद्देशक चार में है। वहाँ तीन को दीक्षा देना आदि अकल्पनीय कहा है, यथा—१. पंडक, २. क्लीब ३. वातिक।

बृहत्कल्पभाष्य में "वाइए" पाठ से "वातिक" की व्याख्या की गई है। किन्तु निशीथ-भाष्य में अयोग्यों के वर्णन में "वाहिए" शब्द कह कर व्याधिग्रस्त अर्थ किया है तथा नपुंसक के प्रभेदों में "वातिक" कहा है।

वातिक—वायुजन्य दोष से जो विकार को प्राप्त होता है एवं अनाचार-सेवन करने पर ही उपशांत होता है।

क्लीब—दृष्टि, शब्द, स्पर्श (आलिंगन) या निमन्त्रण से विकार को प्राप्त होकर जिसके स्वतः वीर्य निकल जाता है।

बृहत्कल्पसूत्र के मूल पाठ में "पंडक" (नपुंसक) से इन दोनों को अलग कहने का कारण यह है कि ये लिंग व वेद की अपेक्षा से पुरुष हैं किन्तु कालान्तर से नपुंसक भाव को प्राप्त हो जाते हैं। अतः पुरुष होते हुए भी इन्हें दीक्षा देने का निषेध किया गया है।

आगमविहारी अतिशयज्ञानी इन भाष्यवर्णित सभी को यथावसर दीक्षा दे सकते हैं।

"बालवय" वाले को कारणवश गीतार्थ दीक्षा दे सकते हैं, ऐसा ठाणांग सूत्र अ० ५, सूत्र १०८ से फलित होता है।

भाष्य-गाथा ३७३८ में वीस प्रकार के अयोग्यों में से कुछ को यथावसर दीक्षा दी भी जा सकती है, ऐसा बताया है किन्तु गीतार्थ को यह अधिकार अन्य गीतार्थ की सलाह से ही होता है। अन्यथा उसे भी प्रायश्चित्त आता है।

दीक्षा के योग्य व्यक्ति—

१. आर्यक्षेत्रोत्पन्न २. जातिकुलसम्पन्न ३. लघुकर्मा ४. निर्मलबुद्धि ५. संसार-समुद्र में मनुष्य भव की दुर्लभता, जन्म-मरण के दुःख, लक्ष्मी की चंचलता, विषयों के दुःख, इष्ट संयोगों का वियोग, आयु की क्षणभंगुरता, मरण पश्चात् परभव का अति रौद्र विपाक और संसार की असारता आदि भावों को जानने वाला ६. संसार से विरक्त ७. अल्पकषायी ८. अल्पहास्यादि (कुतूहलवृत्ति से रहित)

९. गुरुभक्त १०. विनयवान् ११. राज्य-अपराध रहित १२. सुडौल शरीर १३. श्रद्धावान् १४. स्थिर चित्त वाला १५. सम्यक् उपसम्पन्न ।

इन गुणों से सम्पन्न को दीक्षा देनी चाहिये, अथवा इनमें से एक-दो गुण कम भी हों तो बहुगुणसम्पन्न को दीक्षा दी जा सकती है ।

—अभि. राजेन्द्र कोष "पवज्जा" पृ. ७३६

दीक्षादाता के लक्षण—

उपर्युक्त पन्द्रह गुण सम्पन्न तथा १६. विधिपूर्वक प्रव्रजित, १७. सम्यक् प्रकार से गुरुकुल-वाससेवी, १८. प्रव्रज्या-ग्रहण काल से सतत अखंड शीलवाला, १९. परद्रोह रहित, २०. यथोक्त विधि से गृहीत सूत्र वाला, २१. सूत्रों, अध्ययनों आदि के पूर्वापर सम्बन्धों में निष्णात २२. तत्त्वज्ञ, २३ उपशांत, २४. प्रवचनवात्सल्ययुक्त, २५. प्राणियों के हित में रत, २६. आदेय वचन वाला, २७ भावों की अनुकूलता से शिष्यों की परिपालना करने वाला, २८. गम्भीर (उदारमना) २९. परीषह आदि आने पर दीनता न दिखाने वाला, ३०. उपशमलब्धि सम्पन्न (उपशांत करने में चतुर) उपकरणलब्धिसम्पन्न, स्थिरहस्तलब्धिसम्पन्न, ३१. सूत्रार्थ-वक्ता, ३२. स्वगुरुअनुज्ञात गुरु पद वाला । ऐसे गुण सम्पन्न विशिष्ट साधक को गुरु बनाना चाहिए ।

—अभि. राजेन्द्र कोष "पवज्जा" पृ. ७३४

दीक्षार्थी के प्रति दीक्षादाता के कर्तव्य —

१. दीक्षार्थी से पूछना चाहिये कि—"तुम कौन हो ? क्यों दीक्षा लेते हो ? तुम्हें वैराग्य उत्पन्न कैसे हुआ ?" इस प्रकार पूछने पर योग्य प्रतीत हो तथा अन्य किसी प्रकार से अयोग्य ज्ञात न हो तो उसे दीक्षा देना कल्पता है ।

२. दीक्षा के योग्य जानकर उसे यह साध्वाचार कहना चाहिए यथा—१. प्रतिदिन भिक्षा के लिये जाना, २. भिक्षा में अचित्त पदार्थ लेना, ३. वह भी एषणा आदि दोषों से रहित शुद्ध ग्रहण करना, ४. लाने के बाद बाल-वृद्ध आदि को देकर संविभाग से खाना, ५. स्वाध्याय में सदा लीन रहना, ६ आजीवन स्नान न करना, ७. भूमि पर या पाट पर शयन करना, ८. अट्ठारह हजार (या हजारों) गुणों को धारण करना, ९. लोच आदि के अनेक कष्टों को सहन करना आदि । यदि वह यह सब सहर्ष स्वीकार कर ले तो उसे दीक्षा देनी चाहिये ।

—नि. चूर्णि पृ. २७८

नवदीक्षित भिक्षु के प्रति दीक्षादाता के कर्तव्य—

१. "शस्त्रपरिज्ञा" का अध्ययन कराना अथवा "षड्जीवनिका" का अध्ययन कराना ।

२ उसका अर्थ—परमार्थ समझाना कि ये पृथ्वी आदि जीव हैं, धूप छाया पुद्गल आदि अजीव हैं तथा पुण्य-पाप, आस्रव-संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष नव पदार्थ, कर्मबंध के हेतु व उनके भेद, परिणाम इत्यादि का परिज्ञान कराना ।

३ इन्हीं तत्त्वों को पुनः पुनः समझाकर उसे धारण कराना, श्रद्धा कराना ।

४ तत्पश्चात् उन जीवों की यतना का विवेक सिखाना ।

५. सिखाने के बाद श्रद्धा एवं विवेक की परीक्षा करना, यथा—

खड़े रहने, बैठने, सोने या परठने के लिये सचित्त भूमि बताकर कहना कि "यहां खड़े रहो, परठो इत्यादि। सचित्त स्थल देखकर वह चिंतित होता है या नहीं, इसकी परीक्षा करना।

इसी तरह तालाब आदि की गीली भूमि में चलने, दीपक सरकाने, गर्मी में हवा करने तथा वनस्पति व त्रस जीव युक्त मार्ग में चलने का कहकर परीक्षा करना। एषणा दोष युक्त भिक्षा ग्रहण करने को कह कर परीक्षा करना।

इस प्रकार अध्ययन, अर्थज्ञान, श्रद्धान, विवेक तथा परीक्षा में योग्य हो उसे उपस्थान करना चाहिये।

उल्लिखित विधि से जो योग्य न बना हो उसे उपस्थापित करने पर प्रायश्चित्त आता है।

—निशीथ चूर्णि पृ. २८०

अयोग्य से वैयावृत्य कराने का प्रायश्चित्त—

८५. जे भिक्खू नायगेण वा अनायगेण वा उवासएण वा अणुवासएण वा अणलेण वेयावच्चं कारवेइ, कारवेंतं वा साइज्जइ।

जो भिक्षु अयोग्य स्वजन या परजन, उपासक या अनुपासक दीक्षित भिक्षु से सेवा करवाता है या करवाने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—सेवाकार्य अनेक प्रकार के हो सकते हैं। किन्तु भाष्यकार ने केवल भिक्षाचरी की अपेक्षा से सेवाकार्य में अयोग्य का वर्णन किया है। वे चार प्रकार के हो सकते हैं, यथा—

१. जिसने पिंडैषणा का अध्ययन न किया हो,
२. जिसकी सेवाकार्य में श्रद्धा-रुचि न हो,
३. जिसने उसका अर्थ-परमार्थ न जाना हो,
४. जो दोषों का परिहार न कर सकता हो।

इस प्रकार के अयोग्य से वैयावृत्य कराने पर प्रायश्चित्त आता है।

अन्य अनेक सेवाकार्यों के लिये भी यही उचित है कि जो शारीरिक शक्ति से सक्षम हो और क्षयोपशम की अपेक्षा भी योग्य हो, उसी साधु से सेवाकार्य करवाना चाहिये। शक्ति और योग्यता से अधिक सेवाकार्य कराने पर अनेक दोषों की सम्भावना रहती है एवं सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है।

साधु-साध्वियों के एक स्थान में ठहरने का प्रायश्चित्त—

८६. जे भिक्खू सचेले सचेलाणं मज्झे संवसइ, संवसंतं वा साइज्जइ।

८७. जे भिक्खू सचेले अचेलाणं मज्झे संवसइ, संवसंतं वा साइज्जइ।

८८. जे भिक्खू अचेले सचेलाणं मज्झे संवसइ, संवसंतं वा साइज्जइ।

८९. जे भिक्खू अचेले अचेलाणं मज्झे संवसइ, संवसंतं वा साइज्जइ।

९. गुरुतज्ञ १० विनयवान् ११. राज्य-अपराध रहित १२. सुडौल शरीर १३. श्रद्धावान् १४. स्थिर चित्त वाला १५. सम्यग् उपसम्पन्न।

इन गुणों से सम्पन्न को दीक्षा देनी चाहिये, अथवा इनमें से एक-दो गुण कम भी हों तो बहुगुणसम्पन्न को दीक्षा दी जा सकती है।

—अभि. राजेन्द्र कोष "पवज्जा" पृ. ७३६

दीक्षादाता के लक्षण—

उपर्युक्त पन्द्रह गुण सम्पन्न तथा १६. विधिपूर्वक प्रव्रजित, १७. सम्यक् प्रकार से गुरुकुल-वाससेवी, १८. प्रव्रज्या-ग्रहण काल से सतत अखंड शीलवाला, १९. परद्रोह रहित, २०. यथोक्त विधि से ग्रहीत सूत्र वाला, २१. सूत्रों, अध्ययनों आदि के पूर्वापर सम्बन्धों में निष्णात २२. तत्त्वज्ञ, २३. उपशांत, २४. प्रवचनवात्सल्ययुक्त, २५. प्राणियों के हित में रत, २६. आदेय वचन वाला, २७. भावों की अनुकूलता से शिष्यों की परिपालना करने वाला, २८. गम्भीर (उदारमना) २९. परीषह आदि आने पर दीनता न दिखाने वाला, ३०. उपशमलब्धि सम्पन्न (उपशांत करने में चतुर) उपकरणलब्धिसम्पन्न, स्थिरहस्तलब्धिसम्पन्न, ३१. सूत्रार्थ-वक्ता, ३२. स्वगुरुअनुज्ञात गुरु पद वाला। ऐसे गुण सम्पन्न विशिष्ट साधक को गुरु बनाना चाहिए।

—अभि. राजेन्द्र कोष "पवज्जा" पृ. ७३४

दीक्षार्थी के प्रति दीक्षादाता के कर्तव्य—

१. *दीक्षार्थी से पूछना चाहिये कि—"तुम कौन हो? क्यों दीक्षा लेते हो? तुम्हें वैराग्य* उत्पन्न कैसे हुआ?" इस प्रकार पूछने पर योग्य प्रतीत हो तथा अन्य किसी प्रकार से अयोग्य ज्ञात न हो तो उसे दीक्षा देना कल्पता है।

२. दीक्षा के योग्य जानकर उसे यह साध्वाचार कहना चाहिए यथा—१. प्रतिदिन भिक्षा के लिये जाना, २. भिक्षा में अचित्त पदार्थ लेना, ३. वह भी एषणा आदि दोषों से रहित शुद्ध ग्रहण करना, ४. लाने के बाद बाल-वृद्ध आदि को देकर समविभाग से खाना, ५. स्वाध्याय में सदा लीन रहना, ६. *आजीवन स्नान न करना, ७. भूमि पर या पाट पर शयन करना,* ८. अट्ठारह हजार (या हजारों) गुणों को धारण करना, ९. लोच आदि के अनेक कष्टों को सहन करना आदि। यदि वह *यह सब सहर्ष स्वीकार कर ले तो उसे दीक्षा देनी चाहिये।*

—नि. चूर्णि पृ. २७८

नवदीक्षित भिक्षु के प्रति दीक्षादाता के कर्तव्य—

१. "शस्त्रपरिज्ञा" का अध्ययन कराना अथवा "छज्जीवनिका" का अध्ययन कराना।

२. उसका अर्थ—परमार्थ समझाना कि ये पृथ्वी आदि जीव हैं, धूप छाया पुद्गल आदि अजीव हैं तथा पुण्य-पाप, आस्रव-संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष नव पदार्थ, कर्मबंध के हेतु व उनके भेद, परिणाम इत्यादि का परिज्ञान कराना।

३. *इन्हीं तत्त्वों को पुनः पुनः समझाकर उसे धारण कराना, श्रद्धा कराना।*

४. तत्पश्चात् उन जीवों की यतना का विवेक सिखाना।

८६. जो सचेल भिक्षु सचेल साध्वियों के साथ रहता है या रहने वाले का अनुमोदन करता है।

८७. जो सचेल भिक्षु अचेल साध्वियों के साथ रहता है या रहने वाले का अनुमोदन करता है।

८८. जो अचेल भिक्षु सचेल साध्वियों के साथ रहता है या रहने वाले का अनुमोदन करता है।

८९. जो अचेल भिक्षु अचेल साध्वियों के साथ रहता है या रहने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—१. बृहत्कल्पसूत्र उद्देशक में स्त्री-युक्त स्थान में व साध्वी को पुरुष-युक्त स्थान में ठहरने का निषेध है।

२. उत्तराध्ययनसूत्र अ० १६ तथा अ० ३२ में भी विविक्त शय्या में रहने का विधान है।

३. दशवैकालिकसूत्र अ. ८, गा. ५४ में कहा है—साधु को स्त्री से सदा भय बना रहता है।

४. उत्तराध्ययन ३२, गा० १६ में कहा है कि—यदि भिक्षु को विभूषित देवांगनाएं भी संयम से विचलित न कर सकती हों तो भी उसे एकान्त हितकारी जानकर स्त्रीरहित स्थान में ही रहना श्रेयस्कर है।

यद्यपि साधु-साध्वी दोनों ही संयम के पालक हैं फिर भी उन्हें एक स्थान में निवास नहीं करना चाहिये।

सचेल साधु सचेल साध्वी के साथ रहे तो भी अनेक दोषों की सम्भावना रहती है तो अचेल का साथ रहना तो स्पष्ट ही अहितकर है।

निशीथ उद्देशक ९ में साधु-साध्वी के सह-विहार का गुरुचौमासी प्रायश्चित्त कहा गया है और यहां सचेल अचेल की चौभंगी के साथ साधु-साध्वी के सहनिवास का गुरुचौमासी प्रायश्चित्त कहा है।

ठाणांग सूत्र अ. ५, सू. ४१७ में कहा है कि आपवादिक परिस्थिति में साधु-साध्वी एक साथ रहे तो भगवद्-आज्ञा का उल्लंघन नहीं होता है।

ठाणांग सूत्र अ. ५, सू. ४१८ में कहा है कि अचेल निर्ग्रन्थ सचेल निर्ग्रन्थी के साथ रहे तो भगवद्-आज्ञा का उल्लंघन नहीं होता है।

परिस्थिति के कारण ऐसा प्रसंग आने पर गीतार्थ के नेतृत्व में विवेकपूर्वक रहा जाता है।

उक्त स्थानांग-कथित दस कारणों से साधु साध्वियों के एक साथ रहने का प्रस्तुत सूत्र से प्रायश्चित्त नहीं आता है।

बृहत्कल्प उ. ३, सू. १-२ में साधु-साध्वी को एक दूसरे के उपाश्रय में खड़े रहना, बैठना, सोना आदि सभी कार्यों का निषेध है।

इस प्रकार वृहत्कल्प आदि सूत्रों का कथन उत्सर्ग विधि है, ठाणांगसूत्र का कथन अपवाद विधि है एवं प्रस्तुत सूत्र कथित प्रायश्चित्त परिस्थिति के विना सह निवास करने का है, ऐसा समझना चाहिए ।

रात में लवणादि खाने का प्रायश्चित्त–

९०. जे भिक्खू परियासियं पिप्पलिं वा, पिप्पलि-चुण्णं वा, मिरीयं वा, मिरीय-चुण्णं वा, सिंगबेरं वा, सिंगबेर-चुण्णं वा, बिलं वा लोणं, उब्भियं वा लोणं आहारेइ, आहारेंतं वा साइज्जइ ।

९० जो भिक्षु रात्रि में रखे हुए पीपर या पीपर का चूर्ण, मिर्च या मिर्च का चूर्ण, सोंठ या सोंठ का चूर्ण, विड़लवण या उद्भिन्नलवण को खाता है या खाने वाले का अनुमोदन करता है, (उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है ।)

विवेचन—लवण आदि के संग्रह का निषेध दशवै. अ. ६, गा. १८-१९ में है और आहारादि पास में रखने का निषेध अन्य अनेक आगमों में है । जिसके लिए इसी उद्देशक के सूत्र ७७ का विवेचन देखें । रात्रि में खाने से या रात्रि में रखे हुए पदार्थ दिन में खाने से भी मूलगुण रूप रात्रिभोजन-विरमण व्रत का भंग होता है ।

इन सभी प्रकार के रात्रिभोजन का सूत्र ७३ से ७६ तक चौभंगी के द्वारा प्रायश्चित्त कहा है ।

प्रस्तुत सूत्र में पुनः रात्रिभोजन सम्बन्धी प्रायश्चित्त कहा गया है, इसका कारण यह है कि अशन, पान आदि पदार्थ भूख-प्यास को शांत करने वाले होते हैं किन्तु लवणादि पदार्थों में यह गुण नहीं होता है । इस भिन्नता के कारण इनका प्रायश्चित्त पृथक् कहा गया है ।

शब्दों की व्याख्या

पिप्पलिं—औषधि विशेष—पीपर । —प्राकृत हिन्दी कोष पृ. ५८

मिरीयं—मिर्च । यह अनेक प्रकार की होती है—लाल मिर्च, काली मिर्च, सफेद मिर्च ।

अनेक प्रतियों में 'मिरीयं वा मिरीय-चुण्णं वा' ये शब्द नहीं मिलते हैं किन्तु चूर्णिकार के सामने ये शब्द मूल पाठ में थे, ऐसा प्रतीत होता है, अतः इन शब्दों को मूल पाठ में रखा गया है ।

पीपर और मिर्च ये दोनों सचित्त पदार्थ हैं, किन्तु अनेक जगह ये शस्त्रपरिणत भी मिलते हैं ।

सिंगबेरं—अदरख । सूखने पर इसे सोंठ कहा जाता है, जो अचित्त होती है ।

इन तीनों का अचित्त चूर्ण भी अनेक जगह स्वाभाविक रूप से उपलब्ध हो सकता है ।

बिलं वा लोणं—पकाया हुआ नमक ।

उब्भियं वा लोणं—अन्य शस्त्रपरिणत नमक ।

ये दोनों प्रकार के नमक अचित्त हैं । आगम में सचित्त नमक के साथ इन दो प्रकार के नमक का नाम नहीं आता है । दशवै. अ. ३, गा. ८ में ६ प्रकार के सचित्त नमक ग्रहण करने व खाने को अनाचार कहा है, यथा—

"सोवच्चले सिंधवे लोणं, रोमालोणे य आमए।
सामुद्दे पंसुखारे य, काला लोणे य आमए॥"

आचा. श्रु. २, अ. १, उ. १० में इन दो प्रकार के नमक को खाने का विधान है।

दशवै अ. ६, गा. १८ में इन दो के संग्रह का निषेध है और प्रस्तुत सूत्र में रात्रि में रखे हुए को खाने का प्रायश्चित्त है। इन स्थलों के वर्णन से यही स्पष्ट होता है कि उपरोक्त छः प्रकार के सचित्त नमक में से कोई नमक अग्नि-पक्व हो तो उसे 'बिडलवण' कहते हैं और अन्य शस्त्रपरिणत हो तो उसे 'उद्भिन्न नमक' कहते हैं।

भाष्यकार यहाँ आहार एवं अनाहार योग्य पदार्थों का वर्णन करते हुए बताते हैं कि ये सूत्रोक्त पदार्थ भूख-प्यास को शांत करने वाले न होते हुए भी आहार में मिलाये जाते है और आहार को संस्कारित करते है, अतः ये भी आहार के उपकारक होने से आहार ही हैं।

औषधियाँ आहार व अनाहार में दो प्रकार की कही हैं—

१. जिन्हें खाने पर कुछ भी अनुकूल स्वाद आए वे आहार रूप है।

२. जो खाने में अनिच्छनीय एवं अरुचिकर हों वे अनाहार हैं, यथा—त्रिफला आदि औषधियाँ, मूत्र, निम्बादि की छाल, निम्बोली तथा और भी ऐसे अनेक पत्र, पुष्प, फल, बीज आदि समझ लेने चाहिए।

अथवा भूख में जो कुछ भी खाया जा सकता है वह सब आहार है।

यह व्याख्या एक विशेष अपेक्षा से ही समझनी चाहिए। क्योंकि व्यव. उ. ९ के अनुसार रात्रि में स्वमूत्र पीना भी निषिद्ध है, जिसे भाष्य में अनाहार कहा गया है। अतः इन त्रिफला आदि पदार्थों को भी रात्रि में रखना, खाना या उपवास आदि में अनाहार समझकर खाना आगम सम्मत नहीं समझना चाहिए।

विवेचन के अन्त में भाष्यकार ने भी आहार व अनाहार रूप पदार्थों को सामान्यतया रात्रि में रखने और खाने का निषेध किया है। आहार के रखने पर गुरुचौमासी और अनाहार के रखने पर लघुचौमासी प्रायश्चित्त कहा है।

बालमरणप्रशंसा-प्रायश्चित्त—

९१—जे भिक्खू १. गिरिपडणाणि वा, २. मरु-पडणाणि वा, ३. भिगुपडणाणि वा, ४. तरुपडणाणि वा, ५. गिरिपक्खंदणाणि वा, ६. मरुपक्खंदणाणि वा, ७. भिगुपक्खंदणाणि वा, ८. तरुपक्खंदणाणि वा, ९. जलपवेसाणि वा, १०. जलणपवेसाणि वा, ११. जलपक्खंदणाणि वा, १२. जलण-पक्खंदणाणि वा, १३. विसभक्खणाणि वा, १४. सत्थोपाडणाणि वा, १५. वलयमरणाणि वा, १६. वसट्ट-मरणाणि वा, १७. तब्भव-मरणाणि वा, १८. अंतोसल्ल-मरणाणि वा, १९. वेहाणस-मरणाणि वा, २०. गिद्धपुट्ठ-मरणाणि वा अण्णयराणि वा तहप्पगाराणि बालमरणाणि पसंसइ, पसंसंतं वा साइज्जइ। तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं।

९१—जो भिक्षु १. पर्वत से दृश्य स्थान पर गिर कर मरना, २. पर्वत से अदृश्य स्थान पर गिर कर मरना, ३. खाई-कुए आदि में गिरकर मरना, ४. वृक्ष से गिरकर मरना, ५. पर्वत से दृश्य स्थान पर कूद कर मरना, ६ पर्वत से अदृश्य स्थान पर कूदकर मरना, ७. खड्डे कुए आदि में कूद कर मरना, ८. वृक्ष से कूदकर मरना, ९. जल में प्रवेश करके मरना, १०. अग्नि में प्रवेश करके मरना, ११. जल में कूदकर मरना, १२. अग्नि में कूदकर मरना, १३. विषभक्षण करके मरना, १४. तलवार आदि शस्त्र से कटकर मरना, १५. गला दबाकर मरना, १६. विरह-व्यथा से पीड़ित होकर मरना, १७. वर्तमान भव को पुनः प्राप्त करने के संकल्प से मरना, १८. तीर भाला आदि से विंध कर मरना, १९. फांसी लगाकर मरना, २०. गृद्ध आदि से शरीर का भक्षण करवाकर मरना, इन आत्मघात रूप बाल-मरणों की अथवा अन्य भी इस प्रकार के बाल-मरणों की प्रशंसा करता है या प्रशंसा करने वाले का अनुमोदन करता है, उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन—भगवतीसूत्र श. १३, उ. ७, सू. ८१ में तथा ठाणांगसूत्र अ. २, उ. ४, सू. ११३ में इन २० प्रकार के मरणों को १२ प्रकार के मरण में समाविष्ट किया है।

निशीथचूर्णि में भी कहा गया है—इन बारह प्रकार के बालमरणों में से किसी भी बालमरण की प्रशंसा करने पर गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

प्रारम्भ के चार मरणों में—"गिरकर मरने" की समानता होने से एक मरणभेद होता है, आगे के चार मरणों में—"कूदकर गिरने" की समानता होने से उनका भी एक भेद होता है। इसी तरह नवमें और दसवें मरण का एक तथा ग्यारहवें तथा बारहवें मरण का एक भेद होता है। इस प्रकार बारह मरणों के बदले ४ मरण भेद हो जाते हैं और शेष विषभक्षणादि आठ मरण के आठ भेद गिनने से कुल १२ भेदों का समन्वय हो जाता है। किन्तु मूल पाठों को देखने से यह ज्ञात होता है कि कूदकर गिरने और सामान्य गिरने को एक ही माना गया है तथा "मरु" और "भिगु" इन दोनों को भी अलग विवक्षित न करके "गिरि" में ही समाविष्ट किया है। इस प्रकार सूत्रोक्त आठ भेदों को दो भेद—'गिरि-पडण, तरु-पडण में' समाविष्ट किया है तथा जल और अग्नि सम्बन्धी चार भेदों को दो भेदों में समाविष्ट किया है। जिससे कुल १२ भेद किये गये हैं। अतः १२ व २० दोनों भेद निर्विरोध हैं, ऐसा समझना चाहिये।

अन्तिम दो मरणों को ठाणांग. अ. २, सू. ११३ में विशिष्ट कारण से अनुज्ञात कहा है—१. वैहानसमरण, २. गृद्धस्पृष्टमरण तथा आचा. श्रु. १, अ. ८, उ. ४ में भी ब्रह्मचर्यरक्षा के लिये वैहानसमरण स्वीकार करने का विधान है।

ये १२ अथवा २० प्रकार के बालमरण आत्मघात करने के विभिन्न तरीके हैं। ये अज्ञानियों द्वारा कषायवश स्वीकार किये जाने से बालमरण कहे गये हैं। किन्तु संयम या शीलरक्षार्थ वैहानस-मरण से या अन्य किसी तरीके से शरीर का त्याग करने पर ये बालमरण नहीं कहे जाते हैं।

कतिपय शब्दों की व्याख्या—

गिरी-मरु-जत्थ पव्वए आरूढेहिं अहो पवायट्ठाणं दीसइ सो "गिरी" भण्णइ, अदिस्समाणे "मरु"।

भिगु—पदीतडो । आदि सद्दातो विज्जुक्खायं, अगडो या भण्णइ ।

पडण-पक्खंदण—ठिय-णिसन्न-णिवण्णस्स अणुप्पइत्ता पवडमाणस्स "पवडणं" । उप्पइत्ता जो पडइ "पक्खंदणं" । रुक्खाओ वा समपादठितस्स अणुप्पइत्ता पवडमाणस्स पवडणं । रुक्खंट्ठियस्स जं उप्पइत्ता पडणं तं "पक्खंदणं" ।

वलयमरण—गलं वा अप्पणो वलेइ ।

तब्भवमरण—जम्मि भवे वट्टइ तस्स भवस्स हेउसु वट्टमाणे । आउयं बंधित्ता पुणो तत्थ उवज्जिउकामस्स जं मरणं तं तब्भवमरणं ।

वसट्टमरण—इंदियविसएसु रागदोसवसट्टो मरंतो "वसट्टमरणं" मरइ ।

आत्मघात रूप बालमरणों का कथन होने से वशार्तमरण का आशय इस प्रकार जानना उपयुक्त है कि विरह या वियोग से दुःखी होकर छाती या मस्तक में आघात लगाकर मरना । अथवा किसी इच्छा-संकल्प के पूर्ण न होने पर उसके निमित्त से दुःखी होकर तड़फ-तड़फ कर मरना ।

गिद्धपुट्ठमरणं—गिद्धेहिं पुट्ठं-गिद्धपुट्ठं, *गृद्धैर्भक्षितव्यमित्यर्थः* । तं गोमाइकलेवरे अत्ताणं पक्खिवित्ता गिद्धेहिं अप्पाणं भक्खावेइ ।

अहवा पिट्ठ-उदर-आदिसु अलत्तपुडगे दाउं अप्पाणं गिद्धेहिं भक्खावेइ ।

इन बालमरणों की प्रशंसा करने पर सुनने वाला कोई सोचे कि "अहो ये आत्मार्थी" साधु इन मरणों की प्रशंसा करते हैं तो ये वास्तव में करणीय हैं, इनमें कोई दोष नहीं है । संयम से खिन्न कोई साधु इस प्रकार सुनकर बालमरण स्वीकार कर सकता है । इत्यादि दोषोत्पत्ति के कारण होने से भिक्षु को इन मरणों की प्रशंसा नहीं करनी चाहिये ।

जब इन मरणों की प्रशंसा करना ही अकल्पनीय है तो इन मरणों का संकल्प या इनमें प्रवृत्ति करने का निषेध तो स्वतः सिद्ध हो जाता है । अतः मुमुक्षु साधक इन मरणों की कदापि चाहना न करे अपितु कारण उपस्थित होने पर समभाव, शान्ति की वृद्धि हेतु साधना करे एवं संलेखना स्वीकार कर भक्तप्रत्याख्यान, इंगिणीमरण या पादपोपगमनमरण रूप पंडितमरण को स्वीकार करे । ऐसा करने से संयम की शुद्ध आराधना हो सकती है । किन्तु दुःखों से घबराकर या तीव्र कषाय से प्रेरित होकर बालमरण स्वीकार करने से पुनः पुनः दुःखपरम्परा की ही वृद्धि होती है ।

शीलरक्षा हेतु कभी फांसी लगाकर मरण करना पड़े तो वह आत्मा के लिए अहितकर न होकर कल्याण का एवं मुक्ति का हेतु होता है, ऐसा—आचा. श्रु. १, अ. ८, उ. ४ में कहा गया है ।

ग्यारहवें उद्देशक का सारांश—

सूत्र १-२	लोहे आदि के पात्र बनाना व रखना
सूत्र ३-४	लोहे आदि के बंधनयुक्त पात्र करना व रखना
सूत्र ५	पात्र के लिये अर्द्धयोजन से आगे जाना
सूत्र ६	कारणवश भी अर्द्धयोजन के आगे से सामने लाकर दिये जाने वाला पात्र लेना ।

सूत्र ७	धर्म की निन्दा करना
सूत्र ८	अधर्म की प्रशंसा करना
सूत्र ९-६२	गृहस्थ के शरीर का परिकर्म करना
सूत्र ६३-६४	स्वयं को या अन्य को डराना
सूत्र ६५-६६	स्वयं को या अन्य को विस्मित करना
सूत्र ६७-६८	स्वयं को या अन्य को विपरीत रूप में दिखाना या कहना
सूत्र ६९	जो सामने हो उसके धर्मप्रमुख की, सिद्धान्तों की या आचार की प्रशंसा करना अथवा उस व्यक्ति की झूठी प्रशंसा करना
सूत्र ७०	दो विरोधी राज्यों के बीच पुनः पुनः गमनागमन करना
सूत्र ७१	दिवसभोजन की निन्दा करना
सूत्र ७२	रात्रिभोजन की प्रशंसा करना
सूत्र ७३	दिन में लाया आहार दूसरे दिन खाना
सूत्र ७४	दिन में लाया आहार रात्रि में खाना
सूत्र ७५	रात्रि में लाया आहार दिन में खाना
सूत्र ७६	रात्रि में लाया आहार रात्रि में खाना
सूत्र ७७	आगाढ परिस्थिति के बिना रात्रि में अशनादि रखना
सूत्र ७८	आगाढ परिस्थिति से रखे आहार को खाना
सूत्र ७९	संखडी के आहार को ग्रहण करने की अभिलाषा से अन्यत्र रात्रिनिवास करना
सूत्र ८०	नैवेद्य-पिंड ग्रहण करके खाना
सूत्र ८१-८२	स्वच्छंदाचारी की प्रशंसा करना, उसे वन्दन करना
सूत्र ८३-८४	अयोग्य को दीक्षा देना या बड़ी दीक्षा देना
सूत्र ८५	अयोग्य से सेवाकार्य कराना
सूत्र ८६-८९	अचेल या सचेल साधु का सचेल या अचेल साध्वियों के साथ रहना।
सूत्र ९०	पर्युषित (रात रखे) चूर्ण, नमक आदि खाना
सूत्र ९१	आत्मघात करने वालों की प्रशंसा करना
	इत्यादि दोषस्थानों का सेवन करने पर गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

इस उद्देशक के २० सूत्रों के विषय का कथन निम्न आगमों में है, यथा—

सूत्र १-४	लोहे आदि के पात्र रखने एवं उनके बंधन करने का निषेध। —आचा. श्रु. २, अ. ६, उ. १
सूत्र ५	अर्द्धयोजन के आगे पात्र के लिये जाने का निषेध। —आचा. श्रु. २, अ. ६, उ. १
सूत्र ७	तीर्थंकर व उनके धर्म का अवर्णवाद करने वाला महामोहनीय कर्म का बंध करता है। —दशा. द. ९, गा. २३-२४
सूत्र ८	'परपासंडपसंसा' यह सम्यक्त्व का अतिचार है। —उपा. अ. १

सूत्र ७० विरोधी राज्यों के बीच बारंबार गमनागमन करना ।

—बृहत्कल्प उ. १, सू. ३९

सूत्र ७३,७६,७८ रात्रि में आहार रखना या खाना अनेक सूत्रों में निषिद्ध है ।

—स्थल के लिये विवेचन देखें ।

सूत्र ८३-८४ दीक्षा या बड़ी दीक्षा आदि के अयोग्य का कथन । —बृहत्कल्पसूत्र उ. ४

सूत्र ८६-८९ साध्वी के स्थान पर साधु को रहने आदि का निषेध ।

—बृहत्कल्पसूत्र उ. ३

सूत्र ९० नमक आदि के संग्रह का निषेध । —दश. अ. ६, गा. १८-१९

इस उद्देशक के ७१ सूत्रों के विषय का कथन अन्य आगमों में नहीं है, यथा—

सूत्र ६ विकट स्थिति में अर्द्धयोजन के आगे से लाया पात्र लेना ।

सूत्र ६-६२ गृहस्थ का शारीरिक परिकर्म करना ।

सूत्र ६३-६८ स्व-पर को भयभीत करना, विस्मित करना, विपरीत अवस्था में करना या कहना ।

सूत्र ६९ जो जिस धर्मवाला हो उसके सामने उसके धर्म तत्त्वों की प्रशंसा करना अथवा उसकी झूठी प्रशंसा करना ।

सूत्र ७१-७२ दिवसभोजन की निन्दा व रात्रिभोजन की प्रशंसा करना ।

सूत्र ७७ अनागाढ परिस्थिति में रात्रि में अशनादि रखना ।

सूत्र ७९ संखडी के आहारार्थ उपाश्रय का परिवर्तन करना ।

सूत्र ८० नैवेद्यपिंड खाना ।

सूत्र ८१-८२ स्वच्छदाचारी की प्रशंसा, वंदना करना ।

सूत्र ८५ अयोग्य से सेवाकार्य कराना ।

सूत्र ९१ आत्मघात (बालमरणों) की प्रशंसा करना ।

॥ ग्यारहवां उद्देशक समाप्त ॥

बारहवां उद्देशक

त्रस प्राणियों के बंधन-विमोचन का प्रायश्चित्त—

१—जे भिक्खू कोलुण-वडियाए अण्णयरं तसपाणजायं, १. तण-पासएण वा, २. मुंज-पासएण वा, ३. कट्ठ-पासएण वा, ४. चम्म-पासएण वा, ५. वेत्त-पासएण वा, ६. रज्जू-पासएण वा, ७. सुत्त-पासएण वा बंधइ, बंधंतं वा साइज्जइ।

२—जे भिक्खू कोलुण-वडियाए अण्णयरं तसपाणजायं तण-पासएण वा जाव सुत्त-पासएण वा बद्धेलयं मुंचइ मुंचंतं वा साइज्जइ।

१—जो भिक्षु करुणा भाव से किसी त्रस प्राणी को १. तृण के पाश से, २. मुंज के पाश से, ३. काष्ठ के पाश से, ४. चर्म के पाश से, ५. वेत्र के पाश से, ६. रज्जू के पाश से, ७. सूत्र के पाश से बांधता है या बांधने वाले का अनुमोदन करता है।

२—जो भिक्षु करुणा भाव से किसी त्रस प्राणी को तृण-पाश से यावत् सूत्र-पाश से बंधे हुए को खोलता है या खोलने वाले का अनुमोदन करता है। [उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।]

विवेचन—कोलुणं कारुण्यं, अणुकम्पा। —चूर्णि

चूर्णिकार ने कोलुण शब्द का अर्थ करुणा या अनुकम्पा किया है। करुणा दो प्रकार की होती है, यथा—

१. शय्यातर आदि [गृहस्वामी] के प्रति करुणा भाव।
२. किसी त्रस प्राणी के प्रति करुणा भाव।

१. भिक्षु यदि पशु आदि के बाड़े के निकट ही ठहरा हो और गृहस्वामी किसी कार्य के लिये कहीं चला जाये, उस समय कोई पशु बाड़े में से निकलकर बाहर जा रहा हो तो उसे बांधना अथवा गृहस्वामी बाहर जाते समय यह कहे कि "अमुक समय पर इन पशुओं को खोल देना या बाहर से अमुक समय पशु आयेंगे तब उन्हें बांध देना" तो उन पशुओं को बांधना या खोलना, यह शय्यातर पर किया गया करुणा भाव है।

२. बंधा हुआ पशु बंधन से मुक्त होने के लिये छटपटा रहा हो, उसे बंधन से मुक्त कर देना अथवा सुरक्षा के लिये खुले पशु को नियत स्थान पर बांध देना यह पशु के प्रति करुणा भाव है।

भिक्षु मुधाजीवी होता है तथा निःस्पृह भाव से संयम पालन करता है अतः करुणा भाव से गृहस्वामी का निजी कार्य करना, यह उसकी श्रमण समाचारी से विपरीत है।

पशु को बांधने पर वह बंधन से पीड़ित हो या आकुल-व्याकुल हो तो तज्जन्य हिंसा दोष लगता है। खोलने पर कुछ हानि कर दे, निकलकर कहीं गुम जाये या जंगल में चला जाये और वहां कोई दूसरा पशु उसे खा जाये या मार डाले तो भी दोष ल

भिक्षु को ऐसे समाधि भंग करने वाले स्थान पर ठहरना ही नहीं चाहिये। कारणवश ठहरना पड़े तो निस्पृह भाव से रहे।

ग्यारहवें उद्देशक में सेवा भावना से या मोह भाव से गृहस्थ के कार्य करने का गुरु-चातुर्मासिक प्रायश्चित्त कहा गया है। पशु आदि को खोलना-बांधना भी गृहस्थ के ही कार्य हैं। फिर भी किसी विशेष परिस्थिति में भिक्षु करुणाभाव से कोई गृहस्थ के कार्य कर ले तो उसे प्रस्तुत सूत्र से लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है और गृहस्थ के प्रति अनुराग या मोह से बांधना-खोलना आदि कोई भी सांसारिक कृत्य करे तो उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

यद्यपि पशु आदि के खोलने-बांधने आदि के कार्य संयम समाचारी से विहित नहीं हैं तथापि यहां करुणा भाव से खोलने पर गुरुचौमासी प्रायश्चित्त न कह कर लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त कहा है।

अनुकम्पा भाव रखना यह सम्यक्त्व का मुख्य लक्षण है, फिर भी भिक्षु ऐसे अनेक गृहस्थ, जीवन के कार्यों में न उलझ जाये इसलिये उसके संयम जीवन की अनेक मर्यादाएं हैं। भिक्षु के पास आहार या पानी आवश्यकता से अधिक हो तो उसे परठने की स्थिति होने पर भी किसी भूखे या प्यासे व्यक्ति को मांगने पर या बिना मांगे देना नहीं कल्पता है। क्योंकि इस प्रकार देने की प्रवृत्ति से या प्रस्तुत सूत्र कथित प्रवृत्ति करने से क्रमशः भिक्षु अनेक कृत्यों में उलझ कर संयम साधना के मुख्य लक्ष्य से दूर हो सकता है। उत्तरा. अ. ९ गा. ४० में नमिराजर्षि देवेन्द्र को दान की प्रेरणा के उत्तर में कहते हैं—

"तस्सावि संजमो सेओ, अदितस्स वि किंचणं ॥"

अर्थात्-कुछ भी दान न करते हुए गृहस्थ के महान् दान से भी संयम श्रेष्ठ है।

अनुकम्पा भाव की सामान्य परिस्थिति के प्रायश्चित्त में एवं विशेष परिस्थिति के प्रायश्चित्त में भी अन्तर होता है जो प्रायश्चित्तदाता गीतार्थ के निर्णय पर ही निर्भर रहता है।

यदि कोई पशु या मनुष्य मृत्यु संकट में पड़े हों और उन्हें कोई बचाने वाला न हो, ऐसी स्थिति में यदि कोई भिक्षु उन्हें बचा ले तो उसे छेद या तप प्रायश्चित्त नहीं आता है। केवल गुरु के पास उसे आलोचना करना आवश्यक होता है।

यदि उस अनुकम्पा की प्रवृत्ति में बांधना, खोलना आदि गृहकार्य, आहार-पानी देना आदि मर्यादाभंग के कार्य या जीवविराधना का कोई कार्य हो जाये तो लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी ने संयमसाधना काल में तेजोलेश्या से भस्मभूत होने वाले गोशालक को अपनी शीतलेश्या से बचाया और केवलज्ञान के बाद इस प्रकार कहा कि "मैंने गोशालक की अनुकम्पा के लिये शीतलेश्या छोड़ी, जिससे वेश्यायन बालतपस्वी की तेजोलेश्या प्रतिहत हो गई। —भग. श. १५

अतः प्रस्तुत सूत्र में करुणा भाव या अनुकम्पा भाव का प्रायश्चित्त नहीं है किन्तु उसके साथ की गई गृहस्थ की प्रवृत्ति या संयममर्यादा भंग की प्रवृत्ति का प्रायश्चित्त है, ऐसा समझना चाहिये।

प्रत्याख्यान-भंग करने का प्रायश्चित्त—

३—जे भिक्खू अभिक्खणं-अभिक्खणं पच्चक्खाणं भंजइ भंजंतं वा साइज्जइ ।

३—जो भिक्षु बारंबार प्रत्याख्यान भंग करता है या भंग करने वाले का अनुमोदन कर
है। [उसे लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है ।]

विवेचन—बारंबार प्रत्याख्यान के भंग करने को दशा. द. २ में शबलदोष कहा गया ह
बारम्बार अर्थात् अनेक बार, यहां भाष्यकार ने कहा है कि तीसरी बार प्रत्याख्यान भंग करने
यह सूत्रकथित प्रायश्चित्त आता है ।

यहां प्रत्याख्यान से उत्तरगुण रूप "नमुक्कार सहिय" आदि प्रत्याख्यान का अधिक
समझना चाहिये । अर्थात् "नमुक्कार सहिय" आदि का संकल्प पूर्वक तीसरी बार भंग करने पर
प्रायश्चित्त आता है ।

प्रत्याख्यान-भंग करने से होने वाले दोष—

"अपच्चओ य अवण्णो, पसंग दोसो य अदढ्ढता धम्मे ।
माया य मुसावाओ, होइ पइण्णाइ लोयो य ।।

निशी. भाष्य, गा. ३९

१. "जो उत्तरगुण-प्रत्याख्यान का बारम्बार भंग करता है, वह मूलगुण-प्रत्याख्यानों का
भंग करता होगा", इस प्रकार की अप्रतीति=अविश्वास का पात्र होता है ।

२. स्वयं उसका या संघ का अवर्णवाद होता है ।

३. एक प्रत्याख्यान के भंग करने से अन्य मूलगुण-प्रत्याख्यानों के भंग होने की सम्भाव
रहती है तथा अनेक दोषों की परम्परा बढ़ती है ।

४. अन्य प्रत्याख्यानों में तथा श्रमणधर्म के पालन में भी दृढ़ता नहीं रहती है ।

५. प्रत्याख्यान कुछ करता है और आचरण कुछ करता है, जिससे माया का सेवन हो
है । यथा—आयंबिल का प्रत्याख्यान करके एकाशना कर ले ।

६. कहता कुछ अन्य है और करता कुछ अन्य है, अतः मृषावाद दोष लगता है । यथा-
'मेरे आज एकाशन है, ऐसा कह कर दो बार खा लेता है ।

७. अपने उस अवगुण को छिपाने के लिये कभी माया पूर्वक मृषा भाषण कर सकता है ।

८. प्रत्याख्यान का भंग होने पर संयम की विराधना होती है ।

९. बारम्बार प्रत्याख्यान भंग करने से कदाचित् कोई देव रुष्ट हो जाए तो विक्षिप्तचि
कर सकता है ।

प्रत्याख्यान के प्रति उपेक्षा भाव से एवं संकल्प पूर्वक अनेक बार प्रत्याख्यान भंग करने
यह प्रायश्चित्त है । किन्तु कदाचित् प्रत्याख्यानसूत्र में कथित आगारों का सेवन किया जाये त
प्रत्याख्यान भंग नहीं होता है किन्तु उसकी आलोचना गीतार्थ भिक्षु के पास अवश्य कर लेन

चाहिये । कभी विशिष्ट आगार सेवन के पूर्व भी गीतार्थ की आज्ञा लेना आवश्यक होता है । अगीतार्थ [अबहुश्रुत] और अपरिणामी या अतिपरिणामी भिक्षु आगार-सेवन और अपवाद-सेवन के निर्णय करने में अयोग्य होते हैं ।

आगार-सेवन या अपवाद-सेवन में क्षेत्र, काल या व्यक्ति का ध्यान रख कर विवेकपूर्वक प्रवृत्ति करना भी आवश्यक होता है ।

विकट परिस्थिति में भी गीतार्थ के नेतृत्व में दृढ़ता पूर्वक प्रत्याख्यान का पालन किया जाय एवं आगारों का सेवन न किया जाय तो वह स्वयं के लिये तो महान् लाभ का कारण होता ही है, साथ ही उससे जिनशासन की भी प्रभावना होती है ।

अतः भिक्षु को एक बार भी प्रत्याख्यान भंग न करते हुए दृढ़ता पूर्वक उसका पालन करना चाहिये ।

प्रत्येककाय-संयुक्त आहारकरण-प्रायश्चित्त—

४—जे भिक्खू परित्तकाय-संजुत्तं आहारं आहारेइ, आहारेंतं वा साइज्जइ ।

४— जो भिक्षु प्रत्येककाय से मिश्रित आहार खाता है या खाने वाले का अनुमोदन करता है । [उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है ।]

विवेचन—चतुर्थ उद्देशक में सचित्त धान्य और बीज खाने का लघुमासिक प्रायश्चित्त कहा है । दसवें उद्देशक में फूलण आदि अनंतकाय से मिश्रित आहार करने का गुरुचौमासी प्रायश्चित्त कहा है और प्रस्तुत सूत्र में प्रत्येककाय-संयुक्त आहार खाने का लघु-चौमासी प्रायश्चित्त कहा है ।

पूर्वोक्त सूत्रों का विवेचन उन-उन उद्देशकों में किया गया है, प्रत्येककाय-मिश्रित आहार ये हैं—

१. सचित्त नमक से युक्त आहार, जिसमें नमक शस्त्रपरिणत न हुआ हो ।
२. सचित्त पानी युक्त द्राक्ष या आम का रस आदि, ये जब तक शस्त्रपरिणत नहीं हुए हों ।
३. अग्नि पर से उतार लेने के बाद व्यंजन में धनिया पत्ती आदि डाले गये हों ।

यहाँ प्रसत्त्व जीव युक्त पदार्थों का कथन है, क्योंकि धान्य व बीज रूप प्रत्येककाय के पदार्थों का कथन चौथे उद्देशक में हो चुका है । अतः सचित्त नमक, पानी और कुछ वनस्पतियों से युक्त खाद्य पदार्थ हों और उन सचित्त पदार्थों के शस्त्रपरिणत होने योग्य वह द्रव्य न हो या समय न बीता हो तो ऐसे खाद्य पदार्थ को प्रत्येककाय-संयुक्त आहार कहा गया है । ग्रहण करने के बाद ज्ञात होने पर ऐसा आहार नहीं खाना चाहिये और खाने के बाद या कुछ खाने के बाद ज्ञात हो जाये तो शेष आहार को परठ कर उसका प्रायश्चित्त ले लेना चाहिये ।

चूर्णिकार ने अनेक प्रकार के सचित्त पत्र, पुष्प, फल आदि से भी युक्त अशनादि का होना बताया है तथा कई चीजों में तत्काल नमक डाल कर गृहस्थों के खाने के रिवाज का कथन किया है । वैसे पदार्थ साधु के द्वारा खाने पर जीवविराधना होने से प्रथम महाव्रत दूषित होता है ।

जानकर खाने पर या बिना जाने खाने पर अथवा प्रबल कारण से खाने पर प्रायश्चित्त भिन्न-भिन्न आते हैं, इनका निर्णय गीतार्थ पर निर्भर होता है, उनकी एक प्रायश्चित्त-तालिका प्रथम उद्देशक के प्रारम्भ में दी गई है ।

सरोम-चर्म-परिभोग-प्रायश्चित्त—

५—जे भिक्खू सलोमाइं चम्माइं अहिट्ठइ, अहिट्ठेंतं वा साइज्जइ ।

५—जो भिक्षु रोम [केश] युक्त चर्म का उपयोग करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है । [उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है ।]

विवेचन—सामान्यतया [उत्सर्गमार्ग में] साधु को चर्म रखना नहीं कल्पता है, किसी कारण से आवश्यकता पर्यन्त रखा जाना एवं उपयोग में लेना विहित है । वृद्धावस्था में शरीर की मज्जा क्षीण होने पर कमर आदि अवयवों की अस्थियों से त्वचा का घर्षण होता है अथवा कुष्ठ, अर्श आदि रोग हो जाये तो चर्म का उपयोग किया जा सकता है ।

चर्म साधु की औघिक उपधि नहीं है, अतः बृहत्कल्पसूत्र, उद्देशक ३ में कहे गये इस विषय के सभी सूत्र अपवादिक स्थिति की अपेक्षा से ही कहे गये हैं, ऐसा समझना चाहिये ।

उन सूत्रों का अभिप्राय यह है कि विशेष परिस्थिति में उपयोग में आने योग्य कटा हुआ रोम-रहित चर्मखण्ड साधु-साध्वी ले सकते हैं और आवश्यकता के अनुसार रख सकते हैं । किसी विशेष परिस्थिति में साधु सरोमचर्म भी सूत्रोक्त विधि के अनुसार उपयोग में ले सकता है, किन्तु अधिक समय तक नहीं रख सकता है । साध्वी के लिये सरोमचर्म सर्वथा निषिद्ध है ।

सरोमचर्म-प्रयोग करने में निम्न दोष हैं, यथा—

१. रोमों में अनेक सूक्ष्म प्राणी उत्पन्न हो जाते हैं ।
२. प्रतिलेखना अच्छी तरह नहीं हो पाती है ।
३. वर्षा में कुंथुए या फूलन हो जाती है ।
४. धूप में रखने से उन जीवों की विराधना होती है ।

किसी परिस्थिति में सरोम-चर्म लाना पड़े तो जो कुंभकार, लोहार आदि के दिन भर बैठने के काम आ रहा हो और रात्रि में उनके यहां अनावश्यक हो तो वह लाना चाहिए और रात्रि में रख कर वापिस दे देना चाहिए, क्योंकि कुंभकार, लुहार आदि के दिन भर अग्नि के पास काम करने के कारण उसमें एक रात्रि तक जीवोत्पत्ति संभव नहीं रहती । अतः एक रात्रि से अधिक रखने का निषेध किया है ।

चूर्णिकार ने बताया है कि साधु के लिए यह सूत्रोक्त प्रायश्चित्त समझना चाहिए, किन्तु साध्वी सरोम चर्म का उपयोग करे तो गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है ।

साध्वी के लिये पूर्ण निषेध का कारण बताते हुए व्याख्याकार कहते हैं कि सरोम चर्म में पुरुष जैसे स्पर्श का अनुभव होता है, अतः साध्वी के लिये वह सर्वथा वर्ज्य है ।

किन्तु रोम रहित चर्म विशेष कारण होने पर साधु-साध्वी ले सकते हैं और नियत समय तक रख सकते हैं । उसके रखने का सूत्र में प्रायश्चित्त नहीं कहा गया है ।

भाष्यकार ने इस सूत्र के विवेचन में रोम रहित चर्म रखने पर साधु को गुरुचौमासी और साध्वी को लघुचौमासी प्रायश्चित्त आने का कहा है, वह अकारण रखने की अपेक्षा से कहा गया है । क्योंकि कोई भी औपग्रहिक उपधि अकारण रखना प्रायश्चित्त योग्य है ।

मरोम नर्म के अन्दर पोल होने से भाष्यकार ने यहाँ अन्य भी पोल युक्त पुस्तक, तृण आदि का विस्तृत वर्णन किया है। जिसका सारांश इस प्रकार है—

१. पुस्तकपंचक, २. तृणपंचक, ३. दुष्प्रतिलेख्य वस्त्रपंचक, ४. अप्रतिलेख्य वस्त्रपंचक, ५. चर्मपंचक।

१. पुस्तकपंचक-

१. गंडी पुस्तक—चौड़ाई, मोटाई में समान अर्थात् चौरस लंबी पुस्तक।

२. कच्छपी पुस्तक—बीच में चौड़ी, किनारे कम चौड़ी, अल्प मोटाई वाली।

३. मुष्टि पुस्तक—चार अंगुल विस्तार में वृत्ताकार गोल अथवा चार अंगुल लंबी-चौड़ी समचौरस।

४. संपुट-फलक पुस्तक—वृक्ष आदि के फलक से निर्मित पुस्तक।

५. छेदपाटी पुस्तक—ताड़ आदि के पत्तों से बनी पुस्तक, कम चौड़ी तथा लम्बाई व मोटाई में अधिक एवं बीच में एक, दो या तीन छिद्र वाली।

ये सभी पुस्तकें शुषिर [पोलार] युक्त होने से दुष्प्रतिलेख्य हैं, अतः अकल्पनीय हैं।

२. तृणपंचक—

१. शालि, २. व्रीहि, ३. कोद्रव, ४. रालक [कंगु] ये चार पराल रूप तृण और ५. आरण्यक—जंगली श्यामाकादि तृण।

ये भी पोल युक्त होते हैं। इन तृणों का वर्णन उत्तराध्ययनसूत्र अ. २३, गा. १७ में इस प्रकार है—

"पलालं फासुयं तत्थ, पंचमं कुस तणाणि य।
गोयमस्स निसिज्जाए, खिप्पं संपणामए॥"

टीका—गोयमस्य उपवेशनार्थं प्रासुकं—निर्बीजं चतुर्विधं पलालं, पंचमानि कुशतृणानि, चकारात् अन्यान्यपि साधुयोग्यानि तृणानि समर्पयति।

इस गाथा में इन्हें प्रासुक कहा है। इन्हीं पांच को भाष्यकार ने पोल युक्त होने से दुष्प्रतिलेख्य कहा है और उसका लघुचौमासी प्रायश्चित्त भी कहा है।

इन परालों का पोल युक्त होना प्रत्यक्षसिद्ध है, फिर भी उक्त गाथा में इन्हें प्रासुक कहा है। इसका कारण यह है कि गृहस्थ के उपयोग में आ जाने से वे प्रासुक हो जाते हैं।

आगम युग में पराल, दर्भ आदि का उपयोग साधु व श्रावक दोनों ही करते थे, ऐसा वर्णन अनेक आगमों में उपलब्ध है। वर्तमान में इनका उपयोग बहुत कम हो गया है।

३. दुष्प्रतिलेख्य वस्त्रपंचक—

१. कोयवि— रूई भरे हुए वस्त्र।

२. प्रावारक—रुल लगे हुए नेपाल आदि के बड़े कम्बल।

३. दाढिगालि—दशियों अर्थात् फलियों युक्त वस्त्र।

४. पूरित—स्थूल सन-सूत्रमय वस्त्र-गलीचा आदि ।

५. विरलिका—द्विसरा सूत्रमय वस्त्र ।

४. अप्रतिलेख्य वस्त्र-पंचक—

१. उपधान—हंस रोम आदि से भरा सिरहाना, तकिया ।

२ तूली —संस्कारित कपास, अर्कतूल आदि से भरा सिरहाना ।

३ आलिंगनिका—पुरुष प्रमाण लम्बा व गोल गद्दा जिस पर करवट से सोते समय पांव हाथ घुटने कुहनी आदि रखे जा सके ।

४. गंडोपधान—गलमसूरिका—जो करवट से सोते समय मुंह के नीचे रखा जाय ।

५. मसूरक—मसूर की दाल जैसे आकार के गोल व छोटे गद्दे जो कुर्सी, मुड्ढे आदि पर रखे जाते हैं, जिन पर एक व्यक्ति बैठ सकता है ।

ये पांचों गद्दे या तकिये [ओसीके] आदि अप्रतिलेख्य वस्त्र हैं. क्योकि ये रूई आदि भर कर सिले हुए होते हैं ।

५. चर्म-पंचक—

१. गो-चर्म, २. महिष-चर्म, ३. अजा [बकरी]-चर्म, ४. एडक-[भेड का] चर्म, ५, आरण्यक=अन्य मृग आदि वन्यपशुचर्म ।

ये पांचो प्रकार के रोम युक्त चर्म अग्राह्य हैं । इनके ग्रहण एवं उपभोग का प्रायश्चित्त प्रस्तुत सूत्र में कहा गया है । शेष पुस्तक-पंचक आदि के ग्रहण का प्रायश्चित्त भाष्य, चूर्णि में लघुचौमासी आदि बताया है ।

भाष्यकार ने पुस्तक-पंचक आदि रखने के निम्न दोष बताये हैं—

१. पुस्तक-पंचक—

१. विहार में भार अधिक होता है ।
२. कंधों पर घाव हो सकते हैं ।
३ पोल रहने से प्रतिलेखन अच्छी तरह नही होता है ।
४. कुंथुवे, फूलन [पनक] की उत्पत्ति हो सकती है ।
५. धन की आशा से चोर चुरा सकते है ।

६ तीर्थंकर भगवान् ने इनके उपयोग करने की आज्ञा नही दी है अर्थात् प्रश्नव्याकरण आदि आगमों में कहे गये भिक्षु के उपकरणों में इनका नाम नहीं है ।

७. स्थानांतरित करने में परिमंथ होता है ।

८. सूत्र लिखा हुआ है ही, ऐसा सोच कर साधु साध्वी प्रमादवश पुनरावृत्ति या कंठस्थ नहीं करें तो उससे श्रुत-अर्थ विनष्ट होता है ।

९. पुस्तक सम्बन्धी परिकर्म में सूत्रार्थ के स्वाध्याय की हानि होती है ।

१०. अक्षर लिखने में कुंथुवे आदि प्राणियों का वध हो सकता है ।

सरोम चर्म के अन्दर पोल होने से भाष्यकार ने यहाँ अन्य भी पोल युक्त पुस्तक, तृण आदि का विस्तृत वर्णन किया है। जिसका सारांश इस प्रकार है—

१. पुस्तकपंचक, २. तृणपचक, ३. दुष्प्रतिलेख्य वस्त्रपंचक, ४. अप्रतिलेख्य वस्त्रपंचक, ५. चर्मपंचक।

१. पुस्तकपंचक—

१ गंडी पुस्तक—चौड़ाई, मोटाई में समान अर्थात् चौरस लंबी पुस्तक।

२. कच्छपी पुस्तक—बीच में चौड़ी, किनारे कम चौड़ी, अल्प मोटाई वाली।

३. मुष्टि पुस्तक—चार अंगुल विस्तार में वृत्ताकार गोल अथवा चार अंगुल लंबी-चौड़ी समचौरस।

४. संपुट-फलक पुस्तक—वृक्ष आदि के फलक से निर्मित पुस्तक।

५. छेदपाटी पुस्तक—ताड़ आदि के पत्तों से बनी पुस्तक, कम चौड़ी तथा लम्बाई व मोटाई में अधिक एवं बीच में एक, दो या तीन छिद्र वाली।

ये सभी पुस्तकें भुषिर [पोलार] युक्त होने से दुष्प्रतिलेख्य हैं, अतः अकल्पनीय हैं।

२. तृणपंचक—

१. शालि, २. व्रीहि, ३. कोद्रव, ४. रालक [कंगु] ये चार पराल रूप तृण और ५. आरण्यक—जगली श्यामाकादि तृण।

ये भी पोल युक्त होते हैं। इन तृणों का वर्णन उत्तराध्ययनसूत्र अ. २३, गा. १७ में इस प्रकार है—

"पलालं फासुयं तत्थ, पंचमं कुस तणाणि य।
गोयमस्स निसिज्जाए, खिप्पं संपणामए॥"

टीका—गोयमस्य उपवेशनार्थं प्रासुकं—निर्बीजं चतुर्विधं पलालं, पंचमानि कुशतृणानि, चकारात् अन्यान्यपि साधुयोग्यानि तृणानि समर्पयति।

इस गाथा में इन्हें प्रासुक कहा है। इन्ही पाच को भाष्यकार ने पोल युक्त होने से दुष्प्रतिलेख्य कहा है और उसका लघुचौमासी प्रायश्चित्त भी कहा है।

इन परालों का पोल युक्त होना प्रत्यक्षसिद्ध है, फिर भी उक्त गाथा में इन्हें प्रासुक कहा है। इसका कारण यह है कि गृहस्थ के उपयोग में आ जाने से वे प्रासुक हो जाते हैं।

आगम युग में पराल, दर्भ आदि का उपयोग साधु व श्रावक दोनों ही करते थे, ऐसा वर्णन अनेक आगमों में उपलब्ध है। वर्तमान में इनका उपयोग बहुत कम हो गया है।

३. दुष्प्रतिलेख्य वस्त्रपंचक—

१. कोयवि— रूई लगे हुए वस्त्र।

२. प्रावारक—ऊन लगे हुए नेपाल आदि के बड़े कम्बल।

३. दाढिगालि—दशियों अर्थात् फलियों युक्त वस्त्र।

४. पूरित—स्थूल सन-सूत्रमय वस्त्र-गलीचा आदि ।

५. विरलिका—द्विसरा सूत्रमय वस्त्र ।

४. अप्रतिलेख्य वस्त्र-पंचक—

१. उपधान—हंस रोम आदि से भरा सिरहाना, तकिया ।

२. तूली—संस्कारित कपास, अर्कतूल आदि से भरा सिरहाना ।

३. आलिंगनिका—पुरुष प्रमाण लम्बा व गोल गद्दा जिस पर करवट से सोते समय पाव हाथ घुटने कुहनी आदि रखे जा सकें ।

४. गंडोपधान—गलमसूरिका—जो करवट से सोते समय मुंह के नीचे रखा जाय ।

५. मसूरक—मसूर की दाल जैसे आकार के गोल व छोटे गद्दे जो कुर्सी, मुड्ढे आदि पर रखे जाते हैं, जिन पर एक व्यक्ति बैठ सकता है ।

ये पांचों गद्दे या तकिये [ओसीके] आदि अप्रतिलेख्य वस्त्र हैं, क्योंकि ये रूई आदि भर कर सिले हुए होते है ।

५. चर्म-पंचक—

१. गो-चर्म, २. महिष-चर्म, ३. अजा [बकरी]-चर्म, ४. एडक-[भेड का] चर्म, ५, आरण्यक=अन्य मृग आदि वन्यपशुचर्म ।

ये पांचों प्रकार के रोम युक्त चर्म अग्राह्य हैं । इनके ग्रहण एवं उपभोग का प्रायश्चित्त प्रस्तुत सूत्र में कहा गया है । शेष पुस्तक-पंचक आदि के ग्रहण का प्रायश्चित्त भाष्य, चूर्णि में लघुचौमासी आदि बताया है ।

भाष्यकार ने पुस्तक-पंचक आदि रखने के निम्न दोष बताये हैं—

१. पुस्तक-पंचक—

१. विहार में भार अधिक होता है ।
२. कंधों पर घाव हो सकते हैं ।
३. पोल रहने से प्रतिलेखन अच्छी तरह नहीं होता है ।
४. कुंथुवे, फूलन [पनक] की उत्पत्ति हो सकती है ।
५. धन की आशा से चोर चुरा सकते हैं ।

६ तीर्थंकर भगवान् ने इनके उपयोग करने की आज्ञा नहीं दी है अर्थात् प्रश्नव्याकरण आदि आगमों में कहे गये भिक्षु के उपकरणों में इनका नाम नहीं है ।

७. स्थानांतरित करने में परिमंथ होता है ।

८. सूत्र लिखा हुआ है ही, ऐसा सोच कर साधु साध्वी प्रमादवश पुनरावृत्ति या कंठस्थ नहीं करें तो उससे श्रुत-अर्थ विनष्ट होता है ।

९. पुस्तक सम्बन्धी परिकर्म में सूत्रार्थ के स्वाध्याय की हानि होती है ।

१०. अक्षर लिखने में कुंथुवे आदि प्राणियों का वध हो सकता है ।

११. कई संपातिम जीवों के कलेवर अक्षरों पर चिपक जाते हैं अथवा उनका खून अक्षरों पर लग जाता है ।

जीववध के चार दृष्टान्त—१. चतुरंगिणी सेना के बीच से हिरण, २. घी-दूध आदि में से संपातिम जीव, ३. तेल की घाणी आदि में से तिल या त्रस जीव तथा ४. जाल में फंसा हुआ मत्स्य इत्यादि अनेक जीव कदाचित् छूट भी सकते हैं, बच भी सकते हैं, किन्तु पुस्तक के बीच में आ जाने वाला प्राणी नहीं बच सकता । इसलिये भाष्य में कहा है—

जत्तिय मेत्ता वारा, मुंचति, बंधति य जत्तिया वारा ।
जति अक्खराणि लिहति य, तति लहुगा च आवज्जे ।।

—भा. गा. ४००८

इन पुस्तकों को जितनी वार खोलें, बंद करे या जितने अक्षर लिखे उतनी वार लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है और जो प्राणी मर जाय उसका प्रायश्चित्त भी अलग आता है ।

२. तृण-पंचक

१. कुंथुए आदि छोटे जीवों की विराधना होती है ।

२. जहरीले जीव-जन्तु से आत्मविराधना होती है ।

३. अतः जितनी वार करवट बदले अथवा आकुंचन-प्रसारण करे, उतने लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त आते हैं ।

शेष तीनों पंचक में प्रतिलेखन शुद्ध न होने से या जीवविराधना होने से संयम विराधना होती है । अतः झुषिर दोष के कारण ये उपकरण ग्रहण करने योग्य नहीं हैं । किन्तु आपवादिक स्थिति में यदि ये उपकरण ग्रहण किये जाएं तो उसका प्रायश्चित्त लेना चाहिये और इन्हें अकल्पनीय उपकरण या औपग्रहिक उपकरण समझना चाहिये ।

बृहत्कल्पसूत्र उद्देशक-३ में साधु के लिये सरोम-चर्म का मर्यादा युक्त विधान है तथा तृण-पंचक भी ग्रहण करने का उत्तराध्ययन अ. २३ आदि अनेक आगमों में वर्णन है । इन वर्णनों से यह फलित होता है कि कभी परिस्थितिवश ये झुषिर उपकरण भी जीवविराधना न हो, उस विधि से एवं मर्यादा से रखे जा सकते हैं । किन्तु जब जीवों की विराधना सम्भव हो या आवश्यकता न रहे तब उन्हें छोड़ देना चाहिये ।

शारीरिक परिस्थिति से आवश्यक होने पर चर्म-पंचक और तृण-पंचक या वस्त्र-पंचक ग्रहण करके उपयोग में लिये जा सकते हैं, उसी प्रकार श्रुतविस्मृति आदि कारणों से, अध्ययन में सहयोगी होने से पुस्तक आदि साधन भी उक्त विवेक के साथ रखे जा सकते हैं ।

अपने पास रखी जाने वाली औधिक और औपग्रहिक उपधि का उभय काल प्रतिलेखन, प्रमार्जन करना भिक्षु का आवश्यक आचार है। तदनुसार यदि पुस्तकों को अपनी उपधि रूप में रखना हो तो उनका भी उभय काल यथाविधि प्रतिलेखन, प्रमार्जन करना चाहिये । ऐसा करने पर भाष्योक्त दोषों की सम्भावना भी नहीं रहती है और ज्ञान-आराधना में भी सुविधा रहती है ।

भाष्यकाल की पुस्तकों की अपेक्षा वर्तमान युग की पुस्तकों में झुषिर अवस्था भी अत्यल्प होती है। इस कारण से भी इनमें दोष की सम्भावना अल्प है।

ज्ञानभंडारो में उचित विवेक किए विना रखी जाने वाली अप्रतिलेखित पुस्तकों में अनेक प्रकार के जीव उत्पन्न हो जाते हैं, उन पुस्तकों का उपयोग करने में जीवविराधना की अत्यधिक सम्भावना रहती है, अतः उसका यथोचित विवेक रखना चाहिये।

वस्त्राच्छादित पीढे पर बैठने का प्रायश्चित्त—

६—जे भिक्खू १. तणपीढगं वा, २. पलालपीढगं वा, ३. छगणपीढगं वा, ४. वेत्त-पीढगं वा, ५. कट्ठपीढगं वा परवत्थेणोच्छण्णं अहिट्ठेइ, अहिट्ठेंतं वा साइज्जइ।

६—जो भिक्षु गृहस्थ के वस्त्र से ढंके हुए, १ घास के पीढे [चौकी आदि] पर, २. पराल के पीढ़े पर, ३. गोवर के पीढ़े पर, ४. वेत के पीढे पर, ५. काष्ठ के पीढ़े पर बैठता है या बैठने वाले का अनुमोदन करता है। [उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।]

विवेचन—"अहिट्ठेइ" क्रिया पद से बैठना, सोना, खड़े रहना आदि सभी क्रियाए समझ लेनी चाहिये सूत्रोक्त पीढ़े [बाजोट आदि] प्रायः बैठने के उपयोग मे आते हैं।

सूत्र में तृण आदि से निर्मित पीढों का कथन है। ये पीढे भिक्षु ग्रहण करके उपयोग में ले सकता है। किन्तु इन पर गृहस्थ के वस्त्र विछाये हुए हों तो बैठने पर लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

यदि झुषिर दोष युक्त हों तो ये अग्राह्य होते हैं और इनके ग्रहण करने पर पांचवें सूत्र में कहे दोष समझ लेने चाहिए।

झुषिर संबंधी दोष न हो तो तृण, वेंत आदि से निर्मित अन्य औपग्रहिक उपकरण भी ग्राह्य हो सकते हैं।

भिक्षु को पीढ-फलग-शय्या-संस्तारक ग्रहण करना तो कल्पता है किन्तु गृहस्थ का वस्त्र साधु को उपयोग में लेना नहीं कल्पता है। अतः वस्त्र युक्त पीढादि अकल्पनीय हैं। क्योंकि वस्त्र युक्त पीढे में अप्रतिलेखना या दुष्प्रतिलेखनाजन्य दोष होते हैं तथा जीवविराधना भी संभव रहती है। अतः वस्त्र युक्त पीढे के उपयोग करने का प्रस्तुत सूत्र में प्रायश्चित्त कहा गया है।

निर्ग्रंथी को शाटिका सिलवाने का प्रायश्चित्त—

७—जे भिक्खू णिग्गंथीए संघाडिं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सिव्वावेइ सिव्वावेंतं वा साइज्जइ।

७—जो भिक्षु साध्वी की संघाटिका [चादर] को अन्यतीर्थिक या गृहस्थ से सिलवाता है या सिलवाने वाले का अनुमोदन करता है। [उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।]

विवेचन—"संघाडीओ चउरो, ति-पमाणा ता पुणो भवे दुविहा।
एगमणेगखंडो, अहिगारो अणेगखंडीए ॥४०२६॥

साध्वी को संख्या की अपेक्षा से चार चादर रखना कल्पता है। प्रमाण अर्थात् माप की अपेक्षा से तीन प्रमाण वाली [४ हाथ, ३ हाथ, २ हाथ] चादर रखना कल्पता है।

ये चादरें एक खंड वाली या अनेक खंड वाली भी हो सकती हैं। एक खंड वाली में सिलाई करने की आवश्यकता नहीं होती है, किन्तु अनेक खंड वाली में सिलाई करने की या सिलाई करवाने की आवश्यकता होती है। अतः प्रस्तुत सूत्र में अनेक वस्त्रखंड जोड़ कर बनाई जाने वाली चादर का ही अधिकार है।

भिक्षु या भिक्षुणी सिलाई का आवश्यक कार्य स्वतः ही कर सकते हैं। कोई करने वाला न हो तो परिस्थितिवश गीतार्थ की आज्ञा से वे परस्पर करवा सकते हैं।

किसी समय समीपस्थ भिक्षु या भिक्षुणी कोई भी सिलाई का कार्य न कर सके तब वे स्वयं गृहस्थ से सिलवायें तो उद्देशक ५ सू. १२ के अनुसार लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है। किन्तु साध्वी की चादर साधु गृहस्थ के द्वारा सिलवावे तो प्रस्तुत सूत्र के अनुसार लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

गृहस्थ से वस्त्र सिलवाना भी साधु की मर्यादा में नहीं है तथापि साध्वी की चादर सिलवाने में और भी अन्य दोषों की सम्भावना रहती है। यथा—

सीने वाला गृहस्थ पूछ भी सकता है कि किसकी चादर है? सही उत्तर देने से जानकारी होने पर वशीकरण प्रयोग कर सकता है, साधु के ब्रह्मचर्य में शंकित होकर गलत प्रचार कर सकता है। अतः ऐसा नहीं करना ही उत्तम है।

गृहस्थ से सिलवाना आवश्यक होने पर नीचे लिखे क्रम से विवेकपूर्वक करवाना चाहिये—

भाष्य गाथा—"पच्छाकड, साभिग्गह, णिरभिग्गह, भद्दए य असण्णी।
गिहि अण्णतित्थिएण वा, गिहि पुव्वं एतरे पच्छा॥

इस गाथा के अर्थ का स्पष्टीकरण उद्देशक १ सूत्र १५ के विवेचन में किया गया है।

ठाणांग अ. ४ सू. ५९ एवं आचा. श्रु. २ अ. ५ उ. १ में साध्वी को ४ चादर रखने का तथा उसके प्रमाण का कथन है। आचारांगसूत्र में यह भी कहा गया है कि उक्त प्रमाण का वस्त्र न मिले तो कम प्रमाण वाले वस्त्र खंडों को परस्पर जोड़कर उक्त प्रमाण वाली चादर बना लेनी चाहिये। अतः ऐसी स्थिति में सिलाई करना या करवाना आवश्यक हो जाता है, तब सूत्राज्ञा का ध्यान रखकर प्रवृत्ति करने पर प्रायश्चित्त नहीं आता है।

स्थावरकाय-हिंसा प्रायश्चित्त—

८—जे भिक्खू १. पुढविकायस्स वा, २. आउकायस्स वा, ३. अगणिकायस्स वा ४. वाउकायस्स वा, ५. वणस्सइकायस्स वा, कलमायमवि समारंभइ, समारंभंतं वा साइज्जइ।

८—जो भिक्षु १. पृथ्वीकाय, २. अप्काय, ३. अग्निकाय, ४. वायुकाय या ५. वनस्पतिकाय की अल्प मात्रा में भी हिंसा करता है या हिंसा करने वाले का अनुमोदन करता है। [उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।]

विवेचन—कलमायंति स्तोक प्रमाणं। —चूर्णि।

पृथ्वीकाय आदि ये पांचों एकेन्द्रिय जीव हैं। इनके अस्तित्व का इनकी विराधना के प्रकारों का और विराधना के कारणों का वर्णन आचा. श्रु. १, अ. १ मे किया गया है।

दशवै. अ. ४ में इनकी विराधना न करने की प्रतिज्ञा करने का कथन है।

दशवै. अ. ६ में भी इस विषय में मुनि की प्रतिज्ञा का स्वरूप कहा गया है।

भगवतीसूत्र, पन्नवणासूत्र, 'उत्तराध्ययनसूत्र इत्यादि आगमों में पृथ्वीकाय आदि के भेद-प्रभेद बताये गये हैं।

निशीथ भाष्य पीठिका गाथा. १४५ से २५७ तक पृथ्वीकाय आदि पाँच स्थावरों की विराधना भिक्षु द्वारा कितने प्रकार से हो सकती है और उनके प्रायश्चित्त के कितने विकल्प होते हैं इत्यादि विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है। अतः विस्तृत जानकारी के लिये उपर्युक्त स्थलों का अध्ययन करना चाहिये।

कुछ विराधनास्थल इस प्रकार हैं—

पृथ्वीकाय की विराधना के स्थान—

१. गोचरी में—सचित्तरज-युक्त हाथ आदि तथा १. काली-लाल मिट्टी, २. ऊप—खार, ३. हरताल, ४ हिंगुलक, ५. मेन्सिल, ६. अंजन, ७. नमक, ८. गेरू, ९. पीली मिट्टी (मेट), १०. खड्डी [खडिया], ११. फिटकरी, इन ग्यारह के चूर्णों [पिष्टों] से लिप्त हाथ, कुड़छी या बर्तन से भिक्षा ग्रहण करने पर पृथ्वीकाय की विराधना हो जाती है।

अथवा इनका संघट्टन आदि करते हुए दाता भिक्षा देवे तो इनकी विराधना हो जाती है।

२. मार्ग में—१. काली, लाल, पीली सचित्त मिट्टी, मुरड़, रेत, बजरी [दाणा], २. पत्थरों के नये टुकड़े [गिट्टी आदि], ३. नमक, ४. ऊप—खार, ५. पत्थर के कोयले आदि से युक्त मार्ग हो या ये पदार्थ मार्ग में बिखरे हुए हों तो इन पर चलने से पृथ्वीकाय की विराधना हो जाती है।

तत्काल हल चलाई हुई भूमि, मधुर फल वाले वृक्षों के नीचे की विस्तृत भूमि और वर्षा से गीली बनी गमनागमन रहित स्थान की भूमि भी मिश्र होती है। नदी, तालाब आदि के किनारे या खड्डों में पानी के सूखने पर जो मिट्टी पपड़ी बन जाती है, वह सचित्त हो जाती है। इन पर चलने बैठने आदि से पृथ्वीकाय की विराधना हो जाती है।

सामान्यतया ऊपर की चार अंगुल भूमि गमनागमन, सर्दी, गर्मी आदि से अचित्त हो जाती है और उसके नीचे क्रमशः कहीं मिश्र या कहीं सचित्त होती है।

मार्ग में जहाँ सचित्त या मिश्र पृथ्वी हो वहाँ मनुष्य आदि के गमनागमन से एक या दो-तीन प्रहर में अचित्त हो जाती है।

कोमल पृथ्वी अच्छी तरह पिस जाने के बाद पूर्ण अचित्त हो जाती है और कठोर पृथ्वी वर्ण परिवर्तन हो जाने पर केवल ऊपर से अचित्त हो जाती है, क्योंकि उसमें कठोरता के कारण अन्दर के जीवों की पांव के स्पर्श आदि से विराधना नहीं होती है।

अप्काय की विराधना के स्थान—

१. गोचरी में—१. उदकार्द्र हाथ आदि से, २. सस्निग्ध हाथ आदि से, ३. पूर्वकर्मदोष से, ४. पश्चात्कर्मदोष से और ५. जल का स्पर्श आदि करने वाले दाता से भिक्षा ग्रहण करने पर अप्काय की विराधना होती है।

२. मार्ग में—१. नदी, नाला, तालाव आदि के पानी में, २. भूमि पर ओस, धूअर और वर्षा के पड़े हुए पानी में, ३. मार्ग में गिरे हुए पानी पर चलने से या किसी अन्य के रखे हुए या फेंके जाते हुए पानी का स्पर्श आदि होने से अप्काय की विराधना हो जाती है।

विहार में कभी जंघासंतारिम या नावासंतारिम पानी को पार करके जाने में भी अप्काय की विराधना हो जाती है।

उपर्युक्त स्थानों में पानी के सूक्ष्म अंश का अस्तित्व रहे तब तक वह सचित्त रहता है। मार्ग में गिरे हुए पानी की स्निग्धता समाप्त हो जाने पर अर्थात् पृथ्वी में पानी के पूर्णतया विलीन हो जाने पर वह अचित्त हो जाता है।

नदी, तालाव आदि का पानी पूर्णतया सूख जाने पर उसमें अप्काय के जीव तो नहीं रहते हैं किन्तु वहां कुछ समय तक पृथ्वीकाय की सचित्तता रहती है।

अग्निकाय की विराधना के स्थान—

१. गोचरी में—अग्नि के अनंतर या परम्पर स्पर्श करती हुई वस्तु लेने से या अग्नि पर रखी हुई वस्तु लेने से अथवा भिक्षा देने के निमित्त दाता द्वारा किसी प्रकार से अग्नि का आरंभ करने पर अग्निकाय की विराधना हो जाती है।

२. उपाश्रय में—अग्नि या दीपक युक्त स्थान में ठहरना भिक्षु को नहीं कल्पता है। किन्तु अन्य स्थान के न मिलने पर एक या दो दिन वहां ठहरना कल्पता है। —बृहत्कल्प उ. २

भिक्षु कभी परिस्थितिवश ऐसे स्थान में ठहरा हो तो वहां उसके प्रतिलेखन, प्रमार्जन, गमनागमन आदि क्रियाएँ करते हुए असावधानी से अग्निकाय की विराधना हो जाती है।

वायुकाय की विराधना के स्थान—

१. किसी भी उष्ण पदार्थ को शीतल करने के लिए हवा करने से वायुकाय की विराधना हो जाती है।

२. गर्मी के कारण शरीर पर किसी भी साधन से हवा करने पर वायुकाय की विराधना हो जाती है। भाष्यकार ने यह भी बताया है कि गृहस्थ के लिये संचालित हवा में बैठना अथवा खुले स्थान में जाकर "हवा आवे" इस प्रकार का संकल्प करना भी वायुकाय की विराधना का प्रकार है।

३. प्रतिलेखन आदि संयम की आवश्यक प्रवृत्ति करने में, शरीर और उपकरण के अनेक (परिकर्म) कार्य करने में, चलना, खड़े होना, बैठना, सोना, बोलना या खाना तथा कोई भी वस्तु रखने, उठाने या परठने में हवा की उदीरणा करते हुए अयतना से ये कार्य करने पर वायुकाय की विराधना होती है।

सूक्ष्म दृष्टि से तो काया के प्रत्येक हलन-चलन मात्र में वायुकाय की विराधना होती है। यह विराधना तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में योगनिरोध होने के पूर्व तक होती रहती है। संयम मर्यादा में व इस प्रायश्चित्त प्रकरण में उसका कोई संबंध नहीं है।

किसी पदार्थ को ठंडा करने के लिए या शारीरिक गर्मी को शांत करने के लिए हवा करना-कराना भिक्षु को नहीं कल्पता है और आवश्यक प्रवृत्तियां 'अयतना से' करने पर पापकर्म का बंध होता है अर्थात् वह सावद्य प्रवृत्ति कही जाती है। —दश. अ. ४

अयतना का अर्थ—किसी भी कार्य के करने में हाथ, पांव, शरीर या उपकरण आदि को शीघ्र गति से चलाना, किसी पदार्थ को नीचे रखने परठने में ऊपर से फेंकना तथा छींक खांसी आदि आवश्यक शारीरिक प्रक्रियाओं में हाथ आदि का उपयोग न करना इत्यादि को अयतना समझना चाहिए।

वनस्पतिकाय की विराधना के स्थान—

१. मार्ग में—विहार में, ग्रामादि में या ग्रामादि के बाहर कार्यवश जाने आने में हरी घास, नये अंकुर, फूल, पत्ते, बीज आदि पर तथा फूलन (काई) युक्त भूमि पर चलने से या इनका स्पर्श हो जाने पर वनस्पतिकाय की विराधना हो जाती है।

कहीं वृक्ष की छाया में बैठने पर असावधानी से उसके स्कंध आदि का स्पर्श हो जाय, वहां पर पड़े हुए फूल, पत्ते, बीज आदि का स्पर्श हो जाय तो वनस्पतिकाय की विराधना हो जाती है।

२. गोचरी में—हरी तरकारियां, फल, फूल, बीज, फूलन आदि के अनंतर या परंपर स्पर्श करते हुए खाद्य पदार्थ, अग्नि आदि से अपरिपक्व मिश्र या सचित्त हरी तरकारियां आदि; अर्द्धपक्व सिट्टे, होले आदि ग्रहण करने से अथवा भिक्षा देने के निमित्त दाता द्वारा इन वनस्पतियों का स्पर्श करने से वनस्पतिकाय की विराधना होती है।

१. बीज धान्य, २. हरी वनस्पतियां और ३. फूलन युक्त आहार अनाभोग से खाने में आ जाय तो वनस्पतिकाय की विराधना होती है। जिसका प्रायश्चित्त कथन क्रमशः उद्देशक चौथे, बारहवें तथा दसवें में किया गया है।

वनस्पति के टुकड़े, छिलके, पत्ते तथा तत्काल की पीसी हुई चटनी आदि कोई भी पदार्थ यदि दाता के हाथ या कुडछी आदि के लगे हुए हों तो उनसे आहार ग्रहण करने पर वनस्पतिकाय की विराधना होती है।

३. परिष्ठापन में—मल-मूत्र, कफ, श्लेष्म, आहार-पानी, उपधि आदि को हरी घास पर अंकुर एवं फूलन युक्त भूमि पर तथा बीज फूल पत्ते आदि पर परठने से वनस्पतिकाय की विराधना होती है।

रात्रि में परठने के लिये उस भूमि की संध्या के समय ध्यान पूर्वक प्रतिलेखना करके वनस्पति आदि से रहित भूमि में परिष्ठापन करना चाहिए। ऐसा न करने पर वनस्पतिकाय की विराधना होती है।

प्रायश्चित्त—गोचरी में गृहस्थ द्वारा पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय तथा प्रत्येक वनस्पतिकाय की विराधना हो जाय तो लघुमासिक प्रायश्चित्त, अनंतकाय की विराधना हो जाय तो

गुरुमासिक प्रायश्चित्त तथा साधु के द्वारा कहीं भी पृथ्वी आदि की विराधना हो जाय तो प्रस्तुत सूत्र से लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

साधु के द्वारा अनंतकाय अर्थात् साधारण वनस्पतिकाय की विराधना हो जाय तो उसका भाष्य गा. ११७ में गुरुचौमासी प्रायश्चित्त कहा है। प्रायश्चित्त के अन्य भी अनेक विकल्प जानने के लिये भाष्य गा. ११७ तथा गाथा. १४५ से २५७ तक की चूर्णि का अध्ययन करना चाहिये।

भाष्य. गा. २५८ से २८९ तक त्रसकाय के संबंध में भी इसी प्रकार से वर्णन किया है। प्रस्तुत सूत्र में तो पांच स्थावर की विराधना का ही प्रायश्चित्त कहा है, तथापि यहां उपयुक्त होने से त्रसकाय संबंधी वर्णन भी दिया जाता है।

त्रसकाय की विराधना के स्थान—

१. मार्ग में—मार्ग में या ग्रामादि में लाल कीड़ियां, काली कीड़ियां, मकोड़े, दीमक तथा वर्षा होने से उत्पन्न हुए अनेक प्रकार के सीप शंख गिजाइयां अलसिया एवं जलोका मच्छर आदि तथा अत्यन्त छोटे मेंढक आदि जीव भ्रमण करते हैं। भिक्षु के द्वारा गमनागमन में असावधानी होने पर इन जीवों की विराधना हो सकती है।

अन्य मार्ग के न होने पर ऐसे जीवयुक्त मार्ग से जाते समय सावधानी पूर्वक देखकर या प्रमार्जन करके चलने से भिक्षु जीवविराधना से बच सकता है।

ग्रामादि के अंदर या बाहर जहां मनुष्य के मल-मूत्र आदि अशुचि पदार्थ हों, वहां असावधानी से चलने या खड़े रहने से संमूर्च्छिम मनुष्यादि की विराधना हो सकती है।

२. भिक्षाचरी में—१. खाद्य, दही, मक्खन, इक्षु निर्मित काकव और घृत आदि के विकृत हो जाने पर उनमें लटें आदि जीव उत्पन्न हो जाते हैं। कहीं अचित्त शीतल जल में भी त्रस जीव हो सकते हैं। असावधानी से कभी भिक्षाचरी में इनके ग्रहण कर लिये जाने पर उन जीवों की विराधना होती है।

२. अनेक खाद्य पदार्थों में कीड़ियां आदि आ जाती है और विवेक न रखने पर उन जीवों की विराधना हो सकती है।

३. भिक्षा लेने के स्थान पर कीडियां आदि हों तो दाता के द्वारा उनकी विराधना हो सकती है।

४. आहार-पानी के चलितरस हो जाने पर उसमें "रसज" जीव उत्पन्न हो जाते है, जिससे उन पदार्थों का स्वाद और गंध बदलकर खराब हो जाता है। ऐसे चलितरस खाद्य-पदार्थों को विभाजित करने पर और पेय पदार्थों को हाथ से स्पर्श करके देखने पर लार जैसे जंतु दिखाई देते हैं। विवेक न रहने पर उन रसज जीवों की विराधना होती है।

अतः भिक्षु को गवेषणाविधि में कुशल होने के साथ-साथ पदार्थों के परीक्षण करने में भी कुशल होना चाहिए।

असावधानी से उपर्युक्त जीवयुक्त पदार्थ भिक्षा में आ जावे तो शोधन करने योग्य का शोधन किया जाता है और परठने योग्य का परिष्ठापन कर दिया जाता है। इसकी विधि ऊपर

निर्दिष्ट गाथाओं में तथा "परिष्ठापनिकानिर्युक्ति" आवश्यक सूत्र अ. ४ में बताई गई है। निशीथ के चूर्णिकार ने भी उसी स्थल का निर्देश किया है।

३. शय्या में—कीड़ियां, मकोड़े, दीमक, अनेक प्रकार की कंसारियां, मकड़ियां आदि जीव उपाश्रय में हो सकते हैं। अतः प्रत्येक प्रवृत्ति देखकर या प्रमार्जन करके करने से इन जीवों की विराधना नहीं होती है।

मकान के जिस स्थल का प्रमार्जन न होता हो, ऐसे ऊँचे स्थान या किनारे के स्थान में तथा अलमारियों आदि के नीचे या आस-पास में मकड़ियां और उस स्थान के अनुरूप वर्ण वाले कुंथुवे आदि जीव उत्पन्न हो जाते हैं। उपाश्रय के निकट में धान्यादि रखे हों तो इल्ली धनेरिया आदि जीव भी गमनागमन करते हैं। असावधानी से इन जीवों की विराधना हो सकती है।

मकान में मक्खियां मच्छर आदि हों तो खुजलाने में या करवट पलटने में पूंजने का विवेक न रहने पर तथा द्रव पदार्थों को रखने या खाने में सावधानी न रखने पर भी इन जीवों की विराधना होती है।

४. उपधि में—वस्त्र में जूं लीख आदि, पाट में दीमक-खटमल आदि, पुस्तकों एवं अलमारी आदि में लेवे आदि तथा तृण दर्भ आदि में अनेक प्रकार के आगंतुक जीव हो सकते हैं। अविवेक पूर्वक प्रतिलेखन प्रमार्जन करने से या उन्हें उपयोग में लेने से उन जीवों की विराधना हो सकती है।

भिक्षु यदि जीवयुक्त मकान पाट आदि ग्रहण नहीं करने के तथा उनका उभयकाल विधिसहित प्रतिलेखन करने के आगम विधान का बराबर पालन करे तो अनेक प्रकार के जीवों की उत्पत्ति की संभावना नही रहती है। जिससे उन जीवों की विराधना भी नहीं होती है।

वस्त्रों को यथासमय धूप मे आतापित करने का ध्यान रखे तो उनमें भी जीवोत्पत्ति की संभावना नहीं रहती है।

मार्ग आदि स्थलों में उपरोक्त त्रस स्थावर जीवों की संभावना तो हो प्रत्येक प्रवृत्ति में जीवो को देखने का या प्रमार्जन करने का ध्यान रखने पर उनकी विराधना नहीं होती है।

विराधना के अनेक विकल्पो से प्रायश्चित्त के भी अनेक विकल्प होते हैं, उनकी जानकारी भाष्य से की जा सकती है। संक्षिप्त में स्थावर जीवों की विराधना के प्रायश्चित्त ऊपर बताये गये हैं। त्रस जीवों की विराधना का सामान्य प्रायश्चित्त इस प्रकार है—

द्वीन्द्रिय की विराधना का लघुचौमासी,
त्रीन्द्रिय की विराधना का गुरुचौमासी,
चतुरिन्द्रिय की विराधना का लघुछःमासी,
पंचेन्द्रिय की विराधना का गुरुछःमासी।

सचित्त-वृक्षारोहण-प्रायश्चित्त—

९. जे भिक्खू सचित्त-रुक्खं दुरुहइ, दुरुहंतं वा साइज्जइ।

९. जो भिक्षु सचित्त-वृक्ष पर चढता है या चढ़ने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन--सचित्त-वृक्ष तीन प्रकार के होते हैं—

१. संख्यात जीव वाले ताड़ वृक्षादि, २. असंख्यात जीव वाले आम्रवृक्षादि, ३. अनंत जीव वाले थूहरादि।

संख्यात जीव वाले या असंख्यात जीव वाले वृक्ष पर चढ़ने का लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है और अनंत जीव वाले वृक्ष पर चढ़ने का गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

पांचवें उद्देशक में सचित्त-वृक्ष के निकट खड़े रहने का भी प्रायश्चित्त कहा गया है।

अतिवृष्टि से बाढ़ आने पर, श्वापद या चोर के भय से या अन्य किसी परिस्थिति से भिक्षु को वृक्ष पर चढ़ना पड़े तो सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है, किन्तु अकारण चढ़े या बारम्बार चढ़ने का प्रसंग आए तो प्रायश्चित्त की वृद्धि होती है।

वृक्ष पर चढ़ने से होने वाले दोष—

१. वनस्पतिकाय की विराधना होती है।
२. चढ़ते समय हाथ-पांव आदि में खरोंच आ जाती है।
३. गिर पड़ने से अन्य जीवों की विराधना होती है।
४. हाथ-पांव आदि में चोट आने से आत्मविराधना होती है।
५. वृक्ष पर चढ़ते हुए देखकर किसी के मन में अनेक आशंकायें उत्पन्न हो सकती हैं।
६. धर्म की अवहेलना होना भी संभव है।

अनंतकायिक थूहर, आक आदि वृक्षों पर चढ़ना संभव नहीं होता है, अतः उनका सहारा लेना आदि का प्रायश्चित्त समझ लेना चाहिए।

गृहस्थ के पात्र में आहार करने का प्रायश्चित्त—

१०. जे भिक्खू गिहि-मत्ते भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ।

१०. जो भिक्षु गृहस्थ के पात्र में आहार करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—भिक्षु गृहस्थ के द्वारा अपने पात्र में आहारादि ग्रहण कर उसे खा सकता है किन्तु गृहस्थ के थाली-कटोरी आदि में नहीं खा सकता है तथा उनके गिलास लोटे आदि से पानी नहीं पी सकता है। यह मुनिजीवन का आचार है।

दशवै. अ. ६ गा. ५१-५२-५३ में इसका निषेध किया गया है, वह वर्णन इस प्रकार है—

"कांस्य मिट्टी आदि किसी भी प्रकार के गृहस्थ के बर्तन में अशन-पान आदि आहार करता हुआ भिक्षु अपने आचार से भ्रष्ट हो जाता है।

भिक्षु के खाने या पीने के बाद गृहस्थ के द्वारा उन बर्तनों को धोये जाने पर अप्काय की विराधना होती है और उस पानी के फेंकने पर अनेक त्रस प्राणियों की भी हिंसा होती है, अतः इसमें जिनेश्वर देव ने असंयम कहा है।

पूर्वकर्म—पश्चात्कर्म आदि दोष लगते हैं अतः भिक्षु को गृहस्थ के बर्तनों में खाना-पीना नहीं कल्पता है। इन्हीं कारणों से निर्ग्रन्थ मुनि गृहस्थ के बर्तन में आहारादि नहीं करते।

दशवै. अ. ३ गा. ३ में गृहस्थ के बर्तन में खाने की प्रवृत्ति को अनाचार कहा है।

सूय. श्रु. १ अ. २. उ. २ गा. २० में गृहस्थ के बर्तनों में नहीं खाने वाले भिक्षु को सामायिक चारित्रवान् कहा है।

सूय. श्रु. १ अ. ९ गा. २० में कहा गया है कि—भिक्षु गृहस्थ के बर्तनों में आहार-पानी कदापि नहीं करे।

गृहस्थ के पात्र में खाने से होने वाले दोष—

१. गृहस्थ के घर में खाना, २. गृहस्थ के द्वारा स्थान पर लाया हुआ खाना,
३. गृहस्थ द्वारा बर्तनों को पहले या पीछे धोना, ४. नया बर्तन खरीदना,
५. आहार-पानी की अलग-अलग व्यवस्था करना।

इत्यादि अनेक दोषों की परम्परा बढ़ती है।

अतः भिक्षु को आगमानुसार गृहीत लकड़ी, मिट्टी या तुम्बे के पात्र में ही आहार करना चाहिए। गृहस्थ के थाली, कटोरी, गिलास, लोटे आदि का उपयोग नहीं करना चाहिए।

उपर्युक्त आगम पाठों में गृहस्थ के पात्र में आहार-पानी के उपयोग करने का निषेध है और उन सूत्रों की व्याख्याओं में आहार-पानी सम्बन्धी दोषों का ही कथन है। अतः वस्त्रप्रक्षालन के लिए औपग्रहिक उपकरण के रूप में गृहस्थ के पात्र का यदि उपयोग किया जाए तो सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नहीं आता है। क्योंकि उनका उपयोग करने पर पश्चात्कर्मादि दोष नही लगते हैं।

गृहस्थ के वस्त्र का उपयोग करने पर प्रायश्चित्त—

११. जे भिक्खू गिहिवत्थं परिहेइ, परिहेंतं वा साइज्जइ।

११. जो भिक्षु गृहस्थ के वस्त्र को पहनता है या पहनने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—भिक्षु वस्त्र की आवश्यकता होने पर गृहस्थ से वस्त्र की याचना करके ही उपयोग में लेता है। किन्तु पडिहारी वस्त्र ग्रहण करके उसे उपयोग में लेकर गृहस्थ को लौटाना नहीं कल्पता है। इसी का प्रस्तुत सूत्र में प्रायश्चित्त कहा गया है।

पुनः लौटाने योग्य वस्त्र ही गृहस्थ का वस्त्र कहा जाता है। उसका उपयोग करने पर पूर्वकर्म, पश्चात्कर्म आदि अनेक दोष लगते हैं। उन्हें गृहस्थ-पात्र के विवेचन में कहे गये दोषों के समान समझ लेना चाहिए।

सूय. श्रु. १ अ. ९ गा. २० में गृहस्थ के वस्त्र को उपयोग में लेने का निषेध किया गया है।

अतः भिक्षु को मुनि-आचार के अनुसार गृहस्थ द्वारा पूर्ण रूप से दिया गया वस्त्र ही उपयोग में लेना चाहिए। किन्तु लौटाने योग्य वस्त्र लेकर उपयोग में नहीं लेना चाहिए।

विवेचन –सचित्त-वृक्ष तीन प्रकार के होते हैं—

१. संख्यात जीव वाले ताड़ वृक्षादि, २. असंख्यात जीव वाले आम्रवृक्षादि, ३. अनंत जीव वाले थूहरादि।

संख्यात जीव वाले या असंख्यात जीव वाले वृक्ष पर चढ़ने का लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है और अनत जीव वाले वृक्ष पर चढ़ने का गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

पांचवें उद्देशक में सचित्त-वृक्ष के निकट खड़े रहने का भी प्रायश्चित्त कहा गया है।

अतिवृष्टि से बाढ़ आने पर, श्वापद या चोर के भय से या अन्य किसी परिस्थिति से भिक्षु को वृक्ष पर चढ़ना पड़े तो सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है, किन्तु अकारण चढ़े या बारम्बार चढ़ने का प्रसंग आए तो प्रायश्चित्त की वृद्धि होती है।

वृक्ष पर चढ़ने से होने वाले दोष—

१. वनस्पतिकाय की विराधना होती है।
२. चढ़ते समय हाथ-पांव आदि में खरोंच आ जाती है।
३. गिर पड़ने से अन्य जीवों की विराधना होती है।
४. हाथ-पांव आदि में चोट आने से आत्मविराधना होती है।
५. वृक्ष पर चढ़ते हुए देखकर किसी के मन में अनेक आशंकायें उत्पन्न हो सकती हैं।
६. धर्म की अवहेलना होना भी संभव है।

अनंतकायिक थूहर, आक आदि वृक्षों पर चढ़ना संभव नहीं होता है, अतः उनका सहारा लेना आदि का प्रायश्चित्त समझ लेना चाहिए।

गृहस्थ के पात्र में आहार करने का प्रायश्चित्त—

१०. जे भिक्खू गिहि-मत्ते भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ।

१०. जो भिक्षु गृहस्थ के पात्र में आहार करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—भिक्षु गृहस्थ के द्वारा अपने पात्र में आहारादि ग्रहण कर उसे खा सकता है किन्तु गृहस्थ के थाली-कटोरी आदि में नहीं खा सकता है तथा उनके गिलास लोटे आदि से पानी नहीं पी सकता है। यह मुनिजीवन का आचार है।

दशवै. अ. ६ गा. ५१-५२-५३ में इनका निषेध किया गया है, वह वर्णन इस प्रकार है—

"कांस्य मिट्टी आदि किसी भी प्रकार के गृहस्थ के बर्तन में अशन-पान आदि आहार करता हुआ भिक्षु अपने आचार से भ्रष्ट हो जाता है।

भिक्षु के खाने या पीने के बाद गृहस्थ के द्वारा उन बर्तनों को धोये जाने पर अप्काय की विराधना होती है और उस पानी के फेंकने पर अनेक त्रस प्राणियों की भी हिंसा होती है, अतः इसमें जिनेश्वर देव ने असंयम कहा है।

पूर्वकर्म—पश्चात्कर्म आदि दोष लगते हैं अतः भिक्षु को गृहस्थ के वर्तनों में खाना-पीना नहीं कल्पता है। इन्हीं कारणों से निर्ग्रन्थ मुनि गृहस्थ के वर्तन में आहारादि नहीं करते।

दशवै. अ. ३ गा. ३ में गृहस्थ के वर्तन में खाने की प्रवृत्ति को अनाचार कहा है।

सूय. श्रु. १ अ. २. उ. २ गा. २० में गृहस्थ के वर्तनों में नहीं खाने वाले भिक्षु को सामायिक चारित्रवान् कहा है।

सूय. श्रु. १ अ. ९ गा. २० में कहा गया है कि—भिक्षु गृहस्थ के वर्तनों में आहार-पानी कदापि नहीं करे।

गृहस्थ के पात्र में खाने से होने वाले दोष—

१. गृहस्थ के घर में खाना, २. गृहस्थ के द्वारा स्थान पर लाया हुआ खाना,
३. गृहस्थ द्वारा वर्तनों को पहले या पीछे धोना, ४. नया वर्तन खरीदना,
५. आहार-पानी की अलग-अलग व्यवस्था करना।

इत्यादि अनेक दोषों की परम्परा बढ़ती है।

अतः भिक्षु को आगमानुसार गृहीत लकड़ी, मिट्टी या तुम्बे के पात्र में ही आहार करना चाहिए। गृहस्थ के थाली, कटोरी, गिलास, लोटे आदि का उपयोग नहीं करना चाहिए।

उपर्युक्त आगम पाठों में गृहस्थ के पात्र में आहार-पानी के उपयोग करने का निषेध है और उन सूत्रों की व्याख्याओं में आहार-पानी सम्बन्धी दोषों का ही कथन है। अतः वस्त्रप्रक्षालन के लिए औपग्रहिक उपकरण के रूप में गृहस्थ के पात्र का यदि उपयोग किया जाए तो सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नहीं आता है। क्योंकि उनका उपयोग करने पर पश्चात्कर्मादि दोष नहीं लगते हैं।

गृहस्थ के वस्त्र का उपयोग करने पर प्रायश्चित्त—

११. जे भिक्खू गिहिवत्थं परिहेइ, परिहेंतं वा साइज्जइ।

११. जो भिक्षु गृहस्थ के वस्त्र को पहनता है या पहनने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—भिक्षु वस्त्र की आवश्यकता होने पर गृहस्थ से वस्त्र की याचना करके ही उपयोग में लेता है। किन्तु पडिहारी वस्त्र ग्रहण करके उसे उपयोग में लेकर गृहस्थ को लौटाना नहीं कल्पता है। इसी का प्रस्तुत सूत्र में प्रायश्चित्त कहा गया है।

पुनः लौटाने योग्य वस्त्र ही गृहस्थ का वस्त्र कहा जाता है। उसका उपयोग करने पर पूर्वकर्म, पश्चात्कर्म आदि अनेक दोष लगते हैं। उन्हें गृहस्थ-पात्र के विवेचन में कहे गये दोषों के समान समझ लेना चाहिए।

सूय. श्रु. १ अ. ९ गा. २० में गृहस्थ के वस्त्र को उपयोग में लेने का निषेध किया गया है।

अतः भिक्षु को मुनि-आचार के अनुसार गृहस्थ द्वारा पूर्ण रूप से दिया गया वस्त्र ही उपयोग में लेना चाहिए। किन्तु लौटाने योग्य वस्त्र लेकर उपयोग में नहीं लेना चाहिए।

गृहस्थ की निषद्या के उपयोग करने का प्रायश्चित्त—

१२. जे भिक्खू गिहि-णिसेज्जं वाहेइ, वाहेंतं वा साइज्जइ।

१२. जो भिक्षु गृहस्थ के पर्यंकादि पर बैठता है या बैठने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—गृहस्थ के खाट-पलंग आदि अनेक प्रकार के अप्रतिलेख्य या दुष्प्रतिलेख्य आसन होते हैं। गृहस्थ के घर गोचरी आदि के लिए गये हुए भिक्षु को वहां बैठने का तथा पल्यंक आदि पर शयन करने का दशवै. अ. ६ में निषेध किया गया है तथा उन्हें ही दशवै. अ. ३ में अनाचार कहा है।

दशवै. अ. ६ में गृहस्थ के घर में बैठने से होने वाले दोषों का भी कथन है और वृद्ध, व्याधिग्रस्त तथा तपस्वी को वहां बैठना कल्पनीय कहा है। किन्तु खाट-पलंग आदि पर बैठने का सभी के लिए निषेध किया है। इसका ही प्रस्तुत सूत्र में प्रायश्चित्त कहा गया है।

सूत्र ६ में अनेक प्रकार के पीठ-बाजोट आदि का वर्णन है, उन पर गृहस्थ का वस्त्र न हो तो बैठने पर उस सूत्र के अनुसार प्रायश्चित्त नहीं आता है।

इस प्रकार गृहस्थ के आसन पल्यंक आदि काष्ठ आदि के हों और वे सुप्रतिलेख्य हों तो साधु उन्हें "पडिहारी" ग्रहण कर सकता है और उपयोग में ले सकता है। यदि कुर्सी आदि आलंबनयुक्त आसन हों तो साधु ग्रहण करके उपयोग में ले सकता है किन्तु साध्वी को आलंबनयुक्त शय्या आसन ग्रहण करने का बृहत्कल्प उ. ५ में निषेध किया है।

उत्तरा. अ. १७ गा. १९ में गृहि-निषद्या पर बैठने वाले को 'पाप श्रमण' कहा गया है।

सूय. सु. १ अ. ९ गा. २१ में आसंदी, पल्यंक आदि पर बैठने का निषेध किया गया है।

अतः भिक्षु को गृहस्थ के इन आसनों पर नहीं बैठना चाहिए।

गृहस्थ की चिकित्सा करने का प्रायश्चित्त—

१३. जे भिक्खू गिहि-तेइच्छं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

१३. जो भिक्षु गृहस्थ की चिकित्सा करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—गृहस्थ को रोग उपशांति के लिए औषध-भेषज बताना या अन्य भी किसी प्रकार की शल्यचिकित्सा आदि करना साधु को नहीं कल्पता है।

उत्तरा. अ. १५ गा. ८ में अनेक प्रकार की चिकित्सा करने का निषेध किया गया है।

दशवै. चूलिका २ में कहा है कि—'भिक्षु गृहस्थ की वैयावृत्य नहीं करे।'

दशवै. अ. ८ गा. ५१ में गृहस्थ को औषध-भेषज बताने का निषेध किया है।

दशवै. अ. ३ गा. ६ में गृहस्थ की वैयावृत्य करना अनाचार कहा है।

दशवै. अ. ३ गा. ४ में गृहस्थ की चिकित्सा (वैद्यवृत्ति) करना अनाचार कहा है।

चिकित्सा करने के दोष—

१. अनेक चिकित्साओं में सावद्य-प्रवृत्ति की जाती है,

२. सावद्य-सेवन की प्रेरणा दी जाती है,

३. निर्वद्य चिकित्सा से भी किसी का रोग दूर हो जाय तो अनेक लोगों का आवागमन बढ़ सकता है,

४. चिकित्सा से कभी किसी के रोग की वृद्धि हो जाय तो अपयश होता है, इत्यादि दोषों के कारण भिक्षु को गृहीचिकित्सा करने का प्रस्तुत सूत्र में प्रायश्चित्त कहा गया है।

आचा. श्रु. १ अ. २ उ. ५ में कहा है कि चिकित्सा—वैद्यवृत्ति करने में हनन आदि अनेक प्रवृत्तियां भी की जाती हैं, अतः भिक्षु व्याधि-चिकित्सा का प्रतिपादन न करे।

इन सूत्रोक्त विधानों को जानकर भिक्षु को गृही-चिकित्सा में प्रवृत्त नहीं होना चाहिये। परिस्थितिवश कभी चिकित्सा प्रयोग किया जाय तो सूत्रोक्त प्रायश्चित ग्रहण कर लेना चाहिये।

पूर्व-कर्म-कृत आहार-ग्रहण-प्रायश्चित्त—

१४. जे भिक्खू पुरेकम्मकडेण हत्थेण वा, मत्तेण वा, दविएण वा, भायणेण वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

१४. जो भिक्षु पूर्व-कर्मदोष से युक्त हाथ से, मिट्टी के बर्तन से, कुडछी से, धातु के बर्तन से अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघु-चौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—भिक्षु को आहार देने के पूर्व गृहस्थ हाथ धोए या कुडछी, कटोरी आदि धोए तो वह हाथ या कुडछी आदि पूर्वकर्मदोषयुक्त कहे जाते हैं। उनसे भिक्षा लेना नहीं कल्पता है। क्योंकि उनके धोने में अप्काय व त्रसकाय आदि की विराधना होती है।

कई कुलों में ऐसी परिपाटी होती है कि वे हाथ धोकर भोजन सामग्री का स्पर्श करते हैं, कई शुद्धि के संकल्प से बर्तन को धोकर उससे भिक्षा देना चाहते हैं अथवा हाथ या बर्तन के लगे हुये पदार्थ को धोकर भिक्षा देना चाहते हैं। अतः गोचरी करने वाला विचक्षण भिक्षु दाता के ऐसे भावों को अनुभव से जानकर पहले से ही हाथ आदि धोने का निषेध कर दे। निषेध करने के पहले या पीछे भी हाथ आदि धोकर दे तो अशनादि ग्रहण नहीं करना चाहिये।

आचा. श्रु. २ अ. १ उ. ६ में इस विषय का विस्तृत वर्णन है।

यह दोष एषणा के 'दायक' दोषों में समाविष्ट होता है।

दशवै. अ. ५ उ. १ गा. ३२ में भी पूर्वकर्मकृत हाथ आदि से भिक्षा लेने का निषेध किया गया है।

यदि दाता किसी बर्तन में रखे अचित्त पानी से हाथ कुड़छी आदि को धोए तो पूर्वकर्मदोष नहीं लगता है किन्तु सचित्त जल से धोए या अचित्त जल से भी बिना विवेक के धोए तो पूर्वकर्मदोष लगता है।

दाता के इस प्रकार दोष लगाने पर भी भिक्षु यदि आहार ग्रहण न करे तो उसे सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नहीं आता है। धोये हुए हाथ आदि से आहार ग्रहण करने पर लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

भद्रबाहुकृत निर्युक्ति गाथा ४०६६ में कहा है कि यदि अन्य पुरुष अन्य आहार या उसी आहार को दे तो ग्रहण किया जा सकता है। किन्तु पूर्वकर्म हाथ वाले व्यक्ति से हाथ सूख जाने पर भी ग्रहण करना नहीं कल्पता है, ऐसा भाष्य गाथा ४०७२ में कहा गया है।

आव. अ. ४ में भिक्षाचारी-अतिचार-प्रतिक्रमण पाठ में भी पूर्वकर्मदोष का कथन है।

उदक-भाजन से आहारग्रहण-प्रायश्चित्त—

१५. जे भिक्खू गिहत्थाण वा अण्णउत्थियाण वा सीओदग परिभोगेण हत्थेण वा, मत्तेण वा, दव्विएण वा, भायणेण वा असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

१५. जो भिक्षु गृहस्थ या अन्यतीर्थिक के सचित्त जल से गीले हाथ, मिट्टी के बर्तन, कुड़छी या धातु के बर्तन से अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—पूर्व सूत्र में दाता भिक्षा देने के पूर्व हाथ, बर्तन आदि धोकर देवे तो उससे आहार ग्रहण करने का प्रायश्चित्त कहा है और इस सूत्र में यह कहा गया है कि गृहस्थ सचित्त पानी से कोई भी कार्य कर रहा हो, जिससे उसके हाथ सचित्त जल से भरे हुए हों अथवा कोई बर्तन सचित्त पानी भरने या लेने के काम आ रहा हो तो ऐसे हाथों या बर्तनों से भिक्षा लेने से उन पर लगे पानी के जीवों की विराधना होती है तथा पुनः उस हाथ या बर्तनों को अन्य सचित्त जल में डालने पर भी अप्काय के जीवों की विराधना होती है।

इस तरह इस सूत्र में हाथ आदि में रहे जल की विराधना और बाद में होने वाली विराधना रूप पश्चात्कर्मदोष का प्रायश्चित्त कहा गया है।

व्याख्या में बताया गया है कि पानी लेने या पीने के बर्तन से भिक्षा लेने पर उस खाद्य पदार्थ का अंश बर्तन में रहता है जो पुनः पानी में डालने पर अप्कायिक जीवों की विराधना करता है। अतः सचित्त जल के काम आने वाले बर्तनों से आहार ग्रहण नहीं करना चाहिये।

ऐसे हाथ, बर्तन आदि से अचित्त उष्ण या शीतल जल ग्रहण करने पर हाथ बर्तन आदि में विद्यमान जल की विराधना होती है तथा बर्तनों में शेष रहे हुए अचित्त जल से अन्य सचित्त पानी की विराधना होती है।

चतुर्थ उद्देशक में सचित्त पानी से गीले या स्निग्ध हाथ, बर्तन आदि से आहार ग्रहण करने का लघुमासिक प्रायश्चित्त कहा गया है और यहां पश्चात्कर्मदोष की अपेक्षा से लघुचौमासी प्रायश्चित्त कहा है।

चौथे उद्देशक में सामान्य हाथ वर्तन आदि का कथन है किन्तु यहां सचित्त जल से कार्य करते हुए हाथ का तथा सचित्त जल लेने-पीने के वर्तन का कथन है। यह इन दोनों उद्देशक में सूत्रों के विषयों में अन्तर है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'सीओदग परिभोगेण' शब्द की व्याख्या इस प्रकार है—

जेण मत्तएण सचित्तोदगं परिभुज्जति, तेण भिक्खग्गहणं पडिसिद्धं ॥ —चूर्णि

इसका भावार्थ यह है कि—सचित्त जल के कार्य में उपयुक्त हाथ वर्तन आदि अथवा सचित्त जल लेने-देने-निकालने के वर्तन आदि से भिक्षा ग्रहण करना निषिद्ध है।

रूप-आसक्ति के प्रायश्चित्त—

१६. जे भिक्खू—१. वप्पाणि वा, २. फलिहाणि वा, ३. पागाराणि वा, ४. तोरणाणि वा, ५. अग्गलाणि वा, ६. अग्गल-पासगाणि वा, ७. गड्डाओ वा, ८. दरीओ वा, ९. कूडागाराणि वा, १०. णूम-गिहाणि वा, ११. रुक्ख-गिहाणि वा, १२. पव्वय-गिहाणि वा, १३. रुक्खं वा चेइय वा कडं, १४. थूभं वा चेइयं कडं, १५. आएसणाणि वा, १६. आयतणाणि वा, १७. देवकुलाणि वा, १८. सहाओ वा, १९. पयाओ वा, २०. पणिय-गिहाणि वा, २१. पणिय-सालाओ वा, २२. जाण-गिहाणि वा, २३. जाण-सालाओ वा, २४. सुहा-कम्मंताणि वा, २५. दब्भ-कम्मंताणि वा, २६. वद्ध-कम्मंताणि वा, २७. वक्क-कम्मंताणि वा, २८. वण-कम्मंताणि वा, २९. इंगाल-कम्मंताणि वा ३०. कट्ठ-कम्मंताणि वा, ३१. सुसाण-कम्मंताणि वा, ३२. संति-कम्मंताणि वा, ३३. गिरि-कम्मंताणि वा, ३४. कंदर-कम्मंताणि वा, ३५. सेलोवट्ठाण-कम्मंताणि वा, ३६. भवणगिहाणि वा चक्खुदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ।

१७. जे भिक्खू—१. कच्छाणि वा, २. दवियाणि वा, ३. णूमाणि वा, ४. वलयाणि वा, ५. गहणाणि वा, ६. गहण-विदुग्गाणि वा, ७. वणाणि वा, ८. वण-विदुग्गाणि वा, ९. पव्वयाणि वा, १०. पव्वय-विदुग्गाणि वा, ११. अगडाणि वा, १२. तडागाणि वा, १३. दहाणि वा, १४. णईओ वा, १५. वावीओ वा, १६. पुक्खरणीओ वा, १७. दीहियाओ वा, १८. गुंजालियाओ वा, १९. सराणि वा, २०. सर-पंतियाणि वा, २१. सर-सरपंतियाणि वा चक्खुदंसणवडियाए अभिसंधारेई, अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ।

१८. जे भिक्खू गामाणि वा जाव रायहाणीणि वा चक्खुदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ।

१९. जे भिक्खू गाम-महाणि वा जाव रायहाणि-महाणि वा चक्खुदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ।

२०. जे भिक्खू गाम-वहाणि वा जाव रायहाणी-वहाणि वा चक्खुदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ।

२१. जे भिक्खू गाम-पहाणि वा जाव रायहाणी-पहाणि वा चक्खुदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ।

२२. जे भिक्खू—१. आस-करणाणि वा, २. हत्थि-करणाणि वा, ३. महिस-करणाणि वा, ४. वसहकरणाणि वा, ५. कुक्कुड-करणाणि वा, ६. मक्कड-करणाणि वा, ७. लावय-करणाणि वा, ८. वट्टयकरणाणि वा, ९. तित्तिर-करणाणि वा, १०. कवोय-करणाणि वा, ११. कविंजल-करणाणि वा चक्खुदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ।

२३. जे भिक्खू—१. हय-जुद्धाणि वा, २. गय-जुद्धाणि वा, ३. उट्ट-जुद्धाणि वा, ४. गोण-जुद्धाणि वा, ५. महिस-जुद्धाणि वा, ६. मेंढ-जुद्धाणि वा, ७. कुक्कुड-जुद्धाणि वा, ८. मक्कड-जुद्धाणि वा, ९. लावय-जुद्धाणि वा, १०. वट्टय-जुद्धाणि वा, ११. तित्तिर-जुद्धाणि वा, १२. कवोय-जुद्धाणि वा, १३. कविंजल-जुद्धाणि वा, १४. अहि-जुद्धाणि वा, १५. सूकर-जुद्धाणि वा चक्खुदंसण-वडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ।

२४. जे भिक्खू—१. जूहिय-ठाणाणि वा, २. हय-जूहिय-ठाणाणि वा, ३. मय-जूहिय-ठाणाणि वा, ४. गय-जूहिय-ठाणाणि वा, ५. अणियाणि वा, ६. वज्झं वा णीणिज्जमाणं पेहाए चक्खुदंसण-वडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ।

२५. जे भिक्खू—१. आघाइय ठाणाणि वा, २. माणुम्माणिय ठाणाणि वा, ३. महया-हय-नट्ट-गीय-वाइय-तंती-ताल-तुडिय-घण-मुइंग-पडुप्पवाइय ठाणाणि वा चक्खुदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ।

२६. जे भिक्खू—१. कलहाणि वा, २. डिम्बाणि वा, ३. डमराणि वा, ४. महाजुद्धाणि वा, ५. महा-संगामाणि वा, ६. जूयाणि वा, ७. सभाणि वा चक्खुदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ।

२७. जे भिक्खू—१. कट्ठ-कम्माणि वा, २. पोत्थ-कम्माणि वा, ३. चित्त-कम्माणि वा, ४. मणि-कम्माणि वा, ५. दंत-कम्माणि वा, ६. गंथिमाणि वा, ७. वेढिमाणि वा, ८. पूरिमाणि वा, ९. संघाइमाणि वा, १०. विविहाणि-कम्माणि चक्खुदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ।

२८. जे भिक्खू विरूवरूवेसु महुस्सवेसु इत्थीणि वा, पुरिसाणि वा, थेराणि वा, मज्झिमाणि वा, डहराणि वा, अणलंकियाणि वा, सुअलंकियाणि वा, गायंताणि वा, वायंताणि वा, नच्चंताणि वा, हसंताणि वा, रमंताणि वा, मोहंताणि वा, विउलं असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा परि-भायंताणि वा, परिभुंजंताणि वा चक्खुदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ।

२९. जे भिक्खू समवायेसु वा, पिंडणियरेसु वा, इंदमहेसु वा जाव आगरमहेसु वा अन्नयरेसु वा विरूवरूवेसु महामहेसु चक्खुदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ।

३०. जे भिक्खू बहुसगडाणि वा, बहुरहाणि वा, बहुमिलक्खूणि वा, बहुपच्चंताणि वा, अन्नयराणि वा विरूवरूवाणि महासवाणि चक्खुदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ।

३१. जे भिक्खू इहलोइएसु वा रूवेसु, परलोइएसु वा रूवेसु, दिट्ठेसु वा रूवेसु, अदिट्ठेसु वा रूवेसु, सुएसु वा रूवेसु, असुएसु वा रूवेसु, विन्नाएसु वा रूवेसु, अविन्नाएसु वा रूवेसु सज्जइ, रज्जइ, गिज्झइ, अज्झोववज्जइ, सज्जंतं वा, रज्जंतं वा, गिज्झंतं वा, अज्झोववज्जंतं वा साइज्जइ ।

१६. जो भिक्षु—१. खेत, २. खाई, ३. कोट, ४. तोरण, ५. अर्गला, ६. अर्गलापास, ७. गड्ढा, ८. गुफा, ९. कूट के सदृश महल, १०. गुप्तगृह (तलघर), ११. वृक्ष-गृह (वृक्ष पर या वृक्ष के आश्रय से बना घर), १२. पर्वत-गृह, १३. वृक्ष का चैत्यालय, १४. स्तूप का चैत्यालय, १५ लुहारशाला, १६. धर्मशाला, १७. देवालय, १८. सभास्थल, १९. प्याऊ, २० दुकानें, २१. गोदाम, २२. यान-गृह, २३. यान-शाला, २४. चूने के कारखाने, २५. दर्भ-कर्म के स्थान, २६. चर्म-कर्म के स्थान, २७. वल्कज-कर्म के स्थान, २८. वन-कर्म-वनस्पति के कारखाने, २९. कोयले के कारखाने, ३०. लकड़ी के कारखाने, ३१. श्मशान, ३२. शान्तिकर्म करने के स्थान, ३३. पर्वत, ३४. गुफा में बने गृह, ३५. पाषाण-कर्म के स्थान, ३६. भवनों और गृहों को देखने के लिये जाता है या जाने वाले का अनुमोदन करता है ।

१७. जो भिक्षु—१. इक्षु वगैरह की वाटिका (अथवा सब्जी की वाटिका), २. घास का जगल, ३. प्रच्छन्न स्थान, ४. नदी के जल से घिरे हुए स्थल, ५. सघन जंगल(अटवी), ६.सुदीर्घ अटवी, ७ एक जातीय वृक्षों का वन (उपवन), ८. अनेक जातीय वृक्षों का सघन वन, ९. पर्वत, १०. अनेक पर्वतों का समूह, ११. कुएं, १२. तालाब, १३. द्रह, १४. नदियां, १५. बावड़ियां, १६. पुष्करणिया, १७. दीघिका—लम्बी बावड़िया आदि, १८. परस्पर कपाट से संयुक्त अनेक बावड़िया, १९. सरोवर, २०. सरोवरपंक्ति, २१. अन्योन्यसंबद्ध-सरोवर को देखने के लिये जाता है या जाने वाले का अनुमोदन करता है ।

१८. जो भिक्षु ग्राम यावत् राजधानी को देखने के लिये जाता है या जाने वाले का अनुमोदन करता है ।

१९. जो भिक्षु ग्राम-महोत्सव (यात्रादि) यावत् राजधानी में होने वाले महोत्सव को देखने के लिये जाता है या जाने वाले का अनुमोदन करता है ।

२०. जो भिक्षु ग्रामघात यावत् राजधानीघात को देखने के लिये जाता है या जाने वाले का अनुमोदन करता है ।

२१. जो भिक्षु ग्राम के मार्गों को यावत् राजधानी के मार्गों को देखने के लिये जाता है या जाने वाले का अनुमोदन करता है ।

२२. जो भिक्षु—१. अश्व, २. हस्ती, ३. महिष, ४. वृषभ, ५. कुक्कुट, ६. मर्कट (बन्दर), ७. लावक पक्षी, ८. बत्तख, ९. तित्तिर, १०. कबूतर, ११. कुरज या चातक (पक्षी) आदि को शिक्षित करने का स्थान देखने के लिये जाता है या जाने वाले का अनुमोदन करता है ।

२३. जो भिक्षु—१. अश्वयुद्ध, २. गजयुद्ध, ३. ऊँटों का युद्ध, ४. सांडों (बैलों) का युद्ध,

५. महिष (भैंसों) का युद्ध, ६. मेंढों का युद्ध, ७. कुक्कुटयुद्ध, ८. मर्कटयुद्ध, ९. लावकयुद्ध, १०. वत्तय-युद्ध, ११. तित्तिरयुद्ध, १२. कपोतयुद्ध, १३. चातकयुद्ध, १४. सर्प-(नेवले) का युद्ध, १५. शूकर-युद्ध आदि किसी भी प्रकार के युद्ध को देखने के लिये जाता है या जाने वाले का अनुमोदन करता है।

२४. जो भिक्षु—१. विवाह-मंडप, २. अश्व-यूथ (समूह) का स्थल, ३. गज-यूथ-स्थल, ४ सेना समुदाय अथवा ५. वधस्थान पर ले जाते हुए चोरादि को देखने लिये जाता है या जाने वाले का अनुमोदन करता है।

२५. जो भिक्षु—१. सभास्थल (भाषण के स्थान), २. धान्यादि के माप-तौल आदि का स्थान, ३. महान् शब्द करते हुए बजाये जाते वाद्य-नृत्य-गीत-तंत्री-तल-ताल-त्रुटित-घण-मृदंग आदि बजाने के स्थलों को देखने के लिये जाता है या जाने वाले का अनुमोदन करता है।

२६. जो भिक्षु—१. सामान्यजन-कलह, २. राजा, युवराज आदि का गृहकलह, ३. परशत्रु राजा का उपद्रव, ४. महायुद्ध (शस्त्रयुद्ध), ५. चतुरंगिणी सेना युक्त महासंग्राम, ६. जुआ खेलने के स्थल, ७. जन-समूह के स्थल को देखने के लिये जाता है या जाने वाले का अनुमोदन करता है।

२७. जो भिक्षु—१. काष्ठ-कर्म, २. पुस्तक-कर्म, ३. चित्र-कर्म, ४. मणि-कर्म, ५. दंत-कर्म,
६. फूलों को गूंथकर मालादि बनाने का स्थल,
७. फूलों को वेष्टित करके माला आदि बनाने का स्थल,
८. रिक्त जगह को फूलों आदि से पूरित करने का स्थल,
९. फूलों को संग्रह करके गुच्छा आदि बनाने का स्थल,
१०. अन्य भी विविध वेष्ट कर्मों के स्थलों को देखने के लिये जाता है या जाने वाले का अनुमोदन करता है।

२८. जो भिक्षु अनेक प्रकार के महोत्सवों में जहां पर कि अनेक वृद्ध, युवक, बालक, पुरुष या स्त्रियां सामान्य वेष में या वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर गाते, बजाते, नाचते, हंसते, क्रीड़ा करते, मोहित करते, विपुल अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य आहार खाते या बांटते हों तो उन्हें देखने के लिये जाता है या जाने वाले का अनुमोदन करता है।

२९. जो भिक्षु मेलों, पितृभोजस्थलों, इंद्रमहोत्सव यावत् सागरमहोत्सवों या अन्य भी ऐसे महोत्सवों को देखने के लिये जाता है या जाने वाले का अनुमोदन करता है।

३०. जो भिक्षु अनेक बैलगाड़ियों, रथों, म्लेच्छ या लुटेरे आदि के महाआश्रव वाले (पाप) स्थानों को देखने के लिये जाता है या जाने वाले का अनुमोदन करता है।

३१. जो भिक्षु इहलौकिक या पारलौकिक, देखे या बिना देखे, सुने या बिना सुने, जाने या अनजाने रूपों को देखने में आसक्त होता है, अनुरक्त होता है, गृद्ध होता है, मूर्च्छित होता है या आसक्त, अनुरक्त, गृद्ध और मूर्च्छित होने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—कतिपय शब्दों की व्याख्या—

१. वप्पो—केदारो—खेत या क्यारियां।

तोरणा—रण्णोदुवारादिसु—राजा के किले के द्वार पर लगे हुए कोरणी युक्त मंडपाकार पत्थर आदि।

अग्गल-पासगा—अर्गला जिसमें फंसाई जाती है, वह अर्गलाधर अर्थात् भित्ति का पार्श्वभाग।

णूम-गिहं—भूमिघरं—भोंयरा, तलघर आदि।

रुक्खगिह—रुक्खोच्चिय गिहागारो, रुक्खे वा गिहं कडं—वृक्षाकार गृह या वृक्ष के आश्रय से बना हुआ घर।

रुक्खं वा चेइय कडं—वृक्षस्य अधो व्यंतरादि स्थलकं—देवाधिष्ठित वृक्ष।

थूभं वा चेइय कडं—व्यन्तरादि-कृतं—देवाधिष्ठित स्तूप।

आवेसण—लोहारकुट्टी—लोहारशाला।

आयतणं—लोगसमवायठाणं—चौपाल।

पणिय-गिह-साला—जत्थ भण्डं अच्छति त पणियगिहं—दुकान।

जत्थ विक्काइ सा साला—अहवा सकुड्डं गिहं, अकुड्डा साला—जहां माल बेचा जाय वह शाला अथवा दीवाल सहित हो वह घर और विना दीवाल की हो वह शाला। थम्भों पर टिकी हुई छत वाली शाला।

गिरिगुहा—कंदरा—गुफा।

भवण-गिह—वणराइय मंडियंभवण, वण-विवज्जिय गिह—जो वन-राजि से युक्त हो वह भवन, जो वन रहित हो वह गृह।

सूत्र १६ के पाठ में 'उप्पलाणि, पललाणि, उज्झराणि, णिज्जराणि' शब्द अधिक मिलते है, जिनका आचारांग टीका, आचारांगचूर्णि व निशीथचूर्णि में कोई संकेत भी नहीं मिलता है तथा जिस क्रम के बीच में ये चार नाम हैं, वहां ये उपयुक्त भी नही हैं।

ये चारों शब्द 'वप्पाणि वा फलिहाणि वा' के बाद में है। जब कि आचारांगसूत्र में अनेक जगह वप्पाणि, फलिहाणि के बाद 'पागाराणि वा' पाठ मिलता है तथा निशीथचूर्णिकार ने भी इस सूत्र की व्याख्या में वप्पाणि, फलिहाणि के बाद पागाराणि की ही व्याख्या की है।

यहां आचारांग श्रु. २ अ. ३ उ. ३ एवं अ. ४ उ. २ तथा निशीथचूर्णि के अनुसार मूल पाठ रखा गया है। निशीथसूत्र में उपलब्ध इस सोलहवें सूत्र का व इसके आगे के १७वें सूत्र का पाठ चूर्णि (व्याख्या) के बाद लिपिदोष से अशुद्ध हो गया है, ऐसा स्पष्ट ज्ञात होता है।

२. कच्छा—नद्यासन्न निम्नप्रदेशा, मूलकवालुंकादि वाटिका। इक्खुमादि कच्छा—नदी के निकट का नीचा भूभाग, मूला, वेंगन आदि की वाडी, ईख आदि का खेत।

दवियाणि—घास का जंगल, वन में घास के लिये अवरुद्ध भूमि।

गहणाणि—काननानि, निर्जल प्रदेशो अरण्यक्षेत्रम्—जलहीन वन्यप्रदेश।

समवृत्ता वापी, चाउरंसा-पुक्खरणी, एताओ चेव दीहियाओ दीहिया, मंडलिसंठियाओ अन्नोन्न कवाडसंजुत्ताओ गुंजालिया भण्णति।

अर्थात् जो समगोलाकार हो वह वापी, जो चौकोर हो वह पुष्करिणी, जो लम्बी हो वह दीर्घिका कहलाती है और मंडलाकार स्थित अन्यान्य कपाटसंयुक्त गुंजालिया कहलाती है। ये बावडियों के ही प्रकार हैं।

ग्रामादि के चार सूत्र हैं, उन सभी शब्दों के अर्थ पांचवें उद्देशक में कर दिये गये हैं। पाठक वहां से मूल पाठ व अर्थ समझ लें।

आस-सिक्खावणं—आसकरणं, एवं सेसाणि वि—अश्व आदि को शिक्षा देने का स्थान।

युद्धसंबंधी सूत्र में "मिढ (मेंढा) शब्द और अहि (सर्प) शब्द अधिक हैं। शेष शब्द शिक्षित करने के सूत्र के समान समझना।

कविंजल—कपिरिव जवते ईषत् पिंगलो वा। कमनीयं शब्दं पिंजयति—चातक पक्षी।

६. जूहिय—यहां चूर्णिकार ने तीन शब्द करके अर्थ किये हैं—

१. उज्जूहिय, २. निज्जूहिय, ३. मिहुज्जूहिय। यहाँ तीसरा अर्थ प्रासंगिक लगता है —

वधू-वर-परिमाणं, वधु-वरादिकं वरस्थानं, वेदिकादि। एवं हय-गय-यूथादि स्थानानि—विवाहमंडप आदि।

अन्य प्रकार से व्याख्या—

गोसंखडी उज्जूहिगा भन्नति, गावीणं णिवेडणा परिमाणादि णिज्जूहिगा (भन्नति) गावीओ उज्जूहिताओ अदविहुत्तिओ उज्जुहिज्जंति।

इसका अर्थ विद्वान् पाठक स्वयं समझने का प्रयत्न करें।

सेना से चूर्णिकार ने चार प्रकार के सेना-समुदाय का संग्रह किया है तथा वध के लिए ले जाते हुए चोर आदि का निर्देश भी व्याख्या में किया है। आचारांगसूत्र में वैसा पाठ भी उपलब्ध है किन्तु निशीथसूत्र के मूल पाठ में यह वाक्य नहीं मिलता है।

अक्खाणगादि आघाइयं, आख्यायिकास्थानानि-कथानकस्थानानि—कथा के स्थान।

कलह, डिंब, डमर ये सभी क्लेश के प्रकार हैं। 'महायुद्ध' तथा 'महासंग्राम' ये लड़ाई के प्रकार हैं। आचारांग व निशीथ में इस सूत्र के विवेचन में केवल एक "कलह" शब्द का ही निर्देश है। किन्तु प्रतियों में भिन्न-भिन्न पाठ मिलते हैं। निशीथसूत्र व आचारांगसूत्र में उपलब्ध अन्य शब्द ये हैं—

१. थाराणि वा, २. वेराणि वा, ३. बोलाणि वा, ४. दो रज्जाणि वा, ५. वेरज्जाणि वा, ६. विरुद्ध-रज्जाणि वा।

प्रारम्भ के तीन शब्द निशीथ में और अंतिम तीन शब्द आचारांग में अधिक मिलते हैं, इनमें से बोलाणि का समावेश कलहादि में हो जाता है। शेष पांच भयात्मक है। स्थल विषयक सूत्रोक्त विषय में इनकी संगति न होने से तथा भाष्य, चूर्णि में भी न होने से इन शब्दों को मूल में नहीं रखा है।

चित्तकम्माणि—चित्ताणं सेपारमादी।—आचा., चित्तलेपा पसिद्धा—निशीथ.।

कई प्रतियों में 'चित्रकर्म' एक शब्द मिलता है और कई प्रतियों में 'चित्तकर्म', 'शिल्पकर्म'

ये दो शब्द मिलते हैं। आचारांग के चूर्णिकार ने एक शब्द की व्याख्या की ही है और निशीथचूर्णि में दो शब्द होने का निर्देश है। दोनों उद्धरण ऊपर दिये गये हैं।

गंथिम, वेढिम आदि का निशीथ में पुष्पसम्बन्धी अर्थ किया है और आचारांग में वस्त्रादि से वेष्टन करना आदि अर्थ किया है।

कई प्रतियों में "पत्तच्छेज्जकम्माणि" शब्द अधिक मिलता है किन्तु दोनों सूत्रों की चूर्णियों में यह शब्द नहीं है। आचारांग टीका में यह शब्द है। प्रतियों में इस सूत्र के अन्त में "विहिमाणि" शब्द भी है, परन्तु उसका निर्देश चूर्णि या टीका में नहीं है।

आचारांग टीका में गंथिमादि चार शब्द पहले हैं और कट्ठकम्माणि आदि शब्द बाद में हैं। किन्तु दोनों चूर्णिकारो ने पहले कट्ठकम्माणि आदि की व्याख्या करके उसके बाद गंथिम आदि की व्याख्या की है।

यह सूत्र, कई प्रतियों में इन सूत्रों के प्रारंभ में या भिन्न-भिन्न स्थलों में मिलता है किन्तु निशीथचूर्णिकार ने जहां इसकी व्याख्या की है वहीं इस सूत्र को रखा है।

आचारांग सूत्र में इस सूत्र की व्याख्या १२वें अध्ययन की टीका में है और शेष सभी सूत्रो की व्याख्या ग्यारहवें अध्ययन में है। किन्तु आचारांगचूर्णि में और निशीथचूर्णि में सूत्रस्थल एवं शब्दस्थल में पूर्णतः समानता है। दोनों चूर्णियों में इसके बाद महामहोत्सवों का कथन किया गया है।

महोत्सव, महामहोत्सव और महाश्रवस्थानों के तीन सूत्रों की व्याख्या भाष्य गाथाओं में उपलब्ध है। किन्तु निशीथ की प्रतियों में एक सूत्र का मूल पाठ ही मिलता है। चूर्णि में तीनों सूत्रों के अस्तित्व का संकेत मिलता है।

आचारांग में दो सूत्रों का मूल पाठ व टीका उपलब्ध है तथा आचारांगचूर्णि में निशीथ-चूर्णि के समान तीनों सूत्रों के अस्तित्व का संकेत मिलता है। अतः दो सूत्र आचारांग के अनुसार और एक महामहोत्सव का सूत्र निशीथ उद्देशक आठ के अनुसार रखा है। इन तीनों सूत्रों के शब्दार्थ की स्पष्टता के लिए आठवां उद्देशक देखें।

भाष्यकार ने गाथा. ४१३७, ४१३८ एवं ४१३९ में क्रमशः उत्सवों के लिए—'इत्थिमादि ठाणा', महामहोत्सवों के लिए—"समवायादि ठाणा" और महाश्रवस्थानों के लिये—"विरूवरूवादि ठाणा" शब्द का प्रयोग किया है।

अंतिम सूत्र में सभी ज्ञात-अज्ञात और दृष्ट-अदृष्ट रूपों की आसक्ति का प्रायश्चित्त कहा है। इस सूत्र में आसक्ति के लिए चार शब्दों का प्रयोग है, जबकि आचारांग में पांच शब्द भी मिलते हैं। वहाँ "नो मुज्झेज्जा" शब्द अधिक है, जिसका अर्थ है मूर्च्छित न हो और उसके बाद "नो अज्झोववज्जेज्जा" अर्थात् अत्यंत मूर्च्छित न हो।

आचारांगसूत्र द्वितीय श्रुतस्कंध में रूप की आसक्ति का वर्णन बारहवें अध्ययन में है और उसके पहले ग्यारहवें अध्ययन में शब्द की आसक्ति का वर्णन है। किन्तु निशीथसूत्र में पहले रूप की आसक्ति का बारहवें उद्देशक में प्रायश्चित्त कथन करके बाद में सतरहवें उद्देशक में शब्द की आसक्ति का प्रायश्चित्त कथन किया है। यह दोनों सूत्रों के वर्णन में उत्क्रम है।

शब्द, रूप आदि इन्द्रियविषयों की आसक्ति का निषेध एवं उनसे उदासीन रहने विभिन्न आगम वाक्य इस प्रकार हैं--

१. जो प्रमादी गुणार्थी (इन्द्रियविषयों का इच्छुक) होता है, वही अपनी आत्मा को दण्डि करने वाला कहा जाता है। —आचा. श्रु. १ अ. १ उ.

२. जो इन्द्रियों के विषय हैं वे ही संसार के मूल कारण हैं। जो संसार के मूल कारण वे इन्द्रियों के विषय ही हैं। इन इन्द्रियों के विषयों का इच्छुक महान् दुःखाभिभूत होकर उन वशीभूत होता है और प्रमादाचरण करता है। —आचा. श्रु. १ अ. २ उ.

३. जो शब्दादि विषय हैं वे संसार-आवर्त हैं, जो संसार-आवर्त के कारण हैं वे शब्दा विषय ही हैं। लोक में ऊपर, नीचे, तिरछे एवं पूर्व आदि दिशाओं में जीव रूपों को देखकर और शब्द को सुनकर उनमें मूच्छित होते हैं, यही संसार का कारण कहा गया है। जो इन विषयों से अगुप्त वह भगवदाज्ञा से बाहर है और पुनः शब्दादि विषयों का सेवन करता है। —आचा. श्रु १, अ.१ उ.

४. इन इन्द्रियविषयों पर विजय प्राप्त करना अति कठिन है जो ये इन्द्रियविषयों इच्छुक प्राणी हैं, वे उनके प्राप्त न होने पर या नष्ट हो जाने पर शोक करते हैं, झूरते हैं, आंसू बहा हैं, पीड़ित होते हैं और महा दुःखी हो जाते हैं। —आचा. १ अ. २ उ.

५. जिसने शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्शों की आसक्ति के परिणामों को सम्यक् प्रकार से जा कर उनका त्याग कर दिया है वह साधक आत्मार्थी है, ज्ञानी है, शास्त्रज्ञ है, धर्मी है और संयमवा है। —आचा. श्रु. १ अ. २ उ.

६. शब्दों और रूपों के प्रति उपेक्षाभाव रखता हुआ मुनि जन्म-मरण से विमुख रहक संयमाचरण द्वारा जन्म-मरण से छूट जाता है। —आ. श्रु. १, अ. ३, उ.

७. जीव इन्द्रियविषयों में गृद्ध होकर कर्मों का संचय करते हैं। —आचा. श्रु. १ अ. ३ उ.

८. चक्षु आदि इन्द्रियों का निरोध करने वाले कोई मुनि पुनः मोहोदय से कर्मबंध के कारण भूत इन इन्द्रियविषयों में गृद्ध हो जाते हैं। वे बाल जीव कर्मबंधन से मुक्त नहीं होते, संयोगों क उल्लंघन नहीं कर पाते, मोह रूपी अंधकार में रहकर मोक्ष मार्ग को नहीं समझ पाते, वे भगवदाज्ञ की आराधना के लाभ को भी प्राप्त नहीं कर सकते। —आचा. श्रु. १ अ. ४ उ.

९. अल्प सामर्थ्य वाले के लिए इन्द्रियविषयों का त्याग करना अत्यन्त कठिन है। —आचा. श्रु. १ अ. ५ उ.

१०. अनेक संसारी प्राणी रूप आदि में गृद्ध होकर अनेक योनियों में परिभ्रमण कर रहे हैं ये प्राणी यहां अनेक कष्टों को प्राप्त होते हैं। —आचा. श्रु. १ अ. ५ उ.

११. बाल जीव रूपादि में आसक्त होकर या हिंसादि में आसक्त होकर धर्म से च्युत हो जाते हैं और संसार में भ्रमण करते हैं। —आचा. श्रु. १ अ. ५ उ.

१२. रूपादि में आसक्त जीव दुःखी होकर करुण विलाप करते हैं। फिर भी उन कर्मों के फल से वे मुक्त नहीं हो सकते। —आचा. श्रु. १ अ. ६ उ.

१३. आचा. श्रु. २ अ. १५ में पांचवे महाव्रत की पांच भावनाओं में शब्दादि विषयों के त्याग का तथा उन पर राग-द्वेष न करने का कथन है तथा प्रश्नव्याकरणसूत्र के पांचवें संवरद्वार में भी विषयों की आसक्ति के त्याग का विस्तृत कथन है।

१४. ज्ञातासूत्र अ. ४ में कछुए के दृष्टांत से इन्द्रियनिग्रह करने का कथन है और अ. सत्रहवें में "अश्व" के दृष्टांत द्वारा इन्द्रिय-विषयों में आसक्त होने का दुष्परिणाम और अनासक्त रहने का सुपरिणाम कहा है।

१५. उत्तरा. अ. २९ में पांचों इन्द्रियों के निग्रह करने के फल का कथन है।

१६. उत्तरा. अ. ३२ की ६५ गाथाओं में शब्दादि विषयों का स्वरूप, आसक्ति, उससे होने वाली जीवों की प्रवृत्तियां और उनका परिणाम बताकर उससे विरक्त होने का परिणाम भी कहा गया है। एक-एक इन्द्रियविषय की आसक्ति से मरने वाले प्राणियों के दृष्टांत भी दिये गये हैं।

१७. उत्तरा. अ. १६ में ब्रह्मचर्य की दसवी समाधि में पांचों इन्द्रियविषयों का और चौथी पांचवीं समाधि में रूप व शब्द का वर्जन करने का उपदेश है तथा अन्य समाधियों में भी इन्द्रिय-विषय के त्याग का कथन है।

१८. भगवतीसूत्र श. १२, उ. २ में कहा है कि एक-एक इन्द्रिय के वश में होकर जीव कर्मों की प्रकृति, स्थिति, रस एवं प्रदेशों की वृद्धि करता है, असातावेदनीय का बारम्बार बंध करता है और चार गति रूप संसार में परिभ्रमण करता है।

१९. धर्म पर श्रद्धा करने वाले प्राणी भी इन्द्रियों के विषयों में मूच्छित हो कर संयम का पालन नहीं कर सकते हैं। —उत्तरा. अ. १०. गा. २०.

२०. आत्मनिग्रह न करने वाले और रस आदि इन्द्रियविषयों में गृद्ध मुनि कर्मबन्धनों का मूल से छेदन नहीं कर सकते। —उत्तरा. अ. २० गा. ३९

२१. उत्तरा. अ. २३ गा. ३८ में वश में नहीं की गई इन्द्रियों को आत्माशत्रुओं में गिना गया है।

२२. मार्ग में चलता हुआ मुनि इन्द्रियविषयों का परित्याग करता हुआ गमन करे।
—उत्तरा. अ. २४ गा. ८

२३. इन्द्रियों के विषयों में यतना (विवेक) करने वाला संसार में भ्रमण नही करता है।
—उत्तरा. अ. ३१ गा. ७

२४. अजितेन्द्रिय होना कृष्णलेश्या का लक्षण है तथा जितेन्द्रिय होना पद्मलेश्या का लक्षण है। —उत्तरा. अ. ३४ गा. २२

२५. कामगुणों के कटु विपाक को जानने वाला पण्डित मुनि मनोज्ञ शब्दादि विषयों को स्वीकार नहीं करता है।

२६. ज्ञातासूत्र अध्य. २ में शरीर के प्रति अनासक्तभाव से आहार करने का एवं अध्य. १८ में खाद्य पदार्थों के प्रति अनासक्तभाव रखने का एक-एक दृष्टान्त द्वारा विस्तृत कथन किया गया है।

अनेक स्थलों को देखने के लिए जाने वाला मुनि उनके प्रति राग-द्वेष करके कर्मबन्ध करता है, आरम्भजन्य कार्य की वचन से प्रशंसा करता है और यह अच्छा बनाया, ऐसा सोचकर सावद्य कर्मों का अनुमोदन भी करता है। अथवा कभी बनाने वाले की निन्दा या प्रशंसा भी करता है।

सूत्रोक्त स्थानों पर रहे हुए जलचर, स्थलचर, खेचर आदि प्राणी भिक्षु को देखकर त्रास को प्राप्त होवें, इधर-उधर दौड़ें, खाते-पीते हों तो अंतराय दोष लगे इत्यादि कारण से भी असंयम और कर्मबन्ध होता है। अतः भिक्षु विषयेच्छा से निवृत्त होकर शुद्ध संयम की आराधना करे।

उद्देशक ९ में राजा या रानी को देखने के लिए एक कदम भी जाने का गुरुचौमासी प्रायश्चित्त कहा है और इस बारहवें उद्देशक में विभिन्न स्थलों को देखने के लिए जाने का लघुचौमासी प्रायश्चित्त कहा है। भिक्षु को इन स्थलों के देखने का संकल्प भी नहीं करना चाहिए। यदि कदाचित् संकल्प हो भी जाय तो उसका निरोध करके स्वाध्याय ध्यान संयमयोग में लीन हो जाना चाहिए।

आहार की कालमर्यादा के उल्लंघन का प्रायश्चित्त—

३२. जे भिक्खू पढमाए पोरिसीए असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहेत्ता पच्छिमं पोरिसिं उवाइणावेइ उवाइणावेंतं वा साइज्जइ।

३२. जो भिक्षु प्रथम प्रहर में अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य ग्रहण करके उसे अंतिम चौथे प्रहर में रखता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—उत्तराध्ययनसूत्र के छब्बीसवें अध्ययन में भिक्षु की दिनचर्या का वर्णन करते हुए गाथा १२ और ३२ में तीसरे प्रहर में गोचरी जाने का विधान है।

भगवतीसूत्र, अंतकृद्दशासूत्र, उपासकदशासूत्र आदि में अनेक स्थलों पर तीसरे प्रहर में गोचरी जाने वालों का वर्णन है।

दशाश्रुतस्कंध दशा. ७ में प्रतिमाधारी भिक्षु के लिए दिन के तीन विभागों में से किसी भी एक विभाग में गोचरी करने का विधान है। वहां प्रथम, द्वितीय, तृतीय या चतुर्थ किसी भी प्रहर का विधान या निषेध नहीं है।

बृहत्कल्पसूत्र उद्देशक ५ में कहा है कि सूर्यास्त या सूर्योदय के निकट समय में आहार करते हुए भिक्षु को यह ज्ञात हो जाय कि सूर्योदय नहीं हुआ है या सूर्यास्त नहीं हुआ है या सूर्यास्त हो गया है, उस समय यदि भिक्षु मुख में से, हाथ में से व पात्र में से आहार को परठ देता है तो भगवदाज्ञा का उल्लंघन नहीं करता है, किन्तु जानकारी होने के बाद आहार करता है तो उसे प्रायश्चित्त आता है।

बृहत्कल्प उद्देशक ४ में कहा है कि प्रथम प्रहर में ग्रहण किया आहार-पानी चतुर्थ प्रहर में रखना साधु, साध्वी को नहीं कल्पता है। यदि भूल से रह गया हो तो परठ देना चाहिये।

निष्कर्ष यह है कि साधु, साध्वी साधारणतया तीसरे प्रहर में गोचरी के लिए जाए। विशेष आवश्यक स्थिति में वे दिन में किसी भी समय क्षेत्र की अनुकूलतानुसार गोचरी हेतु जा सकते हैं। किन्तु ग्रहण किये आहार को तीन प्रहर से ज्यादा रखना नहीं कल्पता है। यदि भूल से रह जाय तो खाना नहीं कल्पता है। चूर्णि में कहा है—

"दिवसस्स पढम पोरिसीए भत्तपाणं घेत्तु, चरिमंति—चउत्थ पोरिसी, तं जो संपावेति, तस्स चउलहु।"

"कालो अणुण्णातो आदिल्ला तिण्णि पहरा, बीयाइं वा तिण्णि पहरा। तम्मि अणुण्णाए काले जइवि दोसेहिं फुसिज्जति तहावि अपच्छित्ती। अणुण्णात कालातो परेण अतिकामेंतो असंतेहिं वि दोसेहिं सपच्छित्तो भवति।"

भाष्य तथा चूर्णि में कहा गया है कि संग्रह करने से अनेक दोष उत्पन्न होते हैं—

१. चींटियां आदि आहार में आ जावे तो उन्हें निकालना कठिन होता है तथा उनकी विराधना होती है।

२ कुत्ते आदि से सावधानी रखने के लिये अनेक प्रवृत्तिया करनी पड़ती हैं।

तथा अन्य अनेक दोषों की संभावना भी रहती है। अतः भिक्षु जिस प्रहर में आहार लावे उसी प्रहर में खाकर समाप्त कर दे। दूसरे प्रहर में भी नहीं रखे। क्योंकि रखने पर उपर्युक्त दोषों की संभावना रहती है।

भाष्यकार ने यह भी कहा है कि जिनकल्पी भिक्षु यदि दूसरे प्रहर में रखे तो उसे प्रायश्चित्त आता है। किन्तु स्थविरकल्पी भिक्षु को तीन प्रहर तक रखना अनुज्ञात है। कारणवश यतनापूर्वक रखने पर भी यदि चींटियां आ जाएं तो भी उन्हें प्रायश्चित्त नहीं है और चौथे प्रहर में रखने पर उक्त दोष न होने पर भी प्रायश्चित्त कहा है—

जयणाए धरेंतस्स जदि दोसा भवंति तहावि सुज्झति, आगम प्रामाण्यात्।

—भा. गा. ४१४८ चूर्णि

इस सूत्र में प्रथम प्रहर के ग्रहण किये हुए आहार को चतुर्थ प्रहर में रखने का लघुचौमासी प्रायश्चित्त कहा गया है। बृहत्कल्पसूत्र के चौथे उद्देशक में उसे खाने का भी लघुचौमासी प्रायश्चित्त कहा है।

चूर्णि के अनुसार यह सूत्र भी बृहत्कल्प उ. ४ के सूत्र के समान ही होना चाहिए, क्योंकि "आहच्च उवाइणाविए सिया" इस वाक्य की व्याख्या करते हुए चूर्णिकार ने खाने का भी लघुचौमासी प्रायश्चित्त कहा है। किन्तु जिनकल्पी यदि चौथे प्रहर में रखे या खाये तो उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

जब जितने घण्टे मिनट का दिन होता है उसमें ४ का भाग देने पर जितने घंटे मिनट आएँ उन्हें सूर्योदय के समय में जोड़ने पर एक पोरिसी का कालमान होता है और सूर्यास्त के समय में घटाने से चौथी पोरिसी का कालमान प्राप्त होता है।

आहार की क्षेत्रमर्यादा के उल्लंघन का प्रायश्चित्त—

३३. जे भिक्खू परं अद्धजोयणमेराओ असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा उवाइणावेइ उवाइणावेंतं वा साइज्जइ।

३३. जो भिक्षु दो कोस की मर्यादा से आगे अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य ले जाता है या ले जाने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—आहार ले जाने या लाने की उत्कृष्ट क्षेत्रमर्यादा का विधान उत्त. अ. २६ में किया गया है तथा बृहत्कल्प उद्देशक ४ में अर्द्ध योजन से आगे आहार ले जाने का निषेध किया गया है। यदि भूल से चला जाये तो उस आहार को खाने का निषेध किया है और खाने पर प्रायश्चित्त भी कहा है। प्रस्तुत सूत्र में केवल मर्यादा से आगे ले जाने का ही प्रायश्चित्त कहा है।

दो कोस से आगे ले जाने से होने वाले दोष—

१. पानी की मात्रा अधिक ली जायेगी।

२. वजन अधिक हो जाने से श्रम अधिक होगा।

३. सीमा न रहने से संग्रहवृत्ति बढ़ेगी।

४. खाद्य पदार्थों की आसक्ति की वृद्धि होगी।

५. अन्य अनेक दोषों की परम्परा बढ़ेगी।

अर्द्धयोजन की क्षेत्रमर्यादा आगमोक्त है, संग्रहवृत्ति से बचने के लिये यह मर्यादा कही गई है। यह सीमा उपाश्रयस्थल से चौतरफी की है अर्थात् भिक्षु अपने उपाश्रय से चारों दिशा में अर्द्ध योजन तक भिक्षा के लिये जा सकता है और विहार करने पर अपने उपाश्रय से आहार-पानी अर्द्ध योजन तक साथ में ले जा सकता है।

यह क्षेत्रमर्यादा आत्मांगुल अर्थात् प्रमाणोपेत मनुष्य की अपेक्षा से है—

एक योजन	=	४ कोस
अर्द्ध योजन	=	२ कोस
एक कोस	=	२००० धनुष
दो कोस	=	४½ माइल = ७ किलोमीटर

बृहत्कल्प उ. ३ में आधा कोस एक-एक दिशा में अधिक कहा गया है। वह स्थंडिल के लिये जाने की अपेक्षा से कहा गया है।

एक दिशा में अढ़ाई कोस और दो दिशाओं को शामिल करने से पांच कोस का अवग्रह कहा गया है। इसलिए क्षेत्रसीमा-परिमाप का मुख्य केन्द्र भिक्षु का निवासस्थल—उपाश्रय माना गया है—

"सक्कोस सकोसं मंडलं, मूल निबंधं अणुमुयंताणं।" —बृ. भा. गा. ४८४५

अर्थ—किसी दिशा में पर्वत, नदी या समुद्र आदि की बाधा न हो तो अपने मूलस्थान को न छोड़ते हुए एक कोस और एक योजन की लम्बाई का मंडल रूप अवग्रह समझना चाहिए। अर्थात् चारों दिशाओं में जो गदलाकार क्षेत्र बनता है उसका व्यास (लंबाई) एक कोस और एक योजन का होना चाहिए।

इस प्रकार बृहत्कल्प उद्देशक ३ तथा ४ के सूत्र का सार यह है कि अपने उपाश्रय से सभी दिशाओं में आहार ले जाना या लाना दो-दो कोस तक कल्पता है और वहां से मल-विसर्जन के लिये जाना आवश्यक हो तो आधा कोस तक और आगे जाना कल्पता है।

रात्रिविलेपन प्रायश्चित्त—

३४. जे भिक्खू दिया गोमयं पडिग्गाहेत्ता दिया कायंसि वणं आलिपेज्ज वा विलिपेज्ज वा आलिपंतं वा विलिपंतं वा साइज्जइ।

३५. जे भिक्खू दिया गोमयं पडिग्गाहेत्ता रत्तिं कायंसि वणं आलिपेज्ज वा विलिपेज्ज वा आलिपंतं वा विलिपंतं वा साइज्जइ।

३६. जे भिक्खू रत्तिं गोमयं पडिग्गाहेत्ता दिया कायंसि वणं आलिपेज्ज वा विलिपेज्ज वा आलिपंतं वा विलिपंतं वा साइज्जइ।

३७. जे भिक्खू रत्तिं गोमयं पडिग्गाहेत्ता रत्तिं कायंसि वणं आलिपेज्ज वा विलिपेज्ज वा आलिपंतं वा विलिपंतं वा साइज्जइ।

३८. जे भिक्खू दिया आलेवणजायं पडिग्गाहेत्ता दिया कायंसि वणं आलिपेज्ज वा विलिपेज्ज वा आलिपंतं वा विलिपंतं वा साइज्जइ।

३९. जे भिक्खू दिया आलेवणजायं पडिग्गाहेत्ता रत्तिं कायंसि वणं आलिपेज्ज वा विलिपेज्ज वा आलिपंतं वा विलिपंतं वा साइज्जइ।

४०. जे भिक्खू रत्तिं आलेवणजायं पडिग्गाहेत्ता दिया कायंसि वणं आलिपेज्ज वा विलिपेज्ज वा आलिपंतं वा विलिपंतं वा साइज्जइ।

४१. जे भिक्खू रत्तिं आलेवणजायं पडिग्गाहेत्ता रत्तिं कायंसि वणं आलिपेज्ज वा विलिपेज्ज वा आलिपंतं वा विलिपंतं वा साइज्जइ।

३४. जो भिक्षु दिन में गोवर ग्रहण कर दूसरे दिन शरीर के व्रण पर आलेपन या विलेपन करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

३५. जो भिक्षु दिन में गोवर ग्रहण कर रात्रि में शरीर के व्रण पर आलेपन या विलेपन करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

३६. जो भिक्षु रात्रि में गोवर ग्रहण कर दिन में शरीर के व्रण पर आलेपन या विलेपन करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

३७. जो भिक्षु रात्रि में गोबर ग्रहण कर रात्रि में शरीर के व्रण पर आलेपन या विलेपन करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

३८. जो भिक्षु दिन में विलेपन के पदार्थ ग्रहण कर दूसरे दिन शरीर के व्रण पर आलेपन या विलेपन करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

३९. जो भिक्षु दिन में विलेपन के पदार्थ ग्रहण कर रात्रि में शरीर के व्रण पर आलेपन या विलेपन करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

४०. जो भिक्षु रात्रि में विलेपन के पदार्थ ग्रहण कर दिन में शरीर के व्रण पर आलेपन या विलेपन करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

४१. जो भिक्षु रात्रि में विलेपन के पदार्थ ग्रहण कर रात्रि में शरीर के व्रण पर आलेपन या विलेपन करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—गोबर अथवा विलेपनयोग्य अन्य पदार्थ औषध रूप में व्रण आदि पर विलेपन करना आवश्यक हो तो स्थविरकल्पी भिक्षु इन्हें दिन में ग्रहण करके उसी दिन, दिन में उपयोग में ले सकता है। सूत्रोक्त चौभंगीद्वय में कहे अनुसार रात्रि में या दूसरे दिन उपयोग में लेने पर, रात्रि में रखने का और उपयोग में लेने का लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

ग्यारहवें उद्देशक में आहार करने की अपेक्षा से ऐसी ही चौभंगी के द्वारा गुरुचौमासी प्रायश्चित्त कहा है, रात्रि में अशनाहार की अपेक्षा विलेपन का दोष अल्प होने से इसका यहाँ लघु-चौमासी प्रायश्चित्त कहा गया है।

चौभंगी और सन्निधि-संग्रह संबंधी विवेचन ग्यारहवें उद्देशक के अनुसार जान लेना चाहिये।

भाष्य में कहा गया है कि तत्काल का (ताजा) बैल का गोबर विषहरण के लिये अति उत्तम होता है, उसके न मिलने पर गाय का गोबर भी उपयोग में लेना लाभदायक है। धूप लगा हुआ या ज्यादा समय का या कुछ-कुछ सूखा गोबर अधिक लाभकर नहीं होता है।

अतः आवश्यक परिस्थिति में 'रात्रि में भी उपयोग करना पड़ जाय तो सूत्रोक्त लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विलेपन के अन्य पदार्थ प्रयोग विशेष से तैयार किये जाते हैं। वे लम्बे समय तक भी उपयोग में लेने योग्य होते हैं। फिर भी तीव्र वेदना के कारण प्रस्तुत सूत्रों में कहे गये समय से उपयोग करने पर लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

वे विलेपन के पदार्थ दिन में लगा देने के बाद रात्रि में भी शरीर पर लगे रह सकते हैं। इसमें कोई प्रायश्चित्त नहीं आता है।

विलेपन के पदार्थ गुण की अपेक्षा चार प्रकार के होते हैं—

१. वेदना को उपशांत करने वाले, २. फोड़े आदि को पकाने वाले,
३. पीव व खून बाहर निकाल देने वाले, ४. घाव भर देने वाले।

गृहस्थ से उपधि वहन कराने का प्रायश्चित्त—

४२. जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा उवहिं वहावेइ, वहावेंतं वा साइज्जइ।

४३. जे भिक्खू तन्नीसए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा देइ, देंतं वा साइज्जइ।

४२. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ से अपनी उपधि (सामान) वहन कराता है या वहन कराने वाले का अनुमोदन करता है।

४३. जो भिक्षु भार वहन कराने के निमित्त से उसे अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—भिक्षु को अत्यन्त अल्प उपधि रखने का आगम में विधान है। जिनको भिक्षु स्वयं सहज ही उठाकर विहार कर सकता है। उपधि सम्बन्धी विस्तृत विवेचन सोलहवें उद्देशक के सूत्र ३९ में देखें।

शारीरिक अस्वस्थता के कारण रखे गये उपकरण अधिक हो जाने से अथवा शास्त्र आदि का वजन अधिक हो जाने से गृहस्थ से वहन कराने पर सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है।

विधि के अनुसार रुग्ण साधु की उपधि अन्य स्वस्थ साधु उठा सकता है। गृहस्थ को साथ रखना व सामान उठवाना संयम की विधि नहीं है। गृहस्थ के चलने आदि प्रवृत्तियों में जो भी सावद्य कार्य होता है उसका पापबंध अनुमोदन रूप में साधु को भी होता है। कदाचित् वह उपधि गिरा दे, तोड़-फोड़ दे, अयोग्य स्थान में रख दे या लेकर भाग जाय तो असमाधि उत्पन्न होती है।

भार अधिक होने से अथवा चलने से उस गृहस्थ को परिताप उत्पन्न होता है। श्रम के कारण यदि वह रुग्ण हो जाए तो औषध उपचार करना कराना आदि अनेक दोषों की परम्परा का होना संभव रहता है।

गृहस्थ को मार्ग में आहार का संयोग न मिलने पर भिक्षु के संकल्पों की वृद्धि होती है अथवा वह अपने गवेषणा करके लाये आहार में से उसे देता है तो दूसरे सूत्र के अनुसार वह प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

भारवाहक मजदूरी लेना चाहे तो उस निमित्त से अपरिग्रह महाव्रत के सम्बन्ध में दोषोत्पत्ति होती है।

उसे आहार देने पर दानदाताओं को ज्ञात हो जाने पर साधु के प्रति अप्रीति व दान की भावना में कमी आ सकती है।

अतः भिक्षु को इतनी ही उपधि रखनी चाहिये जिसे वह स्वयं उठा सके। परिस्थितिवश भी कभी अधिक उपधि रखना व गृहस्थ से उठवाना पड़े तो अन्य आवश्यक सावधानियां रखे और सूत्रोक्त प्रायश्चित्त भी स्वीकार करे।

महानदी पार करने का प्रायश्चित्त—

४४. जे भिक्खू इमाओ पंच महण्णवाओ महाणईओ उद्दिट्ठाओ, गणियाओ वंजियाओ, अंतोमासस्स दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा उत्तरइ वा, संतरइ वा, उत्तरंतं वा संतरंतं वा साइज्जइ। तं जहा—

१. गंगा, २ जउणा, ३. सरयू, ४. एरावई, ५. मही।
तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं।

४४. गंगा, यमुना, सरयू, ऐरावती और माही ये पांच महानदियां कही गई हैं, गिनाई गई हैं, प्रसिद्ध हैं, इनको जो भिक्षु एक मास में दो बार या तीन बार तैरकर पार करता है अथवा नाव आदि से पार करता है या पार करने वाले का अनुमोदन करता है।

इन ४४ सूत्रोक्त स्थानों का सेवन करने वाले को लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन—मासकल्प विहारेण गच्छन् मासे एक उत्तरितुं। तस्मिन्नेव मासे द्वि-तृतीय वारा प्रतिषेधः। —चूर्णि।

मासकल्प विहार की अपेक्षा एक महीने में एक बार एक नदी उतरना कल्पता है किन्तु उसी महीने में दो-तीन बार उतरना नहीं कल्पता है।

आठ महीनों में कुल नौ बार उतरने पर प्रायश्चित्त नहीं आता है। जिसमें प्रथम महीने में दो बार और शेष सात महीनों में सात बार नदी पार की जा सकती है।

दशाश्रुतस्कंध दशा २ में एक मास में तीन बार और एक वर्ष में १० बार उपर्युक्त में बड़ी नदियां पार करने का सबल दोष कहा है।

बृहत्कल्पसूत्र उद्देशक ४ में इन बड़ी नदियों में एक मास में दो या तीन बार उतरने का निषेध है। साथ ही वहां अन्य प्रमाण सम वाली छोटी नदियों को पार करना कल्पनीय कहा है।

दुक्खुत्तो तिक्खुत्तो—दो शब्द कहने का आशय यह है कि प्रथम मास में तीन बार और शेष मासों में दो-दो बार महा नदी में उतरने या पार करने पर प्रायश्चित्त आता है। पहले महीने में दो बार और शेष महीनों में एक-एक बार उतरने पर सबल दोष नहीं होने का तथा प्रायश्चित्त नहीं आने का कारण चूर्णिकार ने मासकल्प विहार बताया है। विशेष स्पष्टीकरण के लिए दशा. द. २ का विवेचन देखें।

उत्तरणं संतरणं—बाहाहिं व पाएहिं व उत्तरणं, संतरं तु णावाए।
तं पुण कुंभे दतिए, णावा उडुपादएहिं वा ॥ ४२०९ ॥

भुजाओं से या पैरों से पार करना 'उत्तरण' कहलाता है। कुंभ, दीवड़ी नावा, छोटी नावा, तुम्बा आदि के द्वारा पार करना 'संतरण' कहलाता है।

इमाओ त्ति—पच्चक्खं दाएति, णेगाओ मुणिया महाणदिया।
सव्व पुरा विरहिमु, ण य णाओ कप्पाइ सुकप्पाः ॥ ४२११ ॥

अर्थ—पांच नदियों के कथन से शेष बड़ी नदियाँ भी सूचित की गई है। प्राचीन काल के विचरण क्षेत्र में ये पांच प्रमुख नदियां कभी नही सूखती थी और प्रसिद्ध थीं। अतः सूत्र में इनका नाम और सख्या का निर्देश है। उपलक्षण से जिस समय जो बड़ी नदियां हों, उन्हें भी समझ लेना चाहिए।

महण्णव—महासलिला 'बहु उदको'—अधिक जल वाली।

महाणईओ—प्रधान नदियां।

बृहत्कल्पसूत्र उद्देशक ४ में तथा आचा. श्रु. २ अ. ३ उ. २ में पैरों से चल कर नदी पार करने की विधि बताई गई है तथा आचा. श्रु. २ अ. ३ उ. १ व २ में नावा से नदी पार करने की विधि और उपसर्ग आने पर की जाने वाली विधि का विस्तृत वर्णन है।

प्रस्तुत सूत्र में निर्दिष्ट पांच नदियां भी कभी कहीं अल्प उदक वाली हो सकती हैं। बृहत्कल्पसूत्र उद्देशक ४ में कुणाला नगरी के समीप ऐरावती नदी में अल्प पानी होना बताया है।

भिक्षु को उत्सर्ग विधान के अनुसार जल का स्पर्श करना भी नहीं कल्पता है। किन्तु विहार मे नदी पार करना पड़े तो यह आपवादिक विधान है। बृहत्कल्पभाष्य में तथा निशीथभाष्य में इस विषय के अपवाद और विवेक का विस्तृत विवेचन किया गया है। स्थलमार्ग में कितना चक्कर हो तो कितने जल मार्ग से जाना, उसमें भी पृथ्वीकाय, हरी-घास, फूलन आदि के आधार पर अनेक विकल्प किये हैं।

प्रायश्चित्त में भी अनेक विकल्प दिये है। नावा कुंभादि से तैरने की विधि भी बताई गई है। इसके लिये भाष्य का अध्ययन करना चाहिये।

बारहवें उद्देशक का सारांश

१-२ त्रस प्राणियों को बांधना या खोलना।
३ बार-बार प्रत्याख्यान भंग करना।
४ प्रत्येककाय मिश्रित आहार करना।
५ सरोम चर्म का उपयोग करना।
६ गृहस्थ के वस्त्राच्छादित तृणपीठ आदि पर बैठना।
७ साध्वी की चादर गृहस्थ से सिलवाना।
८ पृथ्वी आदि पाँच स्थावरकायिक जीवों की किंचित् भी विराधना करना।
९ सचित्त वृक्ष पर चढ़ना।
१०-१३ गृहस्थ के बर्तनों में खाना, गृहस्थ के वस्त्र पहनना, गृहस्थ की शय्या आदि पर बैठना, गृहस्थ की चिकित्सा करना।
१४ पूर्वकर्मदोष युक्त आहार ग्रहण करना।
१५ उदकभाजन (गृहस्थ के कच्चे पानी लेने-निकालने के बर्तन) से आहार ग्रहण करना।
१६-३० दर्शनीय स्थलों को देखने जाना।

३१ मनोहर रूपों में आसक्त होना।

३२ प्रथम प्रहर में ग्रहण किया हुआ आहार चतुर्थ प्रहर में खाना।

३३ दो कोस से आगे ले जाकर आहार-पानी का उपभोग करना।

३४-४१ गोबर या लेप्य पदार्थ रात्रि में लगाना या रात में रखकर दिन में लगाना।

४२-४३ गृहस्थ से उपधि वहन कराना तथा उसे आहार देना।

४४ बड़ी नदियों को महिने में एक बार से अधिक उतर कर या तैर कर पार करना।

इत्यादि प्रवृत्तियां करने पर लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

इस उद्देशक के २९ सूत्रों के विषयों का कथन निम्न आगमों में है, यथा—

३ बारंबार प्रत्याख्यान भंग करना शबलदोष है। —दशा. द. २

४ सचित्त पदार्थ मिश्रित आहार खाने का निषेध। —आचा. श्रु. २ अ. १ उ. १

५ सरोम चर्म के लेने का निषेध। —बृहत्कल्प उ. ३

८ पांच स्थावर कायों की विराधना करने का निषेध। —दशवै. अ. ४ तथा अ. ६
—आचा. श्रु. १ अ. १ उ. २-७

९ वृक्ष पर चढ़ने का निषेध। —आचा. श्रु. २ अ. ३ उ. ३

१० गृहस्थ के बर्तन में खाने का निषेध। —दशवै. अ. ३ तथा अ. ६
—सूय. श्रु. १ अ. २ उ. २ गा. २०

११ गृहस्थ का वस्त्र उपयोग में लेने का निषेध। —सूय. श्रु. १ अ. ९ गा. २०

१२ गृहस्थ के खाट पलंग आदि पर बैठने का निषेध। —दशवै. अ. ३ तथा अ. ६
—सूय. श्रु. १ अ. ९ गा. २१

१३ गृहस्थ की चिकित्सा करने का निषेध। —दशवै. अ. ३ तथा अ. ८ गा. ५०
—उत्तरा. अ. १५ गा. ८

१४ पूर्वकर्मदोष युक्त आहार ग्रहण करने का निषेध। —आचा. श्रु. २ अ. १ उ. ६

१६-३१ दर्शनीय स्थलों में जाने का तथा मनोहर रूपों में आसक्ति करने का निषेध।
—आचा. श्रु. २ अ. १२

३२-३३ प्रथम प्रहर में ग्रहण किये हुए आहार को चौथे प्रहर में खाने का निषेध तथा दो कोस उपरांत आहार ले जाने का निषेध। —बृहत्कल्प उ. ४

४४ बड़ी नदियों को पार करने का निषेध। —दशा. द. २, बृहत्कल्प उ. ४

इस उद्देशक के १५ सूत्रों के विषयों का कथन अन्य आगमों में नहीं है, यथा—

१-२ रस्सी आदि से पशुओं को बांधना खोलना नहीं।

६ गृहस्थ के घर में वस्त्राच्छादित पीढ आदि पर बैठना नहीं।

७ गृहस्थ से साध्वी को चद्दर सिलाना नहीं ।

१५ उदकभाजन से आहार लेने का निषेध ।

३४-४१ गोबर तथा विलेपन पदार्थ को रात्रि में ग्रहण करने आदि का निषेध आगमों में नही है किन्तु औषध-भेषज के संग्रह का निषेध ।—प्रश्न. श्रु. २ अ. ५ सू. ७ में है ।

४२-४३ विहार में गृहस्थ से भारवहन कराने का तथा उसे आहार देने का निषेध ।

॥ बारहवा उद्देशक समाप्त ॥



तेरहवाँ उद्देशक

सचित्त पृथ्वी आदि पर खड़े रहने आदि का प्रायश्चित्त—

१. जे भिक्खू अणंतरहियाए पुढवीए ठाणं वा, सेज्जं वा, निसीहियं वा चेएइ, चेएंतं वा साइज्जइ।

२. जे भिक्खू ससिणिद्धाए पुढवीए ठाणं वा, सेज्जं वा, निसीहियं वा चेएइ, चेएंतं वा साइज्जइ।

३. जे भिक्खू ससरक्खाए पुढवीए ठाणं वा, सेज्जं वा निसीहियं वा चेएइ, चेएंतं वा साइज्जइ।

४. जे भिक्खू मट्टियाकडाए पुढवीए ठाणं वा, सेज्जं वा, निसीहियं वा चेएइ, चेएंतं वा साइज्जइ।

५. जे भिक्खू चित्तमंताए पुढवीए ठाणं वा, सेज्जं वा, निसीहियं वा चेएइ, चेएंतं वा साइज्जइ।

६. जे भिक्खू चित्तमंताए सिलाए ठाणं वा, सेज्जं वा, निसीहियं वा चेएइ, चेएंतं वा साइज्जइ।

७. जे भिक्खू चित्तमंताए लेलूए ठाणं वा, सेज्जं वा, निसीहियं वा चेएइ, चेएंतं वा साइज्जइ।

८. जे भिक्खू कोलावासंसि वा दारुए जीवपइट्ठिए, सअंडे जाव मक्कडासंताणए ठाणं वा, सेज्जं वा, निसीहियं वा चेएइ, चेएंतं वा साइज्जइ।

१. जो भिक्षु सचित्त पृथ्वी के निकट की भूमि पर खड़े रहना, सोना या बैठना आदि करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

२. जो भिक्षु सचित्त जल से स्निग्ध भूमि पर खड़े रहना, सोना या बैठना आदि करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

३. जो भिक्षु सचित्त रजयुक्त भूमि पर खड़े रहना, सोना या बैठना आदि करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

४. जो भिक्षु सचित्त मिट्टीयुक्त भूमि पर खड़े रहना, सोना या बैठना करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

५. जो भिक्षु सचित्त पृथ्वी पर खड़े रहना, सोना या बैठना आदि करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

६. जो भिक्षु सचित्त शिला पर खड़े रहना, सोना या बैठना आदि करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

७. जो भिक्षु सचित्त शिलाखंड या पत्थर आदि पर खड़े रहना, सोना या बैठना आदि करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

८. जो भिक्षु घुन या दीमक लगे हुए जीवयुक्त काष्ठ पर तथा अण्डों से यावत् मकडी के जालों से युक्त स्थान पर खड़े रहना, सोना या बैठना आदि करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—इन सूत्रों का विवेचन और शब्दों की व्याख्या उद्देशक ७, सूत्र ६८ से ७५ तक के आठ सूत्रों में की जा चुकी है।

अनावृत ऊँचे स्थानों पर खड़े रहने आदि का प्रायश्चित्त—

९. जे भिक्खू थूणंसि वा, गिहेलुयंसि वा, उसुयालंसि वा, कामजलंसि वा, दुब्बद्धे दुण्णिखित्ते, अनिकंपे चलाचले ठाणं वा, सेज्जं वा निसीहियं वा चेएइ, चेएंतं वा साइज्जइ।

१०. जे भिक्खू कुलियंसि वा, भित्तिंसि वा, सिलंसि वा, लेलुंसि वा, अंतरिक्खजायंसि, दुब्बद्धे, दुण्णिखित्ते, अनिकंपे, चलाचले ठाणं वा, सेज्जं वा, निसीहियं वा चेएइ, चेएंतं वा साइज्जइ।

११. जे भिक्खू खंधंसि वा, फलिहंसि वा, मंचंसि वा, मंडवंसि वा, मालंसि वा, पासायंसि वा, हम्मतलंसि वा, अंतरिक्खजायंसि दुब्बद्धे दुण्णिखित्ते, अनिकंपे, चलाचेले ठाणं वा, सेज्जं वा, निसीहियं वा चेएइ, चेएंतं वा साइज्जइ।

९. जो भिक्षु स्तम्भ, देहली, ऊखल अथवा स्नान करने की चौकी आदि जो कि स्थिर न हों, अच्छी तरह रखे हुए न हो, निष्कम्प न हों किन्तु चलायमान हों उन पर खड़े रहना, सोना या बैठना आदि करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

१०. जो भिक्षु सोपान, भीत, शिला या शिलाखण्ड-पत्थरादि आकाशीय (अनावृत ऊंचे) स्थान, जो कि स्थिर न हो, अच्छी तरह रखे हुए न हो, निष्कम्प न हों किन्तु चलायमान हों उन पर खडे रहना, सोना या बैठना आदि करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

११. जो भिक्षु स्कन्ध पर, फलक पर, मंच पर, मण्डप पर, माल पर, प्रासाद पर, हवेली के शिखर पर इत्यादि जो आकाशीय (अनावृत ऊंचे) स्थान जो कि अस्थिर हों, अच्छी तरह बने हुए न हों, निष्कम्प न हों किन्तु चलायमान हो वहाँ पर खड़े रहना, सोना या बैठना आदि करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—शब्दों की व्याख्या—

थूणा-वेली—छोटा खम्भा ।

गिहेलुको—उम्बरो—देहली ।

उसुकाल—उखलं—ऊखल ।

कामजलं—ण्हाणपीठ—स्नान की चौकी ।

सिलंसि-लेलुंसि—ये शब्द इन सूत्रों में दो बार आये हैं । पहले सचित्त रूप में और बाद में आकाशीय रूप में प्रयुक्त हुए हैं ।

कुलियंसि—मिट्टी की दीवार या पतली दीवार ।

भित्तिंसि—ईंट, पत्थर आदि की दीवार अथवा नदी का तट ।

खंधंसि—"खंधं पागारो पेढं वा"—कोट, पीठिका या स्तम्भगृह ।

फलिहंसि—लकड़ी का तख्त, पाटिया अथवा खाई के ऊपर बना स्थान या बरांडा ।

मंचंसि—मंच, समभूमि से ऊंचा स्थान ।

मालंसि—"गिहोवरि मालो" दूसरा मंजिल आदि ।

पासायंसि—"सिरगृह-गवक्खोवसोभितो पासादो" सुशोभित महल ।

हम्मतलंसि—"तस्सोवरि तलं"—शिखर स्थान अथवा छत ।

दुब्बद्धे—खाट आदि रस्सी से ठीक बंधे न हों ।

दुन्निक्खित्ते—ठीक से स्थापित न हों ।

अणिकंपे-चलाचले—"अनिष्प्रकम्पित्वादेव चलाचलं चलाचलत्वभाव"

ठाणं-सेज्जं-निसीहियं—चूर्णिकार ने इन तीन शब्दों की व्याख्या प्रारम्भ में की है और बाद में चार शब्दों की व्याख्या भी की है । वहां चौथा शब्द "निसीयण" अधिक कहा है । किन्तु आचारांगसूत्र में तथा निशीथ उद्देशक पांच में तीन शब्द ही हैं । अतः यहां भी मूल में तीन शब्द ही रखे हैं, जिनमें उन स्थानों पर की जाने वाली सभी प्रवृत्तियों का समावेश हो जाता है—१. कायोत्सर्ग करके खड़े रहना या बिना कायोत्सर्ग किए खड़े रहना । २. किसी भी आसन से शयन करना । ३. स्वाध्याय करने के लिए या आहार करने के लिए बैठना ।

पूर्व सूत्रोक्त आठ स्थानों में ये कार्य करने का निषेध पृथ्वी आदि की विराधना के कारण किया है और इन तीन सूत्रों में भिक्षु के गिरने की सम्भावना के कारण निषेध है । क्योंकि ये स्थान ऊंचे और अनावृत अर्थात् सभी दिशाओं में खुले आकाश वाले हैं । ये बिना सहारा के स्थान होने से साधु के गिर पड़ने की या उपकरण आदि के गिरने की सम्भावना रहती है, जिससे आत्मविराधना, उपकरणों का विनाश और जीवविराधना हो सकती है । अतः ऐसे स्थानों में खड़े रहना, बैठना आदि कार्य नहीं करना चाहिए ।

आचारांग श्रु. २, अ. २, उ. १ में ऐसे स्थानों में भिक्षु के ठहरने का निषेध [illegible] कदाचित् ऐसे स्थानों में ठहरना पड़े तो अत्यन्त सावधानी रखने का निर्देश [illegible] से होने वाली अनेक प्रकार की विराधनाओं का स्पष्टीकरण भी किया है ।

अंतरिक्षजात—मंच, माल, मकान की छत आदि स्थलों की ऊंचाई तो उनके नाम से ही स्पष्ट हो जाती है, अतः अंतरिक्षजात का "ऊंचे स्थान" ऐसा अर्थ नही करना चाहिये, किन्तु "आकाशीय-अनावृतस्थल" ऐसा अर्थ करना चाहिये अर्थात् सूत्र कथित ऊँचे स्थलो के चौतरफ भित्ति आदि न होकर खुला आकाश हो तो वे ऊंचे स्थल अंतरिक्षजात विशेषण वाले कहे जाते है। यही अर्थ आचा. श्रु. २, अ. २, उ. १ के इस विषयक विस्तृत पाठ से स्पष्ट होता है। क्योंकि सूत्रगत ऊंचे स्थल यदि भित्ति आदि से चौतरफ आवृत हों तो गिरने आदि की कही गई सम्भावना संगत नहीं हो सकती है।

शिल्पकलादि सिखाने का प्रायश्चित्त—

१२. जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा—१. सिप्पं वा, २. सिलोगं वा, ३. अट्ठावयं वा, ४. कक्कडगं वा, ५. वुग्गहं वा, ६. सलाहं वा सिक्खावेइ, सिक्खावेंतं वा साइज्जइ।

१२. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ को—१. शिल्प, २. गुणकीर्तन, ३. जुआ खेलना, ४. कांकरी खेलना, ५. युद्ध करना, ६. पद्य रचना करना सिखाता है या सिखाने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—सिप्पं—"तुण्णागादि" = सिलाई आदि शिल्प।

सिलोगं—"वण्णणा" = प्रशंसा, गुणग्राम करना।
अट्ठावयं—चोपड़ पासादि से जुआ खेलना।
कक्कडयं—"कक्कडगं-हेऊं = कांकरी कौडियों से खेलने का एक प्रकार।
वुग्गहं—"वुग्गहो-कलहो" = झगड़ना, युद्ध कला।
सलाहं—"सलाहा-कव्वकरणप्पओगा" = काव्य-रचना करना।
चूर्णिकार ने "अट्ठावयं" "कक्कडयं" की व्याख्या अन्य प्रकार से भी की है, यथा—

"इमं अट्ठापदं—पुच्छितो अपुच्छितो वा भणति—अम्हे णिमित्तं न सुट्ठु जाणामो। एत्तियं पुण जाणामो—परं पभायकाले दधिकूरं सुणगा वि खातिउं णेच्छिहिंति, अर्थ पदेन ज्ञायते सुभिक्खं।" = निमित्त बताना।

"कक्कडगं-हेऊं-जत्थ भणिते उभयहा वि दोसो भवति जहा—जीवस्स णिच्चत्त परिग्गहे णारगादि भावो ण भवति। अणिच्चे वा भणिते विणासी घटवत् कृतविप्रणासादयश्च दोषा भवंति। अथवा कर्कट हेतु सर्वभावेष्व प्रतिपत्तिः" = पदार्थों में रहे विविध धर्मों का एकांतिक कथन करना।

सूत्रोक्त कार्य गृहस्थ को सिखाना साधु का आचार नहीं है तथा उपलक्षण से ७२ कला आदि सिखाने पर भी यही प्रायश्चित्त आता है, ऐसा समझ लेना चाहिये। इनके सिखाने पर गृहस्थ के कार्यों की या सावद्य कार्यों की प्रेरणा एवं अनुमोदना होती है। स्वाध्याय ध्यानादि संयम योगों की हानि भी होती है।

गृहस्थ को परुष वचन आदि कहने के प्रायश्चित्त—

१३. जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा आगाढं वयइ, वयंतं वा साइज्जइ।

विवेचन—शब्दों की व्याख्या—

थूणा-वेलो—छोटा थम्बा।

गिहेलुको—उम्बरो—देहली।

उसुकालं—उक्खलं—ऊखल।

कामजलं—ण्हाणपीढं—स्नान की चौकी।

सिलसि-लेलुंसि—ये शब्द इन सूत्रों में दो बार आये हैं। पहले सचित्त रूप से और बाद में आकाशीय रूप से प्रयुक्त हुए हैं।

कुलियंसि—मिट्टी की दीवार या पतली दीवार।

भित्तिसि—ईंट, पत्थर आदि की दीवार अथवा नदी का तट।

खंधंसि—"खंधं पागारो पेढं वा"—कोट, पीठिका या स्तम्भगृह।

फलिहंसि—लकड़ी का तख्त, पाटिया अथवा खाई के ऊपर बना स्थल या अर्गला।

मंचंसि—मंच, समभूमि से ऊंचा स्थान।

मालंसि—"गिहोवरि मालो" दूसरा मंजिल आदि।

पासायंसि—"णिज्जूह-गवक्खोवसोभितो पासादो" सुशोभित महल।

हम्मतलंसि—"सव्वोवरि तलं"—शिखर स्थान अथवा छत।

दुब्बद्धे—बांस आदि रस्सी से ठीक बंधे न हों।

दुण्णिक्खित्ते—ठीक से स्थापित न हों।

अणिकंपे-चलाचले—"अनिष्प्रकंपित्वादेव चलाचलं चलाचलनस्वभावं"

ठाणं-सेज्जं-निसीहियं—चूर्णिकार ने इन तीन शब्दों की व्याख्या प्रारम्भ में की है और बाद में चार शब्दों की व्याख्या भी की है। वहां तीसरा शब्द "णिसेज्जं" अधिक कहा है। किन्तु आचारांगसूत्र में तथा निशीथ उद्देशक पांच में तीन शब्द ही हैं। अतः यहां भी मूल में तीन शब्द ही रखे हैं, जिसमें उन स्थानों पर की जाने वाली सभी प्रवृत्तियों का समावेश हो जाता है—१. कायोत्सर्ग करके खड़े रहना या बिना कायोत्सर्ग किए खड़े रहना। २. किसी भी आसन से शयन करना। ३. स्वाध्याय करने के लिए या आहार करने के लिए बैठना।

पूर्व सूत्रोक्त आठ स्थानों में ये कार्य करने का निषेध पृथ्वी आदि की विराधना के कारण किया है और इन तीन सूत्रों में भिक्षु के गिरने की सम्भावना के कारण निषेध है। क्योंकि ये स्थान ऊँचे और अनावृत अर्थात् सभी दिशाओं में खुले आकाश वाले हैं। ये बिना सहारा के स्थान होने से साधु के गिर पड़ने की या उपकरण आदि के गिरने की सम्भावना रहती है, जिससे आत्मविराधना, उपकरणों का विनाश और जीवविराधना हो सकती है। अतः ऐसे स्थानों में खड़े रहना, सोना, बैठना आदि कार्य नहीं करना चाहिए।

आचारांग श्रु. २, अ. २, उ. १ में ऐसे स्थानों में भिक्षु के ठहरने का निषेध किया गया है। कदाचित् ऐसे स्थानों में ठहरना पड़े तो अत्यन्त सावधानी रखने का निर्देश किया है तथा असावधानी से होने वाली अनेक प्रकार की विराधनाओं का स्पष्टीकरण भी किया है।

अंतरिक्षजात—मंच, माल, मकान की छत आदि स्थलों की ऊंचाई तो उनके नाम से ही स्पष्ट हो जाती है, अतः अंतरिक्षजात का "ऊंचे स्थान" ऐसा अर्थ नहीं करना चाहिये, किन्तु "आकाशीय-अनावृतस्थल" ऐसा अर्थ करना चाहिये अर्थात् सूत्र कथित ऊँचे स्थलों के चौतरफ भित्ति आदि न होकर खुला आकाश हो तो वे ऊंचे स्थल अंतरिक्षजात विशेषण वाले कहे जाते हैं। यही अर्थ आचा. श्रु. २, अ. २, उ. १ के इस विषयक विस्तृत पाठ से स्पष्ट होता है। क्योंकि सूत्रगत ऊंचे स्थल यदि भित्ति आदि से चौतरफ आवृत हों तो गिरने आदि की कही गई सम्भावना संगत नही हो सकती है।

शिल्पकलादि सिखाने का प्रायश्चित्त—

१२. जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा—१. सिप्पं वा, २. सिलोगं वा, ३. अट्ठावयं वा, ४. कक्कडगं वा, ५. वुग्गहं वा, ६. सलाहं वा सिक्खावेइ, सिक्खावेंतं वा साइज्जइ।

१२. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ को—१. शिल्प, २. गुणकीर्तन, ३. जुआ खेलना, ४. कांकरी खेलना, ५. युद्ध करना, ६. पद्य रचना करना सिखाता है या सिखाने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—सिप्पं—"तुण्णागादि" = सिलाई आदि शिल्प।

सिलोगं—"वण्णणा" = प्रशंसा, गुणग्राम करना।
अट्ठावयं—चौपड़ पासादि से जुआ खेलना।
कक्कडयं—"कक्कडगं-हेऊं = कांकरी कौडियों से खेलने का एक प्रकार।
वुग्गहं—"वुग्गहो-कलहो" = झगड़ना, युद्ध कला।
सलाहं—"सलाहा-कव्वकरणप्पओगा" = काव्य-रचना करना।
चूर्णिकार ने "अट्ठावयं" "कक्कडयं" की व्याख्या अन्य प्रकार से भी की है, यथा—

"इमं अट्ठापदं—पुच्छितो अपुच्छितो वा भणति—अम्हे णिमित्तं न सुट्ठु जाणामो। एत्तियं पुण जाणामो—परं पभायकाले दधिकूरं सुणगा वि खातिउं णेच्छिहिंति, अर्थ पदेन ज्ञायते सुभिक्खं।" = निमित्त बताना।

"कक्कडगं-हेऊं-जत्थ भणिते उभयहा वि दोषो भवति जहा—जीवस्स णिच्चत्त परिग्गहे णारगादि भावो ण भवति। अणिच्चे वा भणिते विणासो घटयत् कृतविप्रणासादयश्च दोषा भवंति। अथवा कर्कट हेतु सर्वभावैक्य प्रतिपत्तिः" = पदार्थों में रहे विविध धर्मों का एकांतिक कथन करना।

सूत्रोक्त कार्य गृहस्थ को सिखाना साधु का आचार नहीं है तथा उपलक्षण से ७२ कला आदि सिखाने पर भी यही प्रायश्चित्त आता है, ऐसा समझ लेना चाहिये। इनके सिखाने पर गृहस्थ के कार्यों की या सावद्य कार्यों की प्रेरणा एवं अनुमोदना होती है। स्वाध्याय ध्यानादि संयम योगों की हानि भी होती है।

गृहस्थ को परुष वचन आदि कहने के प्रायश्चित्त—

१३. जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा आगाढं वयइ, वयंतं वा साइज्जइ।

१४. जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा फरुसं वयइ, वयंतं वा साइज्जइ।

१५. जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा आगाढं-फरुसं वयइ, वयंतं वा साइज्जइ।

१६. जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा अण्णयरीए अच्चासायणाए अच्चासाएइ, अच्चासाएंतं वा साइज्जइ।

१३. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ को आवेशयुक्त वचन कहता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है।

१४. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ को कठोर वचन कहता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है।

१५. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ को आवेशयुक्त कठोर शब्द कहता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है।

१६. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ की किसी भी प्रकार की आशातना करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—भिक्षु को किंचित् भी कठोर भाषा बोलना नहीं कल्पता है। अत्यल्प परुष वचन बोलने पर निशीथ उद्देशक २ सूत्र १९ से लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है तथा उद्देशक १० में आचार्य या रत्नाधिक को कठोर वचन बोलने आदि का गुरुचौमासी प्रायश्चित्त कहा है। इन प्रस्तुत सूत्रों में किसी भी गृहस्थ को कठोर शब्द कहने या अन्य किसी प्रकार से उनकी आशातना-अवहेलना करने का लघुचौमासी प्रायश्चित्त कहा है। आगाढ़ आदि शब्दों की व्याख्या दसवें उद्देशक में देखें।

भिक्षु को सदा सबके लिये हितकारी, परिमित और मधुर शब्द ही कहने चाहिए। चाहे वह छोटा साधु हो या बड़ा साधु हो, कोई छोटा बड़ा गृहस्थ हो अथवा बच्चे आदि भी क्यों न हों, किसी को कठोर शब्द कहना, तिरस्कार करना या अन्य किसी तरह से उनकी अवहेलना करना उचित नहीं है। ऐसा करने पर संयम दूषित होता है, अन्य का अपमान करना कषाय उत्पत्ति का कारण होता है। अतएव वह इन सूत्रों से प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

कठोर भाषा बोलने में मलिनभाव होने से कर्म बंध होता है तथा कलह उत्पत्ति का निमित्त भी हो जाता है।

भाषा सम्बन्धी विवेक का कथन दशवैकालिक सूत्र अ. ४-६-७-८-१० में, आचा. श्रु. २, अ. ४ में तथा प्रश्नव्याकरण श्रु. २, अ. २ में है तथा उत्तराध्ययन आदि सूत्रों में भी अनेक जगह है। पांच समिति में भाषासमिति का पालन अत्यन्त कठिन कहा गया है। अतः भिक्षु को सदा भाषा का अत्यन्त विवेक रखना चाहिये।

कौतुककर्म आदि के प्रायश्चित्त—

१७. जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा कोउगकम्मं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

१८. जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा भूइकम्मं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ ।

१९. जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा पसिणं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ ।

२०. जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा पसिणापसिणं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ ।

२१. जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा तीयं निमित्तं कहेइ, कहेंतं वा साइज्जइ ।

२२. जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा लक्खणं कहेइ, कहेंतं वा साइज्जइ ।

२३. जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा वंजणं कहेइ, कहेंतं वा साइज्जइ ।

२४. जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा सुमिणं कहेइ, कहेंतं वा साइज्जइ ।

२५. जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा विज्जं पउंजइ, पउंजंतं वा साइज्जइ ।

२६. जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा मंतं पउंजइ, पउंजंतं वा साइज्जइ ।

२७. जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा जोगं पउंजइ, पउंजंतं वा साइज्जइ ।

१७. जो भिक्षु अन्यतीर्थिकों या गृहस्थों का कौतुककर्म करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

१८. जो भिक्षु अन्यतीर्थिकों या गृहस्थों का भूतिकर्म करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

१९. जो भिक्षु अन्यतीर्थिकों या गृहस्थों से कौतुक-प्रश्न करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

२०. जो भिक्षु अन्यतीर्थिकों या गृहस्थो के कौतुक प्रश्नों के उत्तर देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

२१. जो भिक्षु अन्यतीर्थिकों या गृहस्थो के भूतकाल सम्बन्धी निमित्त का कथन करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

२२. जो भिक्षु अन्यतीर्थिकों या गृहस्थों को उनके (शरीर के रेखा आदि) लक्षणों का फल कहता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है ।

२३. जो भिक्षु अन्यतीर्थिकों या गृहस्थों को (उनके) तिल-मसा आदि व्यंजनों का फल कहता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है ।

२४. जो भिक्षु अन्यतीर्थिकों या गृहस्थों के स्वप्न का फल कहता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है ।

२५. जो भिक्षु अन्यतीर्थिकों या गृहस्थों के लिए "विद्या" का प्रयोग करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

२६. जो भिक्षु अन्यतीर्थिकों या गृहस्थों के लिए "मन्त्र" का प्रयोग करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

२७. जो भिक्षु अन्यतीर्थिकों या गृहस्थों के लिए "योग" (तन्त्र) का प्रयोग करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—"कोउय-भूतीण य करणं। पसिणस्स, पसिणापसिणस्स, णिमित्तस्स, लक्खण-वंजण-सुमिणाण य वागरणं। सेसाणं विज्जादियाण पउंजणता।"

कौतुककर्म—मृतवत्सा आदि को श्मशान या चौराहे आदि में स्नान कराना। सौभाग्य आदि के लिये धूप, होम आदि करना। दृष्टि दोष से रक्षा के लिये काजल का तिलक करना।

भूतिकर्म—शरीर आदि की रक्षा के लिये विद्या से अभिमंत्रित राख से रक्षा पोटली बनाना या भस्मलेपन करना।

तीयं निमित्तं—वर्तमान काल और भविष्य काल की अपेक्षा भूतकाल के निमित्त कथन में दोषों की सम्भावना कम रहती है, अतः दसवें उद्देशक में वर्तमान और भविष्य के निमित्त-कथन का गुरुचौमासी प्रायश्चित्त कहा है और यहाँ अतीत के निमित्त-कथन का लघुचौमासी प्रायश्चित्त कहा है।

पसिणं—मन्त्र या विद्या बल से दर्पण आदि में देवता का आह्वान करना व प्रश्न पूछना।

पसिणापसिण—मन्त्र या विद्या बल से स्वप्न में देवता के आह्वान द्वारा जाना हुआ शुभाशुभ फल का कथन करना।

लक्षण—पूर्व भव में उपार्जित अंगोपांग आदि शुभ नामकर्म के उदय से शरीर, हाथ-पाव आदि में सामान्य मनुष्य के ३२, बलदेव वासुदेव के १०८ तथा चक्रवर्ती या तीर्थंकर के १००८ बाह्य लक्षण होते हैं, अन्य अनेक आंतरिक लक्षण भी हो सकते हैं। ये लक्षण रेखा रूप में या अंगोपांग की आकृति रूप होते हैं तथा ये लक्षण स्वर एवं वर्ण रूप में भी होते हैं। शरीर का मान, उन्मान और प्रमाण ये भी शुभ लक्षण रूप होते हैं।

शरीर का आयतन एक द्रोण पानी के बराबर हो तो वह पुरुष "मानयुक्त" कहा जाता है।

शरीर का वजन अर्द्धभार हो तो वह पुरुष 'उन्मानयुक्त' कहा जाता है।

शरीर की अवगाहना १०८ अंगुल हो तो वह पुरुष 'प्रमाणयुक्त' कहा जाता है।

व्यंजन—उपर्युक्त लक्षण तो शरीर के साथ उत्पन्न होते हैं और बाद में उत्पन्न होने वाले 'व्यंजन' कहे जाते हैं। यथा—तिल, मस, अन्य चिह्न आदि।

विद्यामन्त्र—जिस मन्त्र की अधिष्ठायिका देवी हो वह 'विद्या' कहलाती है और जिस मन्त्र का अधिष्ठायक देव हो वह 'मन्त्र' कहलाता है। अथवा विशिष्ट साधना से प्राप्त हो वह 'विद्या' और केवल जाप करने से जो सिद्ध हो वह 'मन्त्र' कहा गया है।

योग—वशीकरण, पादलेप, अंतर्धान होना आदि 'योग' कहे जाते हैं। ये योग विद्यायुक्त भी होते है और विद्या के बिना भी होते हैं।

अन्य विशेष जानकारी के लिये दसवें उद्देशक के सातवें सूत्र का विवेचन देखें।

मार्गादि बताने का प्रायश्चित्त—

२८. जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा नट्ठाणं, मूढाणं, विप्परियासियाणं मग्गं वा पवेएइ, संधिं वा पवेएइ, मग्गाओ वा संधिं पवेएइ, संधीओ वा मग्गं पवेएइ, पवेएंतं वा साइज्जइ।

२८. जो भिक्षु मार्ग भूले हुए, दिशामूढ हुए या विपरीत दिशा में गए हुए अन्यतीर्थिकों या गृहस्थों को मार्ग बताता है या मार्ग की संधि बताता है अथवा मार्ग से संधि बताता है या संधि से मार्ग बताता है या बताने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—**संधि**—अनेक मार्गों के मिलने का स्थान या अनेक मार्गों का उद्‌गम स्थान।

मग्गाओ वा संधिं—मार्ग से संधिस्थान कितना दूर है, कहां है यह बताना।

संधिओ वा मग्गं—संधिस्थान से गन्तव्य मार्ग बताना, उसकी दिशा बताना।

मार्ग बताने के बाद व्यक्ति स्वय की गलती से अन्यत्र चला जाय, समझने में भूल हो जाय या मार्ग लम्बा लगे, विकट लगे, चोर लुटेरे आ जायें, शेर आदि आ जाय इत्यादि कारणों से भिक्षु के प्रति अनेक प्रकार के मलिन विचार या गलत धारणा हो सकती है। मार्ग में पानी, वनस्पति, त्रस जीव आदि हों तो उनकी विराधना भी हो सकती है।

आचा. श्रु. २, अ. ३, उ. ३ में बताया गया है कि विहार में चलते हुए भिक्षु से कोई गृहस्थ पूछ ले कि 'यहां से अमुक गांव कितना दूर है या अमुक गांव का मार्ग कितनी दूरी पर है ?' तो भिक्षु उसका उत्तर न दे किन्तु मौन रहे या सुना अनसुना करके आगे गमन करे तथा जानते हुए भी मैं नहीं जानता हूं अथवा मैं जानता हूं पर कहूंगा नही, ऐसा न कहे केवल उपेक्षाभाव रखकर मौन रहे।

आचारांगसूत्र के इस विधान का तात्पर्य भी यही है कि भिक्षु के कहने में भूल हो जाय या सुनने वाले के बराबर समझ में न आने से भ्रम हो जाय, कभी गृहस्थ मार्ग भूल जाए या मार्ग में उसे अधिक समय लग जाय, गर्मी का समय (मध्याह्न) हो जाय या रात्रि हो जाय, भूख प्यास से व्याकुल हो जाय इत्यादि अनेक दोषों की सम्भावना रहती है। अतः भिक्षु ऐसे प्रसंगों में विवेकपूर्वक उपेक्षा भाव रखता हुआ गमन करे। कभी परिस्थितिवश या अन्य किसी कारण से हिताहित का विचार करके मार्ग बताना पड़े तो विवेकपूर्ण भाषा में मार्ग बतावे तथा यथायोग्य सूत्रोक्त प्रायश्चित्त स्वीकार कर ले।

धातु और निधि बताने का प्रायश्चित्त—

२९. जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा धाउं पवेदेइ, पवेदेंतं वा साइज्जइ।

३०. जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा निहिं पवेदेइ, पवेदेंतं वा साइज्जइ।

२९. जो भिक्षु अन्यतीर्थिकों या गृहस्थों को धातु बताता है या बताने वाले का अनुमोदन करता है।

३०. जो भिक्षु अन्यतीर्थिकों या गृहस्थों को निधि (खजाना) बताता है या बताने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—धातु तीन प्रकार के होते हैं—१. पाषाणधातु, २. रसधातु, ३. मिट्टीधातु।

१. किसी पाषाण (पत्थर) विशेष के साथ लोहा आदि का युक्ति पूर्वक घर्षण करने से सुवर्ण आदि बनता है, वह 'पाषाणधातु' कहा जाता है।

२. जिस धातु का पानी ताम्र आदि धातु पर सिंचन करने पर सुवर्ण आदि बनता है, वह 'रस धातु' कहा जाता है।

३. जिस मिट्टी को किसी अन्य पदार्थों के संयोग से या लोहे आदि पर घर्षण करने से सुवर्ण आदि बनता है वह 'मिट्टी धातु' कहा जाता है।

भिक्षु को किसी के द्वारा या स्वतः किसी धातु की या निधि की जानकारी हो जाय तो गृहस्थ को बताना नहीं कल्पता है। बताने पर सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है।

गृहस्थ को धातु, निधि बताने पर वह अनेक आरम्भमय प्रवृत्तियों में अथवा अन्य पाप कार्यों में वृद्धि कर सकता है। एक को बताने पर अनेकों को मालूम पड़ने पर परम्परा बढ़ती है। किसी को बताये, किसी को नहीं बताये तो राग-द्वेष की वृद्धि होती है। अंतराय के उदय से किसी को सफलता न मिले तो अविश्वास होता है। अतः भिक्षु को इन दोषस्थानों से दूर ही रहना चाहिए।

निधि के निकालने में पृथ्वीकाय, त्रसकाय आदि के विराधना की सम्भावना रहती है। यदि किसी निधि का कोई स्वामी हो तो उससे कलह होने की या दण्डित होने की सम्भावना भी रहती है।

पात्र आदि में अपना प्रतिबिम्ब देखने का प्रायश्चित्त—

३१. जे भिक्खू मत्तए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ।

३२. जे भिक्खू अद्दाए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ।

३३. जे भिक्खू असीए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ।

३४. जे भिक्खू मणिए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ।

३५. जे भिक्खू कुंडपाणए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ।

३६. जे भिक्खू तेल्ले अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ।

३७. जे भिक्खू महुए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ।

३८. जे भिक्खू सप्पिए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ।

३९. जे भिक्खू फाणिए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ।

४०. जे भिक्खू मज्जए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ।

४१. जे भिक्खू वसाए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ।

३१. जो भिक्षु पात्र में अपना प्रतिबिम्ब देखता है या देखने वाले का अनुमोदन करता है।

३२. जो भिक्षु अरीसा में अपना प्रतिबिम्ब देखता है या देखने वाले का अनुमोदन करता है।

३३. जो भिक्षु तलवार मे अपना प्रतिबिम्ब देखता है या देखने वाले का अनुमोदन करता है।

३४. जो भिक्षु मणि मे अपना प्रतिबिम्ब देखता है या देखने वाले का अनुमोदन करता है।

३५. जो भिक्षु कुंडे आदि के पानी में अपना प्रतिबिम्ब देखता है या देखने वाले का अनुमोदन करता है।

३६. जो भिक्षु तेल में अपना प्रतिबिम्ब देखता है या देखने वाले का अनुमोदन करता है।

३७. जो भिक्षु मधु (शहद) में अपना प्रतिबिम्ब देखता है या देखने वाले का अनुमोदन करता है।

३८. जो भिक्षु घी में अपना प्रतिबिम्ब देखता है या देखने वाले का अनुमोदन करता है।

३९. जो भिक्षु गीले गुड़ में अपना प्रतिबिम्ब देखता है या देखने वाले का अनुमोदन करता है।

४०. जो भिक्षु मद्य में अपना प्रतिबिम्ब देखता है या देखने वाले का अनुमोदन करता है।

४१ जो भिक्षु चरबी में अपना प्रतिबिम्ब देखता है या देखने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—यहाँ बारह सूत्रो से बारह पदार्थों में अपना प्रतिबिम्ब देखने का प्रायश्चित्त कहा है। पात्र शब्द से साधु के पात्रों का एवं गृहस्थ के बर्तनों का कथन है। सूत्र में कहे गये तेल, घी, गुड़ भिक्षा में ग्रहण किये हुए हो सकते हैं। मधु, वशा कभी औषध निमित्त से ग्रहण किये हुए हो सकते हैं। अन्य तलवार, अरीसा, मद्य आदि साधु ग्रहण नहीं करता है किन्तु भिक्षा के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करने पर वहाँ उनमें मुख देखना सम्भव हो सकता है। भाष्य में सूत्रगत शब्दो का संग्रह इस प्रकार किया है—

"दप्पण मणि आभरणे, सत्थ दए भायणऽन्नतरए य।
तेल्ल-महु-सप्पि-फाणित, मज्ज-वसा-सुत्तमादीसु ॥४३१८॥

इस गाथा में पात्र के अतिरिक्त सभी पदों का संग्रह किया गया है तथा मणि के साथ आभूषण का एवं 'गुल' शब्द से इक्षुरस का भी कथन किया गया है।

दशवैकालिक सूत्र अ. ३ में दर्पण आदि में अपने प्रतिबिम्ब को देखना साधु के लिए अनाचरणीय कहा है।

व्याख्याकार ने दर्पण आदि में अपना मुख (चेहरा) देखने में अनेक दोषों की सम्भावना बताई है। यथा—अपने रूप का अभिमान करेगा, अपने को रूपवान् देखकर विषयेच्छा होगी। विरूप देखकर निदान करेगा, वशीकरणादि सीखेगा या शरीरबकुश बनेगा, हर्ष-विषाद करेगा। दर्पण देखते समय कोई गृहस्थ आदि की दृष्टि पड़ जाय तो साधु की या संघ की हीलना होगी।

अतः भिक्षु सूत्रोक्त पदार्थों में या ऐसे अन्य स्थलों में अपना मुख देखने का संकल्प भी न करे। किन्तु आत्मभाव में लीन रहकर संयम का और जिनाज्ञा का पालन करें।

वमन आदि औषधप्रयोग करने का प्रायश्चित्त—

४२. जे भिक्खू वमणं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

४३. जे भिक्खू विरेयणं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

४४. जे भिक्खू वमण-विरेयणं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

४५. जे भिक्खू आरोगियपडिकम्मं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

४२. जो भिक्षु वमन करता है या वमन करने वाले का अनुमोदन करता है।

४३. जो भिक्षु विरेचन करता है या विरेचन करने वाले का अनुमोदन करता है।

४४. जो भिक्षु वमन और विरेचन करता है या करने का अनुमोदन करता है।

४५. जो भिक्षु रोग न होने पर भी उपचार करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—यहां चौथे सूत्र में बिना रोग के औषध-उपचार करने का प्रायश्चित्त कहा है। इसी आशय से वमन, विरेचन के तीन सूत्र भी समझने चाहिए। अर्थात् किसी कारण के बिना या रोग के बिना कोई भी औषधप्रयोग नहीं करना चाहिए, यही इन चारों सूत्रों का सार है।

कारण होने पर औषध लेने के समान वमन-विरेचन भी किया जा सकता है। यह भी उपचार का ही एक प्रकार है।

बिना रोग के उपचार करने से शरीर-संस्कार की भावना बढ़ती है और संयम की भावना घटती है। बिना रोग के औषध करने से कभी नया रोग भी उत्पन्न हो सकता है। अधिक वमन या विरेचन होने पर मृत्यु भी हो सकती है। परिष्ठापनभूमि के न होने से या अधिक दूर होने से अथवा गृहस्थ के बैठे रहने के कारण बाधा रोकने पर अन्य रोगादि होने की भी सम्भावना रहती है। बाधा

रुक न सके तो जहाँ बैठा हो वहीं मलोत्सर्ग हो जाने से वस्त्र आदि खराब हो सकते हैं। किसी गृहस्थ को ज्ञात होने पर अवहेलना भी कर सकता है।

भाष्यकार ने गा. ४३३७ में कहा है कि यदि किसी को यह ज्ञात हो जाय कि मुझे अमुक काल में अमुक रोग हो ही जाता है और अमुक औषध लेने से नहीं होता है तो बहुत हानि या दोषों से बचने के लिए रोग के पूर्व औषध प्रयोग करना यह रोग शान्ति के लिए होने से सप्रयोजन है तथा लाभदायक है। यद्यपि उत्तराध्ययनसूत्र में औषध सेवन का निषेध है फिर भी अल्प शक्तिवाला साधक रोग आने पर निर्वद्य चिकित्सा करे तो उसका यहाँ प्रायश्चित्त नहीं है।

पार्श्वस्थादि-वंदन-प्रशंसन प्रायश्चित्त—

४६. जे भिक्खू पासत्थं वंदइ, वंदंतं वा साइज्जइ।

४७. जे भिक्खू पासत्थं पसंसइ, पासंसंतं वा साइज्जइ।

४८. जे भिक्खू कुसीलं वंदइ, वंदंतं वा साइज्जइ।

४९. जे भिक्खू कुसीलं पसंसइ, पसंसंतं वा साइज्जइ।

५०. जे भिक्खू ओसण्णं वंदइ, वंदंतं वा साइज्जइ।

५१. जे भिक्खू ओसण्णं पसंसइ, पसंसंतं वा साइज्जइ।

५२. जे भिक्खू संसत्तं वंदइ, वंदंतं वा साइज्जइ।

५३. जे भिक्खू संसत्तं पसंसइ, पसंसंतं वा साइज्जइ।

५४. जे भिक्खू णितियं वंदइ, वंदंतं वा साइज्जइ।

५५. जे भिक्खू णितियं पसंसइ, पसंसंतं वा साइज्जइ।

५६. जे भिक्खू काहियं वंदइ, वंदंतं वा साइज्जइ।

५७. जे भिक्खू काहियं पसंसइ, पसंसंतं वा साइज्जइ।

५८. जे भिक्खू पासणियं वंदइ, वंदंतं वा साइज्जइ।

५९. जे भिक्खू पासणियं पसंसइ, पसंसंतं वा साइज्जइ।

६०. जे भिक्खू मामगं वंदइ, वंदंतं वा साइज्जइ।

६१. जे भिक्खू मामगं पसंसइ, पसंसंतं वा साइज्जइ।

६२. जे भिक्खू संपसारियं वंदइ, वंदंतं वा साइज्जइ।

६३. जे भिक्खू संपसारियं पसंसइ, पसंसंतं वा साइज्जइ ।

४६. जो भिक्षु पार्श्वस्थ को वन्दन करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

४७. जो भिक्षु पार्श्वस्थ की प्रशंसा करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

४८. जो भिक्षु कुशील को वन्दन करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

४९. जो भिक्षु कुशील की प्रशंसा करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

५०. जो भिक्षु अवसन्न को वन्दन करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

५१. जो भिक्षु अवसन्न की प्रशंसा करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

५२. जो भिक्षु संसक्त को वन्दन करता है या करने वाला का अनुमोदन करता है ।

५३. जो भिक्षु संसक्त की प्रशंसा करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

५४. जो भिक्षु नित्यक को वन्दन करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

५५. जो भिक्षु नित्यक की प्रशंसा करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

५६. जो भिक्षु विकथा करने वाले को वन्दन करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

५७. जो भिक्षु विकथा करने वाले की प्रशंसा करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

५८. जो भिक्षु नृत्यादि देखने वाले को वन्दन करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

५९. जो भिक्षु नृत्यादि देखने वाले की प्रशंसा करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

६०. जो भिक्षु उपकरण [illegible] ममत्व [illegible] वन्दन करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

६१. जो भिक्षु उपकरण [illegible] ममत्व [illegible] करता है या करने वाले का अनुमोदन [illegible]

६२. जो [illegible] के [illegible] निर्वि[illegible] [illegible] है या करने वाले का [illegible]

६३. जो भिक्षु असंयतों के आरम्भ-कार्यों का निर्देशन करने वाले की प्रशंसा करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—चौथे उद्देशक में सूत्र ३९ से ४८ तक पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त और नित्यक भिक्षु को अपना साधु देने तथा लेने के व्यवहार का प्रायश्चित्त कहा गया है। वहां पर भाष्य गाथा १८२८ तथा १८३२ में 'पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील' यह क्रम स्वीकार किया गया है। उन सूत्रों की चूर्णि में भी यही क्रम है। किन्तु इस उद्देशक के भाष्य और चूर्णि में 'पार्श्वस्थ, कुशील, अवसन्न' यह क्रम स्वीकार करके विस्तृत विवेचन किया है। चौथे उद्देशक से इसमें क्रम भेद क्यों है इस विषय की कोई भी चर्चा नहीं की गई है। अतः इस उद्देशक के भाष्यानुसार ही सूत्रों का क्रम रखा है।

प्रस्तुत प्रकरण में पार्श्वस्थ आदि नव के अठारह सूत्र हैं। इनमें प्रत्येक को वन्दन करने का या उसकी प्रशंसा करने का प्रायश्चित्त कहा गया है।

'अवन्दनीय कौन होता है?' इसका भाष्य गाथा ४३६७ में स्पष्टीकरण किया गया है—

"मूलगुण उत्तरगुणे, संथरमाणा वि जे पमाएंति।
ते होंतऽवंदणिज्जा, तट्ठाणारोवणा चउरो॥"

अर्थ—जो सशक्त या स्वस्थ होते हुए भी अकारण मूलगुण या उत्तरगुण में प्रमाद करते हैं अर्थात् संयम में दोष लगाते हैं, पार्श्वस्थ आदि स्थानों का सेवन करते हैं वे अवन्दनीय होते हैं। उन्हें वन्दन करने पर लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है। अर्थात् जो परिस्थितिवश मूलगुण या उत्तर-गुण में दोष लगाते हैं वे अवन्दनीय नहीं होते हैं। वन्दन करने या नहीं करने के उत्सर्ग, अपवाद की चर्चा सहित विस्तृत जानकारी के लिये आवश्यकनिर्युक्ति गा. ११०५ से १२०० तक का अध्ययन करना चाहिये।

प्रस्तुत सूत्र की चूर्णि में भी अपवाद विषयक वर्णन इस प्रकार है—

"वंदण विसेस कारणा इमे—

परियाय परिस पुरिसं, खेत्त कालं च आगमं णाउं।
कारण जाते जाते, जहारिहं जस्स जं जोग्गं॥

वायाए-णमोक्कारो, हत्थुस्सेहो य सीसनमणं च।
संपुच्छणं, अच्छणं, छोभ वंदणं, वंदणं वा॥

एयाइं अकुव्वंतो, जहारिहं अरिह देसिए मग्गे।
न भवइ पवयण भत्ति, अभत्तिमंतादिया दोसा॥ गा. ४३७२-७४

भावार्थ—दीक्षा पर्याय, परिषद्, पुरुष, क्षेत्र, काल, आगम ज्ञान आदि कोई भी कारण को जानकर चारित्र गुण से रहित को भी यथायोग्य 'मत्थएण वंदामि' बोलना, हाथ जोड़ना, मस्तक झुकाना सुखसाता पूछना आदि विनयव्यवहार करना चाहिये। क्योंकि अरिहंत भगवान् के शासन में रहे हुए भिक्षु को उपचार से भी यथायोग्य व्यवहार न करने पर प्रवचन की भक्ति नहीं होती है, किन्तु अभक्ति ही होती है तथा अन्य भी अनेक दोष होते हैं।

उत्सर्ग से वन्दनीय अवन्दनीय—

असंजयं न वंदिज्जा, मायरं पियरं गुरुं।
सेणावइ पसत्थारं, रायाणं देवयाणि य ॥

समणं वंदिज्ज मेहावी संजयं सुसमाहियं।
पंचसमिय तिगुत्तं, अस्संजम दुगुंछगं ॥ ११०५-६॥ आव. नि.

भावार्थ—असंयति को वन्दन नहीं करना चाहिये, वह चाहे माता, पिता, गुरु, राजा, देवता आदि कोई भी हो।

बुद्धिमान् मुनि सुसमाधिवंत, संयत, पांच समिति तीन गुप्ति से युक्त तथा असंयम से दूर रहने वाले श्रमण को वन्दना करे।

दंसण णाण चरित्त तव विणए निच्च काल पासत्था।
एए अवंदणिज्जा जे जसघाई पवयणस्स ॥११९१॥ आव. नि.

भावार्थ—जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और विनय की अपेक्षा सदैव पार्श्वस्थ आदि भाव में ही रहते हैं और जिनशासन का अपयश करने वाले हैं, वे भिक्षु अवन्दनीय हैं।

इन्हें वन्दन करने से या इनकी प्रशंसा करने से उनके प्रमादस्थानों की पुष्टि होती है, इस अपेक्षा से इन सूत्रों में प्रायश्चित्त कहा गया है। अवन्दनीय होते हुए भी प्रशंसायोग्य गुण निम्न हो सकते हैं—बुद्धि, नम्रता, दानरुचि, अतिभक्ति, लोकव्यवहारशील, सुन्दरभाषी, वक्ता, प्रियभाषी आदि। किन्तु संयम में उद्यम न करने वाले की इन गुणों के होते हुए भी प्रशंसा नहीं करना किन्तु तटस्थ भाव रखना चाहिये। प्रशंसा करने पर सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है।

—नि. भा. गा. ४३६३-६४

पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त और नित्यक के स्वरूप का विवेचन चतुर्थ उद्देशक में किया गया है, वहां से जान लेना चाहिये।

काथिक, प्रेक्षणीक, मामक और सम्प्रसारिक का स्वरूप इस प्रकार है—

१. काहिय—(काथिक)—

"सज्झायादि करणिज्जे जोगे मोत्तु जो देसकहादि कहातो कहेति सो "काहिओ"।"

स्वाध्याय आदि आवश्यक कृत्यों को छोड़ करके जो देशकथा आदि कथाएं करता रहता है, वह 'काथिक' कहा जाता है। —चूर्णि भा. ३. पृ. ३९८

आहार, वस्त्र, पात्र, यश या पूजा-प्रतिष्ठा प्राप्ति के लिये जो धर्मकथा कहता है अथवा जो सदा धर्मकथा करता ही रहता है, वह भी 'काथिक' कहा जाता है। —भा. गा. ४३५३

समय का ध्यान न रहते हुए धर्मकथा करते रहने से प्रतिलेखन, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, ध्यान आदि कार्य यथासमय नहीं किये जा सकते, जिससे संयमी जीवन अनेक दोषों से दूषित हो जाता है।

अतः विकथाओं में समय विताने वाला, आहारादि के लिये धर्मकथा करने वाला और सदा धर्मकथा ही करते रहने वाला 'काथिक' कहा गया है।

२. पासणिय (प्रेक्षणिक)—

जणवय ववहारेसु, णडणट्टादिसु वा जो पेक्खणं करेति सो पासणिओ।

जनपद आदि में अनेक दर्शनीय स्थलों का या नाटक नृत्य आदि का जो प्रेक्षण करता है वह संयम लक्ष्य तथा जिनाज्ञा की उपेक्षा करने से 'पासणिय' प्रेक्षणिक कहा जाता है। —चूर्णि।

अथवा जो अनेक लौकिक (सांसारिक) प्रश्नों के उत्तर देता है या सिखाता है; उलझी गुत्थियां, प्रहेलिकाएं बताने रूप कुतूहल-वृत्ति करता है, वह भी 'पासणिय' कहा जाता है। —चूर्णि।

दूसरी वैकल्पिक परिभाषा का अर्थ तो 'कुशील' का द्योतक है, अतः यहां प्रथम परिभाषा ही प्रासंगित है।

३. मामक—"ममीकार करेंतो मामओ"

गाथा—आहार उवहि देहे, वीयार विहार वसहि कुल गामे।
पडिसेहं च ममत्तं, जो कुणति मामओ सो उ ॥४३५९॥

भावार्थ—जो आहार में आसक्ति रखता है, संविभाग नहीं करता है, निमन्त्रण नहीं देता है, उपकरणों में अधिक ममत्व रखता है, किसी को अपनी उपधि के हाथ नहीं लगाने देता है, शरीर में ममत्व रखता है, कुछ भी कष्ट परीषह सहने की भावना न रखते हुए सुखैषी रहता है।

स्वाध्यायस्थल व परिष्ठापनभूमि में भी अपना अलग स्वामित्व रखते हुए दूसरों को वहां बैठने का निषेध करता है। मकान में, सोने, बैठने या उपयोग में लेने के स्थानों में अपना स्वामित्व रखता है, दूसरों को उपयोग में नहीं लेने देता है। श्रावकों के ये घर या गांव आदि मेरी सम्यक्त्व में हैं। इनमें कोई विचर नहीं सकता इत्यादि संकल्पों से गांवों या घरों को मेरे क्षेत्र, श्रावक ऐसी चित्त-वृत्ति रखता हुआ ममत्व करता है, वह 'मामक' कहलाता है। क्योंकि ममत्व करना साधु के लिये निषिद्ध है।

ममत्व नही करने के आगमवाक्य—

१. **अवि अप्पणो वि देहम्मि नायरंति ममाइयं।** —दश. अ. ६, गा. २२

२. **समणं संजयं दंतं, हणिज्जा कोई कत्थइ।**
णत्थि जीवस्स णासुत्ति, एवं पेहेज्ज संजए॥ —उत्तरा. अ. २, गा. २७

३. **जे ममाइयमइं जहाइ, से चयइ ममाइयं,**
से हु दिट्ठपहे मुणी, जस्स णत्थि ममाइयं। —आचा. श्रु. १, अ. २, उ. ६

किसी भी पदार्थ—गांव, घर, शरीर, उपधि आदि में जिसका ममत्व अर्थात् आसक्तिभाव नहीं है, वास्तव में वही वीतरागमार्ग को जानने समझने वाला मुनि है।

३. सूर्यास्त के बाद मस्तक ढकना अथवा दिन में भी कम्बल ओढ़कर बाहर जाना।

४. लिखने के लिए फाउन्टन पेन, पेन्सिल और बिछाने के लिए चटाई, पुट्ठे आदि नहीं लेना।

५. चातुर्मास में रूई, धागा, बेंडेज पट्टी आदि नहीं लेना।

६. नवकारसी (सूर्योदय बाद ४८ मिनट) के पहले आहार-पानी नहीं लेना या नहीं खाना।

७. औपग्रहिक आपवादिक उपकरण में भी लोहा आदि धातु नहीं होना या धातु के औपग्रहिक उपकरण नहीं रखना।

८. आज आहार-पानी ग्रहण किये गये घर से कल आहार या पानी नहीं लेना। अथवा सुबह गोचरी किये गये घर से दोपहर को या शाम को गोचरी नहीं करना।

९. विराधना न हो तो भी स्थिर अलमारी, टेबल आदि पर रखे गये सचित्त अचित्त पदार्थों का परम्परा संघट्टा मानना।

१०. एक व्यक्ति से एक बार कोई विराधना हो जाय तो अन्य व्यक्ति से या पूरे दिन उस घर में गोचरी नहीं लेना।

११ एक साधु-साध्वी को चार पात्र और ७२ या ९६ हाथ वस्त्र से अधिक नहीं रखना।

१२. चौमासी संवत्सरी को दो प्रतिक्रमण करना या पंच प्रतिक्रमण करना, २० या ४० लोगस्स का कायोत्सर्ग करना।

१३. मुँहपत्ति डोरे से नहीं बांधना या २४ ही घन्टे मुँहपत्ति बाँधकर रखना।

१४. स्वयं पत्र नहीं लिखना, गृहस्थ से लिखवाने पर भी प्रायश्चित्त लेना अथवा पोस्टकार्ड आदि नहीं रखना।

१५. अनेक साध्वियाँ या अनेक स्त्रियाँ हों तो भी पुरुष की उपस्थिति बिना साधु को नहीं बैठना। ऐसे ही साध्वी के लिए समझ लेना।

१६. रजोहरण या प्रमार्जनिका आदि को सम्पूर्ण खोलकर ही प्रतिलेखन करना।

१७. घर में अकेली स्त्री हो तो गोचरी नहीं लेना।

१८. गृहस्थ ताला खोलकर या चूलिया यानि दरवाजे खोलकर आहार दे तो नहीं लेना।

१९. ग्रामान्तर से दर्शनार्थ आये श्रावकों से आहारादि नहीं लेना।

२०. डोरी पर कपड़े नहीं सुखाना।

२१. प्रवचनसभा में साधु के समक्ष साध्वी का पाट पर नहीं बैठना।

२२. दाता के द्वारा घुटने के ऊपर से कोई पदार्थ गिर जाए तो उस घर को 'असूझता' कहना या अन्य किसी भी विराधना से किसी के घर को 'असूझता' करना।

२३. चद्दर बांधे बिना उपाश्रय से बाहर नहीं जाना अथवा चद्दर चोलपट्टा गाँठ देकर नहीं बांधना।

इत्यादि भिन्न-भिन्न गच्छ समुदायों में ऐसे अनेक नियम बनाये गये हैं जो आगम विधानों के अतिरिक्त है और समय-समय पर अपनी-अपनी अपेक्षाओं से बनाये गये हैं। इन्हें शिथिलाचार या शुद्धाचार की परिभाषा से सम्बन्धित करना उचित नहीं है। क्योंकि ये केवल परम्पराएँ हैं, आगमोक्त नियम नहीं हैं।

धातृपिंडादि दोषयुक्त आहार करने के प्रायश्चित्त—

६४. जे भिक्खू धाईपिंडं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ।

६५. जे भिक्खू दूईपिंडं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ।

६६. जे भिक्खू णिमित्तपिंडं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ।

६७. जे भिक्खू आजीवियपिंडं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ।

६८. जे भिक्खू वणीमगपिंडं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ।

६९. जे भिक्खू तिगिच्छापिंडं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ।

७०. जे भिक्खू कोवपिंडं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ।

७१. जे भिक्खू माणपिंडं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ।

७२. जे भिक्खू मायापिंडं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ।

७३. जे भिक्खू लोभपिंडं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ।

७४. जे भिक्खू विज्जापिंडं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ।

७५. जे भिक्खू मंतपिंडं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ।

७६. जे भिक्खू चुण्णपिंडं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ।

७७. जे भिक्खू जोगपिंडं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ।

७८. जे भिक्खू अंतद्धाणपिंडं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ।
तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं।

६४. जो भिक्षु धातृपिंड भोगता है या भोगने वाले का अनुमोदन करता है।

६५. जो भिक्षु दूतपिंड भोगता है या भोगने वाले का अनुमोदन करता है।

६६. जो भिक्षु त्रैकालिक निमित्त कहकर आहार भोगता है या भोगने वाले का अनुमोदन करता है।

६७. जो भिक्षु आजीविकपिंड भोगता है या भोगने वाले का अनुमोदन करता है।

६८. जो भिक्षु वनीपकपिंड भोगता है या भोगने वाले का अनुमोदन करता है।

६९. जो भिक्षु चिकित्सापिंड भोगता है या भोगने वाले का अनुमोदन करता है।

७०. जो भिक्षु कोपपिंड भोगता है या भोगने वाले का अनुमोदन करता है।

७१. जो भिक्षु मानपिंड भोगता है यो भोगने वाले का अनुमोदन करता है।

७२. जो भिक्षु मायापिंड भोगता या भोगने वाले का अनुमोदन करता है।

७३. जो भिक्षु लोभपिंड भोगता है या भोगने वाले का अनुमोदन करता है।

७४. जो भिक्षु विद्यापिंड भोगता है यो भोगने वाले का अनुमोदन करता है।

७५. जो भिक्षु मंत्रपिंड भोगता है या भोगने वाले का अनुमोदन करता है।

७६. जो भिक्षु चूर्णपिंड भोगता है या भोगने वाले का अनुमोदन करता है।

७७. जो भिक्षु योगपिंड भोगता है या भोगने वाले का अनुमोदन करता है।

७८. जो भिक्षु अंतर्धानपिंड (अदृष्ट रहकर ग्रहण किए हुये आहार को) भोगता है या भोगने वाले का अनुमोदन करता है।

इन ७८ सूत्रोक्त स्थानों के सेवन करने वाले को लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन—अनेक दूषित प्रवृत्तियों को करके भिक्षु का आहार प्राप्त करना, उत्पादन दोष कहा जाता है। पिंडनिर्युक्ति में इन दोषों की संख्या सोलह कही है। यहां उनमें से १४ दोषों का प्रायश्चित्त कहा गया है तथा 'अंतर्धानपिंड' का प्रायश्चित्त अधिक कहा गया है। जिसका समावेश जोगपिंड में हो सकता है।

धातृपिंड—धाय के कार्य पांच प्रकार के होते है—१. बालक को दूध पिलाना, २. स्नान कराना, ३. वस्त्राभूषण पहिनाना, ४. भोजन कराना, ५. गोद में या काख में रखना। ये कार्य करके गृहस्थ से आहार प्राप्त करना 'धातृपिंड' दोष कहा जाता है।

दूतीपिंड—दूती के समान इधर-उधर की बातें एक दूसरे को कहकर अथवा स्वजन सम्बन्धियों के समाचारों या आदान-प्रदान करके आहारादि लेना।

आजीविकपिंड—जाति-कुल आदि का परिचय बताकर या अपने गुण कहकर आहार प्राप्त करना।

वनीपकपिंड—दान के फल का कथन करते हुए या दाता को अनेक आशीर्वचन कहते हुए भिखारी की तरह दीनतापूर्वक भिक्षा प्राप्त करना।

क्रोधपिंड—कुपित होकर आहारादि लेना या आहारादि न देने पर श्राप देने का भय दिखाकर आहारादि लेना।

मानपिंड—भिक्षा न देने पर कहना कि 'मैं भिक्षा लेकर रहूँगा।' तदनन्तर बुद्धि प्रयोग करके घर के अन्य सदस्य से भिक्षा प्राप्त करना।

मायापिंड—रूप परिवर्तन करके छलपूर्वक भिक्षा प्राप्त करना।

लोभपिंड—इच्छित वस्तु मिलने पर विवेक न रखते हुए अति मात्रा में लेना या इच्छित वस्तु न मिले वहाँ तक घूमते रहना, अन्य कल्पनीय वस्तु भी नहीं लेना।

चिकित्सापिंड—गृहस्थ के पूछने पर या बिना पूछे ही किसी रोग के विषय में औषध आदि के प्रयोग बताकर भिक्षा प्राप्त करना अथवा मेरा अमुक रोग अमुक दवा या वैद्य से ठीक हुआ था ऐसा कहकर भिक्षा प्राप्त करना चिकित्सापिंड है।

विद्या, मंत्र, चूर्ण, योग के प्रयोग से आहार प्राप्त करना, अदृश्य रहकर आहार प्राप्त करना तथा निमित्त बताकर आहार प्राप्त करना भी 'उत्पादना' दोष है और इनके सेवन से लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है। 'विद्या' आदि पदों की व्याख्या इसी उद्देशक में की गई है, वहाँ से समझ लेना चाहिये।

इन दोषों के सेवन में दाता के अनुकूल हो जाने पर वह उद्गम दोष लगा सकता है और प्रतिकूल हो जाने पर साधु की अवहेलना या निन्दा कर सकता है, जिससे धर्म की तथा जिनशासन की अपकीर्ति होती है।

इन पन्द्रह सूत्रों में कहे गये पन्द्रह दोषस्थानों के सेवन में दीनवृत्ति का सेवन होता है। जबकि भिक्षु सदा अदीनवृत्ति से एषणासमिति का पालन करने वाला कहा गया है, अतः उसे इन प्रवृत्तियों द्वारा आहार प्राप्ति का संकल्प भी नहीं करना चाहिये।

नियुंक्तिकार ने उत्पादना के 'मूलकर्म' दोष का गुरुचौमासी प्रायश्चित्त कहा है, और पूर्व-पश्चात् संस्तवदोष का दूसरे उद्देशक में लघुमासिक प्रायश्चित्त कहा गया है। उत्पादना के शेष दोषों का लघुचौमासी प्रायश्चित्त इन सूत्रों में कहा है।

तेरहवें उद्देशक का सारांश—

१-८ सचित्त पृथ्वी के निकट की भूमि पर, स्निग्ध, सचित्त रजयुक्त पृथ्वी पर, सचित्त मिट्टीयुक्त-पृथ्वी पर, सचित्त पृथ्वी पर, शिला या पत्थर पर तथा जीवयुक्त काष्ठ या भूमि पर खड़ा रहना, बैठना या सोना।

९-११ भित्ति आदि से अनावृत्त ऊँचे स्थानों पर खड़े रहना, बैठना या सोना।

१२ गृहस्थ को शिल्प आदि सिखाना।

१३-१६ गृहस्थ को सरोष, रूक्ष वचन कहना या अन्य किसी प्रकार से उसकी आशातना करना।

१७-१८ गृहस्थ के कौतुककर्म या भूतिकर्म करना।

१९-२० गृहस्थ से कौतुक प्रश्न करना या उनका उत्तर देना।

२१ भूतकाल सम्बन्धी निमित्त बताना।

२२-२४ लक्षण, व्यंजन या स्वप्न का फल बताना।

२५-२७ गृहस्थ के लिये विद्या, मन्त्र या योग का प्रयोग करना।

२८ गृहस्थ को मार्गादि बताना।

२९-३० गृहस्थ को धातु या निधि बताना।

३१-४१ पात्र, दर्पण, तलवार आदि सूत्रोक्त पदार्थों में अपना प्रतिबिम्ब देखना।

४२-४५ स्वस्थ होते हुए भी वमन-विरेचन करना या औषध सेवन करना।

४६-६३ पार्श्वस्थ, कुशील, अवसन्न, संसक्त, नित्यक, काथिक, पश्यनीक (प्रेक्षणिक), मामक, सांप्रसारिक इन नौ को वन्दन करना या इनकी प्रशंसा करना।

६४-७८ उत्पादन के दोषों का सेवन कर आहार ग्रहण करना एवं खाना। इत्यादि प्रवृत्तियां करने पर लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

इस उद्देशक के ४१ सूत्रों के विषय का कथन निम्न आगमों में है, यथा—

१-११ जीव विराधना वाले स्थानों में तथा बिना दिवाल वाले ऊँचे स्थानों पर ठहरने का निषेध। —आचा. श्रु. २, अ. ७, उ. १
तथा—आचा. श्रु. २, अ. २, उ. १

१२ गृहस्थ को अष्टापद, जुआ आदि सिखाने का निषेध। —सूय. श्रु. १, अ. ९, गा. १७

१३-१६ गृहस्थ की आशातना करने का निषेध। —दश. अ. ९, उ. ३, गा. १२

१७-२७ निमित्त कथन का निषेध। —उत्तरा. अ. ८, अ. १५, अ. १७, अ. २०
—दश. अ. ८, गा.५०

३१-४१ अपना प्रतिबिम्ब देखना अनाचार कहा गया है। —दश. अ. ३, गा. ३

४२-४४ स्वस्थ होते हुए भी वमन-विरेचन करना अनाचार कहा है।
—दश. अ. ३, गा. ९
—सूय. श्रु. १, अ. ९, गा. १२

इस उद्देशक के २७ सूत्रों के विषय का कथन अन्य आगमों में नहीं है, यथा—

२८ मार्ग भूले हुए को, दिग्मूढ को और विपरीत मार्ग से जाने वाले को मार्ग बताने का प्रायश्चित्त।

२९-३० गृहस्थ को धातु या निधि बताने का प्रायश्चित्त।

४५ बिना रोग के चिकित्सा करने का प्रायश्चित्त ।

४६-६३ पार्श्वस्थ आदि को वन्दना करने का तथा उनकी प्रशंसा करने का प्रायश्चित्त ।

६४-७८ धातृ-पिंड आदि भोगने का प्रायश्चित्त ।

संक्षिप्त में उत्पादन दोष रहित आहार ग्रहण करने का कथन आव. अ. ४ तथा प्रश्न. श्रु. २, अ. १ में है । किन्तु वहां अलग-अलग नाम एवं संख्या नहीं कही गई है । पिंडनिर्युक्ति में इनका नाम एवं दृष्टान्तयुक्त विस्तृत विवेचन है ।

इसी तरह पार्श्वस्थ आदि के साथ परिचय करने का निषेध सूय. श्रु. १. अ. ९ तथा अ. १० में है किन्तु वन्दन एवं प्रशंसा का स्पष्ट निषेध नहीं है ।

॥ तेरहवां उद्देशक समाप्त ॥

चौदहवां उद्देशक

पात्र खरीदने आदि का तथा उन्हें ग्रहण करने का प्रायश्चित्त—

१. जे भिक्खू पडिग्गहं किणेइ, किणावेइ, कीयमाहट्टु देज्जमाणं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

२. जे भिक्खू पडिग्गहं पामिच्चेइ, पामिच्चावेइ, पामिच्चमाहट्टु देज्जमाणं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

३. जे भिक्खू पडिग्गहं परियट्टेइ, परियट्टावेइ, परियट्टियमाहट्टु देज्जमाणं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

४. जे भिक्खू पडिग्गहं अच्छेज्जं, अणिसिट्ठं, अभिहडमाहट्टु देज्जमाणं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

१. जो भिक्षु पात्र खरीदता है, खरीदवाता है, खरीदा हुआ लाकर देते हुए से लेता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है।

२. जो भिक्षु पात्र उधार लेता है, उधार लिवाता है, उधार लाकर देते हुए से लेता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है।

३. जो भिक्षु पात्र को गृहस्थ के अन्य पात्र से बदलता है, बदलवाता है, बदला हुआ लाकर देने वाले से लेता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है।

४. जो भिक्षु छीनकर दिया जाता हुआ, दो स्वामियों में से एक की इच्छा बिना दिया हुआ और सामने लाकर दिया हुआ पात्र लेता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है। [उसे लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।]

विवेचन—इन चार सूत्रों में पात्र सम्बन्धी छह उद्गम दोषों के प्रायश्चित्तों का कथन है।

छह उद्गम दोष—

१. क्रीत—खरीदा हुआ पात्र
२. प्रामृत्य—उधार लिया हुआ पात्र
३. परिवर्तित—बदला हुआ पात्र
४. आच्छिन्न—छीनकर लाया हुआ पात्र
५. अनिसृष्ट—भागीदार की आज्ञा लिए बिना लाया हुआ पात्र
६. अभिहृत—घर से लाकर उपाश्रय में दिया जाने वाला पात्र।

पहले, दूसरे और तीसरे सूत्र में क्रीतादि तीन उद्गम दोषों का क्रमशः प्रायश्चित्त कथन है। चौथे सूत्र में शेष तीन उद्गम दोषों का एक साथ प्रायश्चित्त कथन है।

साधु स्वयं पात्रविक्रेता से पात्र खरीदे और पात्र का मूल्य किसी अनुरागी गृहस्थ से पात्र-विक्रेता को दिलावे, यह साधु का पात्र खरीदना है।

किसी अनुरागी गृहस्थ को पात्र खरीदकर लाने के लिए साधु द्वारा कहना, यह साधु का पात्र खरीदवाना है।

इसी प्रकार साधु द्वारा उधार लेना, लिवाना और परिवर्तन करना, करवाना भी समझ लेना चाहिए।

ये तीनों दोष परिग्रह महाव्रत के अतिचार रूप हैं।

शेष तीन दोष गृहस्थ द्वारा लगाए जाने का प्रायश्चित्त कहा गया है। क्योंकि वे दोष साधु द्वारा लगाए जाना सम्भव नहीं है।

अथवा कदाचित् कोई ऐसी अमर्यादित प्रवृत्ति कर ले तो उसे प्रस्तुत सूत्रोक्त लघुचौमासी प्रायश्चित्त नहीं आता है किन्तु गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

आच्छिन्न दोष का सेवन प्रथम एवं तृतीय महाव्रत के अतिचार रूप है।

अनिसृष्ट दोष का सेवन तीसरे महाव्रत का अतिचार रूप है।

अभिहड दोष का सेवन प्रथम महाव्रत का अतिचार रूप है।

ये छहों दोष एषणासमिति के उद्गम दोष कहे गये हैं।

१. क्रीत—भिक्षु परिग्रह का पूर्ण त्यागी होता है अतः क्रय-विक्रय करना उसका आचार नहीं है। आवश्यक उपधि और भोजन वह भिक्षावृत्ति से ही प्राप्त करता है। उत्तरा अ. ३५, गा. १३-१५ में कहा है कि—

भिक्षु सोने-चांदी की मन से भी कामना न करे, पत्थर और सोने को समान दृष्टि से देखे और क्रय-विक्रय की प्रवृत्ति से विरत रहे।

खरीदने वाला क्रेता (ग्राहक) होता है और बेचने वाला व्यापारी होता है। भिक्षु भी यदि क्रय-विक्रय के कार्य करे तो वह जिनाज्ञा का आराधक नहीं होता है।

अतः भिक्षाजीवी भिक्षु को भिक्षा से ही प्रत्येक वस्तु प्राप्त करना चाहिये, किन्तु खरीदना नहीं चाहिये। क्योंकि क्रय-विक्रय करना भिक्षु के लिये महादोष है और भिक्षावृत्ति महान् सुखकर है। —उत्तरा. अ. ३५ गा. १३-१५.

दशवै. अ. ३, गा. ३ में क्रीतदोष युक्त अर्थात् साधु के भाव से गृहस्थ द्वारा खरीदी हुई वस्तु ग्रहण करना भिक्षु के लिये अनाचार कहा गया है।

दशवै. अ. ६, गा. ४८ में कहा है कि "क्रीत आदि दोष युक्त आहारादि ग्रहण करने वाला भिक्षु उस पदार्थ के बनने में होने वाले पाप का अनुमोदनकर्ता होता है।" यह अनुमोदन का तीसरा प्रकार है। अनुमोदन के तीन प्रकार—

१. मन से अच्छा समझना
२. वचन से अच्छा कहना
३. काया से उसे स्वीकार करना अर्थात् उपयोग में लेना।

अतः भिक्षु के लिये बनाये गये या खरीदे गये पदार्थ यदि वह नहीं ले तो उसे किसी प्रकार का दोष नहीं लगता है। यदि वह ग्रहण करके उसका उपयोग करे तो कायिक अनुमोदन का दोष लगता है।

आचा. श्रु. २, अ. ६ में साधु के लिये खरीदे गये पात्र को साधु के न लेने पर यदि गृहस्थ अपने उपयोग में ले लेता है तो कालान्तर में फिर कभी वही भिक्षु उस पात्र को ग्रहण कर सकता है। क्योंकि वह पात्र "पुरुषान्तरकृत" हो गया है।

आचा. श्रु. २, अ. १, उ. १ के अनुसार इस तरह पुरुषान्तरकृत बना हुआ आहार-पानी ग्रहण नहीं किया जा सकता।

उत्तरा. अ. २०, गा. ४७ में औद्देशिक, क्रीत आदि दोषों का सेवन करने वाले भिक्षु को अग्नि की उपमा देते हुए सर्वभक्षी कहा है।

अतः साधु को खरीदने की प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये तथा साधु के निमित्त खरीदे गये पदार्थ भी उसे ग्रहण नहीं करने चाहिये।

प्रामृत्य—साधु किसी से पात्र उधार लाए, बाद में उसका मूल्य गृहस्थ दे तो इस प्रकार की प्रवृत्ति भी भिक्षु को नहीं करनी चाहिये। ऐसा करने से अनेक दोषों की परम्परा बढ़ती है तथा कभी धर्म की अवहेलना भी हो सकती है।

यदि कोई गृहस्थ भिक्षु के लिये पात्र आदि उधार लाकर दे तो भी ग्रहण करना नहीं कल्पता है। यह भी एषणा का दोष है। यदि उधार लाने वाला गृहस्थ परिस्थितिवश मूल्य नहीं चुका सकेगा तो वह महाऋणी भी बन सकता है, अतः ऐसा दोषयुक्त पात्र भिक्षु के लिये अग्राह्य है।

परिवर्तित—अपना पात्र देकर बदले में दूसरा पात्र गृहस्थ से लेना यह परिवर्तन करना कहलाता है। ऐसा स्वयं करना तथा कराना साधु को नहीं कल्पता है तथा गृहस्थ भी अन्य गृहस्थ से इस प्रकार पात्र परिवर्तन करके साधु को दे तो ऐसा पात्र लेना भी दोषयुक्त है। ऐसा करने पर उस परिवार के स्वजन-परिजन नाराज हो सकते हैं। साधु द्वारा गृहस्थ को दिया गया पात्र यदि घर ले जाने पर फूट जाए तो उसे आशंका हो सकती है कि 'मुझे फूटा पात्र दे दिया होगा।' उस पात्र में आहारादि का सेवन करने से यदि कोई बीमार हो जाए या मर जाए तो भ्रान्ति से साधु के प्रति द्वेष भाव हो सकता है, जिससे अन्य अनेक अनर्थों के होने की सम्भावना रहती है। अतः भिक्षु स्वयं गृहस्थ से पात्र का परिवर्तन न करे तथा कोई श्रद्धालु गृहस्थ इस प्रकार पात्र परिवर्तन करके दे तो भी साधु ग्रहण न करे।

आचा. श्रु. २, अ. ५ तथा ६, उ. २ में कहा गया है कि 'भिक्षु अन्य भिक्षु के साथ भी इस प्रकार पात्रादि का परिवर्तन न करे।'

आच्छिन्न—यदि कोई बलवान् व्यक्ति सत्ता के प्रभाव से किसी निर्बल व्यक्ति पर दबाव डालकर उससे पात्र को छीनकर ले और वह पात्र साधु को दे अथवा उससे ही दिलवाये तो वह

"आच्छिन्न" दोषयुक्त होता है। क्योंकि उसे लेने से निर्बल व्यक्ति को दुःख होता है, वह कभी द्वेष में आकर किसी समय साधु से पात्र छीन सकता है, फोड़ सकता है या अन्य किसी प्रकार से कष्ट दे सकता है।

अनिसृष्ट—यदि कहीं कुछ पात्र अनेक भागीदारों के स्वामित्व वाले हों तो उनमें से कोई एक भागीदार के देने की इच्छा हो, अन्य भागीदारों के देने की इच्छा न हो और उनकी अनुमति लिये बिना ही कोई साधु को पात्र दे तो वह अनिसृष्ट दोष वाला पात्र होता है।

अथवा कोई नौकर सेठ की इच्छा बिना या घर का कोई सदस्य घर के मुखिया की इच्छा बिना दे तो भी वह पात्र अनिसृष्ट दोषयुक्त होता है।

ऐसे पात्र लेने पर बाद में क्लेश की वृद्धि हो सकती है और कोई साधु से पात्र आदि पुनः मांगने के लिये भी आ सकता है या अन्य उपसर्ग भी कर सकता है। भविष्य में पात्रादि की प्राप्ति दुर्लभ हो सकती है।

अभिहृत—यदि कोई गृहस्थ अपने घर से पात्र लाकर उपाश्रय में देवे अथवा अन्य किसी स्थान से या किसी ग्राम से साधु के लिये पात्र लाकर घर में रखे तो वह पात्र "अभिहृत" दोषयुक्त होता है। ऐसा पात्र लेने पर मार्ग में होने वाली जीवों की विराधना का अनुमोदन होता है। दशवै. अ. ३ में इसे अनाचार कहा गया है। पैदल चल कर आने वाला या वाहन से आने वाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है, मार्ग में वर्षा या नदी भी आ सकती है। लाने वाला व्यक्ति आधाकर्म, क्रीत आदि दोषयुक्त पात्र भी ला सकता है। अतः सामने लाया गया पात्र नहीं लेना चाहिये।

इन छह दोषों में से दो दोषों को दश. अ. ३ में अनाचार कहा गया है। "परिवर्तित" दोष को छोड़कर शेष ५ को दशा. द. २ में सबलदोष भी कहा गया है। आचा. श्रु. २, अ. १-२-५-६ आदि में इन ५ दोषों से युक्त आहार, वस्त्र, पात्र को लेने का निषेध है।

अतः इन छहों को उद्गम के दोष जानकर इनका त्याग करना चाहिये। किसी परिस्थिति विशेष में इन दोषों से युक्त पात्र लेना पड़े तो लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

अतिरिक्त पात्र गणी की आज्ञा लिए बिना देने का प्रायश्चित्त—

५. जे भिक्खू अइरेगपडिग्गहं गणिं उद्दिसिय, गणिं समुद्दिसिय, तं गणिं अणापुच्छिय अणामंतिय अण्णमण्णस्स वियरइ, वियरंतं वा साइज्जइ।

५. जो भिक्षु गणी के निमित्त अधिक पात्र ग्रहण करके गणी को पूछे बिना या निमन्त्रण किये बिना अन्य किसी को देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है। [उसे लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।]

विवेचन—भिक्षु को कल्पनीय और योग्य लकड़ी के पात्र सर्वत्र निर्दोष नहीं मिलते हैं। तुम्बे के पात्र सर्वत्र सुलभ नहीं होते है और मिट्टी के पात्र सर्वत्र सुलभ होते हैं, किन्तु वे सुविधा वाले नहीं होते हैं। वे विशेष परिस्थिति में कभी-कभी काम में आते हैं।

लकड़ी के पात्र जहां सुलभ हों उधर से विचरण करते हुए कोई भिक्षु आचार्य के पास आ रहे हों या उधर विचरण करने जा रहे हों, उनके साथ गच्छ की आवश्यकता के लिये कुछ अतिरिक्त पात्र मंगा लिये जाते हैं। कभी अत्यन्त आवश्यक हो जाने पर पात्र लाने के लिये ही भिक्षुओं को भेजा जा सकता है। जितने पात्र मंगाये गये हों उससे अधिक भी मिल जाएं और उचित समझें तो वह ला सकता है किन्तु आचार्य की आज्ञा बिना किसी को देना नहीं कल्पता है। जाते समय ही मार्ग में कोई अन्य भिक्षु मिल जाय और वह कहे कि और अधिक मिलते हों तो मेरे लिये भी कुछ पात्र लाना। उस समय यदि आचार्य निकट हों तो उनकी आज्ञा लेकर के ही लाना चाहिए। यदि आचार्य दूर हों तो बिना आज्ञा भी ला सकता है किन्तु लाने के बाद उनकी आज्ञा लेकर के ही मंगाने वाले को दे सकता है। उन्हें बताये बिना और उनसे पूछे बिना किसी को देने पर सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है।

भाष्यकार ने यह भी स्पष्टीकरण किया है कि मार्ग में किसी साधु की विशेष परिस्थिति देखकर पात्र देना आवश्यक समझे तो गीतार्थ साधु स्वयं भी निर्णय करके पात्र दे सकता है और बाद में आचार्य को पात्र देने की जानकारी दे सकता है।

एक गच्छ में अनेक आचार्य, अनेक वाचनाचार्य, प्रव्राजनाचार्य आदि हों तो सामान्य रूप से आचार्य का निर्देश करके पात्र लाना 'उद्देश' है तथा किसी आचार्य का नाम निर्देश करके पात्र लाना 'समुद्देश' है।

अतिरिक्त लाये गये पात्र आचार्य की सेवा में समर्पित करना—'देना' है और निमन्त्रण करना 'निमन्त्रण' है। अन्य किसी को देना हो तो उसके लिए आज्ञा प्राप्त करना 'पृच्छना' है।

व्यवहार सूत्र उद्दे. ८ में ऐसे अतिरिक्त पात्र दूर क्षेत्र से लाने का कल्प बताया है। वहां एक दूसरे के लिए पात्र लाने का सामान्य विधान है साथ ही गणी को पूछे बिना या निमन्त्रण दिये बिना किसी को पात्र देने का निषेध भी किया है। उन्हें पूछकर निमन्त्रण करके बाद में अन्य को देने का विधान किया गया है। प्रस्तुत सूत्र में गणी की आज्ञा के बिना पात्र लाने एवं देने का प्रायश्चित्त कहा है।

अतिरिक्त पात्र देने न देने का प्रायश्चित्त—

६. जे भिक्खू अइरेगं पडिग्गहं खुड्डगस्स वा, खुड्डियाए वा, थेरगस्स वा, थेरियाए वा, अहत्थ-च्छिन्नस्स, अपायच्छिन्नस्स, अकण्णच्छिन्नस्स, अणासाच्छिन्नस्स, अणोट्ठच्छिन्नस्स, सक्कस्स देइ, देंतं वा साइज्जइ।

७. जे भिक्खू अइरेगं पडिग्गहं, खुड्डगस्स वा, खुड्डियाए वा, थेरगस्स वा, थेरियाए वा, हत्थ-च्छिन्नस्स, पायच्छिन्नस्स, कण्णच्छिन्नस्स, णासाच्छिन्नस्स, ओट्ठच्छिन्नस्स, असक्कस्स न देइ, न देंतं वा साइज्जइ।

६. जो भिक्षु बाल साधु-साध्वी के लिए, अथवा वृद्ध साधु-साध्वी के लिए जिनके कि हाथ, पैर, कान, नाक, होंठ कटे हुए नहीं हैं, सशक्त हैं, उसे अतिरिक्त-पात्र रखने की अनुज्ञा देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

७. जो भिक्षु बाल साधु-साध्वी के लिए अथवा वृद्ध साधु-साध्वी के लिए जिनके कि हाथ, पैर, कान, नाक, होंठ कटे हुए हैं अथवा जो अशक्त हैं, उसे अतिरिक्त पात्र रखने की अनुज्ञा नहीं देता है या नहीं देने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—पूर्व सूत्र में आवश्यकता से अधिक लाये गये सामान्य पात्र सम्बन्धी वर्णन है। इन सूत्रों में कल्पमर्यादा से अधिक पात्र रखने के लिए देने का वर्णन है।

भाष्य गाथा ४५२४ तथा उसकी चूर्णि में कहा गया है कि दो प्रकार के पात्र तीर्थंकरों के द्वारा अनुज्ञात हैं, यथा—१. पात्र, २. मात्रक। इस के सिवाय तीसरा पात्र ग्रहण करना 'अतिरिक्त पात्र' है। पात्र एवं मात्रक की संख्या विषयक विवेचन सोलहवें उद्देशक में देखें।

खुड्डक-खुड्डिका—नो वर्ष की उम्र से लेकर १६ वर्ष की उम्र तक के साधु या साध्वी बालक वय वाले कहे जाते हैं। इनको आगम में 'खुड्डग' या 'डहर' कहा गया है।

थेर-स्थविर—स्थविर तीन प्रकार के कहे गये हैं—१. उम्र से, २. ज्ञान से, ३. संयम पर्याय से। यहाँ पर केवल ६० वर्ष की उम्र वाले स्थविर का ही कथन समझना चाहिए।

हत्थछिन्न आदि—सूत्र में हाथ, पाँव, ओष्ठ, नाक और कान कटे हुए का कथन है। इनका तात्पर्य यह कि किसी भी प्रकार से विकलांग हो, यथा—अन्धा, बहरा, लंगड़ा आदि। यद्यपि ऐसे विकलांगों को दीक्षा नहीं दी जाती है तथापि संयम लेने के बाद भी किसी कारण से कोई विकलांग हो सकता है, यहाँ इसी अपेक्षा से यह कथन समझना चाहिए।

असक्क-अशक्त—जो भिक्षु विकलांग तो नहीं है किन्तु अशक्त है अर्थात् निरन्तर विहार से थके हुए, रोग से घिरे हुए या अन्य किसी परीषह से घबराये हुए साधु या साध्वी को यहाँ अशक्त कहा गया है।

इस सूत्र का भावार्थ दो प्रकार से किया जा सकता है—

१. बालक या वृद्ध साधु-साध्वी जो अशक्त हो या विकलांग हो उसे अतिरिक्त पात्र दिया जा सकता है किन्तु तरुण साधु-साध्वी को और अविकलांग सशक्त बाल-वृद्ध को अतिरिक्त पात्र नहीं दिया जा सकता।

२. आदि एवं अन्त के कथन से मध्य का ग्रहण हो जाता है, इस न्याय से आबाल-वृद्ध कोई भी साधु-साध्वी विकलांग या अशक्त हो तो उसे अतिरिक्त पात्र दिया जा सकता है किन्तु सशक्त और अविकलांग को नहीं दिया जा सकता। क्योंकि विकलांग या रोगग्रस्त, तरुण साधु-साध्वी भी बाल एवं वृद्ध के समान ही अनुकम्पा के योग्य होते हैं। रोग आदि से तरुण भी अशक्त हो जाता है।

विकलांग व अशक्त को अतिरिक्त पात्र देने का कारण यह है कि उसके औषधोपचार, पथ्य-परहेज आदि के लिए अतिरिक्त पात्र आवश्यक होता है। मल, मूत्र या कफ आदि परठने के लिए अलग-अलग पात्र आवश्यक होते हैं, अथवा विकलांग होने के कारण या अशक्ति के कारण पात्र फूट जाने की सम्भावना अधिक रहती है और वह स्वयं गवेषण करके नहीं ला सकता है, तब वह अतिरिक्त पात्र से अपना कार्य कर सकता है।

दोनों सूत्रों में जो प्रायश्चित्त विधान है वह गण-प्रमुख के लिए है। उन्हें ही यह निर्णय करना होता है कि कौनसे साधु या साध्वी अतिरिक्त पात्र देने के योग्य हैं और कौन अयोग्य हैं।

अयोग्य पात्र रखने का तथा योग्य पात्र परठने का प्रायश्चित्त—

८. जे भिक्खू पडिग्गहं अणलं, अथिरं, अधुवं, अधारणिज्जं धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ।

९. जे भिक्खू पडिग्गहं अलं, थिरं, धुवं, धारणिज्जं न धरेइ, न धरेंतं वा साइज्जइ।

८. जो भिक्षु काम के अयोग्य, अस्थिर, अध्रुव और धारण करने के अयोग्य पात्र को धारण करता है या धारण करने वाले का अनुमोदन करता है।

९. जो भिक्षु काम के योग्य, स्थिर, ध्रुव और धारण करने योग्य पात्र को धारण नहीं करता है या धारण नहीं करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—पात्र आदि सभी प्रकार के उपकरण जब तक उपयोग में आने योग्य रहें तब तक उपयोग में लेने चाहिए। उन्हें परठ देना या गृहस्थ के पास छोड़ देना उचित नहीं है। पात्र उपयोग में लेते-लेते खराब भी हो सकता है, कभी फूट भी सकता है तो भी उपयोग में आने योग्य रहे तब तक उसे परठना या छोड़ना नहीं चाहिए।

यदि पात्र उपयोग में आने योग्य नहीं हो, प्रतिलेखन या जीवरक्षा पूर्णतया नहीं हो सकती हो अथवा थेगली या बन्धन, तीन से अधिक हो गये हों तो उस पात्र को रखना नहीं कल्पता है।

उपयोग में न आने योग्य पात्र को रखने में उस पात्र के प्रति ममत्वभाव हो सकता है, यथा—'यह मेरी दीक्षा का पात्र है' इत्यादि। किन्तु भिक्षु को ममत्व न करके उसे त्याग देना चाहिए।

इन दो सूत्रों में उपयोग में आने योग्य पात्र को त्याग देने का तथा अनुपयोगी पात्र को रखने का लघुचौमासी प्रायश्चित्त कहा है। बन्धन या थेगलियाँ अधिक लगाने एवं रखने का प्रायश्चित्त प्रथम उद्देशक में कहा गया है।

सूत्र में प्रयुक्त 'अणलं' आदि शब्दों का विवेचन पाँचवें उद्देशक में देखें।

पात्र का वर्ण परिवर्तन करने का प्रायश्चित्त—

१०. जे भिक्खू वण्णमंतं पडिग्गहं विवण्णं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

११. जे भिक्खू विवण्णं पडिग्गहं वण्णमंतं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

१०. जो भिक्षु अच्छे वर्ण वाले पात्र को विवर्ण करता है या विवर्ण करने वाले का अनुमोदन करता है।

११. जो भिक्षु विवर्ण पात्र को अच्छे वर्ण वाला करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—पात्र यदि दिखने में विद्रूप हो किन्तु उपयोग मे आने योग्य हो तो उसे सुन्दर बनाने के लिए किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

पात्र यदि अत्यन्त सुन्दर मिला हो तो उसे दूसरा कोई मांग न ले या आचार्यादि स्वयं न ले लें अथवा कोई चुरा न ले जाए, ऐसी भावना से पात्र को विद्रूप करने का प्रयत्न भी नहीं करना चाहिए।

संयम-आराधना में उक्त दोनों प्रकार के संकल्प एवं प्रयत्न अनावश्यक हैं। अतः भिक्षु को इस प्रकार की प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए।

पात्र परिकर्म करने के प्रायश्चित्त—

१२. जे भिक्खू "नो नवए मे पडिग्गहे लद्धे" त्ति कट्टु बहुदेसिएण सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोएज्ज वा उच्छोलेंतं वा पधोएंतं वा साइज्जइ।

१३. जे भिक्खू "नो नवए मे पडिग्गहे लद्धे" त्ति कट्टु बहुदेवसिएण सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोएज्ज वा उच्छोलेंतं वा पधोएंतं वा साइज्जइ।

१४. जे भिक्खू "नो नवए मे पडिग्गहे लद्धे" त्ति कट्टु बहुदेसिएण लोद्धेण वा जाव वण्णेण वा उल्लोलेज्ज वा उव्वल्लेज्ज वा उल्लोलेंतं वा उव्वलेंतं वा साइज्जइ।

१५. जे भिक्खू "नो नवए मे पडिग्गहे लद्धे" त्ति कट्टु बहुदेवसिएण लोद्धेण वा जाव वण्णेण वा उल्लोलेज्ज वा उव्वलेज्ज वा उल्लोलेंतं वा उव्वलेंतं वा साइज्जइ।

१६. जे भिक्खू "दुब्भिगंधे मे पडिग्गहे लद्धे" त्ति कट्टु बहुदेसिएण सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोएज्ज वा उच्छोलेंतं वा पधोएंतं वा साइज्जइ।

१७. जे भिक्खू "दुब्भिगंधे मे पडिग्गहे लद्धे" त्ति कट्टु बहुदेवसिएण सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोएज्ज वा उच्छोलेंतं वा पधोएंतं वा साइज्जइ।

१८. जे भिक्खू "दुब्भिगंधे मे पडिग्गहे लद्धे" त्ति कट्टु बहुदेसिएण लोद्धेण वा जाव वण्णेण वा उल्लोलेज्ज वा उव्वलेज्ज वा उल्लोलेंतं वा उव्वलेंतं वा साइज्जइ।

१९. जे भिक्खू "दुब्भिगंधे मे पडिग्गहे लद्धे" त्ति कट्टु बहुदेवसिएण लोद्धेण वा जाव वण्णेण वा उल्लोलेज्ज वा उव्वलेज्ज वा उल्लोलेंतं वा उव्वलेंतं वा साइज्जइ।

१२. जो भिक्षु "मुझे नया पात्र नही मिला है" ऐसा सोचकर पात्र को अल्प या बहुत अचित्त शीत जल से या अचित्त उष्ण जल से एक बार या बार-बार धोता है या धोने वाले का अनुमोदन करता है।

१३. जो भिक्षु "मुझे नया पात्र नहीं मिला है" ऐसा सोचकर पात्र को रात रखे हुए अचित्त शीत जल से या अचित्त उष्ण जल से एक बार या बार-बार धोता है या धोने वाले का अनुमोदन करता है।

दोनों सूत्रों में जो प्रायश्चित्त विधान है वह गण-प्रमुख के लिए है। उन्हें ही यह निर्णय करना होता है कि कौनसे साधु या साध्वी अतिरिक्त पात्र देने के योग्य हैं और कौन अयोग्य हैं।

अयोग्य पात्र रखने का तथा योग्य पात्र परठने का प्रायश्चित्त—

८. जे भिक्खू पडिग्गहं अणलं, अथिरं, अधुवं, अधारणिज्जं धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ।

९. जे भिक्खू पडिग्गहं अलं, थिरं, धुवं, धारणिज्जं न धरेइ, न धरेंतं वा साइज्जइ।

८. जो भिक्षु काम के अयोग्य, अस्थिर, अध्रुव और धारण करने के अयोग्य पात्र को धारण करता है या धारण करने वाले का अनुमोदन करता है।

९. जो भिक्षु काम के योग्य, स्थिर, ध्रुव और धारण करने योग्य पात्र को धारण नहीं करता है या धारण नहीं करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—पात्र आदि सभी प्रकार के उपकरण जब तक उपयोग में आने योग्य रहें तब तक उपयोग में लेने चाहिए। उन्हें परठ देना या गृहस्थ के पास छोड़ देना उचित नहीं है। पात्र उपयोग में लेते-लेते खराब भी हो सकता है, कभी फूट भी सकता है तो भी उपयोग में आने योग्य रहे तब तक उसे परठना या छोड़ना नहीं चाहिए।

यदि पात्र उपयोग में आने योग्य नहीं हो, प्रतिलेखन या जीवरक्षा पूर्णतया नहीं हो सकती हो अथवा थेगली या बन्धन, तीन से अधिक हो गये हों तो उस पात्र को रखना नहीं कल्पता है।

उपयोग में न आने योग्य पात्र को रखने में उस पात्र के प्रति ममत्वभाव हो सकता है, यथा—'यह मेरी दीक्षा का पात्र है' इत्यादि। किन्तु भिक्षु को ममत्व न करके उसे त्याग देना चाहिए।

इन दो सूत्रों में उपयोग में आने योग्य पात्र को त्याग देने का तथा अनुपयोगी पात्र को रखने का लघुचौमासी प्रायश्चित्त कहा है। बन्धन या थेगलियाँ अधिक लगाने एवं रखने का प्रायश्चित्त प्रथम उद्देशक में कहा गया है।

सूत्र में प्रयुक्त 'अणलं' आदि शब्दों का विवेचन पाँचवें उद्देशक में देखें।

पात्र का वर्ण परिवर्तन करने का प्रायश्चित्त—

१०. जे भिक्खू वण्णमंतं पडिग्गहं विवण्णं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

११. जे भिक्खू विवण्णं पडिग्गहं वण्णमंतं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

१०. जो भिक्षु अच्छे वर्ण वाले पात्र को विवर्ण करता है या विवर्ण करने वाले का अनुमोदन करता है।

११. जो भिक्षु विवर्ण पात्र को अच्छे वर्ण वाला करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—पात्र यदि दिखने में विद्रूप हो किन्तु उपयोग में आने योग्य हो तो उसे सुन्दर बनाने के लिए किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

पात्र यदि अत्यन्त सुन्दर मिला हो तो उसे दूसरा कोई माँग न ले या आचार्यादि स्वयं न ले लें अथवा कोई चुरा न ले जाए, ऐसी भावना से पात्र को विद्रूप करने का प्रयत्न भी नहीं करना चाहिए।

संयम-आराधना में उक्त दोनों प्रकार के संकल्प एवं प्रयत्न अनावश्यक है। अतः भिक्षु को इस प्रकार की प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए।

पात्र परिकर्म करने के प्रायश्चित्त—

१२. जे भिक्खू "नो नवए मे पडिग्गहे लद्धे" त्ति कट्टु बहुदेसिएण सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोएज्ज वा उच्छोलेंतं वा पधोएंतं वा साइज्जइ।

१३. जे भिक्खू "नो नवए मे पडिग्गहे लद्धे" त्ति कट्टु बहुदेवसिएण सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोएज्ज वा उच्छोलेंतं वा पधोएंतं वा साइज्जइ।

१४. जे भिक्खू "नो नवए मे पडिग्गहे लद्धे" त्ति कट्टु बहुदेसिएण लोद्धेण वा जाव वण्णेण वा उल्लोलेज्ज वा उव्वल्लेज्ज वा उल्लोलेंतं वा उव्वलेंतं वा साइज्जइ।

१५. जे भिक्खू "नो नवए मे पडिग्गहे लद्धे" त्ति कट्टु बहुदेवसिएण लोद्धेण वा जाव वण्णेण वा उल्लोलेज्ज वा उव्वलेज्ज वा उल्लोलेंतं वा उव्वलेंतं वा साइज्जइ।

१६. जे भिक्खू "दुब्भिगंधे मे पडिग्गहे लद्धे" त्ति कट्टु बहुदेसिएण सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोएज्ज वा उच्छोलेंतं वा पधोएंतं वा साइज्जइ।

१७. जे भिक्खू "दुब्भिगंधे मे पडिग्गहे लद्धे" त्ति कट्टु बहुदेवसिएण सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोएज्ज वा उच्छोलेंतं वा पधोएंतं वा साइज्जइ।

१८. जे भिक्खू "दुब्भिगंधे मे पडिग्गहे लद्धे" त्ति कट्टु बहुदेसिएण लोद्धेण वा जाव वण्णेण वा उल्लोलेज्ज वा उव्वलेज्ज वा उल्लोलेंतं वा उव्वलेंतं वा साइज्जइ।

१९. जे भिक्खू "दुब्भिगंधे मे पडिग्गहे लद्धे" त्ति कट्टु बहुदेवसिएण लोद्धेण वा जाव वण्णेण वा उल्लोलेज्ज वा उव्वलेज्ज वा उल्लोलेंतं वा उव्वलेंतं वा साइज्जइ।

१२. जो भिक्षु "मुझे नया पात्र नहीं मिला है" ऐसा सोचकर पात्र को अल्प या बहुत अचित्त शीत जल से या अचित्त उष्ण जल से एक बार या बार-बार धोता है या धोने वाले का अनुमोदन करता है।

१३. जो भिक्षु "मुझे नया पात्र नहीं मिला है" ऐसा सोचकर पात्र को रात रखे हुए अचित्त शीत जल से या अचित्त उष्ण जल से एक बार या बार-बार धोता है या धोने वाले का अनुमोदन करता है।

१४. जो भिक्षु "मुझे नया पात्र नहीं मिला है" ऐसा सोचकर पात्र को अल्प या बहुत लोध्र से यावत् वर्ण से एक बार या बार-बार लेप करता है या लेप करने वाले का अनुमोदन करता है।

१५. जो भिक्षु "मुझे नया पात्र नहीं मिला है" ऐसा सोचकर पात्र के रात रखे हुए लोध्र यावत् वर्ण से एक बार या बार-बार लेप करता है या लेप करने वाले का अनुमोदन करता है।

१६. जो भिक्षु "मुझे दुर्गंध वाला पात्र मिला है" ऐसा सोचकर पात्र को अल्प या बहुत अचित्त शीत जल से या अचित्त उष्ण जल से एक बार या बार-बार धोता है या धोने वाले का अनुमोदन करता है।

१७. जो भिक्षु "मुझे दुर्गन्ध वाला पात्र मिला है" ऐसा सोचकर पात्र को रात रखे हुए अचित्त शीत जल से या अचित्त उष्ण जल से एक बार या बार-बार धोता है या धोने वाले का अनुमोदन करता है।

१८. जो भिक्षु "मुझे दुर्गन्ध वाला पात्र मिला है" ऐसा सोचकर पात्र को अल्प या बहुत लोध्र से यावत् वर्ण से एक बार या बार-बार लेप करता है या लेप करने वाले का अनुमोदन करता है।

१९. जो भिक्षु "मुझे दुर्गन्ध वाला पात्र मिला है" ऐसा सोचकर पात्र को रात रखे हुए लोध्र यावत् वर्ण से एक बार या बार-बार लेप करता है या लेप करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित आता है।)

विवेचन—भिक्षु पात्र की गवेषणा करते समय ऐसा ही पात्र ले कि उसमें किसी प्रकार का परिकर्म न करना पड़े। यदि गवेषणा करते हुए भी बहुत पुराना पात्र मिले या कोई अमनोज्ञ गंध वाला पात्र मिले तो उसे धोने या सुगन्धित करने की प्रवृत्ति न करे।

यहाँ पहले और तीसरे सूत्र में अल्प या अधिक जल से धोने का या कल्कादि से सुगंधित करने का प्रायश्चित्त कहा है। उसके बाद दूसरे और चौथे सूत्र में बहुदैवसिक जल से धोने का या कल्कादि से सुगंधित करने का प्रायश्चित्त कहा है।

तात्पर्य यह है कि यदि संयम या स्वास्थ्य के लिये किंचित् भी प्रतिकूल न हो तो अल्प या अधिक जल से या कल्कादि से न धोए, न सुगंधित करे। किन्तु आवश्यक होने पर धोना पड़े तो अनेक दिनों तक न धोए तथा रात्रि में उन धोने और सुगंधित करने के पदार्थों को पात्र में न रखे।

भाष्यकार ने कहा है कि यदि वह पात्र विषैले पदार्थ या मंत्र से प्रभावित हो अथवा मद्य आदि की गन्ध युक्त हो तो अपवाद रूप में अनेक दिनों तक कल्कादि या जल रखकर उसे शुद्ध किया जा सकता है। अथवा कभी क्षार द्रव्यों से भी शुद्ध किया जा सकता है।

इन सूत्रों में अकारण धोने आदि का तथा कारण होने पर रात में बासी रखकर धोने आदि का प्रायश्चित्त कहा है।

यहाँ कुल आठ सूत्र हैं—चार पुराने पात्रों के और चार दुर्गन्ध युक्त पात्रों के।

भाष्य चूर्णिकार ने इतने ही सूत्रों का कथन करते हुए व्याख्या की है। इससे अधिक सूत्रों का होना सम्भव नहीं लगता है।

उपलब्ध प्रतियों में तेलादि के ४ सूत्र अधिक मिलने से १२ सूत्र होते हैं। कुछ प्रतियों में सुगन्धित और नए पात्र के भी सूत्रालापक दिये हैं। यों अनेक प्रकार से और भिन्न-भिन्न संख्या में ये सूत्र मिलते हैं। जिनकी जघन्य संख्या ८ है और उत्कृष्ट संख्या २६ है। जो भाष्य चूर्णिकार के बाद कभी जोड़ दिये गये प्रतीत होते हैं तथा इसका कारण भी अज्ञात है।

सूत्रपाठ में "वहुदेसिएण" और "वहुदेवसिएण" एक सरीखे शब्द होने से ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें भी कभी लिपि दोष हुआ हो।

सूत्र पाठ के निर्णय में निम्न भाष्य-चूर्णि के स्थल उपयोगी हैं—

दग कक्कादि अणवे, तेहिं बहुदेसितेहिं जे पादं।
एमेव य दुग्गंधं, धुवण-उवट्टेंत आणादी ॥४६४२॥

सुत्ते बहुदेसेण वा पादो, बहुदेवसितेण वा। एक्का पसली दो वा तिण्णि वा पसलीओ देसो भण्णति, तिण्हं परेण बहुदेसो भण्णति। अणाहारादि कक्केण वा संवासितेण, एत्थ एग रातिं संवासितं तं पि बहुदेवसियं भवति।

बितिय सुत्ते एसेवत्थो णवरं—बहुदेवसितेहिं सीओद-उसिणोदेहिं वत्तव्वं। ततिय सुत्ते कक्को, चउत्थ सुत्ते कक्कादिएहिं चेव बहुदेवसिएहिं। जहा अणवपादे चउरो सुत्ता भणिता तहा दुग्गंधे वि चउरो सुत्ता भाणियव्वा।

इन व्याख्यायों से यह स्पष्ट हो जाता है कि पहले चार सूत्र पुराने पात्र की अपेक्षा से हैं। इनमें भी पहले दो सूत्र जल से धोने के है और बाद के दो सूत्र कल्कादि लगाने के हैं। इसी तरह चार सूत्र बाद में दुर्गन्ध युक्त पात्र की अपेक्षा से है। कुल आठ सूत्र है। इसमें प्रथम सूत्र में "वहुदेसिएण" पद है और दूसरे सूत्र में "वहुदेवसिएण" पद है, यह भी चूर्णि से स्पष्ट हो जाता है। अतः इसी क्रम से आठ सूत्र मूल पाठ मे रखे गये है।

अकल्पनीय स्थानों में पात्र सुखाने के प्रायश्चित्त—

२०. जे भिक्खू अणंतरहियाए पुढवीए पडिग्गहं आयावेज्ज वा पयावेज्ज वा, आयावेंतं वा पयावेंतं वा साइज्जइ।

२१. जे भिक्खू ससिणिद्धाए पुढवीए पडिग्गहं आयावेज्ज वा पयावेज्ज वा, आयावेंतं वा पयावेंतं वा साइज्जइ।

२२. जे भिक्खू ससरक्खाए पुढवीए पडिग्गहं आयावेज्ज वा पयावेज्ज वा, आयावेंतं वा पयावेंतं वा साइज्जइ।

२३. जे भिक्खू मट्टियाकडाए पुढवीए पडिग्गहं आयावेज्ज वा पयावेज्ज वा, आयावेंतं वा पयावेंतं वा साइज्जइ।

२४. जे भिक्खू चित्तमंताए पुढवीए पडिग्गहं आयावेज्ज वा पयावेज्ज वा, आयावेंतं वा पयावेंतं वा साइज्जइ ।

२५. जे भिक्खू चित्तमंताए सिलाए पडिग्गहं आयावेज्ज वा पयावेज्ज वा, आयावेंतं वा पयावेंतं वा साइज्जइ ।

२६. जे भिक्खू चित्तमंताए लेलूए पडिग्गहं आयावेज्ज वा पयावेज्ज वा, आयावेंतं वा पयावेंतं वा साइज्जइ ।

२७. जे भिक्खू कोलावासंसि वा दारुए जीवपइट्ठिए सअंडे जाव मक्कडासंताणए पडिग्गहं आयावेज्ज वा पयावेज्ज वा, आयावेंतं वा पयावेंतं वा साइज्जइ ।

२८. जे भिक्खू थूणंसि वा, गिहेलुयंसि वा, उसुयालंसि वा, कामजलंसि वा, अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि अंतलिक्खजायंसि दुब्बद्धे जाव चलाचले पडिग्गहं आयावेज्ज वा पयावेज्ज वा आयावेंतं वा पयावेंतं वा साइज्जइ ।

२९. जे भिक्खू कुलियंसि वा, भित्तिंसि वा, सिलंसि वा, लेलुंसि वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि अंतलिक्खजायंसि दुब्बद्धे जाव चलाचले पडिग्गहं आयावेज्ज वा पयावेज्ज वा आयावेंतं वा पयावेंतं वा साइज्जइ ।

३०. जे भिक्खू खंधंसि वा जाव हम्मतलंसि वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि अंतलिक्खजायंसि दुब्बद्धे जाव चलाचले पडिग्गहं आयावेज्ज वा पयावेज्ज वा, आयावेंतं वा पयावेंतं वा साइज्जइ ।

२०. जो भिक्षु सचित्त पृथ्वी के निकट की अचित्त पृथ्वी पर पात्र को सुखाता है या सुखाने वाले का अनुमोदन करता है ।

२१. जो भिक्षु सचित्त जल से स्निग्ध पृथ्वी पर पात्र को सुखाता है या सुखाने वाले का अनुमोदन करता है ।

२२. जो भिक्षु सचित्त रज से युक्त पृथ्वी पर पात्र को सुखाता है या सुखाने वाले का अनुमोदन करता है ।

२३. जो भिक्षु सचित्त मिट्टी बिखरी हुई पृथ्वी पर पात्र को सुखाता है या सुखाने वाले का अनुमोदन करता है ।

२४. जो भिक्षु सचित्त पृथ्वी पर पात्र को सुखाता है या सुखाने वाले का अनुमोदन करता है।

२५. जो भिक्षु सचित्त शिला पर पात्र को सुखाता है या सुखाने वाले का अनुमोदन करता है ।

२६. जो भिक्षु सचित्त शिलाखण्ड आदि पर पात्र को सुखाता है या सुखाने वाले का अनुमोदन करता है ।

२७. जो भिक्षु दीमक आदि जीव-युक्त काष्ठ पर तथा अंडे युक्त स्थान पर यावत् मकड़ी के जाले से युक्त स्थान पर पात्र को सुखाता है या सुखाने वाले का अनुमोदन करता है।

२८. जो भिक्षु स्तम्भ, देहली, ऊखल या स्नान करने की चौकी पर अथवा अन्य भी ऐसे अंतरिक्षजात (आकाशीय) स्थान पर, जो कि भलीभांति बंधा हुआ नहीं है यावत् चलाचल है, वहाँ पात्र को सुखाता है या सुखाने वाले का अनुमोदन करता है।

२९. जो भिक्षु मिट्टी की दीवार पर, ईंट की दीवार पर, शिला पर या शिलाखण्ड आदि पर अथवा अन्य भी ऐसे अंतरिक्षजात [आकाशीय] स्थान पर, जो कि भलीभांति बंधा हुआ नहीं है यावत् चलाचल है, वहां पात्र को सुखाता है या सुखाने वाले का अनुमोदन करता है।

३०. जो भिक्षु स्कन्ध पर यावत् महल की छत पर अथवा अन्य भी ऐसे अंतरिक्षजात [आकाशीय] स्थान पर, जो कि भलीभांति बंधा हुआ नहीं है यावत् चलाचल है, वहां पात्र को सुखाता है या सुखाने वाले का अनुमोदन करता है। [उसे लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।]

विवेचन—आचा. श्रु. २, अ. ६, उ. १ में उक्त ग्यारह स्थानों में पात्र को सुखाने का निषेध है। इनमें से आठ स्थानों का निषेध केवल जीव-विराधना के कारण है और शेष तीन स्थानों में जीव-विराधना के साथ-साथ पात्र के गिर जाने पर उसके फूट जाने की तथा साधु के गिर जाने की भी सम्भावना रहती है। अतः ऊपर से पात्र न गिरे ऐसे सुरक्षित स्थान में पात्र सुखाए जा सकते हैं।

पूर्व सूत्र में पात्र धोने का प्रायश्चित्त कहा है। किसी विशेष कारण से धोने के बाद धूप में सुखाने की आवश्यकता हो तो अयोग्य स्थानों में सुखाने का यहां प्रायश्चित्त कहा गया है।

इन ग्यारह सूत्रों में आये हुए शब्दों के विशेषार्थ और विवेचन तेरहवें उद्देशक के प्रारम्भ के ग्यारह सूत्रों में दे दिए है। वहां उक्त स्थानों में खड़े रहने या ठहरने आदि के प्रायश्चित्त कहे है। यहां उन्हीं स्थानों में पात्र सुखाने का प्रायश्चित्त कहा है। इसी प्रकार इन ग्यारह स्थानों में मल-मूत्र त्यागने का तथा वस्त्र सुखाने का प्रायश्चित्त सोलहवें और अठारहवें उद्देशक में है। सर्वत्र ग्यारह सूत्र समान हैं।

त्रस प्राणी आदि निकालकर पात्र ग्रहण करने के प्रायश्चित्त—

३१. जे भिक्खू पडिग्गहाओ तसपाणजाइं नीहरइ, नीहरावेइ, नीहरियं आहट्टु देज्जमाणं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

३२. जे भिक्खू पडिग्गहाओ ओसहि-बीयाइं नीहरइ, नीहरावेइ, नीहरियं आहट्टु देज्जमाणं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

३३. जे भिक्खू पडिग्गहाओ कंदाणि वा, मूलाणि वा, पत्ताणि वा, पुप्फाणि वा, फलाणि वा नीहरइ, नीहरावेइ, नीहरियं आहट्टु, देज्जमाणं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

३४. जे भिक्खू पडिग्गहाओ पुढविकायं नीहरइ, नीहरावेइ, नीहरियं आहट्टु देज्जमाणं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ ।

३५. जे भिक्खू पडिग्गहाओ आउक्कायं नीहरइ, नीहरावेइ, नीहरियं आहट्टु देज्जमाणं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ ।

३६. जे भिक्खू पडिग्गहाओ तेउक्कायं नीहरइ, नीहरावेइ, नीहरियं आहट्टु देज्जमाणं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ ।

३१. जो भिक्षु पात्र से त्रस प्राणियों को निकालता है, निकलवाता है अथवा निकाल कर देते हुए को लेता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

३२. जो भिक्षु पात्र से गेहूं आदि धान्य को और जीरा आदि बीज को निकालता है, निकलवाता है अथवा निकालकर देते हुए को लेता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

३३. जो भिक्षु पात्र से सचित्त कन्द, मूल, पत्र, पुष्प, फल निकालता है, निकलवाता है अथवा निकाल कर देते हुए को लेता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

३४. जो भिक्षु पात्र से सचित्त पृथ्वीकाय को निकालता है, निकलवाता है अथवा निकाल कर देते हुए को लेता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

३५. जो भिक्षु पात्र से सचित्त अप्काय को निकालता है, निकलवाता है अथवा निकाल कर देते हुए को लेता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

३६. जो भिक्षु पात्र से सचित्त अग्निकाय को निकालता है, निकलवाता है अथवा निकाल कर देते हुए को लेता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है । [उसे लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है ।]

विवेचन—पात्र की गवेषणा करते समय निम्नांकित बातों का ध्यान रखना आवश्यक है—

१. पात्र में यदि मकड़ी आदि त्रस जीव हों तो नहीं लेना ।
२. उसमें धान्य या बीज रखे हुए हों तो नहीं लेना ।
३. उसमें कंद-मूल आदि वनस्पति हों तो नहीं लेना ।
४. उसमें नमक आदि सचित्त पृथ्वीकाय हो तो नहीं लेना ।
५. उसमें सचित्त जल हो तो नहीं लेना ।
६. मिट्टी के पात्र में अग्नि [खीरा आदि] हो तो नहीं लेना ।
७. इन जीवों या पदार्थों को स्वयं निकाल करके पात्र नहीं लेना ।
८. गृहस्थ इन्हें निकाल कर देवे तो भी नहीं लेना ।

ऐसा अकल्पनीय पात्र ग्रहण करने पर इन सूत्रों से प्रायश्चित्त आता है ।

इन ६ सूत्रों का क्रम भिन्न-भिन्न तरह से उपलब्ध होता है तथा सूत्र-संख्या में भी भिन्नता मिलती है। यहां भाष्य-चूर्णि के अनुसार क्रम रखा गया है।

लकड़ी और तुम्बे के पात्र में अग्निकाय का रखा जाना सम्भव नहीं है। अतः यह अग्निकाय का प्रायश्चित्त कथन केवल मिट्टी के पात्र की अपेक्षा से समझना चाहिये।

इस प्रकार के पात्र लेने में उन जीवों को स्थानान्तरित किया जाता है तथा उनका संघट्टन, सम्मर्दन भी होता है। इसलिये ऐसे पात्र लेने का प्रायश्चित्त कहा है।

पात्र कोरने का प्रायश्चित्त—

३७. जे भिक्खू पडिग्गहं कोरेइ, कोरावेइ, कोरियं आहट्टु देज्जमाणं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

३७. जो भिक्षु पात्र को कोरता है, कोरवाता है अथवा कोरकर देते हुए को लेता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है। [उसे लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।]

विवेचन—प्रथम उद्देशक में पात्र का मुख ठीक करने का तथा विषम को सम बनाने रूप परिकर्म का प्रायश्चित्त कथन है। अन्य परिकर्मों का इस उद्देशक में प्रायश्चित्त कहा गया है और यहां इस ३७वें सूत्र में पात्र पर कोरनी करने का प्रायश्चित्त कहा है। पात्र में कोरनी, खुदाई करने से होती है। ऐसा करने में मुख्य उद्देश्य विभूषा का रहता है और विभूषावृत्ति भिक्षु के लिये दशवैकालिक आदि सूत्रों में निषिद्ध है। भाष्यकार ने इसमें "झुषिर दोष" कहा है, क्योंकि कोरणी के लिये खुदाई किये स्थान में जीव या आहार के लेप का भलीभांति शोधन नहीं हो सकता है। अतः ऐसा करने का यहां प्रायश्चित्त कहा गया है।

मार्ग आदि में पात्र की याचना करने का प्रायश्चित्त—

३८. जे भिक्खू णायगं वा, अणायगं वा, उवासगं वा, अणुवासगं वा गामंतरंसि वा, गामपहंतरंसि वा पडिग्गहं ओभासिय-ओभासिय जायइ, जायंतं वा साइज्जइ।

३८. जो भिक्षु स्वजन से या अन्य से, उपासक से या अनुपासक से ग्राम में या ग्रामपथ में पात्र मांग-मांग कर याचना करता है या याचना करने वाले का अनुमोदन करता है। [उसे लघु-चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।]

विवेचन—पात्र की याचना पारिवारिक या अपारिवारिक गृहस्थों से भी की जा सकती है। ऐसे गृहस्थ उपासक भी हो सकते हैं और अनुपासक भी हो सकते हैं। अतः विशेष स्पष्ट करने के लिये इस सूत्र में ज्ञातिजन आदि चार प्रकार के व्यक्तियों का कथन है।

किसी भी गृहस्थ से पात्र की याचना करनी हो तो पहले यह देखना चाहिए कि वह अपने घर में या अपने ही किसी अन्य स्थान में है, तो उसी समय उससे पात्र की याचना करनी चाहिए। किन्तु वह ग्राम से बाहर हो या अन्य ग्राम में हो तो उससे याचना नहीं करनी चाहिए तथा ग्राम में

भी कहीं मार्ग में मिल जाए तो वहां भी उससे पात्र की याचना नहीं करनी चाहिए। क्योंकि वह यदि अनुरागी है तो ऐसा करने में एषणा के दोष लगने की सम्भावना रहती है और यदि वह अनुरागी नहीं है तो अन्य स्थान में मांगने से रुष्ट होकर वह अनादर कर सकता है अथवा पात्र होते हुए भी मना कर सकता है। अतः किसी से भी घर के अतिरिक्त अन्य किसी स्थान में या मार्ग में पात्र की याचना नहीं करनी चाहिए।

परिषद् में बैठे हुए स्वजन आदि से पात्र की याचना करने का प्रायश्चित्त—

३९. जे भिक्खू णायगं वा, अणायगं वा, उवासगं वा, अणुवासगं वा परिसामज्झाओ उट्ठवेत्ता पडिग्गहं ओभासिय-ओभासिय जायइ, जायंतं वा साइज्जइ।

३९. जो भिक्षु स्वजन को या अन्य को, उपासक को या अनुपासक को परिषद् में से उठाकर उससे मांग-मांग कर पात्र की याचना करता है या याचना करने वाले का अनुमोदन करता है। [उसे लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।]

विवेचन—पूर्व सूत्र में किसी भी गृहस्थ से अन्य स्थान में पात्र याचना करने का प्रायश्चित्त कहा है और इस सूत्र में पात्रदाता के स्वगृह में होते हुए भी यदि वह किसी एक व्यक्ति से या अनेक व्यक्तियों से बातचीत कर रहा हो या किसी परिषद् में बैठा हो तो वहां से उसे उठाकर पात्र की याचना करने का प्रायश्चित्त कहा है।

ऐसा करने पर उनके आवश्यक वार्तालाप में रुकावट हो जाती है, दाता या अन्य व्यक्ति रुष्ट हो सकते हैं। साधु के प्रति या धर्म के प्रति अश्रद्धा हो सकती है। दाता वार्तालाप में व्यस्त होता है, अतः वह पात्र होते हुए भी देने के लिये मना कर सकता है। ऐसे समय में भिक्षु को विवेक से याचना करनी चाहिये। भिक्षु को यदि पात्र की शीघ्र आवश्यकता हो तो वह कुछ समय तक एकान्त में खड़ा रह कर अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा करे या अन्य किसी समय में याचना के लिए आ जाए।

यदि साधु के आने की जानकारी होते ही गृहस्थ स्वयं बातचीत छोड़कर आ जाए तो विवेक रखते हुए उससे पात्र की याचना करने पर सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नहीं आता है।

पात्र के लिये भिक्षु को निवास करने का प्रायश्चित्त—

४०. जे भिक्खू पडिग्गह-नीसाए उडुबद्धं वसइ, वसंतं वा साइज्जइ।

४१. जे भिक्खू पडिग्गह-नीसाए वासावासं वसइ, वसंतं वा साइज्जइ।
तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं।

४०. जो भिक्षु पात्र के लिए ऋतुबद्ध काल [सर्दी या गर्मी] में रहता है या रहने वाले का अनुमोदन करता है।

४१. जो भिक्षु पात्र के लिए वर्षावास में रहता है या [illegible] का अनुमोदन करता है।

इन ४१ सूत्रों में कहे गये स्थानों का सेवन करने वाले को लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन—भिक्षु यदि गृहस्थ को यह कहे कि 'हम पात्र के लिये ही मासकल्प ठहरे हैं या चौमासा करते हैं, अतः हमें अच्छे पात्र देना या दिलाना' ऐसा निश्चय करना, यह पात्र के लिये निवास करना है और इसका ही दोनों सूत्रों में प्रायश्चित्त कहा गया है।

कदाचित् भिक्षु यदि पात्र की अत्यन्त आवश्यकता होने के कारण कहीं कुछ दिन ठहर भी जाए और गृहस्थ से पात्र के निमित्त उपयुक्त वार्ता नहीं करे तो उसे सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नहीं आता है।

पात्र के निमित्त ठहरने का संकल्प एवं गृहस्थ से उपयुक्त वार्ता करके ठहरने पर कभी दैव-योग से वहां पात्र न मिले तो साधु को या गृहस्थ को अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प उत्पन्न हो सकते हैं। वह गृहस्थ यदि अनुरागी होगा तो अनेक प्रकार के दोष लगाकर भी पात्र देगा या दिलवायेगा, इससे संयम की विराधना होगी। अतः ऐसे संकल्प से भिक्षु को किसी क्षेत्र में निवास नहीं करना चाहिए।

चौदहवें उद्देशक का सारांश—

सूत्र	१	पात्र खरीदना या खरीद कर लाया हुआ पात्र लेना,
	२	पात्र उधार लेना या उधार लाया हुआ पात्र लेना,
	३	पात्र का परिवर्तन करना या परिवर्तन कर लाया हुआ पात्र लेना,
	४	छीना हुआ पात्र, भागीदार की बिना आज्ञा लाया हुआ पात्र या सामने लाया हुआ पात्र लेना,
	५	आचार्य की आज्ञा के बिना किसी को अतिरिक्त पात्र देना,
	६	अविकलांग को या समर्थ को अतिरिक्त पात्र देना,
	७	विकलांग या असमर्थ को अतिरिक्त पात्र न देना,
	८-९	उपयोग में न आने योग्य पात्र को रखना, उपयोग में आने योग्य पात्र को छोड़ देना,
	१०-११	सुन्दर पात्र को विद्रूप करना या विद्रूप पात्र को सुन्दर करना,
	१२-१९	पुराने पात्र को या दुर्गन्ध युक्त पात्र को बारंबार धोना या कल्कादि लगाना अथवा अनेक दिनों तक पानी आदि भरकर रात में रखना एवं उसे ठीक करना,
	२०-३०	सचित्त स्थान, त्रस जीव युक्त स्थान अथवा बिना दिवाल वाले स्थान पर पात्र सुखाना,
	३१-३६	पात्र मे त्रस जीव, धान्य बीज, कंदादि, पृथ्वी, पानी या अग्नि हो, उसे निकालकर पात्र लेना,
	३७	पात्र पर कोरणी करना या कोरणी वाला पात्र लेना,
	३८-३९	अन्य स्थान में स्थित गृहस्थ से या किसी के साथ विचार-चर्चा करने वाले गृहस्थ से पात्र की याचना करना,

४०-४१ पात्र के लिये ही मासकल्प या चातुर्मास रहना,
इत्यादि प्रवृत्तियों का लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

इस उद्देशक के २७ सूत्रों के विषयों का कथन आचारांग सूत्र में है—

१-४ भिक्षु को क्रीत, प्रामृत्य, आच्छेद्य, अनिसृष्ट तथा अभिहृत पात्र नही लेना एवं पात्र का परिवर्तन नहीं करना चाहिए। —आचा. श्रु. २, अ. ६, उ. १-२

८-३० उपयोग में आने योग्य पात्र ही लेना, अनुपयोगी नहीं लेना। वर्ण-परिवर्तन नहीं करना, पात्र-परिकर्म नहीं करना, सचित्त जीव युक्त तथा आकाशीय स्थान पर पात्र नहीं सुखाना। —आचा. श्रु. २, अ. ६, उ. १-२

इस उद्देशक के १४ सूत्रों के विषय का कथन अन्य आगमों में नहीं है, यथा—

५-७ अतिरिक्त पात्र आचार्य की आज्ञा विना किसी को नहीं देना। अशक्त को देना और सशक्त को नहीं देना। किन्तु व्यव. उ. ८ में अतिरिक्त पात्र दूर देश से लाने का विधान है।

३१-३६ त्रस स्थावर जीवों से युक्त पात्र न लेना।

३७ पात्र में ऊपर या अन्दर कोरणी नहीं करना तथा कोरणी किया हुआ पात्र नहीं लेना।

३८-३९ अन्य स्थान में या सभा में से गृहस्थ को उठाकर पात्र की याचना न करना।

४०-४१ पात्र के लिये मासकल्प या चातुर्मासकल्प नहीं रहना।

इस उद्देशक के सभी सूत्रों में पात्र सम्बन्धी प्रायश्चित्त का ही कथन है, अन्य किसी प्रकार के प्रायश्चित्तों का कथन नहीं है। यह इस उद्देशक की विशेषता है।

॥ चौदहवां उद्देशक समाप्त ॥

पन्द्रहवाँ उद्देशक

भिक्षु की आसातना करने का प्रायश्चित्त–

१. जे भिक्खू भिक्खुं आगाढं वयइ, वयंतं वा साइज्जइ।

२. जे भिक्खू भिक्खुं फरुसं वयइ, वयंतं वा साइज्जइ।

३. जे भिक्खू भिक्खुं आगाढ-फरुसं वयइ, वयंतं वा साइज्जइ।

४. जे भिक्खू भिक्खुं अण्णयरीए आसायणाए आसाएइ, आसाएंतं वा साइज्जइ।

१. जो भिक्षु भिक्षु को रोष युक्त वचन बोलता है या बोलने वाले का अनुमोदन करता है।

२. जो भिक्षु भिक्षु को कठोर वचन बोलता है या बोलने वाले का अनुमोदन करता है।

३. जो भिक्षु भिक्षु को रोष युक्त वचन के साथ-साथ कठोर वचन भी बोलता है या बोलने वाले का अनुमोदन करता है।

४. जो भिक्षु भिक्षु की किसी प्रकार की आसातना करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—दसवें उद्देशक के प्रथम चार सूत्रों में पूज्य गुरुजनों एवं स्थविरों की और पूज्य रत्नाधिकों की आसातना करने का प्रायश्चित्त कहा है। पूजनीयों का विनय करना तो प्रत्येक भिक्षु का कर्तव्य होता ही है, किन्तु सामान्य सन्तों, सतियों या अन्य गच्छ के साधु-साध्वियों के प्रति भी भिक्षु को अविनय-आसातना युक्त वचन-व्यवहार और ऐसी ही अन्य तिरस्कारद्योतक प्रवृत्तियाँ नहीं करना चाहिए। यदि कोई भिक्षु अपने वचन या व्यवहार पर नियंत्रण न रख कर ऐसी प्रवृत्ति करता है तो वह संयमसाधना से च्युत हो जाता है और सूत्रोक्त प्रायश्चित्त का पात्र बनता है।

तेरहवें उद्देशक में ऐसे ही चार सूत्रों से गृहस्थ की आसातना करने के प्रायश्चित्त कहे गए हैं। इनमें प्रथम तीन सूत्रों में वचन सम्बन्धी आसातनाओं के प्रायश्चित्तों का कथन करके चौथे सूत्र में अन्य सभी प्रकार की आसातनाओं का प्रायश्चित्तों का कथन किया गया है।

सचित्त आंब-उपभोग सम्बन्धी प्रायश्चित्त—

५. जे भिक्खू सचित्तं अंबं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ।

६. जे भिक्खू सचित्तं अंबं विडंसइ, विडंसंतं वा साइज्जइ।

७. जे भिक्खू सचित्त-पइट्ठियं अंबं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ।

८. जे भिक्खू सचित्त-पइट्ठियं अंबं विडंसइ, विडंसंतं वा साइज्जइ।

९. जे भिक्खू सचित्तं-१. अंबं वा, २. अंब-पेसिं वा, ३. अंब-भित्तं वा, ४. अंब-सालगं वा, ५. अंबडगलं वा, ६. अंबचोयगं वा भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ।

१०. जे भिक्खू सचित्तं अंबं वा जाव अंबचोयगं वा विडंसइ विडंसंतं वा साइज्जइ।

११. जे भिक्खू सचित्त-पइट्ठियं अंबं वा जाव अंबचोयगं वा भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ।

१२. जे भिक्खू सचित्त-पइट्ठियं अंबं वा जाव अंबचोयगं वा विडंसइ, विडंसंतं वा साइज्जइ।

५. जो भिक्षु सचित्त आम खाता है या खाने वाले का अनुमोदन करता है।

६. जो भिक्षु सचित्त आम चूसता है या चूसने वाले का अनुमोदन करता है।

७. जो भिक्षु सचित्त-प्रतिष्ठित आम खाता है या खाने वाले का अनुमोदन करता है।

८. जो भिक्षु सचित्त-प्रतिष्ठित आम चूसता है या चूसने वाले का अनुमोदन करता है।

९. जो भिक्षु सचित्त १. आम को, २. आम की फांक को ३. आम के अर्द्धभाग को, ४. आम के छिलके को (अथवा आम के रस को), ५. आम के गोल टुकड़े को, ६. आम की केसराओं को (अथवा आम के छिलके को) खाता है या खाने वाले का अनुमोदन करता है।

१०. जो भिक्षु सचित्त आम को यावत् आम की केसराओं को चूसता है या चूसने वाले का अनुमोदन करता है।

११. जो भिक्षु सचित्त-प्रतिष्ठित आम को यावत् आम की केसराओं को खाता है या खाने वाले का अनुमोदन करता है।

१२. जो भिक्षु सचित्त-प्रतिष्ठित आम को यावत् आम की केसराओं को चूसता है या चूसने वाले का अनुमोदन करता है। [उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।]

विवेचन—इन सूत्रों में सचित्त आम्र फल खाने का प्रायश्चित्त कहा है। यहां भाष्यकार ने उपलक्षण से अन्य सभी प्रकार के सचित्त फलों के खाने का प्रायश्चित्त भी इन सूत्रों से समझ लेने का सूचित किया है।

प्रथम सूत्रचतुष्टय में अखण्ड आम के खाने या चूसने का प्रायश्चित्त कहा है तथा द्वितीय सूत्रचतुष्टय में उसके विभागों [खंडों] को खाने या चूसने का प्रायश्चित्त कहा है। इस सूत्रचतुष्टय में पुनः 'अंबं वा' पाठ आया है जो चूर्णिकार के सामने भी था किन्तु आचा. श्रु. २ अ. ६ उ. २ में पुनः अंब शब्द का प्रयोग नहीं है। अन्य शब्दों के क्रम में भी दोनों आगमों में अन्तर है।

निशीथसूत्र में	आचारांगसूत्र में
१. अंबं	१. अंबं भित्तं
२. अंबं पेसिं	२. अंबं पेसिं
३. अंबभित्तं	३. अंबचोयगं
४. अंबसालगं	४. अंबसालगं
५. अंबडगलं	५. अंबडगलं
६. अंबचोयग	—

दोनों आगमों में कुछ शब्दों की व्याख्या भी भिन्न-भिन्न है—

आचारांग में	निशीथ में
अंबसालग = आम्र का रस	आम्र की छाल
अंबचोयग = आम्र की छाल	आम्र की केसरा

पुन: आये 'अंबं' शब्द के अनेक अर्थों की चूर्णिकार ने इस प्रकार कल्पना की है—

१. अखंड आम्र, किंचित् भी खंडित नहीं।
२. प्रथम सूत्रचतुष्क में बद्धस्थिक आम्र है, द्वितीयसूत्र चतुष्क में अबद्धस्थिक आम्र है।
३. प्रथम चतुष्क में अखंडित आम्र है, द्वितीय चतुष्क में खंडित आम्र है।
४. प्रथम चतुष्क में अविशिष्ट [सामान्य] कथन है, द्वितीय चतुष्क में विशिष्ट कथन है।

इत्यादि विकल्पों को देखने से यही लगता है कि आचारांग का पाठ शुद्ध है और उनके अर्थ भी संगत प्रतीत होते हैं। निशीथ में संभव है कि लिपि-प्रमाद से "अंबं" शब्द दूसरी बार आ गया है।

इन सूत्रों में सचित्त आम्र व आम्र-विभागों के खाने का अथवा चूसने का तथा सचित्त प्रतिबद्ध [गुठली युक्त] को खाने का प्रायश्चित्त कहा है। अत: आम्र अचित्त हो और गुठली निकाल दी गई हो तो वैसे आम्र खाने या चूसने का प्रायश्चित्त नहीं है।

खाने का तात्पर्य है दांतों से चबाना तथा चूसने का अर्थ है दांतों से बिना चबाये मुख में रस खींच कर निगलना।

आम्रवन में ठहरने का व आम्र खाने आदि का विशेष वर्णन आचा. श्रु. २ अ. ७ उ. २ में देखें।

गृहस्थ से शरीर का परिकर्म कराने का प्रायश्चित्त—

१३ से ६६. जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो पाए आमज्जावेज्ज वा पमज्जावेज्ज वा, आमज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ एवं तइय उद्देसग गमेणं णेयव्वं जाव जे भिक्खू गामाणुगामं दुइज्जमाणे अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो सीसदुवारियं कारेइ कारेंतं वा साइज्जइ।

१३ से ६६. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ से अपने पांवों का एक बार या अनेक बार "आमर्जन" करवाता है या करवाने वाले का अनुमोदन करता है। इस प्रकार तीसरे उद्देशक के

[सूत्र १६ से ६९] के समान पूरा आलापक जानना यावत् जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ से ग्रामानुग्राम विहार करते हुए अपना मस्तक ढँकवाता है या ढँकवाने वाले का अनुमोदन करता है। [उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।]

विवेचन—भिक्षु यदि गृहस्थ से शारीरिक परिचर्या करावे तो उसे सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है। यहां ५४ सूत्रों का विवेचन तीसरे उद्देशक के समान समझें।

अकल्पनीय स्थानों पर मल-मूत्र-परिष्ठापन का प्रायश्चित्त—

६७. जे भिक्खू आगंतागारंसि वा, आरामागारंसि वा, गाहावइकुलंसि वा, परियावसहंसि वा उच्चार-पासवणं परिट्ठवेइ परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ।

६८. जे भिक्खू उज्जाणंसि वा, उज्जाणगिहंसि वा, उज्जाणसालंसि वा, निज्जाणंसि वा, निज्जाणगिहंसि वा, निज्जाणसालंसि वा उच्चार-पासवणं परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ।

६९. जे भिक्खू अट्टंसि वा, अट्टालयंसि वा, चरियंसि वा, पागारंसि वा, दारंसि वा, गोपुरंसि वा उच्चार-पासवणं परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ।

७०. जे भिक्खू दगमग्गंसि वा, दगपहंसि वा, दगतीरंसि वा दगट्ठाणंसि वा उच्चार-पासवणं परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ।

७१. जे भिक्खू सुन्नगिहंसि वा, सुन्नसालंसि वा, भिन्नगिहंसि वा, भिन्नसालंसि वा, कूडागारंसि वा, कोट्ठागारंसि वा उच्चार-पासवणं परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ।

७२. जे भिक्खू तणगिहंसि वा, तणसालंसि वा, तुसगिहंसि वा, तुससालंसि वा, भुसगिहंसि वा, भुससालंसि वा उच्चार-पासवणं परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ।

७३. जे भिक्खू जाणसालंसि वा, जाणगिहंसि वा, वाहणगिहंसि वा, वाहणसालंसि वा उच्चार-पासवणं परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ।

७४. जे भिक्खू पणियसालंसि वा, पणियगिहंसि वा, परियासालंसि वा, परियागिहंसि वा, कुवियसालंसि वा, कुवियगिहंसि वा उच्चार-पासवणं परिट्ठवेइ परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ।

७५. जे भिक्खू गोणसालंसि वा, गोणगिहंसि वा, महाकुलंसि वा, महागिहंसि वा उच्चार-पासवणं परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ।

६७. जो भिक्षु धर्मशाला में, उद्यान में, गाथापतिकुल में या परिव्राजक के आश्रम में मल-मूत्र का परित्याग करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

६८. जो भिक्षु उद्यान में, उद्यानगृह में, उद्यानशाला में, नगर के बाहर बने हुए स्थान में, नगर के बाहर बने हुए घर में, नगर के बाहर बनी हुई शाला में मल-मूत्र का परित्याग करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

६९. जो भिक्षु चबूतरे पर, अट्टालिका में, चरिका में, प्राकार पर, द्वार में, गोपुर में मल-मूत्र का परित्याग करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

७०. जो भिक्षु जल-मार्ग में, जलपथ में, जलाशय के तीर पर, जलस्थान पर मल-मूत्र का परित्याग करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

७१. जो भिक्षु शून्य गृह में, शून्य शाला में, टूटे घर में, टूटी शाला में, कूटागार में, कोष्ठागार में मल-मूत्र का परित्याग करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

७२. जो भिक्षु तृण-गृह में, तृणशाला में, तुस-गृह में, तुसशाला में, भुस-गृह में भुसशाला में मल-मूत्र का परित्याग करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

७३. जो भिक्षु यानशाला में, यानगृह मे, वाहन-शाला में, वाहन गृह में मल-मूत्र का परित्याग करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

७४. जो भिक्षु विक्रयशाला में या विक्रयगृह में, परिव्राजकशाला में या परिव्राजक-गृह में, चूना आदि बनाने की शाला में या गृह में मल-मूत्र का परित्याग करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

७५. जो भिक्षु बैल-शाला में या बैल-गृह में, महाकुल में या महागृह में मल-मूत्र का परित्याग करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है। [उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।]

विवेचन—इन नौ सूत्रों मे ४६ स्थानो का कथन है। इन स्थानो में कुछ स्थान व्यक्तिगत हैं और कुछ सार्वजनिक स्थान है। इन स्थानो के स्वामी या रक्षक भी होते है। ऐसे स्थानों में मल-मूत्र त्यागने का सर्वथा निषेध होता है। इसलिए ऐसे स्थानों में मल-मूत्र त्यागने से भिक्षु के तीसरे महाव्रत में दोष लगता है और जानकारी होने पर उस साधु की असभ्यता एवं मूर्खता प्रगट होती है, साथ ही समस्त साधुओं एवं संघ की निंदा होती है। किसी के कुपित होने पर उस साधु के साथ अनेक प्रकार के अशिष्ट व्यवहार भी हो सकते है।

अतः भिक्षु को सूत्रोक्त स्थानों पर मल-मूत्र का त्याग नहीं करना चाहिए।

इनमें से यदि कोई सार्वजनिक स्थान जनता के मल-मूत्र त्यागने का बन चुका है तो उस स्थान पर भिक्षु को विधिपूर्वक मल-मूत्र त्याग करने पर कोई प्रायश्चित्त नहीं आता है।

इनमें से यदि किसी व्यक्तिगत स्थान के स्वामी ने भिक्षुओं को उसमें मल-मूत्र त्यागने की आज्ञा दे दी हो तो जीव आदि से रहित योग्य भूमि में भिक्षु विवेक पूर्वक मल-मूत्र परठ सकता है। उस आज्ञाप्राप्त स्थान में मल-मूत्र परठने पर सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नही आता है।

तीसरे उद्देशक में भी कई स्थलों पर मल-मूत्र परठने सम्बन्धी प्रायश्चित्त का कथन है। वहां भी इसी आशय से प्रायश्चित्त कहे गए हैं।

ऐसे स्थलों में यद्यपि मल-मूत्रसूचक "उच्चार-प्रस्रवण" इन दोनों शब्दों का प्रयोग है

तथापि मुख्यता उच्चार [मल] की ही समझनी चाहिये। इस विषय का स्पष्टीकरण उद्देशक ३-४ में किया गया है।

मलपरित्याग के लिये सामान्य रूप से भिक्षु को ग्रामादि के बाहर आवागमन रहित अदृष्ट स्थान में जाने का विधान है। किन्तु प्रस्रवण के लिये दिन में या रात्रि में भिक्षुओं को ग्रामादि के बाहर जाने का कहीं विधान नहीं है। वे जहां ठहरते हैं वहीं निर्दोष परिष्ठापन भूमि रहती है, उसी में मूत्रादि का परित्याग कर सकते हैं।

यदि भिक्षु के ठहरने के स्थान से संलग्न परिष्ठापनभूमि नहीं है तो दशवै. अ. ८ तथा आचा. श्रु. २ अ. २ के अनुसार वह स्थान भिक्षु के ठहरने योग्य नहीं है।

सामान्य सद्‌गृहस्थ को भी यदि कही कुछ दिन के लिये ठहरना पड़ता है तो वह भी मल-मूत्र से निवृत्त होने का स्थान आस-पास में कहीं हो, वहां ठहरना चाहता है।

संयम-साधना-रत भिक्षु के तो पांचवी परिष्ठापनिकासमिति है, अतः उसे ठहरने के पहले ही परिष्ठापन योग्य भूमि को अवश्य देखना चाहिए।

निशीथ की कुछ प्रतियों में "जाणगिहंसि" के बाद "जुग्गसालंसि" पाठ मिलता है किन्तु चूर्णि के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि "जुग्ग" तो 'जाण' का ही एक प्रकार है और उसके बाद "वाहण" शब्द से घोड़े आदि की शाला और गृह ऐसा अर्थ किया गया है।

यथा—जुगादि जाणाण अकुड्डा साला, सकुड्डं गिहं। अस्सादिया वाहणा, तार्ण साला गिहं वा। —चूर्णि ॥

युग्य आदि यानों के भित्ति रहित स्थान को 'शाला' कहते हैं और भित्ति सहित स्थान को 'गृह' कहते हैं। अश्व आदि को वाहन कहते हैं, उनके रहने के 'शाला' और 'गृह' को 'वाहनशाला' और 'वाहनगृह' कहते हैं। इस व्याख्या के अनुसार ही यहां मूल पाठ स्वीकार किया गया है।

सूत्र ६७ में परिव्राजकों के आश्रम का कथन है और सूत्र ७४ में परिव्राजकशाला और परिव्राजकगृह का कथन है। परिव्राजकों के स्थायी निवास करने का स्थान आश्रम कहा जाता है और मार्ग में विश्रान्ति हेतु ठहरने के लिए बना हुआ स्थान शाला या गृह कहा जाता है, ऐसा समझना चाहिए। कदाचित् सम्भव है लिपिदोष से "पणिय" से परिया होकर अधिक पाठ हो गया है, इस विषय का आठवें उद्देशक में स्पष्टीकरण किया गया है।

गृहस्थ को आहार देने का प्रायश्चित्त—

७६. जे भिक्खू अन्नउत्थियस्स वा, [illegible] वा असणं वा पाणं [illegible] । साइमं वा देइ, देंतं वा साइज्जइ। [illegible]

सामायिक के समय भी वाणिज्य एवं खेती आदि के सभी सावद्य कार्य उसके स्वामित्व में ही होते रहते है। अतः किसी भी गृहस्थ को अशनादि देने पर सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है।

आहार देने वाला गृहस्थ संयमसाधना में सहयोग करने के लिये ही भिक्षु को भावपूर्वक आहार देता है। इसलिए वह आहार अन्य किसी को देने पर जिनाज्ञा एवं गृहस्थ की आज्ञा न होने से तीसरा महाव्रत दूषित होता है।

आहार दाता गृहस्थ को यह ज्ञात हो जाए कि 'मेरा दिया हुआ आहार साधु ने अमुक को दिया है' तो उसकी साधुओं के प्रति अश्रद्धा होती है और दान भावना में भी कमी आ जाती है।

कभी दाता की या भिक्षु की असावधानी से सचित्त आहार-पानी या अकल्पनीय आहारादि पदार्थ ग्रहण कर लिया गया हो तो शीघ्र ही उसी गृहस्थ को पुनः दे देना चाहिए। ऐसा विधान आचा. श्रु. २ अ. १ उ. १० तथा अ. ६ उ. २ में है।

पार्श्वस्थ आदि के साथ आहार का देन-लेन करने का प्रायश्चित्त—

७७. जे भिक्खू पासत्थस्स असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा देइ, देंतं वा साइज्जइ।

७८. जे भिक्खू पासत्थस्स असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ।

७९. जे भिक्खू ओसण्णस्स असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा देइ, देंतं वा साइज्जइ।

८०. जे भिक्खू ओसण्णस्स असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ।

८१. जे भिक्खू कुसीलस्स असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा देइ, देंतं वा साइज्जइ।

८२. जे भिक्खू कुसीलस्स असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ।

८३. जे भिक्खू संसत्तस्स असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा देइ, देंतं वा साइज्जइ।

८४. जे भिक्खू संसत्तस्स असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ।

८५. जे भिक्खू णितियस्स असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा देइ, देंतं वा साइज्जइ।

८६. जे भिक्खू णितियस्स असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ।

७७. जो भिक्षु पार्श्वस्थ को अशन, पान, खादिम या स्वादिम आहार देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

७८. जो भिक्षु पार्श्वस्थ से अशन, पान, खादिम या स्वादिम आहार लेता या लेने वाले का अनुमोदन करता है।

७९. जो भिक्षु अवसन्न को अशन, पान, खादिम या स्वादिम आहार देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

८०. जो भिक्षु अवसन्न से अशन, पान, खादिम या स्वादिम आहार लेता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है।

८१. जो भिक्षु कुशील को अशन, पान, खादिम या स्वादिम आहार देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

८२. जो भिक्षु कुशील से अशन, पान, खादिम या स्वादिम आहार लेता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है।

८३. जो भिक्षु संसक्त को अशन, पान, खादिम या स्वादिम आहार देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

८४. जो भिक्षु संसक्त से अशन, पान, खादिम या स्वादिम आहार लेता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है।

८५. जो भिक्षु नित्यक को अशन, पान, खादिम या स्वादिम आहार देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

८६. जो भिक्षु नित्यक से अशन, पान, खादिम या स्वादिम आहार लेता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—गृहस्थ को आहार देने पर उसके सावद्य जीवन का अनुमोदन होता है। उसी का पूर्व सूत्र ७६ में प्रायश्चित्त कहा गया है। पार्श्वस्थ आदि भिक्षुओं को आहार देने पर उनके एषणा दोषों का या अन्य दूषित प्रवृत्तियों का अनुमोदन होता है तथा पार्श्वस्थ आदि से आहार लेने में उद्गम आदि दोष युक्त आहार का सेवन होता है। अतः इनसे आहार लेने-देने का प्रायश्चित्त इन १० सूत्रों में कहा गया है।

पार्श्वस्थ आदि का स्वरूप चौथे उद्देशक के विवेचन में कहा जा चुका है।

पार्श्वस्थ आदि पांचों सूत्रों का क्रम यहां चौथे उद्देशक के समान है, किन्तु १३वें उद्देशक में कुछ व्युत्क्रम हुआ है, जो लिपिदोष से होना संभव है।

पार्श्वस्थादि को आहार देने-लेने से संसर्ग-वृद्धि होने पर क्रमशः संयम दूषित होता रहता है। अतः भिक्षु को शुद्ध संयमी सांभोगिक साधुओं के साथ ही आहार का आदान-प्रदान करना चाहिये, अन्य के साथ नहीं।

गृहस्थ को वस्त्रादि देने का प्रायश्चित्त—

८७. जे भिक्खू अण्णउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा वत्थं वा, पडिग्गहं वा, कंबलं वा, पायपुंछणं वा देइ, देंतं वा साइज्जइ।

८७. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक को या गृहस्थ को वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोंछन देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता।)

विवेचन—सूत्र ७६ के समान इसका भी विवेचन जानना चाहिए। अतर इतना ही है कि वहां आहार का कथन है, यहां वस्त्रादि का कथन है। भिक्षु गृहस्थ से आहार, वस्त्र आदि ग्रहण कर सकता है, किन्तु स्वीकार किये गये वस्त्र आदि को उसे किसी भी गृहस्थ को देना नहीं कल्पता है।

पार्श्वस्थ आदि के साथ वस्त्रादि के आदान-प्रदान करने का प्रायश्चित्त—

८८. जे भिक्खू पासत्थस्स वत्थं वा, पडिग्गहं वा, कंबलं वा, पायपुंछणं वा देइ, देंतं वा साइज्जइ।

८९. जे भिक्खू पासत्थस्स वत्थं वा, पडिग्गहं वा, कंबलं वा, पायपुंछणं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ।

९०. जे भिक्खू ओसण्णस्स वत्थं वा, पडिग्गहं वा, कंबलं वा, पायपुंछणं वा देइ, देंतं वा साइज्जइ।

९१. जे भिक्खू ओसण्णस्स वत्थं वा, पडिग्गहं वा, कंबलं वा, पायपुंछणं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ।

९२. जे भिक्खू कुसीलस्स वत्थं वा, पडिग्गहं वा, कंबलं वा, पायपुंछणं वा देइ देंतं वा साइज्जइ।

९३. जे भिक्खू कुसीलस्स वत्थं वा, पडिग्गहं वा, कंबलं वा, पायपुंछणं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ।

९४. जे भिक्खू संसत्तस्स वत्थं वा, पडिग्गहं वा, कंबलं वा, पायपुंछणं वा देइ, देंतं वा साइज्जइ।

९५. जे भिक्खू संसत्तस्स वत्थं वा, पडिग्गहं वा, कंबलं वा, पायपुंछणं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ।

९६. जे भिक्खू णितियस्स वत्थं वा, पडिग्गहं वा, कंबलं वा पायपुंछणं वा देइ, देंतं व साइज्जइ।

९७. जे भिक्खू णितियस्स वत्थं वा, पडिग्गहं वा, कंबलं वा, पायपुंछणं वा पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ।

८८. जो भिक्षु पार्श्वस्थ को वस्त्र, पात्र, कंबल या पादप्रोंछन देता है या देने वाले क अनुमोदन करता है।

८९. जो भिक्षु पार्श्वस्थ का वस्त्र, पात्र, कंबल या पादप्रोंछन लेता है या लेने वाले क अनुमोदन करता है।

९०. जो भिक्षु अवसन्न को वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोंछन देता है या देने वाले क अनुमोदन करता है।

९१. जो भिक्षु अवसन्न का वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोंछन लेता है या लेने वाले का अनु मोदन करता है।

९२. जो भिक्षु कुशील को वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोंछन देता है या देने वाले क अनुमोदन करता है।

९३. जो भिक्षु कुशील का वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोंछन लेता है या लेने वाले का अनु- मोदन करता है।

९४. जो भिक्षु संसक्त को वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोंछन देता है या देने वाले का अनु- मोदन करता है।

९५. जो भिक्षु संसक्त का वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोंछन लेता है या लेने वाले का अनु- मोदन करता है।

९६. जो भिक्षु नित्यक को वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोंछन देता है या देने वाले का अनु- मोदन करता है।

९७. जो भिक्षु नित्यक का वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोंछन लेता है या लेने वाले का अनु- मोदन करता है (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—पार्श्वस्थ आदि के साथ आहार के समान वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों का लेन-देन भी सुविहित साधु को नहीं कल्पता है। शेष विवेचन पूर्ववत् जानना चाहिये।

गवेषणा किये बिना वस्त्र ग्रहण करने का प्रायश्चित्त—

९८. जे भिक्खू जायणा-वत्थं वा, णिमंतणा-वत्थं वा अजाणिय, अपुच्छिय, अगवेसिय पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ ।

से य वत्थे चउण्हं, अण्णयरे सिया, तंजहा—

१. णिच्च-णियंसणिए, २. मज्जणिए, ३. छण्णूसविए, ४. रायदुवारिए ।

९८. जो भिक्षु याचित-वस्त्र तथा निमंत्रित-वस्त्र को जाने बिना, पूछे बिना, गवेषणा किए बिना लेता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

वह वस्त्र चार प्रकार के वस्त्रों में से किसी भी प्रकार का हो सकता है, यथा—

१. नित्य काम में आने वाला वस्त्र,

२. स्नान के समय पहना जाने वाला वस्त्र,

३. उत्सव में जाने के समय पहनने योग्य वस्त्र,

४. राजसभा में जाते समय पहनने योग्य वस्त्र ।

(उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है ।)

विवेचन—सूत्र में वस्त्र की प्राप्ति दो प्रकार से कही गई है—

१. भिक्षु के द्वारा याचना किये जाने पर कि "हे गृहपति ! आपके पास हमारे लिए कल्पनीय कोई वस्त्र है ?"

२. भिक्षु के पूछे बिना ही गृहस्थ स्वतः निमंत्रण करे कि "हे मुनि ! आपको कोई वस्त्र की आवश्यकता हो तो मेरे पास अमुक वस्त्र है, कृपया लीजिए ।"

इस प्रकार के 'याचना-वस्त्र = याचना से प्राप्त' और "निमत्रण-वस्त्र = निमंत्रण पूर्वक प्राप्त" वस्त्र कहे गये हैं ।

वस्त्र गृहस्थ के किन-किन उपयोग में आने वाले होते है, इसका इस सूत्र में चार प्रकारों में कथन किया गया है । इन चार प्रकारों में गृहस्थ के सभी वस्त्रों का समावेश हो जाता है ।

१. नित्य उपयोग में आने वाले—बिछाने, पहनने, ओढने आदि किसी भी काम में आने वाले वस्त्रों का इसमें समावेश किया गया है । उसमें से जो भिक्षु के लिए कल्पनीय और उपयोगी हों उन्हें वह ग्रहण कर सकता है ।

२. स्नान के समय—इसका समावेश प्रथम प्रकार में हो सकता है, फिर भी कुछ समय के लिये ही वे वस्त्र काम में लेकर रख दिये जाते हैं, दिन भर नही पहने जाते । अथवा स्नान भी कोई सदा न करके कभी-कभी कर सकता है, अतः इन्हें अलग सूचित किया है । इसके साथ चूर्णिकार ने मंदिर जाते समय पहने जाने वाले वस्त्र भी ग्रहण किये हैं । वे भी अल्प समय पहन कर रख दिये जाते हैं । अतः इस विकल्प में अन्य भी अल्प समय में उपयोग में आने वाले वस्त्रों को समझ लेना चाहिये ।

३. महोत्सव—त्योहार, उत्सव, मेले, विवाह आदि विशेष प्रसंगों पर उपयोग में लिये जाने वाले वस्त्रों को तीसरे भेद में कहा है,

४. राजसभा—राजा की सभा में या कहीं भी राजा के पास जाने के समय पहने जाने वाले वस्त्रों को चौथे भेद में कहा गया है।

इनमें से किसी प्रकार के वस्त्र को ग्रहण करना हो तो भिक्षु उस वस्त्र के विषय में पृच्छादि करके यह जानकारी कर ले कि यह वस्त्र किसी भी उद्‌गम आदि दोष से युक्त तो नहीं है, पूर्ण रूप से निर्दोष है? ऐसी जानकारी करके ही उसे ग्रहण करे। बिना जानकारी किये लेने पर स्थापना, अभिहृत, क्रीत, अनिसृष्ट आदि अनेक दोषों के लगने की संभावना रहती है। औद्देशिक या पश्चात्‌-कर्म दोष भी लग सकता है। अतः ये चारों प्रकार के वस्त्र याचना प्राप्त हों या निमंत्रणा से प्राप्त हों तो इनके संबंध में आवश्यक पृच्छादि-गवेषणा न करने का इस सूत्र में प्रायश्चित्त कहा गया है। इसलिए भिक्षु को वस्त्र के संबंध में सावधानी पूर्वक गवेषणा करनी चाहिए। वस्त्र के कथन से अन्य भी पात्र आदि उपकरणों के संबंध में गवेषणा करने की आवश्यकता और प्रायश्चित्त समझ लेना चाहिए।

विभूषार्थ शरीर के परिकर्म करने का प्रायश्चित्त—

९९-१५२. जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो पाए आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ एवं तइय उद्देसग गमेण णेयव्वं जाव जे भिक्खू विभूसावडियाए गामाणुगामं दूइज्जमाणे अप्पणो सीसदुवारियं करेइ करेंतं वा साइज्जइ।

९९-१५२. जो भिक्षु विभूषा के लिये अपने पाँवों का एक बार या बार-बार "मार्जन" करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है, इस प्रकार तीसरे उद्देशक के (सूत्र १६ से ६९ तक के) समान पूरा आलापक जानना यावत् जो भिक्षु विभूषा के लिये ग्रामानुग्राम विहार करते समय अपने मस्तक को ढंकता है या ढंकने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—उद्देशक तीन के समान इन ५४ सूत्रों का विवेचन समझ लेना चाहिए। यहाँ विभूषा के विचारों से ये कार्य करने पर लघुचौमासी प्रायश्चित्त कहा गया है, इतना ही अंतर है।

विभूषा हेतु उपकरण धारण एवं प्रक्षालन का प्रायश्चित्त—

१५३. जे भिक्खू विभूसावडियाए वत्थं वा, पडिग्गहं वा, कंबलं वा, पायपुंछणं वा अण्णयरं वा उवगरणजायं धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ।

१५४. जे भिक्खू विभूसावडियाए वत्थं वा, पडिग्गहं वा, कंबलं वा, पायपुंछणं वा अण्णयरं वा उवगरणजायं धोवेइ, धोवेंतं वा साइज्जइ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं।

१५३. जो भिक्षु विभूषा के संकल्प से वस्त्र, पात्र, कंबल, पादप्रोंछन या अन्य कोई भी उपकरण रखता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है।

१५४. जो भिक्षु विभूषा के संकल्प से वस्त्र, पात्र, [illegible] [illegible]छन या अन्य कोई भी [illegible] धोता है या धोने वाले का [illegible] करता है।

इन १५४ सूत्रों में कहे गये स्थानों को सेवन करने वाले को लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन—भिक्षु वस्त्र, पात्र आदि उपकरण संयमनिर्वाह के लिये रखता है और उपयोग में लेता है। दशवैकालिकसूत्र अ. ६ गा. २० में कहा है—

जंपि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं।
तं पि संजम-लज्जट्ठा, धारंति परिहरंति य॥

प्रश्नव्याकरणसूत्र श्रु. २ अ. १ तथा ५ में कहा है—

एयं पि संजमस्स उववूहणट्ठयाए वायातवदंसमसग सीय परिरक्खणट्ठयाए उवगरणं रागदोसरहियं परिहरियव्वं संजएणं।

भावार्थ—संयम निर्वाह के लिए, लज्जा निवारण के लिये, गर्मी, सर्दी, हवा, डांस, मच्छर आदि से शरीर के संरक्षण के लिए भिक्षु वस्त्रादि धारण करे या उपयोग में ले। इस प्रकार उपकरणों को रखने का प्रयोजन आगमों में स्पष्ट है। किन्तु भिक्षु यदि विभूषा के लिये, शरीर आदि की शोभा के लिये अर्थात् अपने को सुन्दर दिखाने के लिये अथवा निष्प्रयोजन किसी उपकरण को धारण करता है तो उसे १५३वें सूत्र के अनुसार प्रायश्चित्त आता है।

१५४वें सूत्र में विभूषावृत्ति से अर्थात् सुन्दर दिखने के लिये यदि भिक्षु वस्त्रादि उपकरणों को धोवे या सुसज्जित करे तो उसका प्रायश्चित्त कहा है।

इन दोनों सूत्रों से यह भी स्पष्ट है कि भिक्षु बिना विभूषा वृत्ति के किसी प्रयोजन से वस्त्रादि उपकरण रखे या उन्हें धोवे तो सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नहीं आता है अर्थात् भिक्षु संयम के आवश्यक उपकरण रख सकता है और उन्हें आवश्यकतानुसार धो भी सकता है, किन्तु धोने में विभूषा के भाव नहीं होने चाहिये।

यदि पूर्ण रूप से भिक्षु को वस्त्र आदि धोना अकल्पनीय ही होता तो उसका प्रायश्चित्त कथन अलग प्रकार से होता किन्तु सूत्र में विभूषावृत्ति से ही धोने का ही प्रायश्चित्त कहा है।

शरीर परिकर्म संबंधी ५४ सूत्र अनेक उद्देश्यकों में आये हैं किन्तु यहां विभूषावृत्ति के प्रकरण में ५६ सूत्र कहे गये हैं। अतः इसी सूत्र से भिक्षु का वस्त्रप्रक्षालन विहित है। विशिष्ट अभिग्रह प्रतिमा धारण करने वालों की अपेक्षा आचा. श्रु. १ अ. ८ उ. ४-५-६ में वस्त्रप्रक्षालन का निषेध है। ऐसा वहां के वर्णन से भी स्पष्ट हो जाता है।

इस उद्देशक में विभूषा के संकल्प से शरीर-परिकर्मों का और उपकरण रखने तथा धोने का प्रायश्चित्त कहा गया है। अन्य आगमों में भी भिक्षु के लिए विभूषावृत्ति का विभिन्न प्रकार से निषेध किया गया है—

१. दश. अ. ३ गा. ९ में विभूषा करने को अनाचार कहा है।

२. दश. अ. ६ गा. ६५ से ६७ तक में कहा है कि—"नग्नभाव एवं मुंडभाव स्वीकार करने वाले, बाल एवं नख का संस्कार न करने वाले तथा मैथुन से विरत भिक्षु को विभूषा से प्रयोजन ही क्या है? अर्थात् ऐसे भिक्षु को विभूषा करने का कोई प्रयोजन ही नहीं है। फिर भी जो भिक्षु विभूषा-

वृत्ति करता है वह चिकने कर्मों का बंध करता है, जिससे वह घोर एवं दुस्तर संसार-सागर में गिरता है।"

"केवल विभूषा के विचारों को भी ज्ञानी, प्रवृत्ति के समान ही कर्मबन्ध एवं संसार का कारण मानते हैं। इस विभूषावृत्ति से अनेक सावद्य प्रवृत्तियाँ होती हैं। यह षट्काय-रक्षक मुनि के आचरण योग्य नहीं है।"

३. दश. अ. ८ गा. ५७ में संयम के लिए विभूषावृत्ति को तालपुट विष की उपमा दी गई है।

४. उत्तरा. अ. १६ में कहा है कि—

'जो भिक्षु विभूषा के लिए प्रवृत्ति करता है वह निर्ग्रन्थ नहीं है, अतः भिक्षु को विभूषा नहीं करनी चाहिए।

भिक्षु विभूषा और शरीर-परिमंडन का त्याग करे तथा ब्रह्मचर्यरत भिक्षु शृंगार के लिए वस्त्रादि को भी धारण न करे।'

इन आगम स्थलों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मचर्य के लिये विभूषावृत्ति सर्वथा अहितकर है, कर्मबंध का कारण है तथा प्रायश्चित्त के योग्य है। अतः भिक्षु विभूषा के संकल्पों का त्याग करे अर्थात् शारीरिक शृंगार करने का एवं उपकरणों को सुन्दर दिखाने का प्रयत्न न करे। उपकरणों को संयम की और शरीर की सुरक्षा के लिए ही धारण करे एवं आवश्यक होने पर ही उनका प्रक्षालन करे।

पन्द्रहवें उद्देशक का सारांश—

१-४	परुष वचन आदि से अन्य भिक्षु की आसातना करना,
५-१२	सचित्त आम्र या उनके खंड आदि खाना,
१३-६६	गृहस्थ से अपना काय-परिकर्म करवाना,
६७-७५	अकल्पनीय स्थानों में मल-मूत्र परठना,
७६-९७	गृहस्थ को आहार-वस्त्रादि देना, पार्श्वस्थादि से आहार-वस्त्रादि का लेन-देन करना।
९८	वस्त्र ग्रहण करने में उद्गम आदि दोषों के परिहार के योग्य पूर्ण गवेषणा न करना,
९९-१५२	विभूषा के संकल्प से शरीर-परिकर्म के ५४ सूत्रोक्त कार्य करना,
१५३	विभूषा के संकल्प से वस्त्रादि उपकरण रखना,
१५४	विभूषा के संकल्प से वस्त्रादि उपकरणों को धोना,
	इत्यादि प्रवृत्तियों का लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

इस उद्देशक के १२७ सूत्रों के विषयों का कथन निम्न आगमों में है, यथा—

५-१२	सचित्त आम्र आदि खाने का निषेध,	—आ. श्रु. २ अ. ७ उ. २
१३-६६	गृहस्थ से शरीर-परिकर्म करवाने का निषेध,	—आ. श्रु. २ अ. १३

६७-७५ अकल्पनीय स्थानों में मल-मूत्र परठने का निषेध, —आचा. श्रु. २ अ. १०
९९-१५४ विभूषा के संकल्पों का तथा प्रवृत्तियों का निषेध, —उत्तरा. अ. १६ तथा
—दशवै. अ. ३ अ. ६ अ. ८

इस उद्देशक के २७ सूत्रों के विषयों का कथन अन्य आगमों में नहीं है, यथा—

१-४ सामान्य साधु साध्वियों की भी आशातना नही करना।
७६-९७ गृहस्थ को आहार-वस्त्रादि न देना तथा आहार एवं वस्त्रादि का लेन-देन पार्श्वस्थादि से नहीं करना।
९८ याचना-वस्त्र या निमंत्रण-वस्त्र के उद्गमादि दोषों की गवेषणा न करना।

इन विषयों के कुछ संकेत निम्नांकित आगमों में मिलते हैं, यथा—कुशील के साथ संसर्ग करने का निषेध—सूय. श्रु. १ अ. ९ गा. २८ में है। दूसरे भिक्षुओं को अप्रियवचन कहने का निषेध—दशवै. अ. १० गा. १८ में है। सामान्य रूप से उद्गम आदि दोषों की गवेषणा का विधान उत्तरा. अ. २४ तथा दशवै. अ. ५ में है।

॥ पन्द्रहवां उद्देशक समाप्त ॥

वृत्ति करता है वह चिकने कर्मों का बंध करता है, जिससे वह घोर एवं दुस्तर संसार-सागर में गिरता है।"

"केवल विभूषा के विचारों को भी ज्ञानी, प्रवृत्ति के समान ही कर्मबन्ध एवं संसार का कारण मानते हैं। इस विभूषावृत्ति से अनेक सावद्य प्रवृत्तियां होती हैं। यह षट्काय-रक्षक मुनि के आचरण योग्य नहीं है।"

३. दश. अ. ८ गा. ५७ में संयम के लिए विभूषावृत्ति को तालपुट विष की उपमा दी गई है।

४. उत्तरा. अ. १६ में कहा है कि—

'जो भिक्षु विभूषा के लिए प्रवृत्ति करता है वह निर्ग्रन्थ नहीं है, अतः भिक्षु को विभूषा नहीं करनी चाहिए।

भिक्षु विभूषा और शरीर-परिमंडन का त्याग करे तथा ब्रह्मचर्यरत भिक्षु शृंगार के लिए वस्त्रादि को भी धारण न करे।'

इन आगम स्थलों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मचर्य के लिये विभूषावृत्ति सर्वथा अहितकर है, कर्मबंध का कारण है तथा प्रायश्चित्त के योग्य है। अतः भिक्षु विभूषा के संकल्पों का त्याग करे अर्थात् शारीरिक शृंगार करने का एवं उपकरणों को सुन्दर दिखाने का प्रयत्न न करे। उपकरणों को संयम की और शरीर की सुरक्षा के लिए ही धारण करे एवं आवश्यक होने पर ही उनका प्रक्षालन करें।

पन्द्रहवें उद्देशक का सारांश—

१-४	परुष वचन आदि से अन्य भिक्षु की आसातना करना,
५-१२	सचित्त आम्र या उनके खंड आदि खाना,
१३-६६	गृहस्थ से अपना काय-परिकर्म करवाना,
६७-७५	अकल्पनीय स्थानों में मल-मूत्र परठना,
७६-९७	गृहस्थ को आहार-वस्त्रादि देना, पार्श्वस्थादि से आहार-वस्त्रादि का लेन-देन करना।
९८	वस्त्र ग्रहण करने में उद्गम आदि दोषों के परिहार के योग्य पूर्ण गवेषणा न करना,
९९-१५२	विभूषा के संकल्प से शरीर-परिकर्म के ५४ सूत्रोक्त कार्य करना,
१५३	विभूषा के संकल्प से वस्त्रादि उपकरण रखना,
१५४	विभूषा के संकल्प से वस्त्रादि उपकरणों को धोना,
	इत्यादि प्रवृत्तियों का लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

इस उद्देशक के १२७ सूत्रों के विषयों का कथन निम्न आगमों में है, यथा—

५-१२	सचित्त आम्र आदि खाने का निषेध,	—आ. श्रु. २ अ. ७ उ. २
१३-६६	गृहस्थ से शरीर-परिकर्म करवाने का निषेध,	—आ. श्रु. २ अ. १३

६७-७५ अकल्पनीय स्थानों में मल-मूत्र परठने का निषेध, —आचा. श्रु. २ अ. १०
९९-१५४ विभूषा के संकल्पों का तथा प्रवृत्तियों का निषेध, —उत्तरा. अ. १६ तथा
—दशवै. अ. ३ अ. ६ अ. ८

इस उद्देशक के २७ सूत्रों के विषयों का कथन अन्य आगमों में नहीं है, यथा—

१-४ सामान्य साधु साध्वियों की भी आशातना नहीं करना।
७६-९७ गृहस्थ को आहार-वस्त्रादि न देना तथा आहार एवं वस्त्रादि का लेन-देन पार्श्वस्थादि से नही करना।
९८ याचना-वस्त्र या निमंत्रण-वस्त्र के उद्गमादि दोषों की गवेषणा न करना।

इन विषयों के कुछ संकेत निम्नांकित आगमों में मिलते है, यथा—कुशील के साथ संसर्ग करने का निषेध—सूय. श्रु. १ अ. ९ गा. २८ में है। दूसरे भिक्षुओं को अप्रियवचन कहने का निषेध—दशवै. अ. १० गा. १८ में है। सामान्य रूप से उद्गम आदि दोषों की गवेषणा का विधान उत्तरा. अ. २४ तथा दशवै. अ. ५ में है।

॥ पन्द्रहवां उद्देशक समाप्त ॥

सोलहवां उद्देशक

निषिद्ध शय्या में ठहरने का प्रायश्चित्त—

१. जे भिक्खू सागारियं सेज्जं उवागच्छइ, उवागच्छंतं वा साइज्जइ ।

२. जे भिक्खू सउदगं सेज्जं उवागच्छइ, उवागच्छंतं वा साइज्जइ ।

३. जे भिक्खू सागणियं सेज्जं उवागच्छइ, उवागच्छंतं वा साइज्जइ ।

१. जो भिक्षु गृहस्थ युक्त शय्या में रहता है या रहने वाले का अनुमोदन करता है ।

२. जो भिक्षु पानी युक्त शय्या में रहता है या रहने वाले का अनुमोदन करता है ।

३. जो भिक्षु अग्नि युक्त शय्या में रहता है या रहने वाले का अनुमोदन करता है । [उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है ।]

विवेचन—"ससागारिक सेज्जं=जस्थ इत्थि-पुरिसा वसंति सा सागारिका, इत्थिसागारिगो चउगुरुगा सुत्तणिवातो ।" —चूर्णि ।।

स्त्री-पुरुष जहां रहते हों अथवा जहां अकेली स्त्री रहती हो या केवल स्त्रियां ही रहती हों, यह स्थान "सागारिक शय्या" है । ऐसी शय्या में भिक्षुओं के रहने का इस सूत्र में प्रायश्चित्त कहा है ।

व्याख्याकार ने आभूषण, वस्त्र, आहार, सुगन्धित पदार्थ, वाद्य, नृत्य, नाटक, गीत तथा शयन, आसन आदि से युक्त स्थान को "द्रव्य-सागारिक शय्या" कहा है और स्त्रीयुक्त स्थान को "भाव-सागारिक शय्या" कहा है ।

अथवा जिस शय्या में रहने से सम्भोग के संकल्प उत्पन्न होने की सम्भावना हो, वह "सागारिक शय्या" कही जाती है ।

द्रव्य या भाव सागारिक शय्या में रहने से उन पदार्थों के चिन्तन या प्रेक्षण में तथा उनकी वार्ताओं में समय लग जाता है, जिससे स्वाध्याय, प्रतिलेखन, प्रतिक्रमण आदि संयम समाचारी का परिपालन नहीं हो पाता तथा सांसारिक प्रवृत्तियों का स्मरण तथा संयम भाव में शैथिल्य आ जाने से मोहकर्म का बन्ध एवं संयमविराधना होती है ।

छद्मस्थ साधक के अनुकूल निमित्त मिलने पर कभी भी मोहकर्म का उदय हो सकता है । जिससे वह संयम या ब्रह्मचर्य से विचलित हो सकता है ।

आचा. श्रु. २, अ. २ में स्त्री, बच्चे, पशु तथा आहारादि से युक्त शय्या में ठहरने का निषेध किया है और ऐसी सागारिक शय्या में ठहरने में होने वाले अनेक दोषों का भी कथन किया है ।

अतः भिक्षु द्रव्य एवं भाव सागारिक शय्या का परित्याग करके शुद्ध शय्या की गवेषणा करे। यदि गवेषणा करने पर भी निर्दोष शय्या न मिले तो गीतार्थ की निश्रा में विवेकपूर्वक रहे और सूत्रोक्त प्रायश्चित्त ग्रहण करे।

सउदगं सेज्जं—जहां पर खुले होज में या घड़े आदि में पानी रहता हो वहां ठहरने पर भिक्षु के गमनागमन आदि क्रियाओं से अप्कायिक जीवों की विराधना हो सकती है।

उदय भाव से किसी भिक्षु को उस जल के पीने का संकल्प भी हो सकता है अथवा अन्य लोगों को साधु के जल पीने की आशंका हो सकती है।

बृहत्कल्प सूत्र उ. २ में जहां सम्पूर्ण दिन-रात अचित्त जल के घड़े भरे रहते हों वहां ठहरने का निषेध है और यहां सामान्य रूप से जल पड़ा रहने वाले स्थान में ठहरने का प्रायश्चित्त कहा है।

सागणिय सेज्जं—बृहत्कल्प सूत्र में अग्नि वाली शय्या में ठहरने के दो विकल्प कहे गए हैं—१. चूल्हे भट्टी आदि में जलने वाली अग्नि, २. प्रज्वलित दीपक की अग्नि।

जिस घर में या घर के एक कक्ष में अग्नि जल रही हो या दीपक जलता हो तो वहां भिक्षु न ठहरे क्योंकि वह वहां गमनागमन करेगा या वन्दन, प्रतिलेखन, प्रमार्जन आदि संयम समाचारी के कार्य करेगा तो अग्निकाय की विराधना होने की सम्भावना रहेगी।

शीत निवारण के लिये अग्नि का उपयोग करने पर हिंसा के अनुमोदन का दोष लगेगा।

व्याख्याग्रन्थों में जितने दोषों की कल्पना की गई है, वे प्रायः खुली अग्नि या खुले दीपक से ही सम्बन्धित हैं। वर्तमान में उपलब्ध विद्युत् संचालित दीपक आदि में उन दोषों की सम्भावना नही है, फिर भी प्रकाश के उपयोग से सम्बन्धित दोष तो सम्भवित है ही।

जहां अग्नि या दीपक दिन-रात जलते हों ऐसे स्थान में ठहरने का बृहत्कल्प सूत्र में निषेध है किन्तु यहां सामान्यरूप से प्रज्वलित अग्नि वाली शय्या में ठहरने का प्रायश्चित्त कहा गया है।

आचा. श्रु. २, अ. २, उ. ३ के ही सूत्र में एक साथ सागारिक शय्या, अग्नि वाली शय्या और जल वाली शय्या में ठहरने का निषेध है।

बृहत्कल्प सूत्र उद्देशक २ में अन्य स्थान न मिलने पर भिक्षु को जल या अग्नि युक्त स्थान में एक-दो रात ठहरने का आपवादिक विधान है।

निशीथभाष्यचूर्णि में यह भी कहा गया है कि अगीतार्थ साधु को ऐसे स्थान में १-२ रात्रि ठहरने पर भी प्रायश्चित्त आता है, गीतार्थ साधु को प्रायश्चित्त नहीं आता है। क्योंकि वह आपवादिक स्थिति के विवेक का यथार्थ निर्णय ले सकता है।

वास्तव में गीतार्थ का विहार करना और गीतार्थ की निश्रा में विहार करना ही कल्पनीय विहार है। एक या अनेक गीतार्थों के विचरण का तथा भिक्षाचरी आदि सभी कार्यों का निषेध ही है। अतः अन्य मकान के सुलभ न होने पर पूर्वोक्त शय्याओं में भिक्षु १-२ रात्रि ठहर सकता है, अधिक ठहने पर सूत्रोक्त प्रायश्चित्त समझना चाहिए।

अनेक उपाश्रयों के व्यवस्थापक सुविधा के लिए बिजली की फिटिंग करवाते हैं। आवश्यक कार्य होने पर लाइट का उपयोग करते करवाते हैं। उसी उपाश्रय में सन्त-सतियां भी ठहरते हैं। वहां

बिजली का मेन स्वीच चौबीस घंटे ही जलता रहता है किन्तु उसके प्रकाश का उपयोग आवश्यक कार्यों के लिए नहीं किया जा सकता है।

समय की जानकारी के लिए आजकल सैल से चलने वाली घड़ियां उन उपाश्रयों में लगी रहती है।

मैन स्वीच और क्वाट्ज घड़ियों से उपरोक्त विराधना नहीं होती है, अतः ऐसे उपाश्रयों में ठहरने पर सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नहीं आता है।

सचित्त इक्षु का सेवन का प्रायश्चित्त—

४. जे भिक्खू सचित्तं उच्छुं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ।

५. जे भिक्खू सचित्तं उच्छुं विडंसइ, विडंसंतं वा साइज्जइ।

६. जे भिक्खू सचित्त-पइट्ठियं उच्छुं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ।

७. जे भिक्खू सचित्त-पइट्ठियं उच्छुं विडंसइ, विडंसंतं वा साइज्जइ।

८. जे भिक्खू सचित्तं १. अंतरुच्छुयं वा, २. उच्छुखंडियं वा, ३. उच्छुचोयगं वा, ४. उच्छुमेरगं वा, ५. उच्छुसालगं वा, ६. उच्छुडगलं वा भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ।

९. जे भिक्खू सचित्तं अंतरुच्छुयं वा जाव उच्छुडगलं वा विडंसइ विडंसंतं वा साइज्जइ।

१०. जे भिक्खू सचित्त-पइट्ठियं अंतरुच्छुयं वा जाव उच्छुडगलं वा भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ।

११. जे भिक्खू सचित्त-पइट्ठियं अंतरुच्छुयं वा जाव उच्छुडगलं वा विडंसइ विडंसंतं वा साइज्जइ।

४. जो भिक्षु सचित्त ईख [गन्ना] खाता है या खाने वाले का अनुमोदन करता है।

५. जो भिक्षु सचित्त ईख को चूसता है या चूसने वाले का अनुमोदन करता है।

६. जो भिक्षु सचित्त प्रतिष्ठित ईख को खाता है या खाने वाले का अनुमोदन करता है।

७. जो भिक्षु सचित्त प्रतिष्ठित ईख को चूसता है या चूसने वाले का अनुमोदन करता है।

८. जो भिक्षु सचित्त १. ईख के पर्व का मध्य भाग, २. ईख के छिलके सहित खण्ड (गंडेरी), ३. ईख के छिलके, ४. ईख के छिलके रहित खण्ड, ५. ईख का रस, ६. ईख के छोटे-छोटे टुकड़े खाता है या खाने वाले का अनुमोदन करता है।

९. जो भिक्षु सचित्त ईख के पर्व का मध्य भाग यावत् ईख के छोटे-छोटे टुकड़े चूसता है या चूसने वाले का अनुमोदन करता है।

१०. जो भिक्षु सचित्त प्रतिष्ठित ईख के पर्व का मध्य भाग यावत् ईख के छोटे-छोटे टुकड़े खाता है या खाने वाले का अनुमोदन करता है।

११. जो भिक्षु सचित्त प्रतिष्ठत ईख के पर्व का मध्य भाग यावत् ईख के टुकड़े चूसता है या चूसने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—पूर्व उद्देशक में आम्र-फल के कथन से सभी सचित्त या सचित्त प्रतिष्ठित फलों के खाने का प्रायश्चित्त कहा गया है। किन्तु उन फलों में 'इक्षु' का ग्रहण नही होता है, क्योंकि यह फल नही है अपितु 'स्कन्ध' है। अतः इसका यहाँ आठ सूत्रों में प्रायश्चित्त कहा गया है।

प्रथम सूत्रचतुष्क में सामान्य इक्षु का और द्वितीय सूत्रचतुष्क में उसके विभागों का कथन है।

आचा. श्रु २ अ. १ उ. १० में इक्षु को बहु उज्झित धर्म वाला बताकर ग्रहण करने का निषेध किया गया है। आचा. श्रु २ अ. ७ उ. २ में अचित्त इक्षु हो तो उसके ग्रहण करने का विधान है तथा यहाँ सचित्त इक्षु के ग्रहण करने का प्रायश्चित्त कहा गया है। अतः अचित्त होने पर भी किसी विशेष कारण से यह ग्राह्य है अन्यथा वह उज्झित धर्म वाला होने से अग्राह्य ही है। कभी किसी कारण से ग्रहण किया जाए तो अखाद्य अंश को विवेकपूर्वक एकान्त स्थान में परठने का ध्यान रखना चाहिए।

भाष्यचूर्णि में 'उच्छुमेरग' के स्थान पर 'उच्छुमोयं' शब्द की व्याख्या की गई है, जो समानार्थक है तथा वहाँ अन्य भी 'काणियं, अंगारियं, विगदूमियं' आदि शब्दों की व्याख्या है। ये शब्द आचा. श्रु. २ अ. १ उ. ८ में उपलब्ध है। प्रस्तुत सूत्रचतुष्क में ये शब्द उपलब्ध नहीं हैं। इन शब्दों की व्याख्या आचारांग में देखें। वहाँ इन्हें सचित्त एवं अशस्त्रपरिणत भी कहा है।

आरण्यकादिकों का आहारादि ग्रहण करने का प्रायश्चित्त—

१२. जे भिक्खू आरण्णगाणं वणंधाणं, अडवि-जत्ता-संपट्ठियाणं, अडविजत्तापडिणियत्ताणं असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

१२. जो भिक्षु अरण्य में रहने वालों का, वन में गए हुओं का, अटवी की यात्रा के लिए जाने वालों का या अटवी की यात्रा से लौटने वालों का अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य लेता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—सूत्र में वन, जंगल तथा अटवी में अशनादि ग्रहण करने का प्रायश्चित्त कहा है। वहाँ चार प्रकार के लोगों का संयोग मिल सकता है—

१. अरण्यवासी—कंद, मूल आदि खाकर वन में ही रहने वाले।
२. काष्ठ, फल आदि पदार्थों को लेने के लिए गए हुए।
३. किसी लम्बी अटवी को पार करने के लिए जा रहा जनसमूह।
४. अटवी से लौटता हुआ जनसमूह।

इनसे आहार लेने पर जंगल में अन्य कोई साधन न होने के कारण वे वनस्पति की विराधना करेंगे या पशु पक्षी की हिंसा करेंगे अथवा क्षुधा से पीड़ित होंगे इत्यादि दोषों की सम्भावना रहती है। अतः इनसे आहार ग्रहण नहीं करना चाहिए। सूत्र में तीन समान शब्दों का प्रयोग है, किन्तु उनके अर्थ में कुछ-कुछ भिन्नता है—

अरण्य—नगर ग्राम आदि बस्ती से अत्यन्त दूर के जंगल।

वन—ग्राम नगर आदि के समीप के वन।

अटवी—चोर आदि के भय से युक्त लम्बा जंगल, जिसे पार करने में अनेक दिन लगें एवं बीच में कोई बस्ती न हो।

अटवी से लौट रहे व्यक्तियों से भी आहार ग्रहण करने पर यदि १-२ दिन से अटवी पार होने की सम्भावना हो तो भी चोर आदि के कारण से अथवा मार्ग भूल जाने से कभी अधिक समय भी लग सकता है। अतः अटवी-यात्रा करने वालों का आहार सर्वथा अग्राह्य समझना चाहिए।

सूत्र में अटवी के सम्बन्ध में दो शब्द हैं, उन दोनों से अटवी में रहे हुए व्यक्ति ही समझना चाहिए, किन्तु अटवी में जाने की तैयारी में हों या अटवी पार कर ग्रामादि में पहुँच गए हों तो उनका आहार ग्रहण करने का प्रायश्चित्त नहीं समझना चाहिए।

कुछ प्रतियों में इस एक सूत्र के स्थान पर दो सूत्र मिलते हैं। इसमें लिपि-प्रमाद ही प्रमुख कारण है।

वसुरात्निक अवसुरात्निक कथन का प्रायश्चित्त—

१३. जे भिक्खू वसुराइयं अवसुराइयं वयइ वयंतं वा साइज्जइ।

१४. जे भिक्खू अवसुराइयं वसुराइयं वयइ वयंतं वा साइज्जइ।

१३. जो भिक्षु विशेष चारित्र गुण सम्पन्न को अल्प चारित्र गुण वाला कहता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है।

१४. जो भिक्षु अल्प चारित्र गुण वाले को विशेष चारित्र गुण सम्पन्न कहता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—संयम धारण करने के बाद कई साधक जीवनपर्यन्त शुद्ध आराधना में ही लगे रहते हैं तथा अनेक साधक शारीरिक क्षमता कम हो जाने से या विचारधारा के परिवर्तन से संयम में अल्प पुरुषार्थी हो जाते हैं तो कई संयम-मर्यादा का अतिक्रमण ही करने लग जाते हैं और उनकी शुद्धि भी नहीं करते हैं। इस प्रकार साधकों की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ होती हैं।

संयम की शुद्ध आराधना करने वाले भिक्षु संयम रूपी रत्न के धन से धनवान् होते हैं। अतः उनको इस सूत्र में "वसुरात्निक" शब्द से सूचित किया गया है। जो संयममर्यादा का अतिक्रम करें उनकी शुद्धि नहीं करते हैं, वे संयम रूप रत्नों के धन से धनवान् नहीं रहते हैं। अतः सूत्र में उनको "अवसुरात्निक" शब्द से सूचित किया गया है।

विभिन्न प्रकार की साधना करने वाले इन साधकों के विषय में भिक्षु को यथार्थ जानकारी प्राप्त किए बिना केवल राग-द्वेषवश या अज्ञानवश अयथार्थ कथन नहीं करना चाहिए। अर्थात् शुद्ध आचरण वाले भिक्षु को शिथिल आचरण वाला और शिथिल आचरण वाले भिक्षु को शुद्ध आचरण वाला नही कहना चाहिए।

विपरीत कथन राग, द्वेष से या अज्ञान से ही किया जाता है। ऐसा करना भिक्षु के लिये उचित नही है। इसी कारण इन सूत्रों में प्रायश्चित्त कहा गया है।

असत्य कथन नही करना, इतना ही नहीं, सत्य वचन भी अप्रिय या अहितकर हो तो भिक्षु को बोलना उचित नहीं है।

तात्पर्य यह है कि शुद्धाचारी को शिथिलाचारी और शिथिलाचारी को शुद्धाचारी कहना, विपरीत कथन होने से प्रस्तुत सूत्रद्वय में इसका प्रायश्चित्त कहा गया है।

शिथिलाचारी को शिथिलाचारी कहना परुष वचन होने से १५वें उद्देशक के दूसरे सूत्र के अनुसार प्रायश्चित्त आता है।

अतः भिक्षु को अयथार्थ कथन भी नही करना और यथार्थ कथन भी किसी को अप्रिय एवं अहितकर हो तो नही करना चाहिए।

सूत्र में संयम गुणों की अपेक्षा से यह कथन है, अन्य ज्ञानादि सभी गुणों के विषयों में अयथार्थ कथन का प्रायश्चित्त इन सूत्रों से ही समझ लेना चाहिए।

सांभोगिक व्यवहार के लिये गणसंक्रमण का प्रायश्चित्त—

१५. जे भिक्खू वुसिराइयगणाओ अवुसिराइयगणं संकमइ, संकमंतं वा साइज्जइ।

१५. जो भिक्षु विशेष चारित्र गुण सम्पन्न गण से अल्प चारित्र गुण वाले गण में संक्रमण करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—गणनायक जैसे चारित्रगुण से सम्पन्न होता है, उस गण के साधु-साध्वी भी प्रायः वैसे ही चारित्रगुण से सम्पन्न होते है। अतः गणनायक के अनुसार गण भी शुद्धाचार वाला या शिथिलाचार वाला कहा जाता है।

किसी भिक्षु को स्वगच्छ में किसी विशेष कारण से आत्मशान्ति या सन्तुष्टि न हो और वह गणपरिवर्तन करना चाहे तो कर सकता है।

ठाणांग सूत्र के पांचवें स्थान में गणपरिवर्तन के पांच कारण बताये हैं।

बृहत्कल्प सूत्र उ. ४ में अन्य गण में जाने की प्रक्रिया का विधान इस प्रकार किया है—आचार्यादि पदवीधर यदि अन्य गण में जाना चाहें तो अपने पद पर गण की सम्मति से आचार्य पद-योग्य किसी अन्य भिक्षु को प्रस्थापित करके और गण की आज्ञा लेकर के जाएं।

सामान्य साधु भी आचार्यादि की आज्ञा लेकर ही जाए। बिना आज्ञा लिये कोई भी अन्य गण में नहीं जा सकता है।

आगम में गणपरिवर्तन का प्रमुख कारण यह कहा है कि गणपरिवर्तन मे वास्तव में आत्म-शान्ति होती हो और आत्मगुणों की वृद्धि होती हो तो जाना कल्पता है किन्तु गणपरिवर्तन करके भी आत्मा मे अशान्ति या आत्मगुणों की हानि होती हो तो गुरु की आज्ञा मिलने पर भी गण-परिवर्तन करने में जिनाज्ञा नही है, ऐसा इन सूत्रों से समझना चाहिये ।

भावार्थ यह है कि यदि कोई अपने गण के आचार से अपेक्षाकृत कम आचार वाले गण में जाना चाहे तो उसे सूत्रानुसार जाना नही कल्पता है । फिर भी कोई भिक्षु सहनशीलता की कमी से या शारीरिक-मानसिक समाधि न रहने से ऐसे गण में जावे तो प्रस्तुत सूत्र के अनुसार उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है ।

ठाणांग सूत्र के ५वें ठाणे में जो गण-संक्रमण के कारण कहे हैं, उनमें से किसी भी कारण से यदि कोई भिक्षु आचार्यादि की आज्ञा लेकर गण-संक्रमण करे तो सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नहीं आता है ।

गणसंक्रमण के पूर्व भविष्य के हिताहित का पूर्ण विचार करना अत्यावश्यक है, क्योंकि बारंबार गणसंक्रमण करने वाले को उत्तरा अ. १७ में पापश्रमण कहा गया है तथा छः मास के अन्दर ही फिर अन्य गण में संक्रमण करे तो उसे दशा द. २ में सबलदोष कहा है । अतः आवेश में आकर बिना विचार किए गणसंक्रमण नहीं करना चाहिये ।

कदाग्रही के साथ लेन-देन करने का प्रायश्चित्त—

१६. जे भिक्खू वुग्गहवक्कंताणं असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा देइ, देतं वा साइज्जइ ।

१७. जे भिक्खू वुग्गहवक्कंताणं असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ।

१८. जे भिक्खू वुग्गहवक्कंताणं वत्थं वा, पडिग्गहं वा, कंबलं वा, पायपुंछणं वा देइ, देंतं वा साइज्जइ ।

१९. जे भिक्खू वुग्गहवक्कंताणं वत्थं वा, पडिग्गहं वा, कंबलं वा, पायपुंछणं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ।

२०. जे भिक्खू वुग्गहवक्कंताणं वसहिं देइ, देंतं वा साइज्जइ ।

२१. जे भिक्खू वुग्गहवक्कंताणं वसहिं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ।

२२. जे भिक्खू वुग्गहवक्कंताणं वसहिं अणुपविसइ, अणुपविसंतं वा साइज्जइ ।

२३. जे भिक्खू वुग्गहवक्कंताणं सज्झायं देइ, देंतं वा साइज्जइ ।

२४. जे भिक्खू वुग्गहवक्कंताणं सज्झायं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ।

१६. जो भिक्षु कदाग्रही भाव से अलग विचरने वाले [कदाग्रही] भिक्षुओं को अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

१७. जो भिक्षु कदाग्रही भिक्षुओं से अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य लेता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है।

१८. जो भिक्षु कदाग्रही भिक्षुओं को वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोंछन देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

१९. जो भिक्षु कदाग्रही भिक्षुओं से वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोंछन लेता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है।

२०. जो भिक्षु कदाग्रही भिक्षुओं को उपाश्रय देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

२१. जो भिक्षु कदाग्रही भिक्षुओं से उपाश्रय लेता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है।

२२. जो भिक्षु कदाग्रही भिक्षुओं के उपाश्रय में प्रवेश करता है या प्रवेश करने वाले का अनुमोदन करता है।

२३. जो भिक्षु कदाग्रही भिक्षुओं को वाचना देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

२४. जो भिक्षु कदाग्रही भिक्षुओं से वाचना लेता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—"वुग्गहो कलहो, तं काउं अवक्कमति।"
वुग्गहो त्ति कलहो त्ति, भंडणं ति, विवादो त्ति एगट्ठं ॥ —चूर्णि ॥

जो दुराग्रही भिक्षु सूत्र से विपरीत कथन या विपरीत आचरण करके कलह करते हैं या गच्छ का परित्याग कर स्वच्छन्द विचरते हैं, उनके लिये सूत्र में "वुग्गहवक्कंताणं" शब्द का प्रयोग किया गया है। यहां ऐसे साधुओं की संगति करने का, उनसे सम्पर्क करने का या उनके साथ आदान-प्रदान आदि व्यवहार करने का प्रायश्चित्त कहा गया है।

क्योंकि विरोधभाव रहने से आहार, पानी, वस्त्रादि के देने-लेने में वशीकरण का प्रयोग या विष का प्रयोग किया जा सकता है। कदाचित् 'काकतालीय न्याय' के अनुसार कोई घटना घट जाए तो एक दूसरे पर आशंका या आरोप लगाने का प्रसंग उत्पन्न हो जाता है।

कदाग्रही के साथ ठहरने से अनावश्यक विवाद या कषायवृद्धि हो सकती है। अल्पज्ञ या अपरिपक्व साधु भ्रमित होकर गण या संयम का भी त्याग कर सकते हैं। अथवा कदाग्रही के साथ ही रह सकते है।

वाचना देने-लेने में भी संसर्गज दोष आदि अनेक दोषों की उत्पत्ति या वृद्धि होने की सम्भावना रहती है। अतः उत्सूत्र प्ररूपक कदाग्रही साधुओं से किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं रखना चाहिए।

यहाँ उन कदाग्रही भिक्षुओं को वन्दन करने का या उनकी प्रशंसा करने का प्रायश्चित्त नहीं कहा है, तथापि उसका प्रायश्चित्त समझ लेना चाहिए।

कदाग्रही या पार्श्वस्थ आदि के साथ अनेक प्रकार के सम्पर्कों का यद्यपि प्रायश्चित्त कहा गया है तथापि उनके साथ अशिष्ट या असभ्य व्यवहार करना साधु के लिए कदापि उचित नहीं है। ऐसा करना भी प्रायश्चित्त का कारण है।

गीतार्थ भिक्षु किसी विशेष प्रकार के लाभ का कारण जानकर या आपवादिक परिस्थिति में उन्हें आहार देना आदि व्यवहार कर सकता है। फिर उस कृत्य का यथोचित प्रायश्चित्त ग्रहण कर शुद्ध भी हो सकता है।

उपाश्रय में प्रवेश करने के बावीसवें प्रायश्चित्त सूत्र का भाष्य चूर्णि में कोई निर्देश नहीं है। अतः मूल पाठ में किसी कारण से यह सूत्र बढ़ा हुआ प्रतीत होता है। उस सूत्र के पूर्व उपाश्रय के लेन-देन के दो प्रायश्चित्त सूत्र हैं। तीन सूत्र होने से यह अर्थ होगा कि– उनके साथ एक उपाश्रय में नहीं ठहरना चाहिए तथा उनके उपाश्रय में जाना भी नहीं चाहिए।

निषिद्ध क्षेत्रों में विहार करने का प्रायश्चित्त—

२५. जे भिक्खू विहं अणेगाह-गमणिज्जं सइलाढे विहाराए संथरमाणेसु जणवएसु विहार-वडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ।

२६. जे भिक्खू विरूव-रूवाइं दसुयायतणाइं अणारियाइं मिलक्खूइं पच्चंतियाइं सइलाढे विहाराए संथरमाणेसु जणवएसु विहार-वडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ।

२५. जो भिक्षु आहार आदि सुविधा से प्राप्त होने वाले जनपदों [क्षेत्रों] के होते हुए भी बहुत दिन लगें ऐसे लम्बे मार्ग से जाने का संकल्प करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

२६. जो भिक्षु आहारादि सुविधा से प्राप्त होने वाले जनपदों [क्षेत्रों] के होते हुए भी अनार्य, म्लेच्छ एवं सीमा पर रहने वाले चोर-लुटेरे आदि जहां रहते हों, उस तरफ विहार करता है या विहार करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—आचा. श्रु. २ अ. ३ उ. १ में अनार्य क्षेत्रों में तथा अनेक दिनों में पार होने योग्य मार्ग में जाने का निषेध किया गया है तथा जाने पर आने वाली आपत्तियों का भी स्पष्टीकरण किया है और यह भी सूचित किया है कि संयमसाधना के योग्य क्षेत्र होते हुए ऐसे क्षेत्रों की ओर विहार नहीं करना चाहिए।

अनार्य क्षेत्रों में विहार करने से वहाँ के अज्ञ निवासी मनुष्य क्रूरता से उपसर्ग करें तो भिक्षु अपने शरीर और संयम की समाधि में स्थिर नहीं रह सकेगा और मारणान्तिक उपसर्ग होने पर आत्म-विराधना एवं संयमविराधना भी होगी अतः भिक्षु को ऐसे क्षेत्रों में जाने की जिनाज्ञा नहीं है।

चार्यक्षेत्र में जाने के लिये भी किसी मार्ग में ऐसी लम्बी अटवी हो कि जिसे पार करने में अनेक दिन लगें और मार्ग में आहार-पानी या मकान भी न मिले तो उस दिशा में विहार नहीं करना

चाहिए, क्योंकि मार्ग में अचानक वर्षा आ जाए, जगह-जगह पानी भर जाए, वनस्पति या कीचड़ आदि हो जाए तो वहाँ आहार आदि के अभाव में संयम और प्राणों के लिए संकटपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यदि कहीं नदियों में पानी अधिक आ जाए तो वहाँ नौका मिलना भी सम्भव नहीं है, इत्यादि दोषों का कथन करके आचारांगसूत्र में ऐसे विहार का निषेध किया है। उसी का यहाँ इन दो सूत्रों में प्रायश्चित्त कहा गया है।

दुष्काल के कारण या राजा आदि के द्वेषपूर्ण व्यवहार से संयम-निर्वाह के योग्य अन्य क्षेत्र के अभाव में विकट अटवी का मार्ग पार करके आर्यक्षेत्र में जाना पड़े तो सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नहीं आता है। आचारांग और निशीथ दोनों ही सूत्रों में इसकी छूट दी गई है तथा वैसी परिस्थिति में क्या विवेक करना चाहिए यह भी आचारांगसूत्र मे बताया गया है।

इसके अतिरिक्त मार्ग में जहाँ सेना का पड़ाव हो, दो राजाओं का विरोध चल रहा हो, उस दिशा में जाने का भी वहाँ निषेध किया गया है। अतः भिक्षु जहाँ तक सम्भव हो शरीर और संयम में असमाधि उत्पन्न करने वाले मार्ग या क्षेत्रों मे विहार नही करे।

घृणित कुलों में भिक्षागमनादि का प्रायश्चित्त—

२७. जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

२८. जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु वत्थं वा, पडिग्गहं वा, कंबलं वा, पायपुंछणं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

२९. जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु वसहिं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

३०. जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु सज्झायं उद्दिसइ, उद्दिसंतं वा साइज्जइ।

३१. जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु सज्झायं वाएइ, वाएंतं वा साइज्जइ।

३२. जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु सज्झायं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ।

२७. जो भिक्षु घृणित कुलों से अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य लेता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है।

२८. जो भिक्षु घृणित कुलों से वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोंछन लेता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है।

२९. जो भिक्षु घृणित कुलों की शय्या ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

३०. जो भिक्षु घृणित कुलों में स्वाध्याय का उद्देश (मूल पाठ की वाचना देना) करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

३१. जो भिक्षु घृणित कुलों में स्वाध्याय की वाचना (सूत्रार्थ) देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

३२. जो भिक्षु घृणित कुलों में स्वाध्याय की वाचना लेता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—आचा. श्रु. २ अ. १ उ. २ में अजुगुप्सित और अगर्हित १२ कुलों में तथा अन्य ऐसे ही कुलों में भिक्षा के लिए जाने का विधान किया गया है।

इन सूत्रों में केवल जुगुप्सित कुलों से भिक्षा लेने का प्रायश्चित्त कहा गया है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीन अजुगुप्सित कुल हैं और शूद्र जुगुप्सित कुल है।

म्लेच्छ आदि अनार्य कुल भी भिक्षा आदि के लिए वर्जनीय कुल माने गए हैं।

गोपालक, कृषक, बढ़ई, जुलाहे, शिल्पी, नाई तथा अन्य भी ऐसे कुलों में गोचरी जाने का आचा. श्रु. २ अ. १ उ. २ में विधान है।

उत्तरा. अ. १२ तथा १३ में 'हरिजन' कुल वालों के द्वारा संयम ग्रहण करना एवं आराधना कर मोक्ष जाने का वर्णन मिलता है। अतः जुगुप्सित कुल वालों को धर्म-आराधना करने का निषेध नहीं समझना चाहिए। कभी किसी हरिजन से भिक्षु का यदि स्पर्श हो जाए तो उसे किसी प्रकार का प्रायश्चित्त नहीं आता है। तथापि भिक्षु जिन कुलों से भिक्षा लेता है, उनमें शौचकर्मवादी अधिक होते हैं, अतः उसे जुगुप्सित कुलों में भिक्षा के लिए नहीं जाना चाहिए, क्योंकि उसे एषणा दोषों को टालने के लिए शौचकर्मियों के घरों में प्रवेश करना पड़ता है। भिक्षा के लिए जुगुप्सित कुलों में प्रवेश करने वाले भिक्षु को अन्य शौचकर्मी (शौच प्रधान धर्म वाले) लोग अपने घरों में प्रवेश करने के लिए मना कर सकते हैं। अतः केवल सामाजिक व्यवहार के कारण यह सूत्रोक्त निषेध एवं प्रायश्चित्त विधान है, ऐसा समझना चाहिए।

उत्तरा. अ. २५ में कहा है कि कर्म से क्षत्रिय, वैश्य और ब्राह्मण होते हैं और कर्म से ही शूद्र होते हैं।

आचा. श्रु. १ अ. २ उ. ३ में कहा है कि यह जीव कभी उच्चगोत्र में और कभी नीचगोत्र में जन्म लेता है, अतः न कोई नीच है और न कोई उच्च है।

भिक्षु सभी के साथ सदा समभाव से व्यवहार करता है, फिर भी सामाजिक मर्यादा से इन कुलों में प्रवेश नहीं करना आदि सूत्रोक्त विधानों का पालन किया जाना भी आवश्यक है।

भाष्य चूर्णि में सूतक और मृतक के क्रियाकर्म करने वाले कुलों को भी अल्पकालीन जुगुप्सित कुल में गिनाया गया है।

यद्यपि जुगुप्सित कुल में ठहरने मात्र का ही प्रायश्चित्त है, तथापि कभी कारणवश ठहरना पड़ जाय तो वहाँ पर स्वाध्याय का उद्देश या वाचना आदि नहीं करना चाहिए।

पृथ्वी, शय्या तथा छींके पर आहार रखने का प्रायश्चित्त—

३३. जे भिक्खू असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पुढवीए णिक्खिवइ, णिक्खिवंतं वा साइज्जइ।

३४. जे भिक्खू असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा संथारए णिक्खिवइ, णिक्खिवंतं वा साइज्जइ ।

३५. जे भिक्खू असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा वेहासे णिक्खिवइ, णिक्खिवंतं वा साइज्जइ ।

३३. जो भिक्षु अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य भूमि पर रखता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है ।

३४. जो भिक्षु अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य संस्तारक पर रखता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है ।

३५. जो भिक्षु अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य छीके खूंटी आदि पर रखता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है । (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है ।)

विवेचन—भिक्षु करपात्री या पात्रधारी होते है । अतः हाथ में, पात्र में या पात्र रखने के वस्त्र पर तो अशनादि रखा जा सकता है । किन्तु हाथ में या पात्र में ग्रहण किए हुए आहार को भूमि पर या आसन पर रखना नही कल्पता है ।

पृथ्वी पर अनेक प्रकार के मनुष्य तिर्यँचादि जीव फिरते रहते है और वे अशुचिमय पदार्थों का जहां तहां परित्याग करते रहते हैं, भूमि पर अनेक प्रकार के अपवित्र पुद्गल पड़े रहते हैं, रज आदि भी रहती है, कीड़ी आदि अनेक प्रकार के प्राणी भी परिभ्रमण करते रहते हैं तथा भूमि पर खाद्य पदार्थ रखना लोकव्यवहार से भी अनुचित है, अतः सूत्र में इसका प्रायश्चित्त कहा गया है ।

वस्त्र का आसन या घास का संस्तारक अनेक दिनों तक उपयोग में आता रहता है । उस पर आहार रखने से आहार का अंश-लेप लग जाने पर कीड़ियों के आने की सम्भावना रहती है । आसन में मैल पसीना आदि भी लगे रहते है । अतः आसन पर और इन्हीं कारणों से पहनने के वस्त्र, रजोहरणादि पर आहार रखना भी निषिद्ध समझ लेना चाहिए ।

खूंटी, छीके आदि पर रखने से कभी गिरने पर पात्रों के फूटने की सम्भावना रहती है । चूहे आदि भी वहां पहुँच कर काट सकते हैं, गिरा सकते हैं ।

इत्यादि कारणों से पृथ्वी पर, आसन पर तथा छींका आदि पर अशनादि रखना निषिद्ध है और रखने पर लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है ।

प्रादेशिक परिस्थिति के कारण छीका आदि में आहार को बांधकर रखना आवश्यक हो तो छींका व उसका ढक्कन रखा जा सकता है, ऐसा निशीथ के दूसरे उद्देशक से स्पष्ट होता है ।

खाद्य पदार्थों में कई लेपरहित शुष्क पदार्थ भी होते हैं । उन्हें पृथ्वी आदि पर रखने से उपर्युक्त दोष सम्भव नही हैं, फिर भी प्रमादरूप प्रवृत्ति हो जाने से दोष परम्परा बढ़ती है । अतः सूत्र में सामान्यरूप से सभी प्रकार के अशन आदि को रखने का प्रायश्चित्त कहा गया है ।

यदि असावधानी से कोई खाद्य पदार्थ भूमि पर गिर जाए और उस पर रज आदि अपवित्र

पदार्थ न लगे हों तो अच्छी तरह देखकर उसका उपयोग भिक्षु कर सकते हैं। ऐसा करने पर सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नहीं आता है।

स्वेच्छा से खाद्य पदार्थ पृथ्वी पर रखना अनुचित प्रवृत्ति है। सूत्र में ऐसी प्रवृत्ति का ही प्रायश्चित्त कहा गया है।

गृहस्थों के सामने आहार करने का प्रायश्चित्त—

३६. जे भिक्खू अण्णउत्थिएहिं वा गारत्थिएहिं वा सद्धिं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ।

३७. जे भिक्खू अण्णउत्थिएहिं वा गारत्थिएहिं वा सद्धिं आवेढिय-परिवेढिय भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ।

३६. जो भिक्षु अन्यतीर्थिकों या गृहस्थों के साथ [समीप बैठकर] आहार करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

३७. जो भिक्षु अन्यतीर्थिकों या गृहस्थों से घिरकर [कुछ दूर बैठे या खड़े हों, वहाँ] आहार करता है या आहार करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—पन्द्रहवें उद्देशक में गृहस्थ को आहारादि देने का प्रायश्चित्त कहा गया है। अब यहाँ "सद्धिं" पद से समीप में बैठकर खाना यह अर्थ करना प्रासंगिक है। क्योंकि साथ में अर्थात् एक पात्र में खाने पर तो अनेक दोषों की सम्भावना रहती है। यदि गृहस्थ का लाया हुआ आहार है तो आधाकर्म आदि दोषयुक्त हो सकता है। यदि साधु का लाया हुआ आहार है तो देने में अदत्तदोष लगता है और ये दोष तो गुरुचौमासी प्रायश्चित्त के योग्य हैं, जबकि प्रस्तुत सूत्र में लघुचौमासी प्रायश्चित्त का कथन है। अतः प्रथम सूत्र में गृहस्थ और भिक्षु का समीप में बैठकर आहार करने का प्रायश्चित्त समझना चाहिए।

गृहस्थ भोजन नहीं कर रहे हों, किन्तु दूर एक दिशा में या चारों तरफ खड़े या बैठे हों तब भिक्षु उनके सामने आहार करे तो उसका दूसरे सूत्र में प्रायश्चित्त कहा है।

गृहस्थ के निकट बैठकर खाने से गृहस्थ के द्वारा निमन्त्रण करना, देना आदि प्रवृत्ति होने की सम्भावना रहती है, देखने वालों को शंका हो सकती है। कभी कोई गृहस्थ जबर्दस्ती भी पात्र में आहार डाल सकता है या छीन सकता है।

सामने जो गृहस्थ बैठे या खड़े हों, उनमें कोई बुभुक्षावृत्ति वाले या द्वेषी भी हो सकते हैं। वे आहार को या आहार करते हुए भिक्षु को देखकर अनेक प्रकार से अवहेलना आदि कर सकते हैं।

भिक्षु के आहार करने की विधि भी गृहस्थ से भिन्न होती है। यथा—पात्र पोंछकर चाटकर के खाना या धोकर पीना आदि। अतः चारों ओर की दीवारों वाले एवं छत वाले एकान्त स्थान में आहार करना चाहिए।

आहार करते समय भी कदाचित् कोई गृहस्थ वहाँ आ जावे और बैठ जाए तो भिक्षु को "एकासन" तप में भी अन्यत्र जाना कल्पता है।

कदाचित् गृहस्थ रहित स्थान आहार करने के लिए न मिले तो भिक्षु एक ओर या चारों ओर वस्त्र का पर्दा लगाकर भी आहार कर सकता है।

यदि भिक्षु अकेला ही आहार करने वाला हो तो गृहस्थ की तरफ पीठ करके विवेकपूर्वक आहार कर सकता है। तात्पर्य यह है कि गृहस्थ न देखे, ऐसे स्थानों में बैठकर ही भिक्षुओं को आहारादि का उपयोग करना चाहिए।

आचार्य उपाध्याय की आराधना का प्रायश्चित्त—

३८. जे भिक्खू आयरिय-उवज्झायाणं सेज्जा-संथारयं पाएणं संघट्टेत्ता हत्थेणं अणणुण्णवेत्ता धारयमाणे गच्छइ, गच्छंतं वा साइज्जइ।

३८. जो भिक्षु आचार्य-उपाध्याय के शय्या-सस्तारक को पैर से स्पर्श हो जाने पर हाथ से विनय किए विना मिथ्या दुष्कृत दिए विना चला जाता है या जाने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—किसी की कोई भी वस्तु के पांव लगाना अविवेकपूर्ण आचरण है। आचार्य और उपाध्याय तो सम्पूर्ण गच्छ में सबसे अधिक सम्माननीय होते हैं। अतः प्रत्येक साधु को उनका विनय-बहुमान करना ही चाहिए। उनके शय्या-संस्तारक—बिछौने के पांव लग जाना भी अविनय एवं अविवेक का द्योतक है और उनके शरीर, आहार, वस्त्रादि के पांव लगना भी अविनय है। अतः भिक्षु को आचार्यादि के या उनकी उपधि एवं आहारादि के निकट से अत्यन्त विवेकपूर्वक गमनागमन करना चाहिए। चूर्णि में कहा है—

हत्थेण अणणुण्णवेत्ता-हस्तेन स्पृष्ट्वा न नमस्कारयति, मिथ्यादुष्कृतं च न भाषते, तस्स चउलहुं।

कदाचित् आचार्यादि के संस्तारक पर भिक्षु का पांव लग जाए तो उस भिक्षु को वहां विद्यमान आचार्यादि से विनयपूर्वक क्षमायाचना करनी चाहिए। यदि वे अन्यत्र हों तो पांव से *अविनय होने की प्रतिपूर्ति में हाथ से स्पर्श कर विनय करना और "मिच्छामि दुक्कडं" कह कर भूल* स्वीकार करना चाहिए। यदि पांव से कोई रज आदि लग जाए तो उसे साफ करना चाहिए।

अन्य साधु की कोई उपधि या शरीर आदि के पांव लग जाए तो भी इसी प्रकार का विवेक प्रदर्शित करना चाहिए।

जो भिक्षु ऐसे प्रसंगों में कुछ भी विनय-विवेक किए बिना जैसे चल रहा है वैसे ही सीधा चला जाए तो उसे सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है।

क्योंकि ऐसा करने से आचार्यादि के प्रति सम्मान नहीं रहता है, अविवेक की परम्परा प्रचलित होती है, देखने वालों को अविनय का अनुभव होता है, गच्छ की अवहेलना होती है, अन्य साधु भी उसी का अनुसरण करें तो गच्छ में अविनय की वृद्धि होती है।

यद्यपि आसन आदि पदार्थ वंदनीय नहीं हैं, तथापि पैर के स्पर्श से हुए अविनय की निवृत्ति के लिए केवल हाथ से स्पर्श कर विनयभाव प्रकट करना चाहिए, यह सूत्र का आशय है।

मर्यादा से अधिक उपधि रखने का प्रायश्चित्त—

३९. जे भिक्खू गणणाइरित्तं वा, पमाणाइरित्तं वा उवहिं धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ ।

३९. जो भिक्षु गणना से या प्रमाण से अधिक उपधि रखता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है । (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है ।)

विवेचन—भिक्षु की सम्पूर्ण उपधि सूचक सूत्र बृहत्कल्पसूत्र उ. ३ में तथा प्रश्नव्याकरणसूत्र श्रु. २, अ. ५ में है ।

भिक्षु को दीक्षित होते समय रजोहरण, गोच्छग, पात्र और तीन अखण्ड वस्त्र ग्रहण करके प्रव्रजित होना कल्पता है । ऐसा बृहत्कल्पसूत्र में कहा है ।

यहां रजोहरण, गोच्छग [पूंजणी] और पात्र की संख्या का कथन नहीं किया गया है । शेष उपकरण चद्दर, चोलपट्टक, मुखवस्त्रिका, आसन, झोली, पात्र के वस्त्र, रजोहरण का वस्त्र इनके लिए कुल तीन अखण्ड वस्त्र लेने का कथन है, किन्तु इनकी अलग-अलग संख्या या माप नहीं बताया गया है ।

बृहत्कल्पसूत्र के उद्देशक तीन में ही अखण्ड वस्त्र (पूर्ण थान) रखने का निषेध किया गया है । अतः यहां पर कहे गए तीन थान केवल सम्पूर्ण उपधि के माप के सूचक हैं, ऐसा समझना चाहिए । जिसका परम्परा से ७२ हाथ प्रमाण वस्त्र का माप माना गया है । किन्तु मूल आगमों में एवं भाष्यादि में इस माप का स्पष्ट उल्लेख नहीं है ।

प्रश्नव्याकरणसूत्र में कहा है "पात्रधारी सुविहित श्रमण के ये उपकरण होते हैं—पात्र, पात्रबन्धन, पात्रकेसरिका, पात्र रखने का वस्त्र तीन पटल, रजस्त्राण, गोच्छग, तीन चद्दर, रजोहरण, चोलपट्टक, मुखवस्त्रिका आदि इनको भी वह संयम और शारीरिक सुरक्षा के लिए धारण करता है ।"

यहां रजोहरण और गोच्छग का कथन करने के साथ पात्र के स्थान पर पात्र सम्बन्धी ६ उपकरण एवं तीन अखण्ड वस्त्र की जगह चद्दर, चोलपट्टक, मुखवस्त्रिका आदि कहे हैं, इनमें पटल एवं चादर की संख्या तीन-तीन कही है, किन्तु पात्र, चोलपट्टक, मुखवस्त्रिका तथा सम्पूर्ण उपकरणों की संख्या का निर्देश नहीं है तथा पाठ के अन्त में "आदि" शब्द का प्रयोग किया गया है, जिससे अन्य उपधि का भी ग्रहण हो सकता है, यथा—आसन आदि ।

इन दो स्थलों के अतिरिक्त आचारांगसूत्र में वस्त्र-पात्र सम्बन्धी स्वतन्त्र अध्ययन भी है तथा छेदसूत्रों में भी वस्त्र पात्र रजोहरण आदि के विधि-निषेध का अनेक सूत्रों में वर्णन है ।

प्रस्तुत प्रायश्चित्तसूत्र में गिनती से और प्रमाण [माप] से अधिक उपधि रखने का प्रायश्चित्त कहा है किन्तु उपर्युक्त आगमों में उपधि के माप तथा संख्या का स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं मिलता है । केवल चद्दर और पात्र के पटल एवं अखण्ड वस्त्र की संख्या का उल्लेख है । भाष्य निर्युक्ति में उपधि का विस्तृत वर्णन होते हुए भी अनेक आवश्यक उपकरणों के माप एवं संख्या का उल्लेख नहीं है तथा कई उल्लेख अस्पष्ट हैं, यथा—एक पात्र रखना या तरुण साधु को दो हाथ का चोलपट्टक रखना । एक मात्रक रखना किन्तु उसको उपयोग में नहीं लेना, इत्यादि । इन्हीं कारणों से उपधि । परिमाण की परम्पराएं भिन्न-भिन्न हो गई हैं ।

चादर—तीन चद्दर रखने का उल्लेख आगमों में स्पष्ट है तथा इस सूत्र की चूर्णि में कर-पात्र वाले या पात्रधारी जिनकल्पी भिक्षु को एक, दो या तीन चद्दर रखना बताया है।

आचारांग श्रु. १, अ. ८, उ. ४-५-६ में वस्त्र सम्बन्धी अभिग्रहधारी भिक्षु का वर्णन है। वहां भी तीन वस्त्र [चद्दर] धारी, दो वस्त्रधारी, एक वस्त्रधारी और अचेलक चोलपट्टकधारी भिक्षु का वर्णन है।

वस्त्र की ऊणोदरी के वर्णन में एक वस्त्र [चद्दर] रखना मूल पाठ में कहा है। व्याख्या में दो चद्दर रखना भी वस्त्र की उणोदरी होना कहा है। अतः चद्दर की संख्या आगमों में तथा उनकी व्याख्याओं में स्पष्ट है।

आचा. श्रु. २, अ. ५, उ. १ में किस-किस जाति के वस्त्र ग्रहण करना, इस वर्णन में ६ जाति का उल्लेख करने के पश्चात् कहा गया है कि—"जो भिक्षु तरुण एवं स्वस्थ हो, वह एक वस्त्र अर्थात् एक ही जाति का वस्त्र धारण करे दूसरा नहीं।" इस कथन को चद्दर की संख्या के लिए मानकर अर्थ करना उचित नहीं है, क्योंकि यहां वस्त्र की जाति का ही विधान किया गया है तथा आगमों में जिनकल्पी व अभिग्रहधारी भिक्षु के लिए भी तीन चद्दर रखने का स्पष्ट उल्लेख है। वस्त्र की ऊणोदरी करने के वर्णन से भी अनेक चद्दर रखना सिद्ध है। अतः समर्थ साधु को एक जाति के वस्त्र ही धारण करना ऐसा अर्थ आचारागसूत्र के पाठ का करना ही आगमसम्मत है तथा तीन चद्दर से कम अर्थात् दो या एक चद्दर रखकर ऊणोदरी तप करना ऐच्छिक समझना चाहिए।

भाष्य गाथा ५८०७ में कहा है कि जिनकल्पी अभिग्रहधारी आदि भिक्षु तीन, दो या एक चद्दर रख सकते हैं किन्तु स्थविरकल्पी को तीन चद्दर नियमतः रखनी चाहिए।

भाष्य गाथा ५७९४ में चद्दर का मध्यम माप ३½ × २½ हाथ तथा उत्कृष्ट ४ × २½ हाथ कहा है। अर्थात् तरुण सन्त के लिए साढे तीन हाथ और वृद्ध सन्त के लिए चार हाथ लम्बी चद्दर रखना कहा है।

आचारांगसूत्र के वस्त्रैषणा अध्ययन में साध्वी के चद्दरों की चोड़ाई चार हाथ, तीन हाथ तथा दो हाथ की कही है, वहां लम्बाई का कथन नहीं है। फिर भी चोड़ाई से लम्बाई तो अधिक ही होती है, इसलिए पांच हाथ की लम्बी चद्दर करने की परम्परा उपयुक्त ही है।

उत्तरा. अ. २६ में प्रतिलेखना प्रकरण में जो "छ पुरिमा नव खोडा" का कथन है, उससे भी चद्दर की उत्कृष्ट लम्बाई पांच हाथ की होना उपयुक्त है।

साध्वी के लिए जो तीन माप की चार चद्दरों का कथन है वे चद्दरें समान लम्बी-चोड़ी नहीं होती है, वैसे ही भिक्षु के तीनों चद्दरें समान नहीं होती है। आगमों में इनके माप का उल्लेख न मिलने से उपयोगिता और आवश्यकतानुसार छोटी-बड़ी बनाई जा सकती हैं।

चद्दर की चौड़ाई का कथन व्याख्या में एक ही प्रकार का अर्थात् ढाई हाथ का बताया है। उसे आगम वर्णन के अनुसार तीनों ही चद्दरों के लिए समझ लेना उचित नहीं है। अतः भिक्षु के तीनों चद्दरों की लम्बाई-चौड़ाई हीनाधिक होती है। वर्तमान में प्रायः पांच हाथ लम्बी और तीन हाथ चोड़ी चद्दर का उपयोग किया जाता है।

चोलपट्टक—प्रश्नव्याकरणसूत्र में भिक्षु की उपधि में चोलपट्टक का केवल नामोल्लेख है। इसके अतिरिक्त अन्य वर्णन आगमों में नहीं है।

निशीथभाष्य गाथा ५८०४ में तरुण भिक्षु के लिए केवल दो हाथ लम्बा, एक हाथ चौड़ा चोलपट्टक का माप कहा है। जो लौकिक व्यवहार में लज्जा रखने के लिए पर्याप्त नहीं है। इसलिए, इसका औचित्य समझ में नहीं आता।

इस गाथा में चोलपट्टक की संख्या भी नहीं कही है।

वृद्ध भिक्षु के लिए इसी गाथा में चार हाथ लम्बा और एक हाथ चौड़ा चोलपट्टक का माप बताया है। जो उनके लिए भी पूर्ण लज्जा रखने के लिए पर्याप्त नहीं हो सकता है। प्राचीन शुद्ध परम्परा के अभाव में वर्तमान साधु समाज में अनेक प्रकार के लम्बाई एवं चौड़ाई के माप वाले चोलपट्टक प्रचलित हैं। जो भाष्य कथित प्रमाण से भिन्न है। बृहत्कल्पसूत्र के तीसरे उद्देशक में भिक्षु के आवश्यक सभी उपकरणों हेतु तीन अखण्ड वस्त्र [थान] ग्रहण करके दीक्षा लेने का विधान है। यदि भाष्य कथित परिमाण के चद्दर-चोलपट्टक आदि बनाए जायें तो उक्त विधान के तीन थान जितने वस्त्रों को ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं रहती है। इसलिए चद्दर, चोलपट्टक का पूर्ण परिमाण यही है कि वह लज्जा रखने योग्य, शीत निवारण योग्य और अपने शरीर की लम्बाई-चौड़ाई के अनुसार हो।

चोलपट्टक की संख्या के सम्बन्ध में आगम तथा भाष्य में यद्यपि उल्लेख नहीं है। फिर भी प्रतिलेखन आदि की अपेक्षा से जघन्य दो चोलपट्टक रखना स्थविरकल्पी के लिए उचित ही है।

मुखवस्त्रिका—"मुखपोतिका-मुख विधानाय, पोतं-वस्त्र मुखपोतं, तदेव ह्रस्वं चतुरंगुलाधिकवितस्तिमात्रप्रमाणत्वात् मुखपोतिका। मुखवस्त्रिकायाम्।" —पिंडनिर्युक्ति।

भावार्थ—मुखवस्त्रिका अर्थात् मुख को आवृत्त करने का वस्त्र। एक बेंत और चार अंगुल अर्थात् सोलह अंगुल की मुखवस्त्रिका।

निशीथभाष्य एवं बृहत्कल्पभाष्य में यही एक माप कहा गया है, किन्तु लम्बाई-चौड़ाई का उल्लेख नहीं किया है। अन्य आगमों की व्याख्याओं में भी लम्बाई-चौड़ाई का अलग-अलग उल्लेख नहीं मिलता है। अतः मुखवस्त्रिका का प्रमाण सोलह अंगुल समचौरस होना स्पष्ट है। मूर्तिपूजक समाज में प्रायः समचौरस मुहपत्ति रखने की परम्परा प्रचलित है। स्थानकवासी समाज में २१ अंगुल लम्बी और सोलह अंगुल चौड़ी मुखवस्त्रिका रखने की परम्परा है। मुखवस्त्रिका का यह माप किसी आगम में या व्याख्या ग्रन्थ में नहीं है, किन्तु यह माप मुख पर बांधने में अधिक उपयुक्त है।

ओघनिर्युक्ति में मुखवस्त्रिका के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा है, यथा—

चत्वारि अंगुलानि वितस्तिश्चेति, एतच्चतुरस्रं मुखानन्तकस्य प्रमाणम्, अथवा इदं द्वितीयं प्रमाणं—मुख प्रमाणं कर्त्तव्यं मुहणंतगं; एतदुक्तं भवति वसतिप्रमार्जनादौ यथा मुखं प्रच्छाद्यते त्र्यस्रं कोणद्वये गृहीत्वा कृकाटिका पृष्ठतः यथा ग्रंथिर्दातुं शक्यते तथा कर्त्तव्यं एतद्द्वितीयं प्रमाणं, गणना प्रमाणेन पुनरेकमेव मुखानन्तकं भवतीति। —ओघनिर्युक्ति गाथा-७११ की टीका।

भावार्थ—मुखवस्त्रिका सोलह अंगुल की लम्बी और चौड़ी समचौरस होती है। दूसरे प्रकार की मुखवस्त्रिका भी होती है जो मकान का प्रमार्जन करने के समय त्रिकोण करके मुख एवं नाक को

ढककर गर्दन के पीछे गांठ देकर बांधी जाती है, यह भी समचौरस होती है। इसका प्रमाण उक्त विधि से बांधी जा सके जितना समझना चाहिये। गणना की अपेक्षा दोनों प्रकार की मुखवस्त्रिकाएँ प्रत्येक श्रमण-श्रमणी की एक-एक-रखना चाहिए।

ओघनिर्युक्ति गाथा ६९४ की टीका में भी मुखवस्त्रिका के समचौरस सोलह अंगुल की होने का उल्लेख है। इसी कारण से छेदसूत्रों के व्याख्या ग्रन्थों में मुखवस्त्रिका की लम्बाई-चौड़ाई अलग-अलग न कहकर केवल सोलह अंगुल का माप ही कहा गया है। ओघनिर्युक्ति के इस कथन की जानकारी न होने के कारण अथवा इसे उपयुक्त प्रमाण न मानकर अर्वाचीन आचार्यों ने इक्कीस अंगुल की लम्बाई और १६ अंगुल की चौड़ाई की कल्पना की है। किन्तु मौलिक प्रमाण तो सोलह अंगुल की समचौरस मुखवस्त्रिका होने का ही मिलता है।

गाथा ७१२ में दोनों प्रकार की मुखवस्त्रिका का प्रयोजन बताया है। उसकी टीका इस प्रकार है—

"संपातिमसत्वरक्षणार्थं जल्पदभिर्मुखे दीयते," "तथा नासिकामुखं बध्नाति तया मुखवस्त्रिकया वसतिं प्रमार्जयन्, येन न मुखादौ रजः प्रविशतीति।"

संपातिम जीवों की रक्षा के लिए बोलते समय मुखवस्त्रिका मुख पर रखी जाती है तथा उपाश्रय का प्रमार्जन करते समय सूक्ष्म रज मुख और नाक में प्रवेश न करे, इसके लिए मुखवस्त्रिका बांधी जाती है।

उत्तरा. अ. ३ की व्याख्या मे मुखवस्त्रिका रखने का कारण स्पष्ट करते हुए कहा है कि—

संति संपातिमाः सत्वाः, सूक्ष्माश्च व्यापिनोऽपरे।
तेषां रक्षानिमित्तं च, विज्ञेया मुखवस्त्रिकाः॥

—अभि. राजेन्द्र कोष भा. ६, पृष्ठ ३३३

अर्थ—संपातिम प्राणियो तथा अन्य इधर-उधर फैले हुए सूक्ष्म जीवों की रक्षा के लिए 'मुखवस्त्रिका' रखी जाती है, ऐसा समझना चाहिए।

भगवतीसूत्र श. १६, उ. २ में खुले मुंह से बोली जाने वाली भाषा को सावद्य कहा है। मुनि सावद्य भाषा का त्यागी होता है।

जिनकल्पी आदि वस्त्ररहित एवं पात्ररहित रहने वाले भिक्षुओं को भी मुखवस्त्रिका रखना आवश्यक है। क्योंकि मुखवस्त्रिका तथा रजोहरण मुनि चिह्न के आवश्यक उपकरण हैं।

प्रमाण के लिए देखें—

१. बृहत्कल्प उ. ३, भाष्य गा. ३९६३ की टीका
२. निशीथ उ. २, भाष्य गा. १३९१
३. अभिधान राजेन्द्र कोष भाग ४ 'जिणकप्प' पृ. १४८९,
—आचा. श्रु. १ अ. २ टीका
४. अभिधान राजेन्द्र कोष भाग ६ 'लिंगकप्प' पृ. ६५६
—पंचकल्प:भाष्य एवं चूर्णि, कल्प २

इन प्रमाणों के आधार से यह स्पष्ट होता है कि मुँहपत्ति मुख पर बांधना ही मुनि-चिह्न एवं जीवरक्षा के लिए उपयुक्त है। अन्यथा प्रायः सभी साधु-साध्वियों का खुले मुँह बोलना निश्चित है तथा इधर-उधर रख देने से मुनि-चिह्न भी नहीं रहता है। ग्रामादि में चलते समय या विहार आदि में मुखवस्त्रिका मुख पर न रहे तो जिनकल्पी आदि के लिए भाष्यादि में इसे मुनि-चिह्न की अपेक्षा आवश्यक उपकरण कहना निरर्थक हो जाता है।

भगवतीसूत्र श. ९, उ. ३३ में आठ पट की मुँहपत्ति का उल्लेख है।

समुत्थान सूत्र में भी आठ पट होने का उल्लेख है।

श्वे. मूर्तिपूजक समाज में चार पट की मुँहपत्ति रखी जाती है किन्तु एक किनारे आठ पट भी कर दिए जाते हैं। उसे सदा हाथ में रखते हैं। विहार आदि के समय चोलपट्टक में भी लटका देते हैं। श्वे. स्थानक वासी मुनि पूर्ण रूप से आठ पट करके मुखवस्त्रिका मुख पर बांध कर रखते हैं।

शिवपुराण अध्याय २१ में जैन साधु का परिचय देते हुए मुख पर मुखवस्त्रिका धारण करने का कहा है। यथा—

हस्ते पात्रं दधानाश्च, तुंडे वस्त्रस्य धारकाः।
मलिनान्येव वासांसि, धारयंत्यल्पभाषिणः॥

निशीथभाष्य तथा पिंडनिर्युक्ति में कहा है—

बितियं पि मुहप्पमाणं, मुहप्पमाणेण कायव्वं ॥५८०५॥

—राजेन्द्र कोष भा. ६, पृ. ३३३

मुखवस्त्रिका मुख पर बांधने से ही मुख प्रमाण बनाने का यह कथन सार्थक हो सकता है।

मुखवस्त्रिका की संख्या भी आगम में नहीं कही गई है। अतः दो या अधिक आवश्यकतानुसार रखी जा सकती है। व्याख्या ग्रन्थों में एक-एक मुखवस्त्रिका रखना कहा है।

कम्बल—आगमों में अनेक जगह कम्बल का नाम आता है। यह शीत से शरीर की रक्षा के लिए रखा जाता है।

प्रश्नव्याकरणसूत्र में जहां तीन चद्दर का कथन है, वहां अन्य उपधि में कम्बल का नाम नहीं है, इसलिए इसका समावेश तीन चद्दरों में किया जाता है। जो भिक्षु शीत-परीषह सहन कर सकता है वह वस्त्र का ऊनोदरी तप करता हुआ एक सूती चद्दर से भी निर्वाह कर सकता है तथा अचेल भी रह सकता है।

अथवा वस्त्र की जाति की अपेक्षा ऊनोदरी तप करता हुआ भिक्षु केवल सूती वस्त्र रखने पर कम्बल का त्याग कर सकता है।

कम्बल को जीवरक्षा का साधन भी माना जाने लगा है जो परम्परा मात्र है, किन्तु आगम-सम्मत नहीं है। दशा द. ७ में प्रतिमाधारी भिक्षु का सूर्योदय से सूर्यास्त तक विहार करने का वर्णन है। जहां सूर्यास्त हो जाए वहां रात्रि भर अनावृत भाव से व्यतीत करने का कथन है।

बृहत्कल्प उ. २ में साधु को खुले आकाश वाले स्थान में रहना कल्पनीय कहा है, साध्वी को अकल्पनीय कहा है। किन्तु वहां अप्काय की विराधना होना या कम्बल ओढ़कर रहना नहीं कहा है।

अतः कम्बल को मुखवस्त्रिका या रजोहरण के समान जीवरक्षा का आवश्यक उपकरण मानना आगम-सम्मत नहीं है।

आसन—भिक्षु चद्दर, चोलपट्टक, कम्बल के सिवाय सूती या ऊनी आसन भी आवश्यकता एवं इच्छानुसार रख सकता है। वस्त्र ऊणोदरी तप करने वाला भिक्षु ऊनी वस्त्र का त्याग करके सूती आसन रख सकता है तथा वस्त्र का अधिक त्याग करने वाला भिक्षु आसन रखने का भी त्याग कर सकता है। वह जो भी वस्त्र रखता है, उसी को शय्या आसन के उपयोग में ले लेता है। जो अचेल बन जाता है वह बिना आसन के केवल शय्या-संस्तारक से ही निर्वाह करता है।

व्याख्या ग्रन्थों में दो आसन रखने का विधान भी है—एक सूती, दूसरा ऊनी। वहां सूती को उत्तर-पट्ट और ऊनी को संस्तारक-पट्ट कहा है।

पात्र सम्बन्धी वस्त्र—१. भिक्षा लाने के लिए झोली, २. आहार युक्त पात्रों को रखने का वस्त्र, ३. खाली पात्रों को बांधने के समय उनके बीच में दिए जाने वाले वस्त्र, ४. पानी छानने या उसे ढंकने का वस्त्र, ५. पात्र-प्रमार्जन करने का कोमल वस्त्र।

इन्हें प्रश्न. श्रु. २, अ. ५ में क्रमशः १. पात्रबन्धन, २. पात्रस्थापनक, ३. पटल, ४. रजस्त्राण, ५. पात्रकेसरिका कहा है। ये वस्त्र आवश्यकतानुसार लम्बे-चौड़े रखे जा सकते हैं। क्योंकि आगमों में इनके माप का कोई उल्लेख नहीं है।

पादप्रोंच्छन—यह भी एक वस्त्रमय उपकरण है। इसका कथन आगमों में अनेक स्थलों पर है। निशीथसूत्र में भी अनेक जगह इसका कथन है। इसका मुख्य उपयोग पांव पोंछना है।

आचारांगसूत्र में मलत्याग के समय भी इसका उपयोग करने का कहा है। बृहत्कल्प उ. ५ तथा निशीथ उ. २ के अनुसार कभी-कभी काष्ठदण्ड से बांधकर शय्या के प्रमार्जन में भी इसका उपयोग किया जाता है। निशीथ उ. ५ के अनुसार यदि कभी आवश्यक हो तो गृहस्थ का पादप्रोंच्छन एक दो दिन के लिए लाया जा सकता है। इस तरह आगमों में पादप्रोंच्छन के अनेक प्रकार एवं अनेक उपयोग बताए हैं। इन भिन्न-भिन्न प्रयोगों के कारण या अन्य किसी दृष्टिकोण से व्याख्याग्रन्थों में इसे रजोहरण का पर्यायवाची भी मान लिया गया है। कहीं इसको दो पदों में विभाजित करके 'पाद' तथा 'प्रोंच्छन' (रजोहरण) ऐसा अर्थ भी किया गया है। इस अर्थभ्रम के कारण मूल पाठ में भी अनेक जगह रजोहरण के स्थान पर पादप्रोंच्छन लिखा गया हो, ऐसा प्रतीत होता है। यह पादप्रोंच्छन रजोहरण से भिन्न उपकरण है, ऐसा प्रश्नव्याकरणसूत्र से स्पष्ट है। क्योंकि वहां दोनों उपकरण अलग-अलग कहे हैं और टीकाकार ने भी अलग-अलग गिनकर उपकरणों की संख्या १२ कही है।

दश. अ. ४ में भी एक साथ दोनों उपकरणों के नाम गिनाए हैं।

यह जीर्ण या उपयोग में आए हुए वस्त्रखण्ड का बनाया जाता है, जो सूती या ऊनी किसी भी प्रकार का हो सकता है। इसका भी कोई माप निर्दिष्ट नहीं है। व्याख्याग्रन्थों में यह एक हाथ का समचौरस ऊनी वस्त्र खण्ड कहा गया है। किन्तु ऊनी वस्त्र का त्याग कर ऊणोदरी करने वाले सभी कामों में सूती वस्त्र का ही उपयोग करते हैं। अतः कोई भी उपकरण ऊनी ही हो, ऐसा आग्रह नहीं किया जा सकता है। पादप्रोंच्छन विषयक अन्य जानकारी के लिए उ. २ सूत्र १-८ का विवेचन देखें।

इन प्रमाणों के आधार से यह स्पष्ट होता है कि मुँहपत्ति मुख पर बांधना ही मुनि-चिह्न एवं जीवरक्षा के लिए उपयुक्त है। अन्यथा प्रायः सभी साधु-साध्वियों का खुले मुँह बोलना निश्चित है तथा इधर-उधर रख देने से मुनि-चिह्न भी नहीं रहता है। ग्रामादि में चलते समय या विहार आदि में मुखवस्त्रिका मुख पर न रहे तो जिनकल्पी आदि के लिए भाष्यादि में इसे मुनि-चिह्न की अपेक्षा आवश्यक उपकरण कहना निरर्थक हो जाता है।

भगवतीसूत्र श. ९, उ. ३२ में आठ पट की मुँहपत्ति का उल्लेख है।

समुत्थान सूत्र में भी आठ पट होने का उल्लेख है।

श्वे. मूर्तिपूजक समाज में चार पट की मुँहपत्ति रखी जाती है किन्तु एक किनारे आठ पट भी कर दिए जाते हैं। उसे सदा हाथ में रखते हैं। विहार आदि के समय चोलपट्टक में भी लटका देते हैं। श्वे. स्थानक वासी मुनि पूर्ण रूप से आठ पट करके मुखवस्त्रिका मुख पर बांध कर रखते हैं।

शिवपुराण अध्याय २१ में जैन साधु का परिचय देते हुए मुख पर मुखवस्त्रिका धारण करने का कहा है। यथा—

हस्ते पात्रं दधानाश्च, तुंडे वस्त्रस्य धारकाः।
मलिनान्येव वासांसि, धारयंत्यल्पभाषिणः॥

निशीथभाष्य तथा पिंडनिर्युक्ति में कहा है—

बितियं पि यप्पमाणं, मुहप्पमाणेण कायव्वं ॥५८०५॥

—राजेन्द्र कोष भा. ६, पृ. ३३३

मुखवस्त्रिका मुख पर बांधने से ही मुख प्रमाण बनाने का यह कथन सार्थक हो सकता है।

मुखवस्त्रिका की संख्या भी आगम में नहीं कही गई है। अतः दो या अधिक आवश्यकतानुसार रखी जा सकती है। व्याख्या ग्रन्थों में एक-एक मुखवस्त्रिका रखना कहा है।

कम्बल—आगमों में अनेक जगह कम्बल का नाम आता है। यह शीत से शरीर की रक्षा के लिए रखा जाता है।

प्रश्नव्याकरणसूत्र में जहां तीन चद्दर का कथन है, वहां अन्य उपधि में कम्बल का नाम नहीं है, इसलिए इसका समावेश तीन चद्दरों में किया जाता है। जो भिक्षु शीत-परीषह सहन कर सकता है वह वस्त्र का ऊणोदरी तप करता हुआ एक सूती चद्दर से भी निर्वाह कर सकता है तथा अचेल भी रह सकता है।

अथवा वस्त्र की जाति की अपेक्षा ऊणोदरी तप करता हुआ भिक्षु केवल सूती वस्त्र रखने पर कम्बल का त्याग कर सकता है।

कम्बल को जीवरक्षा का साधन भी माना जाने लगा है जो परम्परा मात्र है, किन्तु आगम-सम्मत नहीं है। दशा द. ७ में पडिमाधारी भिक्षु का सूर्योदय से सूर्यास्त तक विहार करने का वर्णन है। जहां सूर्यास्त हो जाए वहीं रात्रि भर अप्रमत्त भाव से व्यतीत करने का कथन है।

बृहत्कल्प उ. २ में साधु को खुले आकाश वाले स्थान में रहना कल्पनीय कहा है, साध्वी को अकल्पनीय कहा है। किन्तु वहां अप्काय की विराधना होना या कम्बल ओढ़कर रहना नहीं कहा है।

अतः कम्बल को मुखवस्त्रिका या रजोहरण के समान जीवरक्षा का आवश्यक उपकरण मानना आगम-सम्मत नहीं है।

आसन—भिक्षु चद्दर, चोलपट्टक, कम्बल के सिवाय सूती या ऊनी आसन भी आवश्यकता एवं इच्छानुसार रख सकता है। वस्त्र ऊणोदरी तप करने वाला भिक्षु ऊनी वस्त्र का त्याग करके सूती आसन रख सकता है तथा वस्त्र का अधिक त्याग करने वाला भिक्षु आसन रखने का भी त्याग कर सकता है। वह जो भी वस्त्र रखता है, उसी को शय्या आसन के उपयोग में ले लेता है। जो अचेल बन जाता है वह बिना आसन के केवल शय्या-संस्तारक से ही निर्वाह करता है।

व्याख्या ग्रन्थों में दो आसन रखने का विधान भी है—एक सूती, दूसरा ऊनी। वहां सूती को उत्तर-पट्ट और ऊनी को संस्तारक-पट्ट कहा है।

पात्र सम्बन्धी वस्त्र—१. भिक्षा लाने के लिए झोली, २. आहार युक्त पात्रों को रखने का वस्त्र, ३. खाली पात्रों को बांधने के समय उनके बीच में दिए जाने वाले वस्त्र, ४. पानी छानने या उसे ढंकने का वस्त्र, ५. पात्र-प्रमार्जन करने का कोमल वस्त्र।

इन्हें प्रश्न. श्रु. २, अ. ५ में क्रमशः १. पात्रबन्धन, २. पात्रस्थापनक, ३. पटल, ४. रजस्त्राण, ५. पात्रकेसरिका कहा है। ये वस्त्र आवश्यकतानुसार लम्बे-चौड़े रखे जा सकते हैं। क्योंकि आगमों में इनके माप का कोई उल्लेख नहीं है।

पादप्रोंच्छन—यह भी एक वस्त्रमय उपकरण है। इसका कथन आगमों में अनेक स्थलों पर है। निशीथसूत्र में भी अनेक जगह इसका कथन है। इसका मुख्य उपयोग पांव पोंछना है।

आचारांगसूत्र में मलत्याग के समय भी इसका उपयोग करने का कहा है। बृहत्कल्प उ. ५ तथा निशीथ उ. २ के अनुसार कभी-कभी काष्ठदण्ड से बांधकर शय्या के प्रमार्जन में भी इसका उपयोग किया जाता है। निशीथ उ. ५ के अनुसार यदि कभी आवश्यक हो तो गृहस्थ का पादप्रोंच्छन एक दो दिन के लिए लाया जा सकता है। इस तरह आगमों में पादप्रोंच्छन के अनेक प्रकार एवं अनेक उपयोग बताए हैं। इन भिन्न-भिन्न प्रयोगों के कारण या अन्य किसी दृष्टिकोण से व्याख्याग्रन्थों में इसे रजोहरण का पर्यायवाची भी मान लिया गया है। कहीं इसको दो पदों में विभाजित करके 'पात्र' तथा 'प्रोंच्छन' (रजोहरण) ऐसा अर्थ भी किया गया है। इस अर्थभ्रम के कारण मूल पाठ में भी अनेक जगह रजोहरण के स्थान पर पादप्रोंच्छन लिखा गया हो, ऐसा प्रतीत होता है। यह पादप्रोंच्छन रजोहरण से भिन्न उपकरण है, ऐसा प्रश्नव्याकरणसूत्र से स्पष्ट है। क्योंकि वहां दोनों उपकरण अलग-अलग कहे हैं और टीकाकार ने भी अलग-अलग गिनकर उपकरणों की संख्या १२ कही है।

दश. अ. ४ में भी एक साथ दोनों उपकरणों के नाम गिनाए हैं।

यह जीर्ण या उपयोग में आए हुए वस्त्रखण्ड का बनाया जाता है, जो सूती या ऊनी किसी भी प्रकार का हो सकता है। इसका भी कोई माप निर्दिष्ट नहीं है। व्याख्याग्रन्थों में यह एक हाथ का समचौरस ऊनी वस्त्र खण्ड कहा गया है। किन्तु ऊनी वस्त्र का त्याग कर ऊणोदरी करने वाले सभी कामों में सूती वस्त्र का ही उपयोग करते हैं। अतः कोई भी उपकरण ऊनी ही हो, ऐसा आग्रह नहीं किया जा सकता है। पादप्रोंच्छन विषयक अन्य जानकारी के लिए उ. २ सूत्र १-८ का विवेचन देखें।

निशीथिया—यह रजोहरण की डंडी के ऊपर लपेटने का वस्त्र होता है। इसका आगम में कहीं भी निर्देश नहीं है। अतः यह परम्परा से रजोहरण की डंडी पर लपेटने के लिए है। इससे रजोहरण व्यवस्थित बंधा रहता है और वस्त्र युक्त काष्ठ दंड से पशु आदि कोई भयभीत भी नहीं होते हैं। कसीदा एवं रंगों से युक्त निशीथिया रखने की और दो-तीन निशीथिये लपेटकर रखने की प्रवृत्ति भी है, जो केवल परम्परामात्र है। जिसका संयम की अपेक्षा से कोई महत्त्व नहीं है और ऐसे चित्र-विचित्र रंग-बिरंगे कसीदे वाले उपकरण साधु के लिए अकल्पनीय भी हैं।

ये सब वस्त्र सम्बन्धी उपकरण कहे गये हैं। आगमों में इन सभी के माप का स्पष्ट वर्णन नहीं है। अतः भिक्षु ममत्व भाव न करते हुए उपयोगी वस्त्र आवश्यकता एवं गण समाचारी के अनुसार रख सकता है। किन्तु उन सभी वस्त्रों का कुल माप तीन अखण्ड वस्त्र (थान-ताका) से अधिक होने पर उन्हें सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है और निशी. उ. १८ के अनुसार सकारण (अशक्ति आदि से) आज्ञा पूर्वक मर्यादा से अतिरिक्त वस्त्र रखे जाने पर प्रायश्चित्त नहीं आता है।

साध्वी के लिए—आगमों में ४ चद्दरों का और उनकी चौड़ाई का कथन है। 'उग्गहणंतक' और 'उग्गहपट्टक' ये दो उपकरण विशेष कहे गए हैं। आगमों में साध्वी के उपकरणों का भी अलग-अलग स्पष्ट माप नहीं है। अतः साध्वियां भी आवश्यकता और समाचारी के अनुसार उपकरण रख सकती हैं किन्तु अकारण एवं आज्ञा बिना चार अखंड वस्त्र के माप से अधिक वस्त्र रखने पर उन्हें भी सूत्रोक्त प्रायश्चित्त समझना चाहिए।

शीलरक्षा के लिए और शरीर-संरचना के कारण कुछ उपकरण संख्या व माप में अधिक होने से इनके लिए बृहत्कल्पसूत्र में एक अखण्ड वस्त्र अधिक कहा गया है।

उग्गहणंतक-उग्गहपट्टक—गुप्तांग को ढंकने का लम्बा (लंगोट जैसा) कपड़ा 'उग्गहपट्टक' कहा गया है। जांघिया जैसे उपकरण को उग्गहणंतक कह सकते हैं।

बृहत्कल्प सूत्र उ. ३ में ये दोनों उपकरण साधु को रखने का निषेध है और साध्वी को रखने का विधान है। ये दोनों उपकरण शीलरक्षा के लिए रखे जाते हैं और यथासमय पहने जाते हैं। व्याख्याकारों ने इन दो उपकरणों के स्थान पर छह उपकरणों का वर्णन किया है तथा साध्वी के लिए कुल २५ उपकरणों की संख्या बताई है और साधु के लिए १४ उपकरण कहे हैं। आगमों में संख्या का ऐसा कोई निर्देश नहीं है। भिन्न-भिन्न स्थलों पर भिन्न-भिन्न उपकरणों का कथन है। प्रश्नव्याकरण-सूत्र में एक साथ उपकरणों का कथन है परन्तु वहां संख्या का निर्देश नहीं है, न ही उस कथन से भाष्योक्त संख्या का निर्णय होता है।

पात्र—लकड़ी, तुम्बा, मिट्टी, इन तीन जाति के पात्रों में से किसी भी जाति के पात्र रखे जा सकते हैं, ऐसा वर्णन अनेक आगमों में स्पष्ट मिलता है किन्तु पात्र की संख्या का निर्णय किसी भी आगमपाठ से नहीं होता है।

१. आचा. श्रु. १, अ. ८, उ. ४ में विशिष्ट प्रतिज्ञाधारी समर्थ भिक्षु के लिए अनेक पात्रों का वर्णन है—

'जे भिक्खू तिहिं वत्थेहिं परिवुसिए, पाय चउत्थेहिं।'

यहाँ पर एकवचन का प्रयोग न करके 'पाय चउत्थेहिं' ऐसा बहुवचनांत शब्द का प्रयोग किया गया है।

२. व्यव. उ. २ में परिहारतप प्रायश्चित्त वहन करने वाले भिक्षु के लिए आहार करने का विधान करते हुए पात्र की अपेक्षा से पाँच शब्दों का प्रयोग किया है—

'सयंसि वा पडिग्गहंसि, सयंसि वा पलासगंसि, सयंसि वा कमंडलंसि, सयंसि वा खुब्बगंसि, सयंसि वा पाणिंसि।'

यहाँ आहार के पात्र के लिए 'पडिग्गहंसि' शब्द है। मात्रक के लिए 'पलासगंसि' शब्द है और पानी के पात्र के लिए 'कमंडलंसि' शब्द है। इस पाठ में भी अनेक प्रकार के पात्र होने का कथन स्पष्ट है।

३. भगवतीसूत्र श. २, उ. ५ में गौतमस्वामी के गोचरी जाने के वर्णन में उनके अनेक पात्रों का वर्णन है—

'तए णं से भगवं गोयमे छट्ठक्खमणपारणगंसि जाव भायणाइं वत्थाइं पडिलेहेइ भायणाइं वत्थाइं पडिलेहित्ता भायणाइं पमज्जइ, भायणाइं पमज्जित्ता भायणाइं उग्गाहेइ, भायणाइं उग्गाहेत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे जाव भिक्खायरियं अडइ जाव एसणं अणेसणं आलोएइ आलोएत्ता भत्तपाणं पडिदंसेइ।'

इस वर्णन में बताया गया है कि गौतमस्वामी ने बहुत से पात्रों का प्रतिलेखन, प्रमार्जन किया तथा गोचरी में लाए हुए आहार तथा पानी दोनों भगवान् को दिखाए। यहाँ पर गौतमस्वामी के अनेक पात्र होने का स्पष्ट वर्णन है।

४. भगवतीसूत्र श. २५, उ. ७ में उपकरण-ऊणोदरी का वर्णन इस प्रकार है—

'से किं तं उवगरणोमोयरिया ?
उवगरणोमोयरिया एगे वत्थे, एगे पाए, चियत्तोवगरणसाइज्जणया।'

यहाँ एक वस्त्र (चद्दर) एवं एक पात्र रखने से ऊणोदरी तप होने का कथन है। इससे अनेक वस्त्र एवं अनेक पात्र रखना स्पष्ट सिद्ध होता है, क्योंकि अनेक वस्त्र-पात्र कल्पनीय हों तब ही एक वस्त्र या पात्र रखने से ऊणोदरी तप हो सकता है।

५. प्रश्नव्याकरणसूत्र श्रु. २, अ. ५ में पात्र के उपकरणों में 'पटल' की संख्या तीन कही गई है। पटल का उपयोग पात्रों को बांधकर रखते समय किया जाता है। पात्र के बीच में रखे जाने के कारण इन को 'पटल' (अस्तान) कहा गया है। इनकी संख्या तीन कही गई है अतः पात्र तो तीन से ज्यादा होना स्वतः सिद्ध हो जाता है। एक या दो पात्र के लिए तीन पटल की आवश्यकता नहीं होती है। व्याख्याकारों ने पटल का उपयोग गोचरी में भ्रमण करते समय आहार के पात्रों को ढंकने का बताया है, पांच सात पटल रखना भी कह दिया है। किन्तु आगम में आहार के पात्रों को ढांकने के लिए झोली एवं रजस्त्राण उपकरण अलग कहे गये हैं, अतः पटल का उपर्युक्त उपयोग ही उचित है।

६. आचा. श्रु. २, अ. ६ में पात्र सम्बन्धी पाठ इस प्रकार है—

'भिक्खू वा भिक्खूणी वा अभिकंखेज्जा पायं एसित्तए, से जं पुण पायं जाणेज्जा, तं जहा— अलाउपायं वा दारुपायं वा मट्टियापायं वा, तहप्पगारं पायं जे निग्गंथे तरुणे जाव थिरसंघयणे, से एगं पायं धारेज्जा णो बीयं।'

अर्थ—भिक्षु या भिक्षुणी पात्र की गवेषणा करना चाहे, तब वह ऐसा जाने कि यह तुम्बे का पात्र, लकड़ी का पात्र या मिट्टी का पात्र है। इनमें से जो निर्ग्रन्थ तरुण यावत् स्थिर संहनन वाला है वह एक ही प्रकार का पात्र ग्रहण करे दूसरे प्रकार का नहीं।

यहाँ तीन जाति के पात्रों का कथन करके एक को ग्रहण करने का जो विधान किया है वह एक जाति की अपेक्षा से है, ऐसा अर्थ ही आगमसंगत है। यदि सम्बन्ध मिलाए बिना ही ऐसा समझ लिया जाए कि संख्या में एक ही पात्र भिक्षु को कल्पता है अनेक नहीं, तो यह अर्थ उपर्युक्त अनेक आगमपाठों से विरुद्ध है। क्योंकि गणधर गौतमस्वामी के एवं पारिहारिक तप करने वाले भिक्षु के तथा विशिष्ट प्रतिज्ञाधारी भिक्षुओं के भी अनेक पात्र होना ऊपर बताए गए आगमप्रमाणों से स्पष्ट है।

यदि तरुण स्वस्थ साधु को एक ही पात्र कल्पता हो तो अनेक पात्र रखना कमजोरी और अपवाद-मार्ग सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में पात्र की ऊणोदरी करने का कोई प्रयोजन ही नहीं रहता। जबकि भगवती आदि सूत्रों में ऊणोदरीतप का पाठ स्पष्ट मिलता है तथा उसकी व्याख्या भी मिलती है।

अतः आचारांग के इस पाठ में एक जाति के पात्र ही तरुण साधु को कल्पते हैं, यही अर्थ करना निराबाध है।

इस प्रकार से भिक्षु के अनेक पात्र रखने का निर्णय तो हो जाता है, किन्तु कितने पात्र रखना यह निर्णय नहीं हो पाता है।

तीन पटल के पाठ से जघन्य ४ पात्र रखना तो स्पष्ट है, इसके अतिरिक्त मात्रक तीन प्रकार के कहे गए हैं—१. उच्चारमात्रक, २. प्रस्रवणमात्रक, ३. खेलमात्रक।

इनमें प्रस्रवणमात्रक तो सभी को आवश्यक होता है, किन्तु खेलमात्रक और उच्चार मात्रक विशेष कारण से किसी-किसी को आवश्यक होता है।

आचारांग के इस पाठ से या अन्य किसी कारण से भाष्य-टीकाकारों ने पात्र संख्या की चर्चा करते हुए एक पात्र व एक मात्रक रखने को कल्पनीय सिद्ध किया है। जिसमें मात्रक का विधान आर्यरक्षित के द्वारा किया गया बताया है। अन्यत्र भी इस विषयक विस्तृत चर्चा की गई है। जिसका उपर्युक्त आगम प्रमाणों के सामने कुछ भी महत्त्व नहीं रहता है तथा एक या दो पात्र रखने की कोई परम्परा भी प्रचलित नहीं है।

गोच्छग—संयम लेते समय ग्रहण की जाने वाली उपधि के वर्णन में पात्र से भिन्न "गोच्छग" का कथन है।

उत्तरा. अ. २६ में सूर्योदय होने पर मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना के बाद "गोच्छग" के प्रतिलेखन करने का विधान है। उसके बाद वस्त्र-प्रतिलेखन का कथन है। तदनन्तर पौन पोरिसी आने पर पात्रप्रतिलेखन का विधान है।

इन सूत्रों से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि "गोच्छग" पात्र सम्बन्धी उपकरण नहीं है किन्तु वस्त्रों के प्रतिलेखन में प्रमार्जन करने का उपकरण है, जिसे प्रमार्जनिका (पूंजणी) कहा जाता है।

प्रश्नव्याकरणसूत्र श्रु. २, अ. ५ में अनेक उपकरणों के नाम निर्देश हैं तथा वहाँ "आदि" शब्द का भी प्रयोग किया गया है, जिससे पादप्रोंछन, मात्रक, आसन आदि अनिर्दिष्ट उपकरणों को ग्रहण किया जाता है। उस पाठ में भी "गोच्छग' उपकरण स्वतन्त्र कहा गया है।

दशवै. अ. ४ में अनेक उपकरणों के निर्देश के साथ "गोच्छग" का भी निर्देश पात्र से अलग किया है।

व्याख्याकारों ने "गोच्छग" को पात्र का ही उपकरण गिनाया एवं समझाया है और उसे ऊनी वस्त्रखण्ड बताया है। किन्तु उपर्युक्त स्पष्टीकरण से गोच्छग को पूंजणी ही समझना उचित है।

बृहत्कल्प सूत्र उ. ५ में तथा प्रश्न. श्रु. २, अ. ५ में "पायकेसरिया" उपकरण का वर्णन है। जो पात्रप्रमार्जन का कोमल वस्त्र रूप उपकरण है। तुम्बे के पात्र का प्रमार्जन करने के लिए इसे भिक्षु छोटे काष्ठदंड से बांधकर भी रख सकता है, किन्तु साध्वी को काष्ठदंड युक्त रखने का बृहत्कल्पसूत्र में निषेध है। कहीं-कहीं इसे भी "गोच्छग" ही मान लिया जाता है। किन्तु प्रश्नव्याकरणसूत्र में पात्र के उपकरणों के बीच तीसरा उपकरण "पायकेसरिका" कहा है और गोच्छग अलग कहा है, अतः दोनों उपकरण भिन्न-भिन्न हैं। गोच्छग का उपयोग वस्त्र, शरीर या अन्य उपधि के प्रमार्जन के लिए होता है एवं पात्रकेसरिका का उपयोग पात्रप्रमार्जन के लिए होता है। इस प्रकार दोनों का कार्य भी भिन्न-भिन्न है।

रजोहरण—यह भिक्षु का आवश्यक उपकरण है। जिनकल्पी एवं स्थविरकल्पी सभी साधुओं को रखना आवश्यक होता है। खड़े-खड़े भूमि का प्रमार्जन किया जा सके, इतना लम्बा होता है तथा एक बार में प्रमार्जन की हुई भूमि में बराबर पैर रखा जा सके इतना घेराव होता है। उत्कृष्ट घेराव ३२ अंगुल भी समझा जा सकता है। विशेष वर्णन उद्देशक पांच के अन्तिम सूत्रों से जानना चाहिए। चलते समय प्रमार्जन करने में तथा आसन, शय्या व मकान का प्रमार्जन करने में इसका उपयोग किया जाता है। इसे 'ऋषि-ध्वज' भी कहा गया है।

आगमों में भिक्षु को 'अचेल' और 'अपात्र' (करपात्री) भी कहा है। भाष्यादि में मुहपत्ती एवं रजोहरण के सिवाय सभी उपकरणों का त्याग करना बताया है, क्योंकि ये दोनों संयम एवं जीव रक्षा के प्रमुख साधन है और शेष उपकरण शरीर की रक्षा एवं लज्जा की प्रमुखता से रखे जाते हैं। अल्प उपाधि रखने वाले जिनकल्पी आदि भिक्षु रजोहरण से गोच्छग का कार्य भी कर सकते हैं।

साधु के सभी उपकरणों की तालिका

वस्त्र माप	उपकरण	विवरण
१ हाथ	मुहपत्ती	दो (कम से कम) लम्बाई २१ अंगुल, चौड़ाई १६ अंगुल अथवा १६ अंगुल समचौरस।
	गोच्छग	एक (शरीर, उपकरण और वस्त्र के प्रमार्जन योग्य)

	रजोहरण	एक (खड़े-खड़े या चलते समय भूमिप्रमार्जन योग्य)
३५ हाथ	चद्दर	तीन (ऊनी कम्बल या सूती चद्दर)
१५ हाथ	चोलपट्ट	दो (लम्बाई ५ हाथ और चौड़ाई १½ हाथ)
७ हाथ	आसन	एक (३½ × २)
	पात्र	चार (कम से कम), मात्रक अलग।
१० हाथ	पात्र के वस्त्र	सात
१ हाथ	पादप्रोंछन	एक
१ हाथ	निशीथिया	एक, रजोहरण के काष्ठदण्ड पर लगाने के लिए।
७० हाथ लगभग	तीन अखण्ड वस्त्र	७२ हाथ होता है।

साध्वी के सभी उपकरणों की तालिका

१. चद्दर ४	४५ हाथ
२. साटिका (साड़ी) २	२० हाथ
३. उग्गहणंतक, उग्गहपट्टक, कंचुकी	१० हाथ
४. शेष मुहपत्ती आदि पूर्वोक्त	२० हाथ
४ अखण्ड वस्त्र—९६ हाथ	९५ हाथ लगभग

उपर्युक्त उपधि रखना भिक्षु की उत्सर्ग विधि है। अपवाद से अन्य उपधि आवश्यकतानुसार अल्प समय के लिए गीतार्थ भिक्षु की आज्ञा से रखी जा सकती है। किन्तु सदा के लिए और सभी साधुओं के लिए रखना उपयुक्त नहीं है। अतः अकारण कोई उपधि नहीं रखी जा सकती है।

औपग्रहिक उपधि इस प्रकार है—

१. दण्ड २ लाठी ३. बांस की खपच्ची ४. बांस की सुई ५. चर्म ६. चर्मकोश ७. चर्म-छेदनक ८. छत्र. ९ भृशिका १०. नालिका ११. चिलमिली १२. सूई १३. कैंची १४. नखच्छेदनक १५. कर्णशोधनक १६. कांटा निकालने का साधन इत्यादि औपग्रहिक उपकरणों का उल्लेख आगमों में है। भाष्य में आपवादिक औपग्रहिक उपकरण इस प्रकार कहे हैं—

पीढग[1] णिसज्ज[2] दंडग[3] पमज्जणी घट्टए डगलमादी[4]।
पिप्पल[5] सूयि[6]-णहहरणि[7], सोधणगदुगं[8-9] जहण्णो उ ॥१४१३॥

वासत्ताणे पणगं[10], चिलमिलि[11] पणगं दुगंच[12] संथारे।
दंडादि[13] पणगं पुण, मत्तग[14] तिगं पादलेहणिया ॥१४१४॥

चम्मतिगं[15] पट्टदुगं[16] णायव्वो............................॥१४१५॥

अक्खा[19] संथारो[18] य, एगमणेगंगिओ य उक्कोसो।
पोत्थपणगं[20] फलगं[21] बितिय पदे होइ उक्कोसो ॥१४१६॥

—नि भाष्य भा. २ पृष्ठ १९२-९३
—बृहत्कल्प भाष्य गा. ४०९६ से ४०९९

अर्थ— १. अनेक प्रकार के पीढे, २. निषद्या, ३. दंडप्रमार्जनिका, डांडिया या डंडासन, ४. डगल-पत्थरादि, ५. कैंची (कतरनी), ६. सूई, ७. नखछेदनक, ८. कर्ण-शोधनक, ९. दन्त-शोधनक, १०. छत्र पंचक, ११. चिलमिलिका पंचक, १२. सस्तारक (अनेक प्रकार के तृण), १३. पांच प्रकार के दंड लाठी आदि, १४. तीन मात्रक (उच्चार, प्रस्रवण, खेल मात्रक), १५. अवलेखनिका (बांस की खपच्ची), १६. चर्मत्रिक (सोने, बैठने एव ओढने का), १७. संस्तारक पट और उत्तरपट्ट (ऊनी एवं सूती शयनवस्त्र), १८. अक्ष-समवसरण (स्थापनाचार्य), १९. चटाई आदि, २०. पुस्तक पंचक, २१. फलग-लकड़ी के पाट आदि ।

भिक्षु इन उपकरणों को उत्सर्गविधि से नही रख सकता है, आपवादिक स्थिति में ये औपग्रहिक उपकरण रखे जा सकते हैं ।

पुस्तक के कथन से अध्ययन की लेखन सामग्री के अन्य उपकरण एव चश्मे आदि भी क्षेत्र-काल अनुसार आवश्यक होने पर रखे जा सकते हैं ।

यहां यह उल्लेखनीय है कि इन उपकरणों में सूई, कैंची, छत्र आदि धातु वाले उपकरण भी कहे है ।

पुस्तक, मात्रक, संस्तारक, पाट तथा शयनवस्त्र को भी आपवादिक उपकरण कहा है तथा अनेक प्रचलित उपकरणों एवं पदार्थों का यहां कोई उल्लेख नही है । आगम तथा उनके भाष्य टीका के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न समुदायों में प्रचलित कुछ उपकरण इस प्रकार हैं—

१. नांद, तगड़ी, सूंपड़ी, चूली, मूर्ति आदि ।
२. गुरुजनों के फोटू आदि ।
३. समय की जानकारी के लिए घड़ी ।
४. स्थापनाचार्य के लिए ठमणी ।
५. पुस्तक रखने के सापड़ा, सापड़ी ।
६. योग की पाटली, दांडी, दंडासन ।
७. वासक्षेप का डिब्बा या बटुआ ।
८. प्लास्टिक के लोटा गिलास ढक्कन आदि उपकरण ।
९. रात्रि में रखने के पानी में डालने के चूने का डिब्बा ।
१०. वस्त्र, पात्र आदि को स्वच्छ करने के लिए साबुन सोडा सर्फ आदि ।
११. वस्त्रादि सुखाने के लिए तथा चिलमिली आदि के लिए डोरियां ।

इन उपकरणों के रखने का विधान आगमों में या भाष्य आदि व्याख्या ग्रन्थों में नहीं है । फिर भी अत्यावश्यक होने पर ही संयम एवं शरीर आदि की सुरक्षा के हेतु ये औपग्रहिक उपकरण रखे जा सकते हैं । इसके अतिरिक्त केवल प्रवृत्ति या परम्परा से रखे जाने वाले सभी उपकरण परिग्रह रूप होते हैं ।

प्रस्तुत प्रायश्चित्तसूत्र औत्सर्गिक उपधि से सम्बन्धित है। उसमें भी जिसकी गणना या प्रमाण (माप) आगम में उपलब्ध है उसी के उल्लंघन का प्रायश्चित्त इससे समझना चाहिए। शेष प्रायश्चित्त प्रमाणाभाव में परम्परागत समाचारी के अनुसार समझना चाहिए।

प्रस्तुत विवेचन में कतिपय उपकरणों का माप आगम में न होने के कारण अनुमान से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।

आगम निरपेक्ष अतिरिक्त उपधि रखने का गुरुचौमासिक प्रायश्चित्त आता है। कारण बिना या कारण के समाप्त हो जाने पर भी औपग्रहिक उपकरणों को रखने पर गुरुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है। औपग्रहिक उपकरणों को सदा के लिए आवश्यक रूप से रखने की परम्परा चलाने पर उत्सूत्रप्ररूपणा का प्रायश्चित्त आता है और रखने वालों को गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है। अतः डंडा, कंबल, स्थापनाचार्य आदि किसी भी उपकरण का आग्रहयुक्त प्ररूपण करना मिथ्याप्रवर्तन समझना चाहिए।

विराधना वाले स्थानों पर परठने का प्रायश्चित्त

४०. जे भिक्खू अणंतरहियाए पुढवीए उच्चार-पासवणं परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ।

४१. जे भिक्खू ससिणिद्धाए पुढवीए उच्चार-पासवणं परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ।

४२. जे भिक्खू ससरक्खाए पुढवीए उच्चार-पासवणं परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ।

४३. जे भिक्खू मट्टियाकडाए पुढवीए उच्चार-पासवणं परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ।

४४. जे भिक्खू चित्तमंताए पुढवीए उच्चार-पासवणं परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ।

४५. जे भिक्खू चित्तमंताए सिलाए उच्चार-पासवणं परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ।

४६. जे भिक्खू चित्तमंताए लेलूए उच्चार-पासवणं परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ।

४७. जे भिक्खू कोलावासंसि वा दारुए जीवपइट्ठिए, सअंडे जाव मक्कडा-संताणए उच्चार-पासवणं परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ।

४८. जे भिक्खू थूणंसि वा, गिहेलुयंसि वा, उसुयालंसि वा, कामजलंसि वा, अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि अंतलिक्खजायंसि दुब्बद्धे, दुन्निक्खित्ते, अनिकंपे, चलाचले उच्चार-पासवणं परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ।

४९. जे भिक्खू कुलियंसि वा, भित्तिंसि वा, सिलंसि वा, लेलुंसि वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि अंतलिक्खजायंसि दुब्बद्धे, दुन्निक्खित्ते, अनिकंपे, चलाचले उच्चार-पासवणं परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ।

५०. जे भिक्खू खंधंसि वा, फलिहंसि वा, मंचंसि वा, मंडवंसि वा, मालंसि वा, पासायंसि वा, हम्मियतलंसि वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि अंतलिक्खजायंसि, दुब्बद्धे, दुन्निक्खित्ते, अनिकंपे, चलाचले उच्चार-पासवणं परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं ॥

४०. जो भिक्षु सचित्त पृथ्वी के निकट की भूमि पर मल-मूत्र का परित्याग करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

४१. जो भिक्षु जल से स्निग्ध पृथ्वी पर उच्चार-प्रस्रवण परठता है या परठने वाले का अनुमोदन करता है।

४२. जो भिक्षु सचित्त रजयुक्त पृथ्वी पर उच्चार-प्रस्रवण परठता है या परठने वाले का अनुमोदन करता है।

४३. जो भिक्षु सचित्त मिट्टी बिखरी हुई पृथ्वी पर उच्चार-प्रस्रवण परठता है या परठने वाले का अनुमोदन करता है।

४४. जो भिक्षु सचित्त पृथ्वी पर उच्चार-प्रस्रवण परठता है या परठने वाले का अनुमोदन करता है।

४५. जो भिक्षु सचित्त शिला पर उच्चार-प्रस्रवण परठता है या परठने वाले का अनुमोदन करता है।

४६. जो भिक्षु सचित्त शिलाखण्ड आदि पर उच्चार-प्रस्रवण परठता है या परठने वाले का अनुमोदन करता है।

४७. जो भिक्षु दीमक लगे हुए जीवयुक्त काष्ठ पर तथा अण्डे यावत् मकड़ी के जालों से युक्त स्थान पर उच्चार-प्रस्रवण परठता है या परठने वाले का अनुमोदन करता है।

४८. जो भिक्षु दुर्बद्ध, दुर्निक्षिप्त, अनिष्कम्प या चलाचल थंभे पर, देहली पर, ओखली पर, स्नानपीठ पर या अन्य भी ऐसे आकाशीय स्थानों पर उच्चार-प्रस्रवण परठता है या परठने वाले का अनुमोदन करता है।

४९. जो भिक्षु दुर्बद्ध, दुर्निक्षिप्त, अनिष्कम्प या चलाचल मिट्टी की दीवार पर, ईंट आदि की भित्ति पर, शिला पर, शिलाखण्ड-पत्थर पर या अन्य भी ऐसे अन्तरिक्षजात स्थानों पर उच्चार-प्रस्रवण परठता है या परठने वाले का अनुमोदन करता है।

५०. जो भिक्षु दुर्बद्ध, दुर्निक्षिप्त, अनिष्कम्प या चलाचल स्कन्ध (टांड), फलह, मंच, मंडप, माला, महल या हवेली की छत पर या अन्य भी ऐसे अन्तरिक्षजात स्थान पर उच्चार-प्रस्रवण परठता है या परठने वाले का अनुमोदन करता है।

इन ५० सूत्रों में कहे गए स्थानों का सेवन करने पर लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन—जहां आत्म-विराधना तथा संयम-विराधना होती हो ऐसे स्थानों पर परठने का

प्रायश्चित्त इन सूत्रों में कहा गया है। निषिद्ध स्थानों में परठने सम्बन्धी विवेचन उ. ३ तथा उ. १५ में देखें एवं सूत्र सम्बन्धी अन्य विवेचन उ. १३ में देखें।

सोलहवें उद्देशक का सारांश

सूत्र १-३	गृहस्थयुक्त, जलयुक्त और अग्नियुक्त शय्या में ठहरना।
४-११	सचित्त इक्षु या इक्षुखण्ड खाना या चूसना।
१२	अरण्य में रहने वाले, वन (जंगल) में जाने वाले, अटवी की यात्रा करने वालों से आहार लेना।
१३-१४	अल्पचारित्रगुण वाले को विशेषचारित्रगुण सम्पन्न कहना और विशेषचारित्रगुण सम्पन्न को अल्प चारित्रगुण वाला कहना।
१५	विशेषचारित्रगुण वाले गच्छ से अल्पचारित्रगुण वाले गच्छ में जाना।
१६-२४	कदाग्रह युक्त भिक्षुओं के साथ आहार, वस्त्र, मकान, स्वाध्याय का लेन-देन करना।
२५-२६	सुखपूर्वक विचरने योग्य क्षेत्र होते हुए भी अनार्य क्षेत्रों में या विकट मार्गों में विहार करना।
२७-३२	जुगुप्सित कुल वालों से आहार वस्त्र शय्या ग्रहण करना तथा उनके वहाँ स्वाध्याय की वाचना लेना-देना।
३३-३५	भूमि पर या संस्तारक (बिछौने) पर आहार रखना या खूँटी छींका आदि पर आहार रखना।
३६-३७	गृहस्थों के साथ बैठकर आहार करना या गृहस्थ देखें वहाँ आहार करना।
३८	आचार्य आदि के आसन पर पाँव लगाकर विनय किये बिना चले जाना।
३९	सूत्रोक्त संख्या या माप (परिमाण) से अधिक उपधि रखना।
४०-५०	विराधना वाले स्थानों पर मल-मूत्र परठना।

इत्यादि दोष स्थानों का सेवन करने वाले को लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

इस उद्देशक के ३२ सूत्रों के विषय का कथन निम्न आगमों में है, यथा—

सूत्र १-३	स्त्री, अग्नि, पानीयुक्त मकान में ठहरने का निषेध।	—आचा. श्रु. २, अ. २, उ. ३ तथा बृह. उद्दे. २
४-११	सचित्त इक्षु व इक्षुखण्ड ग्रहण का निषेध।	—आचा. श्रु. २, अ. ७, उ. २
१५	चारित्र की वृद्धि न हो ऐसे गच्छ में जाने का निषेध।	—बृह. उ. ४
२५-२६	योग्य क्षेत्र के होते हुए विकट क्षेत्र में विहार करने का निषेध।	—आचा. श्रु. २, अ. ३, उ. १
२७-३२	अजुगुप्सित अगर्हित कुलों में भिक्षार्थ जाने का विधान।	—आचा. श्रु. २, अ. १, उ. २
३८	आचार्यादि के आसन को पांव लगाकर विनय किए बिना चले जाना आशातना है।	—दशा. द. ३

४०-५० पृथ्वी आदि की विराधना वाले तथा अन्तरिक्षजात स्थानों पर मल-मूत्र परठने का निषेध। —आचा. श्रु. २, अ. १०

इस उद्देशक के १८ सूत्रों के विषयों का कथन अन्य आगमों में नहीं है, यथा—

सूत्र १२ अरण्य वन अटवी आदि में रहने तथा जाने-आने वालों से आहार नहीं लेना।

१३-१४ अल्प या विशेष चारित्रवान् के सम्बन्ध में विपरीत कथन नहीं करना।

१६-२४ कदाग्रही से लेन-देन सम्पर्क नहीं करना।

३३-३५ भूमि, आसन पर या खूंटी आदि पर आहार नहीं रखना।

३६-३७ गृहस्थ के साथ बैठकर या उसके सामने बैठकर आहार नहीं करना।

३९ गणना या परिमाण से अधिक उपधि नहीं रखना।

॥ सोलहवां उद्देशक समाप्त ॥

सत्रहवां उद्देशक

कौतूहलजनित प्रवृत्तियों का प्रायश्चित्त

१. जे भिक्खू कोउहल्ल-वडियाए अण्णयरं तसपाणजायं—

१. तण-पासएण वा, २. मंजु-पासएण वा, ३. कट्ठ-पासएण वा, ४. चम्म-पासएण वा, ५. वेत्त-पासएण वा, ६. रज्जु-पासएण वा, ७. सुत्त-पासएण वा बंधइ, बंधंतं वा साइज्जइ।

२. जे भिक्खू कोउहल्ल-वडियाए अण्णयरं तसपाणजायं तण-पासएण वा जाव सुत्त-पासएण वा बद्धेलयं मुंचइ, मुंचंतं वा साइज्जइ।

३. जे भिक्खू कोउहल्ल वडियाए—

१. तणमालियं वा, २. मुंजमालियं वा, ३. वेत्तमालियं वा, ४. कट्ठमालियं वा, ५. मयण-मालियं वा, ६. भिंडमालियं वा, ७. पिच्छमालियं वा, ८. हडमालियं वा, ९. दंतमालियं वा, १०. संखमालियं वा, ११. सिंगमालियं वा, १२. पत्तमालियं वा, १३. पुप्फमालियं वा, १४. फल-मालियं वा, १५. बीयमालियं वा, १६. हरियमालियं वा करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

४. जे भिक्खू कोउहल्ल-वडियाए तणमालियं वा जाव हरियमालियं वा धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ।

५. जे भिक्खू कोउहल्ल-वडियाए तण-मालियं वा जाव हरियमालियं वा पिणद्धेइ, पिणद्धेंतं वा साइज्जइ।

६. जे भिक्खू कोउहल्ल-वडियाए—

१. अयलोहाणि वा, २. तंबलोहाणि वा, ३. तउयलोहाणि वा, ४. सीसलोहाणि वा, ५. रुप्प-लोहाणि वा, ६. सुवण्णलोहाणि वा करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

७. जे भिक्खू कोउहल्ल-वडियाए अय-लोहाणि वा जाव सुवण्णलोहाणि वा धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ।

८. जे भिक्खू कोउहल्ल-वडियाए अय-लोहाणि वा जाव सुवण्णलोहाणि वा पिणद्धेइ, पिणद्धेंतं वा साइज्जइ।

९. जे भिक्खू कोउहल्ल-वडियाए—१. हाराणि वा, २. अद्धहाराणि वा, ३. एगावलिं वा, ४. मुत्तावलिं वा, ५. कणगावलिं वा, ६. रयणावलिं वा, ७. कडगाणि वा, ८. तुडियाणि वा, ९.

केउराणि वा, १०. कुण्डलाणि वा, ११. पट्टाणि वा, १२. मउडाणि वा, १३. पलंबसुत्ताणि वा, १४. सुवण्णसुत्ताणि वा करेइ, करेंतं वा साइज्जइ ।

१०. जे भिक्खू कोउहल्ल-वडियाए हाराणि वा जाव सुवण्णसुत्ताणि वा धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ ।

११. जे भिक्खू कोउहल्ल-वडियाए हाराणि वा जाव सुवण्णसुत्ताणि वा पिणद्धेइ पिणद्धेंतं वा साइज्जइ ।

१२. जे भिक्खू कोउहल्ल-वडियाए—१. आईणाणि वा, २. सहिणाणि वा, ३. सहिणकल्लाणाणि वा, ४. आयाणि वा, ५. कायाणि वा, ६. खोमियाणि वा, ७. दुगुलाणि वा, ८. तिरीडपट्टाणि वा, ९. मलयाणि वा, १०. पत्तुण्णाणि वा, ११. अंसुयाणि वा, १२. चिणंसुयाणि वा, १३. देसरागाणि वा, १४. अभिलाणि वा, १५. गज्जलाणि वा, १६. फलिहाणि वा, १७. कोयवाणि वा, १८. कंबलाणि वा, १९. पावाराणि वा, २०. उद्दाणि वा, २१. पेसाणि वा, २२. पेसलेसाणि वा, २३. किण्हमिगाईणगाणि वा, २४. नीलमिगाईणगाणि वा, २५. गोरमिगाईणगाणि वा, २६. कणगाणि वा, २७. कणगकंताणि वा, २८. कणगपट्टाणि वा, २९. कणग-खचियाणि वा, ३०. कणगफुसियाणि वा, ३१. वग्घाणि वा, ३२. विवग्घाणि वा, ३३. आभरणचित्ताणि वा, ३४. आभरण-विचित्ताणि वा करेइ, करेंतं वा साइज्जइ ।

१३. जे भिक्खू कोउहल्ल-वडियाए आईणाणि वा जाव आभरण-विचित्ताणि वा धरेई, धरेंतं वा साइज्जइ ।

१४. जे भिक्खू कोउहल्ल-वडियाए आईणाणि वा जाव आभरण-विचित्ताणि वा पिणद्धेइ, पिणद्धेंतं वा साइज्जइ ।

१. जो भिक्षु कौतूहल के संकल्प से किसी त्रसप्राणी को—
१. तृण-पाश से, २. मुंज-पाश से, ३. काष्ठ-पाश से, ४, चर्म-पाश से, ५. वेंत-पाश से, ६. रज्जु-पाश से, ७. सूत्र (डोरे) के पाश से बांधता है या बांधने वाले का अनुमोदन करता है ।

२. जो भिक्षु कौतूहल के संकल्प से किसी त्रसप्राणी को तृण-पाश से यावत् सूत्र-पाश से बंधे हुए को खोलता है या खोलने वाले का अनुमोदन करता है ।

३. जो भिक्षु कौतूहल के संकल्प से—
१ तृण की माला, २. मुंज की माला, ३. वेंत की माला, ४. काष्ठ की माला, ५. मोम की माला, ६. भींड की माला, ७. पिच्छी की माला, ८. हड्डी की माला, ९. दंत की माला, १०. शंख की माला, ११. सींग की माला, १२. पत्र की माला, १३. पुष्प की माला, १४. फल की माला, १५. बीज की माला, १६. हरित (वनस्पति) की माला बनाता है या बनाने वाले का अनुमोदन करता है ।

४ जो भिक्षु कौतूहल के संकल्प से तृण की माला यावत् हरित की माला रखता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है ।

५. जो भिक्षु कौतूहल के संकल्प से तृण की माला यावत् हरित की माला पहनता है या पहनने वाले का अनुमोदन करता है।

६. जो भिक्षु कौतूहल के संकल्प से—

१. लोहे का कड़ा, २. तांबे का कड़ा, ३. त्रपुष का कड़ा, ४. शीशे का कड़ा, ५. चांदी का कड़ा, ६. सुवर्ण का कड़ा, बनाता है या बनाने वाले का अनुमोदन करता है।

७. जो भिक्षु कौतूहल के संकल्प से लोहे का कड़ा यावत् सुवर्ण का कड़ा रखता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है।

८. जो भिक्षु कौतूहल के संकल्प से लोहे का कड़ा यावत् सुवर्ण का कड़ा पहनता है या पहनने वाले का अनुमोदन करता है।

९. जो भिक्षु कौतूहल के संकल्प से—१. हार, २. अर्धहार, ३. एकावली, ४. मुक्तावली, ५. कनकावली, ६. रत्नावली, ७. कटिसूत्र, ८. भुजबन्ध, ९. केयूर (कंठा), १०. कुंडल, ११. पट्ट, १२. मुकुट, १३. प्रलम्बसूत्र, १४. सुवर्णसूत्र बनाता है या बनाने वाले का अनुमोदन करता है।

१०. जो भिक्षु कौतूहल के संकल्प से हार यावत् सुवर्णसूत्र रखता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है।

११. जो भिक्षु कौतूहल के संकल्प से हार यावत् सुवर्णसूत्र पहनता है या पहनने वाले का अनुमोदन करता है।

१२. जो भिक्षु कौतूहल के संकल्प से—१. मूषक आदि के चर्म से निष्पन्न वस्त्र, २. सूक्ष्म वस्त्र. ३. सूक्ष्म व सुशोभित वस्त्र, ४. अजा के सूक्ष्मरोम से निष्पन्न वस्त्र, ५. इन्द्रनीलवर्णी कपास से निष्पन्न वस्त्र, ६. सामान्य कपास से निष्पन्न सूती वस्त्र, ७. गौड देश में प्रसिद्ध या दुगुल वृक्ष से निष्पन्न विशिष्ट कपास का वस्त्र, ८. तिरीड वृक्षावयव से निष्पन्न वस्त्र, ९. मलयगिरि चन्दन के पत्रों से निष्पन्न वस्त्र. १०. बारीक बालों-तंतुओं से निष्पन्न वस्त्र, ११. दुगुल वृक्ष के आभ्यंतरावयव से निष्पन्न वस्त्र, १२. चीन देश में निष्पन्न अत्यन्त सूक्ष्म वस्त्र, १३. देश विशेष के रंगे वस्त्र, १४. रोम देश में बने वस्त्र, १५. चलने पर आवाज करने वाले वस्त्र, १६. स्फटिक के समान स्वच्छ वस्त्र, १७. वस्त्रविशेष कोतवो—वरको, १८. कंबल, १९. कंबलविशेष—खरडग पारिगादि पावारगा, २०. सिंधु देश के मच्छ के चर्म से निष्पन्न वस्त्र, २१. सिन्धु देश के सूक्ष्म चर्म वाले पशु से निष्पन्न वस्त्र, २२. उसी पशु की सूक्ष्म पशमी से निष्पन्न वस्त्र, २३. कृष्णमृग-चर्म, २४. नीलमृग-चर्म, २५. गौरमृग-चर्म, २६. स्वर्णरस से लिप्त साक्षात् स्वर्णमय दिखे ऐसा वस्त्र, २७. जिसके किनारे स्वर्णरसरंजित किये हो ऐसा वस्त्र, २८. स्वर्णरसमय पट्टियों से युक्त वस्त्र, २९. सोने के तार जड़े हुए वस्त्र, ३०. सोने के स्तबक या फूल जड़े हुये वस्त्र, ३१. व्याघ्रचर्म, ३२. चीते का चर्म, ३३. एक विशिष्ट प्रकार के आभरण युक्त वस्त्र, ३४. अनेक प्रकार के आभरण युक्त वस्त्र बनाता है या बनाने वाले का अनुमोदन करता है।

१३. जो भिक्षु कौतूहल के संकल्प से मूषक आदि के चर्म से निष्पन्न वस्त्र यावत् अनेक प्रकार के आभरणयुक्त वस्त्र धारण करता है या धारण करने वाले का अनुमोदन करता है।

१४. जो भिक्षु कौतूहल के संकल्प से मूषक आदि के चर्म से निष्पन्न वस्त्र यावत् अनेक प्रकार के आभरणयुक्त वस्त्र पहनता है या पहनने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—भिक्षु को कुतुहलवृत्ति से रहित एवं गंभीर स्वभाव वाला होना चाहिये। उसे कुतूहल वृत्ति वालों की संगति भी नहीं करना चाहिए। संयम, तप, स्वाध्याय, ध्यान आदि में ही सदा प्रवृत्त रहना चाहिये।

सूत्र १ और २ का विवेचन उद्देशक १२ में तथा ३ से १४ तक का विवेचन उद्देशक ७ में किया जा चुका है।

माला, आभूषण आदि पहनने से वेषविपर्यास होता है। लोकनिंदा भी होती है। इन पदार्थों की प्राप्ति में तथा रखने में भी दोषों की संभावना रहती है। अतः ये प्रवृत्तियां भिक्षु के लिये अनाचरणीय हैं।

श्रमण या श्रमणी द्वारा एक दूसरे का शरीर-परिकर्म गृहस्थ से करवाने का प्रायश्चित्त

१५-६८. जा णिग्गंथी णिग्गंथस्स पाए अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जावेज्ज वा पमज्जावेज्ज वा, आमज्जावेंतं वा पमज्जावेंतं वा साइज्जइ।

एवं तइय उद्देसगगमेण णेयव्वं जाव जा णिग्गंथी णिग्गंथस्स गामाणुगामं दूइज्जमाणस्स अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीसदुवारियं कारावेइ, कारावेंतं वा साइज्जइ।

६९-१२२. जे णिग्गंथे णिग्गंथीए पाए अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जावेज्ज वा पमज्जावेज्ज वा, आमज्जावेंतं वा पमज्जावेंतं वा साइज्जइ।

एवं तइय उद्देसगगमेण णेयव्वं जाव जे णिग्गंथे णिग्गंथीए गामाणुगामं दूइज्जमाणीए अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीसदुवारियं कारावेइ, कारावेंतं वा साइज्जइ।

१५-६८. जो निर्ग्रन्थी निर्ग्रन्थ के पैरों का अन्यतीर्थिक या गृहस्थ से एक बार या बार-बार आमर्जन करवाती है या करवाने वाली का अनुमोदन करती है।

इस प्रकार तीसरे उद्देशक के (सूत्र १६ से ६९) के समान पूरा आलापक जानना चाहिए यावत् जो निर्ग्रन्थी ग्रामानुग्राम जाते हुए निर्ग्रन्थ के मस्तक को अन्यतीर्थिक या गृहस्थ से ढकवाती है या ढकवाने वाली का अनुमोदन करती है।

६९-१२२. जो निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थी के पैरों का अन्यतीर्थिक या गृहस्थ से एक बार या बार-बार आमर्जन करवाता है या करवाने वाले का अनुमोदन करता है।

इस प्रकार तीसरे उद्देशक के समान पूरा आलापक जानना चाहिए यावत् जो निर्ग्रन्थ

ग्रामानुग्राम जाती हुई निर्ग्रन्थी के मस्तक को अन्यतीर्थिक या गृहस्थ से ढकवाता है या ढकवाने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—साधु को स्वयं का काय-परिकर्म आदि गृहस्थ से करवाने का प्रायश्चित्त पन्द्रहवें उद्देशक में कहा गया है। यहां निर्ग्रन्थ के द्वारा निर्ग्रन्थी का या निर्ग्रन्थी के द्वारा निर्ग्रन्थ का गृहस्थ से कायपरिकर्म करवाने का प्रायश्चित्त दो आलापकों द्वारा कहा गया है। ऐसी प्रवृत्ति करने में गृहस्थ को साधु-साध्वी के संयम में संदेह हो सकता है इत्यादि दोष पांचवें उद्देशक के संघाटी सिलवाने के सूत्र में कहे गये दोषों के समान समझ लेना चाहिए। अन्य संपूर्ण सूत्रों का विवेचन तीसरे उद्देशक के समान समझना चाहिए।

सदृश निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थियों को स्थान न देने का प्रायश्चित्त

१२३. जे णिग्गंथे णिग्गंथस्स सरिसगस्स अंते ओवासे संते, ओवासं न वेइ, न वेंतं वा साइज्जइ।

१२४. जा णिग्गंथी णिग्गंथीए सरिसियाए अंते ओवासे संते, ओवासं न वेइ, न वेंतं वा साइज्जइ।

१२३. जो निर्ग्रन्थ सदृश आचार वाले निर्ग्रन्थ को अपने उपाश्रय में अवकाश (स्थान) होते हुए भी ठहरने के लिये स्थान नहीं देता है या नहीं देने वाले का अनुमोदन करता है।

१२४. जो निर्ग्रन्थी सदृश आचार वाली निर्ग्रन्थी को अपने उपाश्रय में अवकाश होते हुए भी ठहरने के लिये स्थान नही देती है या नही देने वाली का अनुमोदन करती है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—जो समान समाचारी वाले हों, अचेलत्व आदि १० कल्पों में जो समान हों और सदोष आहार, उपधि, शय्या और शिष्यादि को ग्रहण नही करते हों वे सब 'सदृश साधु' कहे जाते हैं। अपने उपाश्रय में जगह होते हुए उन सदृश साधुओं को अवश्य स्थान देना चाहिये।

किसी आपत्ति के कारण आने वाले साधु यदि असदृश हों तो उन्हें भी अवश्य स्थान देना चाहिये। स्थान होते हुए भी स्थान नहीं देने पर धर्मशासन की अवहेलना होती है और संयमभावों की हानि होती है, राग-द्वेष की वृद्धि होती है। अतः ऐसा करने पर साधु या साध्वी को इन सूत्रों के अनुसार प्रायश्चित्त आता है।

मालोपहृत आहार ग्रहण करने का प्रायश्चित्त

१२५. जे भिक्खू मालोहडं असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा देज्जमाणं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

१२५. जो भिक्षु दिये जाते हुए मालापहृत अशन, पान, खादिम या स्वादिम को लेता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—भूमि पर खड़े-खड़े सरलता से नहीं लिये जा सकते हों तो ऐसे ऊँचे स्थान पर रखे हुए आहार आदि लेना मालापहृत दोष है। चूर्णि में इसके जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद करके यह बताया है कि उत्कृष्ट मालापहृत की अपेक्षा यह प्रायश्चित्त कथन समझना चाहिये। यथा—

सुत्तनिपातो उक्कोसयम्मि, तं खंधमादिसु हवेज्जा—भाष्य गा. ५९५२ अर्थात् निःसरणी आदि लगाकर जहाँ से वस्तु प्राप्त की जाती है ऐसे ऊँचे स्थानों का तथा वैसे ही नीचे तलघर आदि स्थानों का आहार भी मालापहृत समझना चाहिये।

निःसरणी के खिसकने से अथवा चढ़ने-उतरने वाले की स्वयं की असावधानी से वह गिर सकता है, उसके हाथ पांव आदि टूट सकते हैं, 'साधु को देने के लिये चढ़ते-उतरते यह गिर गया या साधु ने गिरा दिया' ऐसी अपकीर्ति हो सकती है इत्यादि अनेक दोषों की संभावना रहती है।

मालापहृत आहार का दश. अ. ५ उ. १ में तथा आचा. श्रु. २, अ. १, उ. ७ में स्पष्ट निषेध किया गया है तथा प्राण, भूत, जीव और सत्त्व की विराधना होने की संभावना कहकर कर्मबंध का कारण भी कहा है। पिंडनिर्युक्ति में इसे उद्गम दोषों में बताया गया है।

सामान्य ऊँचे स्थान से या नहीं गिरने वाले साधन से अथवा स्थायी चढ़ने-उतरने के साधन से आ-जाकर दिया जाने वाला आहार मालापहृत दोष वाला नहीं होता है। आचा. श्रु. २., अ. १, उ. ७ में भी इस संबंध में विस्तृत विवेचन किया गया है।

कोठे में रखा हुआ आहार लेने का प्रायश्चित्त

१२६. जे भिक्खू कोट्ठियाउत्तं असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा उक्कुज्जिय निक्कुज्जिय ओहरिय देज्जमाणं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

१२६. जो भिक्षु कोठे में रखे हुए अशन, पान, खादिम या स्वादिम को ऊँचा होकर या नीचे-झुककर निकालकर देते हुए से लेता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—मिट्टी, गोबर, पत्थर या धातु आदि के कोठे होते हैं। जो कोठे अत्यधिक ऊँचे या नीचे हों अथवा बहुत बड़े हों, जिनमें से वस्तु निकालने में निःसरणी आदि की आवश्यकता तो नहीं पड़ती है किन्तु कठिनाई से वस्तु निकाली जाती है, अर्थात् ऊँचे होना, नीचे झुकना आदि कष्टप्रद क्रिया करनी पड़ती है तो ऐसे कोठे आदि से आहारादि लेने का निषेध आचा. श्रु. २ अ. १ उ. ७ में किया गया है और यहाँ इसका प्रायश्चित्त कहा गया है।

आचारांग में मालापहृत वर्णन के अनंतर सूत्र से ही इस विषय का कथन करके इसे एक प्रकार का मालापहृत दोष माना है और यहाँ प्रायश्चित्त कथन में भी मालापहृत के अनंतर ही इसका कथन है। टीका में इसे तिर्यक् मालापहृत भी कहा गया है। अन्य विवेचन आचारांगसूत्र में देखें।

उद्भिन्न आहार ग्रहण करने का प्रायश्चित्त

१२७. जे भिक्खू मट्टिओलित्तं असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा उब्भिंदिय निब्भिंदिय देज्जमाणं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

१२७. जो भिक्षु मिट्टी से उपलिप्त बर्तन में रहे अशन, पान, खादिम या स्वादिम को लेप तोड़ कर दिये जाने पर ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—मट्टिओलित्तं से यहाँ उद्गम का "उब्भिन्न" दोष ग्रहण किया गया है। इसका निषेध आचा. श्रु. २, अ. १. उ. ७ तथा दशवै. अ. ५, उ. १ में भी है। उन दोनों स्थलों के वर्णन से सभी प्रकार के ढक्कन द्वारा बंद किये हुए बर्तनों में से ढक्कन खोल कर दिया जाने वाला आहार साधु के लिये अकल्पनीय होता है। इसमें भारी पदार्थ या बर्तन तथा मिट्टी एवं वनस्पति पत्र आदि से बनाया हुआ ढक्कन (छांदा) एवं लोहे आदि से पैक किए हुए ढक्कनों का भी समावेश हो जाता है। सभी प्रकार के ढक्कनों के समाविष्ट होने के कारण ही उनके खोलने पर त्रस-स्थावर जीवों की विराधना होने का कथन है। केवल मिट्टी से लिप्त में अग्नि आदि सभी त्रस-स्थावर जीवों की विराधना सम्भव नहीं है। अतः "मट्टिओलित्तं" शब्द होते हुए भी उपलक्षण से अनेक प्रकार के ढक्कन या लेप आदि से बन्द किए आहार का निषेध और प्रायश्चित्त समझ लेना चाहिए।

साधु को देने के बाद कई ढक्कनों को पुनः लगाने में भी आरम्भ होता है, जिससे पश्चात्कर्म दोष लगता है। अतः ऐसा आहार आदि ग्रहण नहीं करना चाहिए।

भारी पदार्थ से ढके आहार को देने में दाता को वजन उठाने-रखने में कष्ट का अनुभव हो तथा जिसे रखने आदि में जीव-विराधना सम्भव हो, ऐसा भारी आवरण समझना चाहिए।

यदि सामान्य ढक्कनों को खोलने, बन्द करने में कोई विराधना न हो तथा जो सहज ही खोले या बन्द किए जा सकते हों, उनको खोलकर दिया जाने वाला आहार ग्रहण करने पर प्रायश्चित्त नहीं आता है।

निक्षिप्त-दोषयुक्त आहार ग्रहण करने का प्रायश्चित्त

१२८. जे भिक्खू असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पुढवि-पइट्ठियं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

१२९. जे भिक्खू असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा आउ-पइट्ठियं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

१३०. जे भिक्खू असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा तेउ-पइट्ठियं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

१३१. जे भिक्खू असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा वणप्फइ-पइट्ठियं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

१२८. जो भिक्षु सचित्त पृथ्वी पर स्थित अशन, पान, खादिम या स्वादिम आहार को लेता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है।

१२९. जो भिक्षु सचित्त जल पर स्थित अशन, पान, खादिम या स्वादिम आहार को लेता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है।

१३०. जो भिक्षु सचित्त अग्नि पर स्थित अशन, पान, खादिम या स्वादिम आहार को लेता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है।

१३१. जो भिक्षु सचित्त वनस्पति पर स्थित अशन, पान, खादिम या स्वादिम आहार को लेता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है।

(उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—भिक्षु को सचित्त नमक, मिट्टी आदि पर, सचित्त पानी पर या पानी के बर्तन पर, अंगारों पर या चूल्हे पर तथा सचित्त घास सब्जी आदि पर कोई खाद्य पदार्थ या खाद्य पदार्थ युक्त बर्तन पड़ा हो तो उसमें से लेना नहीं कल्पता है।

आचा. श्रु. २, अ. १, उ. ७ में पृथ्वी आदि पर रखा आहार लेने का निषेध है, यहां उसी का प्रायश्चित्त विधान है। ऐसा निक्षिप्त-दोषयुक्त आहार लेने पर उन एकेन्द्रिय जीवों की विराधना होती है। अनन्तर-निक्षिप्त का यह सूत्रोक्त प्रायश्चित्त है। भाष्य में परस्पर-निक्षिप्त का मासिक प्रायश्चित्त कहा है और यदि अनंतकाय पर निक्षिप्त आहार हो तो उसे ग्रहण करने पर गुरुचौमासी प्रायश्चित्त कहा है।

प्रश्न—सचित्त पृथ्वी आदि पर से खाद्य पदार्थ उठाने पर तो उन जीवों पर से भार हटता है और उन्हें शांति मिलती है। अतः उस आहार को ग्रहण करने का निषेध क्यों किया गया है?

समाधान—एकेन्द्रिय जीवों को स्पर्श मात्र से महान् वेदना होती है। उस पर से खाद्य पदार्थ या बर्तन साधु के लिये उठाने से कुछ जीवों का संघट्टन होता है। जिससे उनको साधु के निमित्त से महती वेदना होती है। इस विराधना के कारण ऐसा आहार लेने का निषेध व प्रायश्चित्त कहा गया है। —(चूर्णि)

यहां पर निक्षिप्तदोष का प्रायश्चित्त विधान है, फिर भी एषणा के "पिहित" दोष का प्रायश्चित्त भी इसी सूत्र से समझ लेना चाहिये, अर्थात् खाद्य पदार्थ पर रखे सचित्त पदार्थ को हटाकर दिया जाने वाला आहार ग्रहण करने पर लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

यहां पृथ्वी आदि की विराधना होने के कारण प्रायश्चित्त कहा गया है। संस्पृष्टदोष का कथन इस सूत्र में या एषणा दोषों में भी कहीं नहीं है, तथापि उसमें पृथ्वीकाय आदि की विराधना होने के कारण पिहितदोष के समान सचित्त से संस्पृष्ट आहार लेने का प्रायश्चित्त भी इसी सूत्र से समझ लेना चाहिये।

अनंतर-संस्पर्श में तो विराधना होना स्पष्ट ही है। किन्तु परंपर-स्पर्श में कभी विराधना हो सकती है और कभी नहीं। अतः विराधना संभव न हो तो परंपर-स्पर्श वाले खाद्य पदार्थ ग्रहण करने में प्रायश्चित्त नहीं आता है। खाद्य पदार्थ के समान ही वस्त्र आदि सभी उपकरणों के ग्रहण करने में भी सूत्रोक्त विवेक व प्रायश्चित्त समझ लेना चाहिए।

आचारांग टीका में निक्षिप्तदोष के निषेध से एषणा के दस ही दोषों का निषेध समझ लेने का कथन किया है। क्योंकि ये सभी दोष आहार ग्रहण करते समय पृथ्वी आदि की विराधना से संबंधित हैं, इसलिए उन दसों दोषों का प्रायश्चित्त भी इसी सूत्र से समझा जा सकता है।

शीतल करके दिया जाने वाला आहार ग्रहण करने का प्रायश्चित्त

१३२. जे भिक्खू अच्चुसिणं असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा—

१. सुप्पेण वा, २. विहुणेण वा, ३. तालियंटेण वा, ४. पत्तेण वा, ५. पत्तभंगेण वा, ६. साहाए वा, ७. साहाभंगेण वा, ८. पिहुणेण वा, ९. पिहुणहत्थेण वा, १०. चेलेण वा, ११. चेलकण्णेण वा, १२. हत्थेण वा, १३. मुहेण वा फुमित्ता वीइत्ता आहट्टु देज्जमाणं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

१३२. जो भिक्षु अत्यन्त उष्ण अशन, पान, खादिम या स्वादिम पदार्थ को—

१. सूप से, २. पंखे से, ३. ताडपत्र से, ४. पत्ते से, ५. पत्रखंड से, ६. शाखा से, ७. शाखाखंड से, ८. मोरपंख से, ९. मोरपींछी से, १०. वस्त्र से, ११. वस्त्र के किनारे से, १२. हाथ से या १३. मुंह से फूंक देकर या पंखे आदि से हवा करके लाकर देने वाले से ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

(उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—पंखे आदि से हवा करने पर वायुकाय के जीवों की विराधना होना निश्चित है तथा उड़ने वाले छोटे प्राणियों की भी विराधना होना सम्भव है। अतः इस प्रकार (वायुकाय की) विराधना करके शीतल किया गया आहार लेना भिक्षु को नहीं कल्पता है। आचा. श्रु. २, अ. १, उ. ७ में इसका निषेध किया गया है और प्रस्तुत सूत्र में इसका प्रायश्चित्त कहा गया है।

चौड़े बर्तन में उष्ण आहारादि डालकर कुछ देर रख कर ठण्डा करके दे तो परिस्थितिवश वह आहारादि लिया जा सकता है, किन्तु उसमें भी संपातिम जीव न गिरे ऐसा विवेक रखना आवश्यक है।

दशवं. अ. ४ में भिक्षु को मुंह से फूंक देने का और पंखे आदि से हवा करने करवाने एवं अनुमोदन करने का पूर्ण त्यागी कहा गया है।

वायुकाय की विराधना होने के कारण उष्ण आहार पानी के लेने का यहाँ प्रायश्चित्त कहा गया है, आचारांगसूत्र में वायुकाय की विराधना किये बिना उष्ण आहारादि ग्रहण करने का विधान किया गया है, तथापि अत्यन्त उष्ण आहारादि ग्रहण नहीं करना चाहिये, क्योंकि उसे देने में उसके छींटे से या भाप से दाता या साधु का हाथ आदि जल जाय या उष्णता सहन न हो सकने से हाथ में से बर्तन आदि छूट कर गिर जाय या साधु के पात्र का लेप (रोगानादि) खराब हो जाय अथवा पात्र फूट जाय, इत्यादि दोष सम्भव हैं। अतः ऐसे अत्यन्त गर्म आहार-पानी साधु को नहीं लेने चाहिए। कुछ समय बाद उष्णता कम होने पर ही वे ग्राह्य हो सकते हैं।

गर्मागर्म पानी से दाता या भिक्षु के अधिक जल जाने पर धर्म की अवहेलना होती है। पात्र फूट जाने पर परिकर्म करने से या अन्य पात्र की गवेषणा करने में समय लगने से स्वाध्यायादि संयम

प्रवृतियों में बाधा आने से अथवा अन्य भी ऐसे कारणों से गर्मागर्म आहार-पानी को ग्रहण करने का निषेध समझना चाहिये तथा सामान्य गर्म अशनादि को वायुकाय आदि की विराधना किये बिना ग्रहण किया जा सकता है, ऐसा समझना चाहिये ।

यहां अनेक प्रतियों में गर्म आहार-पानी सम्बन्धी प्रायश्चित्त के दो सूत्र मिलते हैं, किन्तु भाष्य एवं चूर्णि में एक ही सूत्र की व्याख्या करके विषय पूर्ण किया गया है एवं आचारांगसूत्र में भी एक ही सूत्र है । अतः यहाँ भी मूलपाठ में एक सूत्र ही रखा गया है ।

तत्काल धोये पानी को ग्रहण करने का प्रायश्चित्त—

१३३. जे भिक्खू—१. उस्सेइमं वा, २. संसेइमं वा, ३. चाउलोदगं वा, ४. वारोदगं वा, ५. तिलोदगं वा, ६. तुसोदगं वा, ७. जवोदगं वा, ८. आयामं वा, ९. सोवीरं वा, १०. अंबकंजियं वा, ११. सुद्धवियडं वा ।

१. अहुणाधोयं, २. अणंबिलं, ३. अवुक्कंतं, ४. अपरिणयं ५. अविद्धत्थं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ ।

१३३. जो भिक्षु—१. उत्स्वेदिम, २. संस्वेदिम, ३. चावलोदक, ४. वारोदक, ५. तिलोदक, ६. तुषोदक, ७. यवोदक, ८. ओसामण, ९. कांजी, १०. आम्लकांजिक, ११. शुद्ध प्रासुक जल ।

१. जो कि तत्काल धोया हुआ हो, २. जिसका रस बदला हुआ न हो, ३. जीवों का अतिक्रमण न हुआ हो, ४. शस्त्रपरिणत न हुआ हो, ५. पूर्ण रूप से अचित्त न हुआ हो ।

ऐसे जल को ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है । (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है ।)

विवेचन—आगमों में अनेक जगह अचित्त शीतल जल अर्थात् धोवण पानी के नामों का कथन है । उनमें ग्राह्य पानी ग्यारह ही हैं, जो इस सूत्र में कहे गये हैं । इससे अधिक नाम जो भी उपलब्ध है वे सब अग्राह्य कहे गये हैं ।

ग्राह्य धोवण पानी बनने के बाद तुरन्त ग्राह्य नहीं होता है । करीब आधा घण्टा या मुहूर्त के बाद ग्राह्य होता है । चूर्णिकार ने समय-निर्धारण न करते हुए बुद्धि से ही समय निर्णय करने को कहा है । तत्काल लेने पर तो प्रस्तुत सूत्रानुसार प्रायश्चित्त आता है ।

आगमों में अनेक प्रकार के अचित्त एवं एषणीय पानी लेने का विधान है और सचित्त एवं अनेषणीय पानी लेने का निषेध है ।

१. लेने योग्य पानी के १० नाम हैं—देखिए—आ० सू० २, अ० १, उ० ७, सू० ३६९-३७०
—दश० अ० ५, उ० १, गा० १०६ (७५)

२. न लेने योग्य पानी के १२ नाम हैं—देखिए—आ० सू० २, अ० १, उ० ८, सू० ३७३ ।

लेने योग्य पानी के आगमपाठ में और न लेने योग्य पानी के आगमपाठ में निश्चित संख्या सूचित नहीं है, किन्तु लेने योग्य पानी के आगमपाठ में अन्य भी ऐसे लेने योग्य पानी लेने का विधान

है तथा न लेने योग्य पानी के आगमपाठ में भी अन्य ऐसे न लेने योग्य पानी लेने का निषेध है। अतः कल्पनीय अकल्पनीय पानी अन्य अनेक हो सकते हैं, यह स्पष्ट है।

पानी शस्त्र-परिणमन होने पर भी तत्काल अचित्त नहीं होता है, अतः वह लेने योग्य नहीं होता है। वही पानी कुछ समय बाद अचित्त होने पर लेने योग्य हो जाता है।

फल आदि धोए हुए अचित्त पानी में यदि बीज, गुठली आदि हो तो ऐसा पानी छान करके दे, तो भी वह लेने योग्य नहीं है।

धोवण-पानी सूचक आगमस्थल इस प्रकार हैं—

१. दशवैकालिक अ० ५, उ० १, गा० १०६ (७५) में तीन प्रकार के धोवण-पानी लेने योग्य कहे हैं। इनमें दो प्रकार के धोवण-पानी आचारांग श्रु० २, अ० १, उ० ७, सू० ३६९ के अनुसार ही कहे गए हैं और 'वार-धोवणं' अधिक है।

२. उत्तराध्ययन सूत्र अ० १५, गा० १३ में तीन प्रकार के धोवण कहे गए हैं। इन तीनों का कथन आ० श्रु० २, अ० १, उ० ७, सू० ३६९-३७० में है।

३. आचारांग श्रु० २, अ० १, उ० ७, सू० ३६९-३७० में अल्पकाल का धोवण लेने का निषेध है, अधिक काल का बना हुआ धोवन लेने का विधान है तथा गृहस्थ के कहने पर स्वतः लेने का भी विधान है।

४. आ० श्रु० २, अ० १, उ० ८, सू० ३७३ में अनेक प्रकार के धोवण-पानी का कथन है। इनमें बीज, गुठली आदि हो तो ऐसे पानी को छान करके देने पर भी लेने का निषेध है।

५. ठाणं० अ० ३, उ० ३, सू० १८८ में चउत्थ, छट्ठ, अट्ठम तप में ३-३ प्रकार के ग्राह्य पानी का विधान है।

६. दशवैकालिक अ० ८, गा० ६ में उष्णोदक ग्रहण करने का विधान है।

आचारांग व निशीथ में वर्णित 'शुद्ध वियड' उष्णोदक से भिन्न है, क्योंकि वहाँ तत्काल बने शुद्ध वियड ग्रहण करने का निषेध एवं प्रायश्चित्त कहा गया है। अतः उसे अचित्त शुद्ध शीतल जल ही समझना चाहिये।

आगमों में वर्णित ग्राह्य अग्राह्य धोवण पानी के संक्षिप्त अर्थ इस प्रकार हैं—

ग्यारह प्रकार के ग्राह्य धोवण-पानी—

१. उत्स्वेदिम—आटे के लिप्त हाथ या बर्तन का धोवण,
२. संस्वेदिम—उबाले हुए तिल, पत्र-शाक आदि का धोया हुआ जल,
३. तन्दुलोदक—चावलों का धोवण,
४. तिलोदक—तिलों का धोवण,
५. तुषोदक—भूसी का धोवण या तुष युक्त धान्यों के तुष निकालने से बना धोवण,
६. जवोदक—जौ का धोवन,
७. आयाम—अवस्रावण—उबाले हुए पदार्थों का पानी,

८. सौवीर—कांजी का जल, गर्म लोहा, लकड़ी आदि डुबाया हुआ पानी,
९. शुद्धविकट—हरड़ बहेड़ा राख आदि पदार्थों से प्रासुक बनाया गया जल,
१०. वारोदक—गुड़ आदि खाद्य पदार्थों के घडे (वर्तन) का धोया जल,
११. आम्लकांजिक—खट्टे पदार्थों का धोवण या छाछ की आछ।

बारह प्रकार के अग्राह्य धोवण-पानी—

१. आम्रोदक—आम्र का धोया हुआ पानी,
२. अम्बाडोदक—आम्रातक (फलविशेष) का धोया हुआ पानी,
३. कपित्थोदक—कैथ या कवीठ का धोया हुआ पानी,
४. बीजपूरोदक—बिजोरे का धोया हुआ पानी,
५. द्राक्षोदक—दाख का धोया हुआ पानी।
६. दाडिमोदक—अनार का धोया हुआ पानी,
७. खर्जूरोदक—खजूर का धोया हुआ पानी,
८. नालिकेरोदक—नारियल का धोया हुआ पानी,
९. करीरोदक—कैर का धोया हुआ पानी,
१०. बदिरोदक—बेरों का धोया हुआ पानी,
११. आमलोदक—आंवलों का धोया हुआ पानी,
१२. चिंचोदक—इमली का धोया हुआ पानी।

इनके सिवाय गर्म जल भी ग्राह्य कहा गया है, जो एक ही प्रकार का होता है। पानी के अग्नि पर पूर्ण उबल जाने पर वह अचित्त हो जाता है। अर्थात् गर्म पानी में हाथ न रखा जा सके, इतना गर्म हो जाना चाहिये। इससे कम गर्म होने पर पूर्ण अचित्त एवं कल्पनीय नहीं होता है। टीका आदि में तीन उकाले आने पर अचित्त होने का उल्लेख मिलता है।

उक्त आगमस्थलों से स्पष्ट है कि धोवण-पानी अर्थात् अचित्त शीतल जल अनेक प्रकार का हो सकता है। आगमोक्त नाम तो उदाहरण रूप में हैं। आटा, चावल आदि किसी खाद्य पदार्थ को धोया हुआ पानी या खाद्य पदार्थ के बर्तन को धोया हुआ पानी अथवा अन्य किसी प्रकार के पदार्थों से पूर्ण अचित्त बना हुआ पानी भिक्षु को लेना कल्पता है।

दशवैकालिक अ० ५ उ० १ गा० ७६-८१ के कथनानुसार अचित्त पानी को ग्रहण करने के साथ यह विवेक भी अवश्य रखना चाहिये कि क्या यह पानी पिया जा सकेगा? इससे प्यास बुझेगी या नहीं? इसका निर्णय करने के लिए कभी पानी को चखा भी जा सकता है। कदाचित् ऐसा पानी ग्रहण कर लिया गया हो तो उसे अनुपयोगी जानकर एकान्त निर्जीव भूमि में परठ देना चाहिए।

इस सूत्र में 'सोवीर' और आम्लकांजिक दोनों शब्दों का प्रयोग है जबकि अन्य आगमों में एक 'सोवीर' शब्द ही कहा गया है। इसका अर्थ टीका आदि में—कांजी का पानी, आरनाल का पानी आदि किया गया है। हिन्दी शब्दकोष में कांजी के पानी का स्पष्टीकरण करते हुए—नमक जीरा आदि पदार्थों से बनाया गया स्वादिष्ट एवं पाचक खट्टा पानी कहा है। इससे यह अनुमान होता है कि सौवीर शब्द का ही पर्यायवाची 'आम्लकांजिक' शब्द है, जो कभी पर्यायवाची रूप में यहां जोड़ा

गया हो। क्योंकि अन्य आगम में यह शब्द नहीं है एवं इस सूत्र की चूर्णि में भी इसकी व्याख्या नहीं है।

दोनों शब्दों का पृथक् अस्तित्व स्वीकार करने पर सोवीर का अर्थ कांजी का पानी और अम्बकंजियं का अर्थ द्राक्ष का आछ आदि ऐसा किया जाता है।

आगमपाठ के विषयों का विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि 'सोवीर' का टीका एवं कोश आदि में किया गया अर्थ प्रसंग संगत नहीं है। क्योंकि सूत्र में कहे गए अचित्त जल तृषा शान्त करने के पेय जल हैं और इन्हें तेले तक तपस्या में पीने का विधान है। जबकि कांजी का पानी तो स्वादिष्ट बनाया गया पेय पदार्थ है जो आयम्बिल में भी पीना नहीं कल्पता है। उसे उपवास, बेला एवं तेला की तपस्या में पीना तो सर्वथा अनुचित होता है।

आंवला, इमली आदि खट्टे पदार्थों के धोवण-पानी का भी उल्लेख आचा. श्रु. २, अ. १, उ. ८ में पृथक् किया गया है, अतः यहाँ एक सोवीर शब्द मानकर उसका द्राक्ष की आछ अर्थ मानना प्रसंग संगत हो सकता है। अथवा दोनों शब्द स्वीकार करके 'सोवीर' शब्द लोहे आदि गर्म पदार्थों को जिस पानी में डुबा कर ठण्डा किया गया हो, वह पानी एवं 'अम्लकांजिक' शब्द से द्राक्ष के ऊपर का नितरा हुआ आछ ऐसा अर्थ करने पर भी सूत्रगत दोनों शब्दों की संगति हो सकती है।

फलों का धोया हुआ पानी भी अचित्त तो हो सकता है, क्योंकि पानी में कुछ देर रहने या धोने पर कुछ फलों का रस तथा उन पर लगे अन्य पदार्थों का स्पर्श पानी को अचित्त कर देता है। किन्तु फलों की गुठलियाँ, बीज या उनके बीटके जल में होने से आचा० श्रु० २, अ० १, उ० ८ में ऐसा पानी अकल्पनीय कहा गया है। फिर भी कभी बीज आदि से रहित अचित्त पानी उपलब्ध हो तो ग्रहण किया जा सकता है।

प्रस्तुत सूत्र में 'शुद्धोदक' शब्द का भ्रांति से गर्म पानी अर्थ भी किया जाता है, किन्तु गर्म पानी के लिये आगमों में उष्णोदक शब्द का प्रयोग किया गया है। यहाँ तत्काल के धोवण (अचित्त जल) का विषय है तथा आचा० श्रु० २, अ० १, उ० ७ में भी ऐसे ही धोवण-पानी के वर्णन में शुद्धोदक (शुद्ध अचित्त जल) का कथन है।

अन्न के अंश से रहित तथा अनेक अमनोज्ञ रसों वाले धोवण-पानी के अतिरिक्त अचित्त बने या बनाये गये शीतल जल को शुद्धोदक समझना चाहिए। इसमें लौंग, काली-मिर्च, त्रिफला, राख आदि मिलाये हुए पानी का समावेश हो जाता है। किन्तु शुद्धोदक का गर्म पानी अर्थ करना अनुचित ही है। क्योंकि उसका सूत्रोक्त प्रायश्चित्त से कोई सम्बन्ध नहीं है।

आचा० श्रु० २, अ० १, उ० ७ में अचित्त पानी भिक्षु को स्वयं ग्रहण करने का भी कहा है। इसका कारण यह है कि भिक्षु के लिये निर्दोष अचित्त पानी मिलना कुछ कठिन है तथा पानी के बिना निर्वाह होना भी कठिन है। अतः अचित्त निर्दोष पानी उपलब्ध हो जाने पर कभी पानी देने वाला बर्तन उठाने में असमर्थ हो या पानी देने वाली बहन गर्भवती हो अथवा उनके पाने के मार्ग में सचित्त पदार्थ पड़े हों या उनके आने से जीव-विराधना होने की सम्भावना हो इत्यादि कारणों से भिक्षु गृहस्थ के आज्ञा देने पर या स्वयं उससे आज्ञा प्राप्त करके अचित्त जल ग्रहण कर सकता है। यदि पानी का परिमाण अधिक हो, बर्तन उठाकर नहीं लिया जा सकता हो तो भिक्षु स्वयं के पात्र से या गृहस्थ के

लोटे आदि से भी पानी ले सकता है किन्तु आहार के लिये इस प्रकार का कोई विधान आगम में नहीं है एवं न ही इस प्रकार से आहार के स्वयं लेने की परम्परा है।

एक वार अचित्त बना हुआ पानी पुनः कालान्तर से सचित्त भी हो सकता है। क्योंकि एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीव पुनः उसी काय के उसी शरीर में उत्पन्न हो सकते हैं। —सूय० श्रु० २, अ० ३

दशवैकालिक के पांचवें अध्ययन की चूर्णि में कहा गया है कि गर्मी में एक अहोरात्र से एवं सर्दी और वर्षाकाल में पूर्वाह्न (सुबह) में गर्म किये जल के अपराह्न (सायंकाल) में सचित्त होने की सम्भावना रहती है।

यथा—गिम्हे अहोरत्तेणं सच्चित्ती भवति, हेमन्त वासासु पुव्वण्हे कतं अवरण्हे सचित्ती भवति। —दश. चूर्णि पृष्ठ ६१, ११४

धोवण-पानी के विषय में कुछ समय से ऐसी भ्रांत धारणा प्रचलित हुई है कि इसके अचित्त रहने का काल नहीं बताया गया है अथवा इसमें शीघ्र जीवोत्पत्ति हो जाती है, अतः वह साधु को अकल्पनीय है।

इस प्रकार का कथन करना आगम प्रमाणों से उचित नहीं है। क्योंकि आगमों में अनेक प्रकार के धोवण-पानी लेने का विधान है, साथ ही तत्काल बना हुआ धोवण-पानी लेने का निषेध है एवं उसके लेने का प्रायश्चित्त भी कहा गया है। उसी धोवण-पानी को कुछ देर के बाद लेना कल्पनीय कहा गया है। अतः धोवण-पानी का ग्राह्य होना स्पष्ट है।

कल्पसूत्र की कल्पान्तर वाच्य टीका में अनेक प्रकार के धोवण-पानी की चर्चा करके उन्हें साधु के लिये तेले तक की तपस्या में लेना कल्पनीय कहा है और निषेध करने वालों को धर्म एवं आगम निरपेक्ष और दुर्गति से नहीं डरने वाला कहा है। यथा—

"परकीयमवश्रावणादिपानमतिनीरसमपि यदशनाहारतया वर्णयंति कांजिकं चानंतकायं वदंति तत्तेषामेवाहारलांपट्यं धर्मागमनिरपेक्षता दुर्गतेरभीरूता केवलं व्यनक्ति।" —कल्प. समर्थन पृ. ५०

यहां उल्लेखनीय यह है कि इस व्याख्या के करने वाले तपगच्छ के आचार्य हैं, उन्होंने अवस्रावण आदि का निषेध करने वाले खतरगच्छ एवं अंचलगच्छ वालों को लक्ष्य करके बहुत कुछ कहा है। —कल्प. समर्थन प्रस्तावना।

इसके प्रत्युत्तर में खरतरगच्छीय आचार्य जिनप्रभसूरि ने आधाकर्मी गर्म पानी लेने का खंडन एवं अचित्त शीतल जल लेने का मण्डन करने वाला 'तपोटमतकुट्टन' श्लोकवद्ध प्रकरण लिखकर तपगच्छ के आचार्यों को आक्रोश की भाषा में बहुत लिखा है। देखें—प्रवन्ध पारिजात पृ० १४५-१४६

आचारांग श्रु० १, अ० १, उ० ३ की टीका में धोवण-पानी के अचित्त होने का एवं साधु के लिये कल्पनीय होने का वर्णन है। वहां पानी को अचित्त करने वाले अनेक प्रकार के पदार्थों का वर्णन भी है।

प्रवचनसारोद्धार द्वार १३६ गाथा ८८१ में प्रासुक अचित्त शीतल जल के ग्राह्य होने का कथन है तथा गाथा ८८२ में उष्ण जल एवं प्रासुक शीतल जल दोनों के अचित्त रहने का काल भी

कहा है। उसकी टीका में स्पष्ट किया गया है कि उष्ण पानी जितना ही चावल आदि के धोवण का भी अचित्त रहने का काल है।

उसिणोदगं तिदंडुक्कालियं, फासुयजलाति जइ कप्पं।
नवरि गिलाणाइकए पहरतिगोवरि वि धरियव्वं ॥ ८८१ ॥

निभिदंण्डे—उत्कालैरुत्कालितं आवृतं यदुष्णोदकं तथा यत्प्रासुक-स्वकाय परकाय शस्त्रोपहतत्वेन अचित्तभूतं जलं तदेव यतीनाम् कल्प्यं, गृहीतुमुचितं।

जायइ सचित्तया से गिम्हंमि पहरपंचगस्सुवरिं।
चउपहरोवरि सिसिरे वासासु पुणो तिपहरुवरिं ॥ ८८२ ॥

तदूर्ध्वमपि ध्रियते तदा क्षारः प्रक्षेपणीयो, येन भूयः सचित्तं न भवतीति।

लघुप्रवचन सारोद्धार की मूलगाथा ८५ में भी दोनों प्रकार के अचित्त पानी का काल समान कहा है। यथा—

धाइमि तले वियच्चासे, ति-चउ-पण जाम उसिणनीरस्स।
वासाइसु सम्माणं, फासुय-जलस्सावि एमेव ॥ ८५ ॥

इस प्रकार टीका-ग्रन्थों में दोनों प्रकार के जलों के प्रासुक रहने का काल भी मिलता है और आगमों में तो दोनों प्रकार के प्रासुक जलों को ग्रहण करने का विधान है ही। अतः पूर्वोक्त प्रचलित धारणा भ्रांत है और वह आगमसम्मत नहीं है।

स्थानांगसूत्र के तीसरे स्थान में उपवास आदि तपस्या में भी धोवण-पानी पीने का विधान किया गया है तथा कल्पसूत्र के समाचारी प्रकरण में चातुर्मास में किये जाने वाले उपवास, बेला, तेला में चावल, आटे, तिल आदि के धोवण-पानी का तथा ओसामण या कांजी आदि कुल ९ प्रकार के पानी का उल्लेख करके समस्त प्रकार के अचित्त जलों को लेने का विधान किया गया है। इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि धोवण पानी को अकल्पनीय या शंकित मानना या ऐसा प्रचार करना उचित नहीं है।

सारांश यह है कि एषणा दोषों से रहित आगमसम्मत किसी भी अचित्त जल को ग्राह्य समझना चाहिए एवं उसका निषेध नहीं करना चाहिए। साथ ही उन्हें ग्रहण करने में यह पानी अचित्त हुआ है या नहीं, इसकी परीक्षा करने का तथा मौसम के अनुसार उसके अचित्तरहने का एवं पुनः सचित्त होने के समय का विवेक अवश्य रखना चाहिए।

अपने आपको आचार्य-लक्षणयुक्त कहने का प्रायश्चित्त

१३४. जे भिक्खू अप्पणो आयरियत्ताए लक्खणाइं वागरेइ, वागरंतं वा साइज्जइ।

१३४. जो भिक्षु स्वयं अपने को आचार्य के लक्षणों से सम्पन्न कहता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है।

(उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—कोई भिक्षु अपने शरीर के लक्षणों का इस प्रकार कथन करे कि 'मेरे हाथ-पांव आदि में जो रेखाएं है या जो चन्द्र, चक्र, अंकुश आदि चिह्न हैं तथा मेरा शरीर सुडौल एवं प्रमाणोपेत है, इन लक्षणों से मैं अवश्य आचार्य बनूंगा,' इस प्रकार कथन करने पर उसे सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है।

आचार्य होने का अभिमान करना ही दोष है। इस प्रकार अभिमान करने से कदाचित् कोई क्षिप्तचित्त हो जाता है, निमित्त लक्षण ज्ञान असत्य भी हो जाता है। कोई वैरभाव रखने वाला उसका आचार्य होना जानकर उसे जीवनरहित करने का प्रयास कर सकता है इत्यादि दोषों की सम्भावना जानकर तथा भगवदाज्ञा समझकर भिक्षु अपने ऐसे लक्षणों को प्रकट न करे किन्तु गम्भीर व निरभिमान होकर संयमगुणों में प्रगति करता रहे।

घमंड करने से तथा स्वयं अपनी प्रशंसा करने से गुणों की तथा पुण्यांशों की क्षति होती है।

नवीन आचार्य स्थापित करते समय स्थविर या आचार्यादि जानकारी करना चाहें अथवा कभी अयोग्य को पद पर स्थापित किया जा रहा हो तो संघ की शोभा के लिये स्वयं या अन्य के द्वारा अपने लक्षणों की जानकारी दी जा सकती है, किन्तु उसमें मानकषाय, कलह या दुराग्रह के विचार नहीं होने चाहिये।

गायन आदि करने का प्रायश्चित्त

१३५. जे भिक्खू—१. गाएज्ज वा, २. हसेज्ज वा, ३. वाएज्ज वा, ४. णच्चेज्ज वा, ५. अभिणएज्ज वा, ६. हय-हेसियं वा, ७. हत्थिगुलगुलाइयं वा, ८. उक्किट्ठसीहणायं वा करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

१३५. जो भिक्षु—१. गाये, २. हँसे, ३. वाद्य बजाये, ४. नाचे, ५. अभिनय करे, ६. घोड़े की आवाज (हिनहिनाहट), ७. हाथी की गर्जना (चिंघाड) और ८. सिंहनाद करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—उक्त सभी प्रवृत्तियां कुतूहलवृत्ति की द्योतक हैं तथा मोहकर्म के उदय एवं उदीरणा से जनित है। भिक्षु इन्द्रियविजय एवं मोह की उपशांति में प्रयत्नशील होता है अतः उसके लिये ये अयोग्य प्रवृत्तियां हैं।

धर्मकथा में यदि धर्मप्रभावना के लिये कभी गायन किया जाय तो उसे प्रायश्चित्त का विषय नहीं कहा जा सकता है। किन्तु जनरंजक, धर्मनिरपेक्ष गीत हो तथा गायन कला प्रदर्शन का लक्ष्य हो तो प्रायश्चित्तयोग्य होता है।

हँसना, वादित्र आदि बजाना, नृत्य करना, नाटक करना, कुतूहल से किसी की नकल करना तथा हाथी, घोड़े, बंदर, सिंह आदि पशुओं की आवाज की नकल करना इत्यादि संयम-साधनामार्ग में निरर्थक प्रवृत्तियां होने से त्याज्य हैं तथा इन प्रवृत्तियों में आत्म-संयम एवं जीवविराधना भी संभव है। ऐसा करने वाले को उत्तरा. अ० ३५ में कांदर्पिकभाव करने वाला कहा है, जो संयम-विराधक होकर दुर्गति प्राप्त करता है। इसलिए सूत्र में ऐसी प्रवृत्तियों का प्रायश्चित्त कहा गया है।

किन्तु आपत्ति से रक्षाहेतु किसी प्रकार की आवाज करनी पड़ जाय तो उसका प्रायश्चित्त नहीं समझना चाहिए।

शब्दश्रवण-आसक्ति का प्रायश्चित्त

१३६. जे भिक्खू १. भेरि-सद्दाणि वा, २. पडह-सद्दाणि वा, ३. मुरज-सद्दाणि वा, ४. मुइंग-सद्दाणि वा, ५. णंदि-सद्दाणि वा, ६. झल्लरी-सद्दाणि वा, ७. वल्लरि-सद्दाणि वा, ८. डमरुय-सद्दाणि वा, ९. मड्डय-सद्दाणि वा, १०. सदुय-सद्दाणि वा, ११. पएस-सद्दाणि वा, १२. गोलुकि-सद्दाणि वा अन्नयराणि वा तहप्पगाराणि वितताणि सद्दाणि कण्णसोय-वडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ।

१३७. जे भिक्खू १. वीणा-सद्दाणि वा, २. विपंचि-सद्दाणि वा, ३. तुण-सद्दाणि वा, ४. बव्वीसग-सद्दाणि वा, ५. वीणाइय-सद्दाणि वा, ६. तुंबवीणा-सद्दाणि वा, ७. झोडय-सद्दाणि वा, ८. ढंकुण-सद्दाणि वा अण्णयराणि वा तहप्पगाराणि तताणि सद्दाणि कण्णसोय-वडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ।

१३८. जे भिक्खू १. ताल-सद्दाणि वा, २. कंसताल-सद्दाणि वा, ३. लित्तिय-सद्दाणि वा, ४. गोहिय-सद्दाणि वा, ५. मकरिय-सद्दाणि वा, ६. कच्छभि-सद्दाणि वा, ७. महति-सद्दाणि वा, ८. सणालिया-सद्दाणि वा, ९. वलिया-सद्दाणि वा अण्णयराणि वा तहप्पगाराणि घणाणि सद्दाणि कण्णसोय-वडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ।

१३९. जे भिक्खू—१. संख-सद्दाणि वा, २. वंस-सद्दाणि वा, ३. वेणु-सद्दाणि वा, ४. खरमुही-सद्दाणि वा, ५. परिलिस-सद्दाणि वा, ६. वेवा-सद्दाणि वा अण्णयराणि वा तहप्पगाराणि झुसिराणि सद्दाणि कण्णसोय-वडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ।

१३६. जो भिक्षु—१. भेरी के शब्द, २. पटह के शब्द, ३. मुरज के शब्द, ४. मृदंग के शब्द, ५. नान्दी के शब्द, ६. झालर के शब्द, ७. वल्लरी के शब्द, ८. डमरू के शब्द, ९. मड्डय के शब्द, १०. सदुय के शब्द, ११. प्रदेश के शब्द, १२. गोलुकी के शब्द या अन्य भी ऐसे वितत वाद्यों के शब्द सुनने के संकल्प से जाता है या जाने वाले का अनुमोदन करता है।

१३७. जो भिक्षु—१. वीणा के शब्द, २. विपंची के शब्द, ३. तुण के शब्द, ४. बव्वीसग के शब्द, ५. वीणादिक के शब्द, ६. तुम्बवीणा के शब्द, ७. झोटक के शब्द, ८. ढंकुन के शब्द या अन्य भी ऐसे तार वाले वाद्यों के शब्द सुनने के संकल्प से जाता है या जाने वाले का अनुमोदन करता है।

१३८. जो भिक्षु—१. ताल के शब्द, २. कंसताल के शब्द, ३. लत्तिक के शब्द, ४. गोहिक के शब्द, ५. मकरी के शब्द, ६. कच्छभि के शब्द, ७. महती के शब्द, ८. सनालिका के शब्द, ९. वलिका के शब्द या अन्य भी ऐसे घनवाद्यों के शब्द सुनने के संकल्प से जाता है या जाने वाले का अनुमोदन करता है।

१३९. जो भिक्षु—१. शंख के शब्द, २. बांस के शब्द, ३. वेणु के शब्द, ४. खरमुहि के शब्द, ५. परिलिस के शब्द, ६. वेवा के शब्द या अन्य भी ऐसे झुसिरवाद्यों के शब्द सुनने के संकल्प से जाता है या जाने वाले का अनुमोदन करता है।

(उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—बारहवें उद्देशक में रूपों की आसक्ति के प्रायश्चित्तों का कथन है और यहाँ शब्दों की आसक्ति का प्रायश्चित्त कहा गया है।

प्रस्तुत सूत्रचतुष्क में चार प्रकार के वाद्यों का नामोल्लेख है।

आचा० श्रु० २, अ० ११ में शब्दासक्ति-निषेध सूत्रों में भी यह सूत्र-चतुष्क है किन्तु वहाँ वाद्यों के नाम कम हैं और यहाँ अधिक हैं।

निशीथचूर्णि में बहुत कम शब्दों की व्याख्या की गई है, शेष शब्द 'लोकप्रसिद्ध हैं' ऐसा कह दिया गया है। इनका विस्तृत विवेचन आचारांगसूत्र के विवेचन में देखें। संक्षेप में—

वितत—बिना तार वाले या चर्मावृत वाद्य—तबला, ढोलक आदि।
तत—तार वाले वाद्य—वीणा आदि।
घन—परस्पर टकरा कर बजाये जाने वाले वाद्य—जलतरंग आदि।
झुसिर—मध्य में पोलर (छिद्र) वाले वाद्य—बांसुरी आदि।

'इन वाद्यों की आवाज यदि बिना चाहे ही कानों में पड़ जाय तो भिक्षु को उसमें रागभाव नहीं करना चाहिये' यह पांचवें महाव्रत की प्रथम भावना है। अतः उन्हें सुनने के संकल्प से जाना तो सर्वथा अकल्पनीय ही है। इस विषय का विस्तृत वर्णन १२वें उद्देशक के इन्द्रियविजय संबंधी विवेचन से जानना चाहिए। रोगनिवारणार्थ भंभा (भेरी) आदि वाद्यों की आवाज सुनने का प्रायश्चित्त नहीं आता है। ऐसे ही अन्य कारण भी समझ लेने चाहिये।

विभिन्न स्थानों के शब्द-श्रवण एवं आसक्ति का प्रायश्चित्त

१४०-१५४. जे भिक्खू वप्पाणि वा जाव भवणगिहाणि वा कण्णसोयवडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ। एवं बारसमुद्देसग गमेणं सव्वे सुत्ता सद्दालावगेणं भाणियव्वा जाव जे भिक्खू बहुसगडाणि वा जाव अण्णयराणि वा विरूवरूवाणि महासवाणि कण्णसोयवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ।

१५५. जे भिक्खू—

१. इहलोइएसु वा सद्देसु, २. परलोइएसु वा सद्देसु, ३. दिट्ठेसु वा सद्देसु, ४. अदिट्ठेसु वा सद्देसु, ५. सुएसु वा सद्देसु, ६. असुएसु वा सद्देसु, ७. विण्णाएसु वा सद्देसु, ८. अविण्णाएसु वा सद्देसु सज्जइ, रज्जइ, गिज्झइ, अज्झोववज्जइ, सज्जमाणं, रज्जमाणं, गिज्जमाणं, अज्झोववज्जमाणं साइज्जइ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं।

किन्तु आपत्ति से रक्षाहेतु किसी प्रकार की आवाज करनी पड़ जाय तो उसका प्रायश्चित्त नहीं समझना चाहिए।

शब्दश्रवण-आसक्ति का प्रायश्चित्त

१३६. जे भिक्खू १. भेरि-सद्दाणि वा, २. पडह-सद्दाणि वा, ३. मुरज-सद्दाणि वा, ४. मुइंग-सद्दाणि वा, ५. नंदि-सद्दाणि वा, ६. झल्लरी-सद्दाणि वा, ७. वल्लरि-सद्दाणि वा, ८. डमरुय-सद्दाणि वा, ९. मड्डुय-सद्दाणि वा, १०. सदुय-सद्दाणि वा, ११. पएस-सद्दाणि वा, १२. गोलुकि-सद्दाणि वा अण्णयराणि वा तहप्पगाराणि विततादि सद्दाणि कण्णसोय-वडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ।

१३७. जे भिक्खू १. वीणा-सद्दाणि वा, २. विपंचि-सद्दाणि वा, ३. तूण-सद्दाणि वा, ४. वव्वीसग-सद्दाणि वा, ५. वीणाइय-सद्दाणि वा, ६. तुंबवीणा-सद्दाणि वा, ७. झोडय-सद्दाणि वा, ८. ढंकुण-सद्दाणि वा अण्णयराणि वा तहप्पगाराणि तताणि सद्दाणि कण्णसोय-वडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ।

१३८. जे भिक्खू १. ताल-सद्दाणि वा, २. कंसताल-सद्दाणि वा, ३. लित्तिय-सद्दाणि वा, ४. गोहिय-सद्दाणि वा, ५. मकरिय-सद्दाणि वा, ६. कच्छभि-सद्दाणि वा, ७. महति-सद्दाणि वा, ८. सणालिया-सद्दाणि वा, ९. वलिया-सद्दाणि वा अण्णयराणि वा तहप्पगाराणि घणाणि सद्दाणि कण्णसोय-वडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ।

१३९. जे भिक्खू—१. संख-सद्दाणि वा, २. वंस-सद्दाणि वा, ३. वेणु-सद्दाणि वा, ४. खरमुही-सद्दाणि वा, ५. परिलिस-सद्दाणि वा, ६. वेवा-सद्दाणि वा अण्णयराणि वा तहप्पगाराणि झुसिराणि सद्दाणि कण्णसोय-वडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ।

१३६. जो भिक्षु—१. भेरी के शब्द, २. पटह के शब्द, ३. मुरज के शब्द, ४. मृदंग के शब्द, ५. नान्दी के शब्द, ६. झालर के शब्द, ७. वल्लरी के शब्द, ८. डमरू के शब्द, ९. मड्डुय के शब्द, १०. सदुय के शब्द, ११. प्रदेश के शब्द, १२. गोलुकी के शब्द या अन्य भी ऐसे वितत वाद्यों के शब्द सुनने के संकल्प से जाता है या जाने वाले का अनुमोदन करता है।

१३७. जो भिक्षु—१. वीणा के शब्द, २. विपंची के शब्द, ३. तूण के शब्द, ४. वव्वीसग के शब्द, ५. वीणादिक के शब्द, ६. तुम्बवीणा के शब्द, ७. झोटक के शब्द, ८. ढंकुण के शब्द या अन्य भी ऐसे तार वाले वाद्यों के शब्द सुनने के संकल्प से जाता है या जाने वाले का अनुमोदन करता है।

१३८. जो भिक्षु—१. ताल के शब्द, २. कंसताल के शब्द, ३. लत्तिक के शब्द, ४. गोहिक के शब्द, ५. मकर्य के शब्द, ६. कच्छभि के शब्द, ७. महती के शब्द, ८. सनालिका के शब्द, ९. वलीका के शब्द या अन्य भी ऐसे घनवाद्यों के शब्द सुनने के संकल्प से जाता है या जाने वाले का अनुमोदन करता है।

१३९. जो भिक्षु—१. शंख के शब्द, २. वांस के शब्द, ३. वेणु के शब्द, ४. खरमुहि के शब्द, ५. परिलिस के शब्द, ६. वेवा के शब्द या अन्य भी ऐसे झुसिरवाद्यों के शब्द सुनने के संकल्प से जाता है या जाने वाले का अनुमोदन करता है।

(उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—बारहवें उद्देशक में रूपों की आसक्ति के प्रायश्चित्तों का कथन है और यहाँ शब्दों की आसक्ति का प्रायश्चित्त कहा गया है।

प्रस्तुत सूत्रचतुष्क में चार प्रकार के वाद्यों का नामोल्लेख है।

आचा० श्रु० २, अ० ११ में शब्दासक्ति-निषेध सूत्रों में भी यह सूत्र-चतुष्क है किन्तु वहाँ वाद्यों के नाम कम हैं और यहाँ अधिक है।

निशीथचूर्णि में बहुत कम शब्दों की व्याख्या की गई है, शेष शब्द 'लोकप्रसिद्ध हैं' ऐसा कह दिया गया है। इनका विस्तृत विवेचन आचारांगसूत्र के विवेचन में देखें। संक्षेप में—

वितत—बिना तार वाले या चर्मावृत वाद्य—तबला, ढोलक आदि।
तत—तार वाले वाद्य—वीणा आदि।
घन—परस्पर टकरा कर बजाये जाने वाले वाद्य—जलतरंग आदि।
झुसिर—मध्य में पोलर (छिद्र) वाले वाद्य—वांसुरी आदि।

'इन वाद्यों की आवाज यदि बिना चाहे ही कानों में पड़ जाय तो भिक्षु को उसमें रागभाव नहीं करना चाहिये' यह पांचवें महाव्रत की प्रथम भावना है। अतः उन्हें सुनने के संकल्प से जाना तो सर्वथा अकल्पनीय ही है। इस विषय का विस्तृत वर्णन १२वें उद्देशक के इन्द्रियविजय संबंधी विवेचन से जानना चाहिए। रोगनिवारणार्थ भंभा (भेरी) आदि वाद्यों की आवाज सुनने का प्रायश्चित्त नहीं आता है। ऐसे ही अन्य कारण भी समझ लेने चाहिये।

विभिन्न स्थानों के शब्द-श्रवण एवं आसक्ति का प्रायश्चित्त

१४०-१५४. जे भिक्खू वप्पाणि वा जाव भवणगिहाणि वा कण्णसोयवडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ। एवं बारसमुद्देसग गमेणं सव्वे सुत्ता सद्दालावगेणं भाणियव्वा जाव जे भिक्खू बहुसगडाणि वा जाव अण्णयराणि वा विरूवरूवाणि महासयाणि कण्णसोयवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ।

१५५. जे भिक्खू—,

१. इहलोइएसु वा सद्देसु, २. परलोइएसु वा सद्देसु, ३. दिट्ठेसु वा सद्देसु, ४. अदिट्ठेसु वा सद्देसु, ५. सुएसु वा सद्देसु, ६. असुएसु वा सद्देसु, ७. विण्णाएसु वा सद्देसु, ८. अविण्णाएसु वा सद्देसु सज्जइ, रज्जइ, गिज्झइ, अज्झोववज्जइ, सज्जमाणं, रज्जमाणं, गिज्जमाणं, अज्झोववज्जमाणं साइज्जइ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं।

१४०-१५४. जो भिक्षु खेत यावत् भवनगृहों के शब्द सुनने के संकल्प से जाता है या जाने वाले का अनुमोदन करता है इत्यादि १२वें उद्देशक के समान यहाँ भी सभी सूत्र, 'शब्दश्रवण के आलापक' से जानना यावत् जो भिक्षु अनेक बैलगाड़ियों के यावत् अन्य अनेक प्रकार के महाआश्रव वाले स्थानों में शब्द सुनने के संकल्प से जाता है या जाने वाले का अनुमोदन करता है।

१५५. जो भिक्षु—

१. इहलौकिक शब्दों में, २. पारलौकिक शब्दों में, ३. दृष्ट शब्दों में, ४. अदृष्ट शब्दों में, ५. पूर्व सुने हुए शब्दों में, ६. अश्रुत शब्दों में, ७. ज्ञात शब्दों में, ८. अज्ञात शब्दों में आसक्त, अनुरक्त, गृद्ध और अत्यधिक गृद्ध होता है या आसक्त, अनुरक्त, गृद्ध और अत्यधिक गृद्ध होने वाले का अनुमोदन करता है।

इन १५५ सूत्रों में कहे गये स्थानों का सेवन करने पर लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन—इन १६ सूत्रों का संपूर्ण विवेचन १२वें उद्देशक के अनुसार जानना चाहिए, चूर्णिकार ने भी यही सूचन किया है।

सत्रहवें उद्देशक का सारांश—

सूत्र १-२	कुतूहल से त्रस प्राणी को बांधना, खोलना।
३-१४	कुतूहल से मालाएं, कड़े, आभूषण और वस्त्रादि बनाना, रखना और पहनना।
१५-६८	साध्वी, साधु का शरीरपरिकर्म गृहस्थ द्वारा करवावे।
६९-१२२	साधु, साध्वी का शरीरपरिकर्म गृहस्थ द्वारा करवावे।
१२३-१२४	सदृश निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थी को स्थान नहीं देना।
१२५-१२७	अधिक ऊँचे-नीचे स्थान में से या बड़े कोठे में से आहार लेना अथवा लेप आदि से बंद बर्तन खुलवाकर आहार लेना।
१२८-१३१	सचित्त पृथ्वी आदि पर रखा हुआ आहार लेना।
१३२	पंखे आदि से ठंडा करके दिया गया आहार लेना।
१३३	तत्काल बना हुआ अचित्त शीतल जल (धोवण) लेना।
१३४	अपने आचार्यपद योग्य शारीरिक लक्षण कहना।
१३५	गाना, बजाना, हँसना, नृत्य करना नाटक करना, हाथी, घोड़े, सिंह आदि जानवरों के जैसे आवाज करना।
१३६-१३९	वितत, तत, घन और झुसिर वाद्यों की ध्वनि सुनने जाना।
१४०-१५५	अन्य अनेक स्थानों के शब्द सुनने के लिए जाना। शब्दों में आसक्ति रखना इत्यादि प्रवृत्तियां करने पर लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।
	इस उद्देशक के ३९ सूत्रों के विषयों का कथन निम्नांकित आगमों में है, यथा—
१२५-१२७	मालोपहृत, कोठे में रखा और मट्टियोपलिप्त आहार लेने का निषेध।

—आचा. श्रु. २, अ. १, उ. ७

१२८-३२ पृथ्वी आदि की विराधना करके दिया गया आहार लेने का निषेध।
—आचा. श्रु. २, अ. १, उ. ७

१३४ तत्काल बनाया हुआ अचित्त शीतल जल लेने का निषेध और चिरकाल का लेने का विधान। —आचा. श्रु. २, अ. १, उ. ७

१३७-१५६ शब्दश्रवण के लिये जाने का निषेध। —आचा. श्रु. २, अ. ११

इस उद्देशक के १२६ सूत्रों के विषयों का कथन अन्य आगमों में नहीं है—

सूत्र १ से १२४ तक तथा सूत्र १३५, १३६ के विषयों का कथन अन्य आगमों में नहीं है, किन्तु माला, आभूषण आदि पहनने का दशा. अ. ३ में सामान्य निषेध है तथा अन्य सांभोगिक साधु आ जाय, उसे शय्या-संस्तारक देने का विधान—आचा. श्रु. २, अ. ७, उ. २ में है, किन्तु यहां सदृश निर्ग्रन्थ का कथन है।

॥ सत्रहवां उद्देशक समाप्त ॥

अठारहवां उद्देशक

नौकाविहार करने का प्रायश्चित्त

१. जे भिक्खू अणट्ठाए णावं दुरुहइ दुरुहंतं वा साइज्जइ ।

२. जे भिक्खू णावं किणइ, किणावेइ, कीयं आहट्टु देज्जमाणं दुरुहइ, दुरुहंतं वा साइज्जइ ।

३. जे भिक्खू णावं पामिच्चइ, पामिच्चावेइ, पामिच्चं आहट्टु देज्जमाणं दुरुहइ, दुरुहंतं वा साइज्जइ ।

४. जे भिक्खू णावं परियट्टेइ, परियट्टावेइ, परियट्टं आहट्टु देज्जमाणं दुरुहइ, दुरुहंतं वा साइज्जइ ।

५. जे भिक्खू णावं अच्छेज्जं, अणिसिट्ठं, अभिहडं आहट्टु देज्जमाणं दुरुहइ, दुरुहंतं वा साइज्जइ ।

६. जे भिक्खू थलाओ णावं जले ओक्कसावेइ, ओक्कसावेंतं वा साइज्जइ ।

७. जे भिक्खू जलाओ णावं थले उक्कसावेइ, उक्कसावेंतं वा साइज्जइ ।

८. जे भिक्खू पुण्णं णावं उस्सिचावेइ, उस्सिचावेंतं वा साइज्जइ ।

९. जे भिक्खू सण्णं णावं उप्पिलावेइ, उप्पिलावेंतं वा साइज्जइ ।

१०. जे भिक्खू पडिणावियं कट्टु णावाए दुरुहइ, दुरुहंतं वा साइज्जइ ।

११. जे भिक्खू उड्ढगामिणिं वा णावं, अहोगामिणिं वा णावं दुरुहइ, दुरुहंतं वा साइज्जइ ।

१२. जे भिक्खू परं जोयणवेलागामिणिं वा परं अद्धजोयणवेलागामिणिं वा णावं दुरुहइ, दुरुहंतं वा साइज्जइ ।

१३. जे भिक्खू णावं उक्कसेइ वा, वोक्कसेइ वा, खेवेइ वा, रज्जुए वा गहाय आकसेइ, उक्कसंतं वा, वोक्कसंतं वा खेवंतं वा, रज्जुए वा गहाय आकसंतं वा साइज्जइ ।

१४. जे भिक्खू णावं अलित्तएण वा, पप्फिडएण वा, वंसेण वा, वलएण वा वाहेइ, वाहेंतं वा साइज्जइ ।

१५. जे भिक्खू णावाओ उदगं भायणेण वा, पडिग्गहणेण वा, मत्तेण वा, नावाउस्सिचणेण वा उस्सिचइ, उस्सिचंतं वा साइज्जइ ।

१६. जे भिक्खू णावं उत्तिगेण उदगं आसवमाणिं उवरुवरिं वा कज्जलमाणिं पेहाए हत्थेण वा, पाएण वा, आसत्थपत्तेण वा, कुसपत्तेण वा, मट्टियाए वा, चेलकण्णेण वा पडिपिहेइ पडिपिहेंतं वा साइज्जइ ।

१७. जे भिक्खू णावागओ णावागयस्स असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ ।

१८. जे भिक्खू णावागओ जलगयस्स असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ ।

१९. जे भिक्खू णावागओ पंकगयस्स असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ ।

२०. जे भिक्खू णावागओ थलगयस्स असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ ।

२१. जे भिक्खू जलगओ णावागयस्स असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ ।

२२. जे भिक्खू जलगओ जलगयस्स असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ ।

२३. जे भिक्खू जलगओ पंकगयस्स असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ ।

२४. जे भिक्खू जलगओ थलगयस्स असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ ।

२५. जे भिक्खू पंकगओ णावागयस्स असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ ।

२६. जे भिक्खू पंकगओ जलगयस्स वा असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ ।

२७. जे भिक्खू पंकगओ पंकगयस्स असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ ।

२८. जे भिक्खू पंकगओ थलगयस्स असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

२९. जे भिक्खू थलगओ णावागयस्स असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

३०. जे भिक्खू थलगओ जलगयस्स असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

३१. जे भिक्खू थलगओ पंकगयस्स असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

३२. जे भिक्खू थलगओ थलगयस्स असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ।

१. जो भिक्षु बिना प्रयोजन नावा पर बैठता है या बैठने वाले का अनुमोदन करता है।

२. जो भिक्षु नावा खरीदता है, खरीदवाता है या खरीदी हुई नावा दे तो उस पर बैठता है या बैठने वाले का अनुमोदन करता है।

३. जो भिक्षु नावा उधार लेता है, उधार लिवाता है या उधार ली हुई नावा दे तो उस पर बैठता है या बैठने वाले का अनुमोदन करता है।

४. जो भिक्षु नावा को अदल-बदल करता है, करवाता है और अदल-बदल की हुई नावा दे तो उस पर बैठता है या बैठने वाले का अनुमोदन करता है।

५. जो भिक्षु छीनकर ली हुई, थोड़े समय के लिए लाकर दी हुई और सामने लाई गई नावा पर बैठता है या बैठने वाले का अनुमोदन करता है।

६. जो भिक्षु स्थल से नावा को जल में उतरवाता है या उतरवाने वाले का अनुमोदन करता है।

७. जो भिक्षु जल से नावा को स्थल पर रखवाता है या रखवाने वाले का अनुमोदन करता है।

८. जो भिक्षु पानी से पूर्ण भरी नावा को खाली करवाता है या खाली करवाने वाले का अनुमोदन करता है।

९. जो भिक्षु कीचड़ में फंसी नावा को निकलवाता है या निकलवाने वाले का अनुमोदन करता है।

१०. जो भिक्षु प्रतिनावा करके नावा में बैठता है या बैठने वाले का अनुमोदन करता है।

११. जो भिक्षु ऊर्ध्वगामिनी नावा पर या अधोगामिनी नावा पर बैठता है या बैठने वाले का अनुमोदन करता है।

१२. जो भिक्षु एक योजन से अधिक प्रवाह में जाने वाली अथवा अर्धयोजन से अधिक प्रवाह में जाने वाली नावा पर बैठता है या बैठने वाले का अनुमोदन करता है।

१३. जो भिक्षु नावा को उपर की ओर (किनारे) खीचता है, नीचे की ओर (जल में) खींचता है, लंगर डाल कर बांधता है या रस्सी से कस कर बांधता है या ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है।

१४. जो भिक्षु नावा को नौ-दंड (चप्पू) से, नौका पप्फिडक (नौका चलाने के उपकरण-विशेष) से, बांस से या बल्ले से चलाता है या चलाने वाले का अनुमोदन करता है।

१५. जो भिक्षु नाव में से भाजन द्वारा, पात्र द्वारा, मिट्टी के बर्तन द्वारा या नावा उत्सिचनक द्वारा पानी निकालता है या निकालने वाले का अनुमोदन करता है।

१६. जो भिक्षु नाव के छिद्र में से पानी आने पर अथवा नाव को डूबती हुई देखकर हाथ से, पैर से, पीपल के पत्ते (पत्र समूह) से, कुस के पत्ते (कुससमूह) से, मिट्टी से या वस्त्रखंड से उसके छेद को बन्द करता है या बंद करने वाले का अनुमोदन करता है।

१७. नाव में रहा हुआ भिक्षु नाव में रहे हुए गृहस्थ से अशन, पान, खादिम या स्वादिम ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

१८. नाव में रहा हुआ भिक्षु जल में रहे हुए गृहस्थ से अशन, पान, खादिम या स्वादिम ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

१९. नाव में रहा हुआ भिक्षु कीचड़ में रहे हुए गृहस्थ से अशन, पान, खादिम या स्वादिम ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

२०. नाव में रहा हुआ भिक्षु भूमि पर रहे हुए गृहस्थ से अशन, पान, खादिम या स्वादिम ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

२१. जल में रहा हुआ भिक्षु नाव में रहे हुए गृहस्थ से अशन, पान, खादिम या स्वादिम ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

२२. जल में रहा हुआ भिक्षु जल में रहे हुए गृहस्थ से अशन, पान, खादिम या स्वादिम ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

२३. जल में रहा हुआ भिक्षु कीचड़ में रहे हुए गृहस्थ से अशन, पान, खादिम या स्वादिम ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

२४. जल में रहा हुआ भिक्षु भूमि पर रहे हुए गृहस्थ से अशन, पान, खादिम या स्वादिम ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

२५. कीचड़ में रहा हुआ भिक्षु नाव में रहे हुए गृहस्थ से अशन, पान, खादिम या स्वादिम ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

२६. कीचड़ में रहा हुआ भिक्षु जल में रहे हुए गृहस्थ से अशन, पान, खादिम या स्वादिम ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

२७. कीचड़ के रहा हुआ भिक्षु कीचड़ में रहे हुए गृहस्थ से अशन, पान, खादिम या स्वादिम ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

२८. कीचड़ में रहा हुआ भिक्षु भूमि पर रहे हुए गृहस्थ से अशन, पान, खादिम या स्वादिम ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

२९. स्थल पर रहा हुआ भिक्षु नाव में रहे हुए गृहस्थ से अशन, पान, खादिम या स्वादिम ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

३०. स्थल पर रहा हुआ भिक्षु जल में रहे हुए गृहस्थ से अशन, पान, खादिम या स्वादिम ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

३१. स्थल पर रहा हुआ भिक्षु कीचड़ में रहे हुए गृहस्थ से अशन, पान, खादिम या स्वादिम ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

३२. स्थल पर रहा हुआ भिक्षु स्थल पर रहे हुए गृहस्थ से अशन, पान, खादिम या स्वादिम ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—१. अप्काय के जीवों की विराधना का भिक्षु पूर्णतः त्यागी होता है, अतः उसे नौकाविहार करना नहीं कल्पता है।

आचारांगसूत्र, बृहत्कल्पसूत्र तथा दशाश्रुतस्कंध में अपवादरूप विशेष प्रयोजनों से नौका द्वारा जाने का विधान है, इसका स्पष्टीकरण १२वें उद्देशक में किया गया है।

ठाणागं सूत्र ग्र. ५ में वर्षाकाल में विहार करने के कुछ कारण कहे हैं, उन कारणों से विहार करने पर कभी नौका द्वारा नदी आदि पार करना पड़े तो वह भी सकारण नौकाविहार है, अतः उसका सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नहीं आता है।

नावा देखने के लिये या नौकाविहार की इच्छापूर्ति के लिये, ग्रामानुग्राम विचरण करने के लिए या तीर्थस्थानों में भ्रमण करने हेतु अथवा अकारण या सामान्य कारण से नावा में बैठना निष्प्रयोजन बैठना कहा जाता है, उसी का इस प्रथम सूत्र में प्रायश्चित्त कहा गया है।

२-५. आगाढ (प्रबल) कारण से नौकाविहार करना पड़े तो भी सूत्रोक्त क्रीतादि दोष से युक्त नौका में जाना नही कल्पता है अर्थात् नाविक अपनी भावना से ले जावे, किराया नही लेवे तो प्रायश्चित्त नही आता है। क्रीतादि दोष लगने पर सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है।

६-९. साधु के लिये नौका को किनारे से जल में ले जावे या जल से स्थल में लावे, कीचड़ में से निकाले, नावा में से जल को निकालकर साफ करे, ऐसी नावा में जाने पर सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है अर्थात् अन्य यात्रियों के लिये पूर्व में सब तैयारी हो जाय, वैसी नावा में जाने पर सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नही आता है।

१०. यदि पार जाने वाली नौका बड़ी हो और वह किनारे से बहुत दूर हो तो वहाँ तक पहुँचने के लिये स्वयं के लिये ही दूसरी छोटी (प्रतिनावा) नौका आदि साधन करके जाए तो भी प्रायश्चित्त आता है, अर्थात् जो नौका किनारे के निकट है और आचा० श्रु २, अ० ३, उ० १ में कही विधि से पैदल चलकर पहुँच सकता है, ऐसी नावा में जाने पर सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नहीं आता है।

११. जो नौका प्रवाह में या प्रवाह के सन्मुख जाने वाली हो उसमें जाना नही कल्पता है, किन्तु जो नदी के विस्तार को काटकर सामने तीर पर जाने वाली हो, उसी नौका में जाना कल्पता है। आचा० श्रु० २, अ० ३, उ० १ में भी उक्त नौका में जाने का निषेध है और यहां उसी का प्रायश्चित्त कहा है।

१२. नदी का विस्तार कम होते हुए भी पानी के प्रवाह का वेग तीव्र होने से यदि नौका को तिरछा लम्बा मार्ग तय करना पड़े, जिससे नौका आधा योजन से अधिक या एक योजन से भी अधिक चले तो वैसी नावा में और वैसे समय में जाना नहीं कल्पता है। जाने पर सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है। अतः जब जो नावा आधा योजन से कम चल कर नदी पार करे तब उस नावा में जाने पर सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नही आता है।

यहाँ "जोयण" एवं "अद्धजोयण" ये दो शब्द दिए गए हैं, इसका तात्पर्य यह है कि सामान्य रूप से तो अर्ध योजन से अधिक चलने वाली नावा में भी नहीं जाना चाहिये, किन्तु अत्यन्त विकट स्थिति में कभी अनिवार्य रूप से जाने का प्रसंग आ जाए तो भिक्षु एक योजन चलने वाली नावा में जा सकता है, किन्तु एक योजन से अधिक जाने वाली नावा का तो उसे पूर्णतया वर्जन करना चाहिए।

१३-१४. आचारांगसूत्र में नौकाविहार के वर्णन में कहा है कि यदि नौका में बैठने के बाद नाविक नौका चलाने में मदद करने के लिए कुछ भी कहे तो भिक्षु उसे स्वीकार न करे किन्तु मौन

पूर्वक रहे। उन्हीं आगे-पीछे खींचने आदि नौका चलाने सम्बन्धी प्रवृत्तियों के करने का इन सूत्रों में प्रायश्चित्त कहा गया है।

१५-१६. नौका में किसी कारण से पानी भर जाए तो उसे पात्र आदि से निकालना तथा किसी छिद्र आदि से पानी आता दीखे तो उसे किसी भी साधन से बन्द करना या नाविक को सूचना देना भिक्षु को नहीं कल्पता है। भिक्षु को वहाँ एकाग्रता पूर्वक ध्यान में लीन रहकर शान्तचित्त से धैर्य रखते हुए समय व्यतीत करना चाहिए।

परिस्थितिवश नौका सम्बन्धी ये कार्य करने पर सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है।

१७-३२. १. नदी के किनारे स्थल में (सचित्त भूमि में), २. कीचड़ में, ३. जल में, ४. नावा में, —इन चार स्थानों में रहा हुआ भिक्षु इन चार स्थानों में रहे हुए गृहस्थ से आहार ग्रहण नहीं कर सकता है।

आचा० श्रु० २, अ० ३, उ० १ में विधान है कि जब भिक्षु नदी किनारे नौकाविहार के लिए पहुँचे तब चारों प्रकार के आहार का त्याग करके सागारी संथारा कर ले एवं साथ में आहारादि न रखे, किन्तु सभी वस्त्र-पात्रादि को एक साथ बांध ले। तब फिर नया आहार ग्रहण करने का तो विकल्प ही नहीं रहता है। क्योंकि भिक्षु अप्काय जीवों की विराधना के स्थान पर स्थित है, उस समय उसे आहार करना उपयुक्त नहीं है। स्थिरकाय होकर योग-प्रवृत्तियों से निवृत्त रहना होता है। सामान्यतया भी यदि गोचरी में वर्षा आदि से जल की बूंदें शरीर पर गिर जायें तो उनके सूखने तक आहार नहीं किया जाता है।

प्रथम सूत्र के विवेचन में बताये गये कारणों से जाना आवश्यक होने पर नौका-संतारिम जल-युक्त मार्ग होने पर अन्य कोई उपाय न होने से नौकाविहार का सूत्र में विधान है। यदि जंघासंतारिम जल हो तो उसे पार करने के लिए पैदल जाने की विधि आ० श्रु० २, अ०३, उ० २ में बताई गई है।

जंघाबल क्षीण हो जाने पर या अन्य किसी शारीरिक कारण से विहार न हो सके तो भिक्षु एक स्थान पर स्थिरवास रह सकता है।—व्यव० उ० ८, सू० ४

सूत्रोक्त नौकाविहार का विधान प्रवचनप्रभावना के लिए भ्रमण करने हेतु नहीं है, क्योंकि निशीथ उ० १२ में तथा दशा० द० २ में महिने में दो बार और वर्ष में ९ नव बार की ही छूट है। जिसका केवल मर्यादा पालन हेतु नदी पार करने से सम्बन्ध है। इसके सिवाय प्रवचनप्रभावना के लिए पादविहारी भिक्षु को वाहनों के प्रयोग का संकल्प करना भी संयम जीवन में अनुचित है।

उत्सर्ग विधानों के अनुसार संयमसाधना करने वाले भिक्षु को पादविहार ही प्रशस्त है और अपवाद विधानों के अनुसार परिमित जल-मार्ग को नौका द्वारा पार करने का आगम में विधान है। अन्य वाहनों के उपयोग करने का निषेध प्रश्न. श्रु० २ अ० ५ में है। वहाँ हाथी घोड़े आदि वाहन, रथ आदि यान तथा डोली पालकी आदि वाहन का निषेध है। विशेष परिस्थिति में उनके आपवादिक उपयोग का निर्णय गीतार्थ की निश्रा से विवेक पूर्वक करना चाहिए। यान-वाहन के कारणों को और कौतादि दोष संबंधी प्रायश्चित्तों को इन नावा सूत्रों के अनुसार जान लेना चाहिए।

विशेष कारण होने पर नौका द्वारा जल-मार्ग पार करने में अप्कायिक जीवों की विराधना अधिक होती है और अन्य कायिक जीवो की विराधना अल्प होती है ।

सकारण अन्य यानों के उपयोग में वायुकायिक जीवों की विराधना अधिक तथा तेजस्कायिक जीवों की विराधना अल्प एवं शेष कायिक जीवों की विराधना और भी अल्प होती है । उद्देशक १२, सूत्र ८ के अनुसार इन जीव-विराधनाओं का प्रायश्चित्त आता है ।

अपवादों के सेवन का, उनके सेवन की सीमा का और प्रायश्चित्तों का निर्धारण तो गीतार्थ ही करते हैं ।

आगमोक्त एवं व्याख्या में कहे अपवादों के अतिरिक्त यानो का उपयोग करना अकारण उपयोग माना जाता है, अतः उनके अकारण उपयोग का प्रायश्चित्त यहां प्रथम सूत्र के अनुसार समझना चाहिए एवं सकारण वाहन उपयोग का प्रायश्चित्त नही आता है । यह भी इस प्रथम सूत्र से स्पष्ट होता है ।

किन्तु गवेषणा आदि दोषों का एवं विराधना सम्बन्धी दोषों का प्रायश्चित्त सकारण या अकारण दोनों प्रकार के वाहनप्रयोग में आता है, यह इन सूत्रों का तात्पर्य है ।

नौकाविहार सम्बन्धी विधि-निषेध तथा उपसर्गजन्य स्थिति का विस्तृत वर्णन आचा० श्रु० २, अ० ३, उ० १-२ में स्वयं सूत्रकार ने किया है । अतः तत्सम्बन्धी अर्थ विवेचन एवं शब्दार्थ वहीं से जानना चाहिए ।

वस्त्रसम्बन्धी दोषों के सेवन का प्रायश्चित्त—

३३-७३. जे भिक्खू वत्थं किणइ, किणावेइ, कीयं आहट्टु देज्जमाणं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ । एवं चउद्दसमं उद्देसगगमेणं सव्वे सुत्ता वत्थाभिलावेणं भणियव्वा जाव जे भिक्खू वत्थणीसाए वासावासं वसइ, वसंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं ।

३३-७३. जो भिक्षु वस्त्र खरीदता है, खरीदवाता है या साधु के लिए खरीदकर लाया हुआ ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है, इत्यादि चौदहवें उद्देशक के समान सभी सूत्र वस्त्रालापक से कहने चाहिए यावत् जो भिक्षु वस्त्र के लिए (प्रतिबद्ध होकर) चातुर्मास में रहता है या रहने वाले का अनुमोदन करता है ।

इन सूत्रों में कहे दोषस्थानों का सेवन करने पर लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है ।

विवेचन—वस्त्रसम्बन्धी इन ४१ सूत्रों का विवेचन १४वें उद्देशक के पात्रसम्बन्धी ४१ सूत्रों के विवेचन के समान ही विवेकपूर्वक समझ लेना चाहिए ।

४१ सूत्रों के स्थान पर चूर्णिकार ने २५ सूत्रों का उच्चारण करने का कहा है तथा १४वें उद्देशक के समान अर्थ समझने की सूचना भी की है। चूर्णिकार ने सूत्रसंख्या २५ कहने में—पुराने एवं दुर्गन्धयुक्त वस्त्र के आठ सूत्रों की संख्या को दो सूत्रों में गिना है तथा पात्र सुखाने के ग्यारह सूत्रों को भी एक सूत्र गिना है, जिससे १६ सूत्र कम हो जाने से ४१ के स्थान पर २५ ही शेष रहते हैं। इस प्रकार सूत्रसंख्या गिनने में केवल अपेक्षाभेद है, किन्तु सूत्रसंख्या में कोई मौलिक अन्तर नहीं समझना चाहिए।

पात्र में जो कोरणी करने का सूत्र है, उससे यहाँ वस्त्र में कसीदा करना आदि अर्थ समझ लेना चाहिये।

अठारहवें उद्देशक का सारांश

सूत्र १	अत्यावश्यक प्रयोजन के बिना नौकाविहार करना या अन्य वाहन विहार करना।
२-५	क्रीतादि दोषयुक्त नौका में चढ़ना।
६-९	नौका में चढ़ने के लिये नावा को जल से स्थल में, स्थल से जल में मंगाना, कीचड़ में से निकलवाना या नावा में भरा जल निकलवाना।
१०	नौका तक जाने के लिये दूसरी नौका आदि करना।
११	अनुस्रोत या प्रतिस्रोत में जाने वाली नौका में जाना।
१२	आधा योजन या एक योजन से अधिक लम्बा मार्ग तय करने वाली नौका में जाना।
१३-१४	नौका चलाना या उसमें सहायता करना।
१५	नौका में आने वाले जल को बाहर उलीचना।
१६	नौका में छिद्र हो जाने पर उसे बन्द करना।
१७-३२	नौकाविहार के प्रसंग में स्थल, जल, कीचड़ या नावा में आहार ग्रहण करना।
३३-७३	वस्त्रसम्बन्धी दोषों का सेवन करना। इत्यादि प्रवृत्तियों का लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

इस उद्देशक के ४२ सूत्रों के विषय का कथन आचारांगसूत्र में है—

२-१६ नौकासम्बन्धी विधि निषेधों का क्रमबद्ध वर्णन है।
—आचा. श्रु. २, अ. ३, उ. १-२

३३-३६ तथा ४०-६२ इन २७ सूत्रों के विषय चौदहवें उद्देशक के सूत्र १-४ तथा ८-३० तक के समान वस्त्र के लिये समझना। —आचा. श्रु. २, अ. ६, उ. १-२

इस उद्देशक के ३१ सूत्रों के विषय का कथन अन्य आगमों में नहीं है, यथा--

१ अत्यावश्यक प्रयोजन के बिना नौका विहार का निषेध ।

१७-३२ नौका विहार के समय जल, स्थल, कीचड़ एवं नौका में आहार ग्रहण नहीं करना ।

३७-३९ } इन चौदह सूत्रों के विषय चौदहवें उद्देशक के सूत्र ५-७ तथा ३१ से ४१ तक के
६३-७३ } समान वस्त्र के लिये समझना ।

इस उद्देशक में वस्त्र एवं नौका इन दो विषयों का प्रायश्चित्त ७३ सूत्रों में कहा गया है, अन्य कोई विषय नहीं है यह इस उद्देशक की विशेषता है ।

॥ अठारहवां उद्देशक समाप्त ॥

उन्नीसवां उद्देशक

औषध सम्बन्धी क्रीतादि दोषों के प्रायश्चित्त

१. जे भिक्खू वियडं किणइ, किणावेइ, कीयं आहट्टु देज्जमाणं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ ।

२. जे भिक्खू वियडं पामिच्चइ, पामिच्चावेइ, पामिच्चं आहट्टु देज्जमाणं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ ।

३. जे भिक्खू वियडं परियट्टइ, परियट्टावेइ, परियट्टियं आहट्टु देज्जमाणं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ ।

४. जे भिक्खू वियडं अच्छेज्जं, अणिसिट्ठं, अभिहडं आहट्टु देज्जमाणं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ ।

५. जे भिक्खू गिलाणस्स अट्ठाए परं तिण्हं वियड दत्तीणं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ ।

६. जे भिक्खू वियडं गहाय गामाणुगामं दुइज्जइ दुइज्जंतं वा साइज्जइ ।

७. जे भिक्खू वियडं गालेइ, गालावेइ, गालियं आहट्टु देज्जमाणं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ ।

१. जो भिक्षु औषध खरीदता है, खरीदवाता है या साधु के लिए खरीद कर देने वाले से ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है ।

२. जो भिक्षु औषध उधार लाता है, उधार लिवाता है या उधार लाने वाले से ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है ।

३. जो भिक्षु औषध को बदलता है, बदलवाता है या बदलवाकर लाने वाले से ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है ।

४. जो भिक्षु छीनकर लाई हुई, स्वामी की आज्ञा के बिना लाई हुई अथवा सामने लाई हुई औषध ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है ।

५. जो भिक्षु ग्लान के लिए तीन मात्रा (तीन खुराक) से अधिक औषध ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है ।

६. जो भिक्षु औषध साथ में लेकर ग्रामानुग्राम विहार करता है या विहार करने वाले का अनुमोदन करता है।

७. जो भिक्षु औषध को स्वयं गलाता है, गलवाता है या गला कर देने वाले से ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—प्रस्तुत सूत्रों में प्रयुक्त "वियड" शब्द का प्रयोग अनेक आगमों में अनेक अर्थों में हुआ है। यथा—

१. बृहत्कल्प सूत्र उद्देशक २, सु. ४-७ में—शीतल पानी, गर्म पानी, सुरा और सौवीर के विशेषण रूप में प्रयोग हुआ है, यथा—

१. सीओदग वियड कुंभे वा, २. उसिणोदग वियड कुंभे वा, ३. सुरा वियड कुंभे वा, ४. सोवीर वियड कुंभे वा, इत्यादि।

२. बृहत्कल्प सूत्र उद्देशक २, सु. ११-१२ में—खुले गृह के अर्थ में "वियड" शब्द का प्रयोग हुआ है। निर्ग्रन्थ को ऐसे खुले गृह में ठहरने का विधान किया गया है और निर्ग्रन्थी को वहाँ ठहरने का निषेध किया गया है।

३. दशाश्रुत स्कन्ध की दशा ६ में श्रावक को छट्ठी प्रतिमा में दिवस भोजन के अर्थ में "वियडभोजी" शब्द प्रयुक्त है।

४. प्रज्ञापना पद ९ में—जीवों के उत्पन्न होने के स्थान रूप एक प्रकार की "योनि" के अर्थ में "वियड" शब्द प्रयुक्त है, यथा—"वियडा जोणी"।

५. ठाणांग सूत्र अ. ३ में—ग्लान भिक्षु के लिए किसी एक प्रकार की औषध के अर्थ में "वियड" शब्द का प्रयोग है। वहाँ ग्लान के लिए तीन प्रकार की "वियडदत्ति" ग्रहण करने का विधान है।

६. दशा. द. ८ में—गोचरी गए साधु के मार्ग में कहीं वर्षा आ जाने पर वहीं सुरक्षित स्थान में बैठकर आहार-पानी के सेवन कर लेने के विधान में "वियडगं भोच्चा पेच्चा" ऐसा पाठ है।

७. आचा. श्रु. १, अ. ९, उ. १, गा. १८ में भगवान् महावीर स्वामी ने किसी भी प्रकार का पाप कर्म न करते हुए, आधाकर्म दोष का सेवन न करते हुए "अचित्त भोजन किया था" इस अर्थ में "वियड" शब्द का प्रयोग है यथा—तं अकुव्वं वियडं भुंजित्या। यहाँ स्वतन्त्र "वियड" शब्द आहार का बोधक है।

इस प्रकार आगमों में जहाँ "वियड" शब्द अचित्त गर्म पानी का, अचित्त शीतल पानी का विशेपण है वहीं सुरा-सौवीर आदि "मद्य" का भी विशेषण है। औषध, आहार-पानी, दिवस भोजन तथा शय्या एवं योनि अर्थ में भी है।

प्रस्तुत प्रकरण में ठाणांग सूत्र अ. ३ में कहे गए विधान से सम्बन्धित प्रायश्चित्त का विषय है। दोनों स्थलों में "वियड" ग्रहण करने का सम्बन्ध बीमार के लिए किया गया है अतः यहाँ औषध रूप अनेक पदार्थों को ही "वियड" शब्द से समझना चाहिए।

८. जो भिक्षु प्रातःकाल संध्या में, सायंकाल संध्या में, मध्याह्न में और अर्धरात्रि में इन चार सन्ध्याओं में स्वाध्याय करता है या स्वाध्याय करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—सन्ध्याएँ चार कही गई हैं, यथा—

१. पूर्व सन्ध्या—सूर्योदय के समय जो पूर्व दिशा में लालिमा रहती है उसे 'पूर्व सन्ध्या' कहा जाता है। यह रात्रि और दिवस का संधिकाल है। इसमें सूर्योदय के पूर्व अधिक समय लालिमा रहती है और सूर्योदय के बाद अल्प समय रहती है। यह समय लगभग एक मुहूर्त का होता है।

२. पश्चिम सन्ध्या—पूर्व सन्ध्या के समान ही पश्चिम सन्ध्या सूर्यास्त के समय समझनी चाहिए। इसमें सूर्यास्त के पूर्व लाल दिशा कम समय रहती है और सूर्यास्त के बाद लाल दिशा अधिक समय तक रहती है। इस सम्पूर्ण लाल दिशा के काल को 'पश्चिम सन्ध्या' कहा गया है।

३. अपराह्न-मध्याह्न—दिवस का मध्यकाल। जितने मुहूर्त का दिन हो उसके बीच का एक मुहूर्त समय मध्याह्न कहा जाता है। उसे ही सूत्र में "अपराह्न" कहा है। यह समय प्रायः बारह बजे से एक बजे के बीच में आता है। कभी-कभी कुछ पहले या पीछे भी हो जाता है।

४. अड्ढरत्ते—रात्रि के मध्यकाल को "अर्द्ध रात्रि" कहा गया है। इसे "अपराह्न" के समान समझना चाहिए।

दिवस और रात्रि का मध्यकाल लौकिक शास्त्र-वाचन के लिए भी अयोग्य काल माना जाता है। शेष दोनों संध्याकाल को आगम में प्रतिक्रमण और शय्या उपधि के प्रतिलेखन करने का समय कहा है, इस समय में स्वाध्याय करने पर इन आवश्यक क्रियाओं के समय का अतिक्रमण होता है।

ये चारों काल व्यन्तर देवों के भ्रमण करने के हैं। अतः किसी प्रकार का प्रमाद होने पर उनके द्वारा उपद्रव होना सम्भव रहता है। लौकिक में भी प्रातः-सायं भजन स्मरण के और मध्याह्न एवं अर्द्ध रात्रि प्रेतात्माओं के भ्रमण के माने जाते हैं।

इन चार कालों में भिक्षु को स्वाध्याय न करने से कुछ विश्रान्ति भी मिल जाती है।

इन चारों सन्ध्याओं का काल स्थूल रूप में इस प्रकार है—

१. पूर्व सन्ध्या—सूर्योदय से २४ मिनिट पहले और २४ मिनिट बाद अथवा ३६ मिनिट पूर्व और १२ मिनिट बाद।

२. पश्चात् सन्ध्या—सूर्यास्त से २४ मिनिट पहले और २४ मिनिट बाद अथवा १२ मिनिट पूर्व और ३६ मिनिट बाद।

सूक्ष्म दृष्टि से इन सन्ध्याओं का काल लाल दिशा रहे जब तक होता है जो उपरोक्त कालावधि से हीनाधिक भी हो जाता है।

३-४. मध्याह्न एवं अर्द्ध रात्रि—परम्परा से स्थूल रूप में दिन और रात्रि के १२ बजे से एक बजे तक का समय माना जाता है। सूक्ष्म दृष्टि से दिन या रात्रि के मध्य भाग का एक मुहूर्त समय होता है।

इन चारों सन्ध्याओं में आगम के मूल पाठ का उच्चारण, वाचन एवं स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। क्योंकि स्वाध्याय करने पर ज्ञान के अतिचार (अकाले कओ सज्झाओ) का सेवन होने से तथा अन्य दोषों के होने से प्रस्तुत सूत्र के अनुसार लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

उत्काल में कालिकश्रुत की मर्यादा-उल्लंघन का प्रायश्चित्त

९. जे भिक्खू कालियसुयस्स परं तिण्हं पुच्छाणं पुच्छइ, पुच्छंतं वा साइज्जइ।

१०. जे भिक्खू दिट्ठिवायस्स परं सत्तण्हं पुच्छाणं पुच्छइ, पुच्छंतं वा साइज्जइ।

९. जो भिक्षु कालिकश्रुत की तीन पृच्छाओं से अधिक पृच्छाएँ अकाल में पूछता है या पूछने वाले का अनुमोदन करता है।

१०. जो भिक्षु दृष्टिवाद की सात पृच्छाओं से अधिक पृच्छाएँ अकाल में पूछता है या पूछने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—कालिकश्रुत के लिए दिवस और रात्रि का प्रथम और अन्तिम प्रहर स्वाध्याय का काल है और दूसरा तीसरा प्रहर उत्काल है। अतः उत्काल के समय कालिकश्रुत का स्वाध्याय नहीं किया जाता है किन्तु नया अध्ययन कंठस्थ करने आदि की अपेक्षा से यहां कुछ आपवादिक मर्यादा बतलाई गई है, जिसमें दृष्टिवाद के लिए सात पृच्छाओं का और अन्य कालिकश्रुत आचारांग आदि के लिए ३ पृच्छाओं का विधान किया है।

तिहिं सिलोगेहिं एगा पुच्छा, तिहिं पुच्छाहिं णव सिलोगा भवंति एयं कालियसुयस्स एगतरं। दिट्ठिवाए सत्तसु पुच्छासु एगवीसं सिलोगा भवंति॥ —चूर्णि भा. गा. ६०६१.

तीन श्लोकों की एक पृच्छा होती है, तीन पृच्छा से ९ श्लोक होते हैं। ये प्रत्येक कालिक सूत्र के लिए है। दृष्टिवाद के लिए सात पृच्छाओं के २१ श्लोक होते है। अर्थात् दृष्टिवाद के २१ श्लोक प्रमाण और अन्य कालिकश्रुत के ९ श्लोक प्रमाण पाठ का उच्चारण आदि उत्काल में किया जा सकता है। "पृच्छा" शब्द का सामान्य अर्थ प्रश्नोत्तर करना होता है। किन्तु प्रश्नोत्तर के लिए स्वाध्याय या अस्वाध्याय काल का कोई प्रश्न ही नहीं होता है अतः यहां इस प्रकरण में यह अर्थ प्रासंगिक नहीं है।

"पृच्छा" शब्द के अन्य अनेक वैकल्पिक अर्थ भी होते हैं, उन्हें भाष्य से जानना चाहिए।

दृष्टिवाद सूत्र में अनेक सूक्ष्म-सूक्ष्मतर विषय, भंग भेद आदि के विस्तृत वर्णन होने से उसकी पृच्छा अधिक कही गई है जिससे उसके अधिक पाठ का उच्चारण एक साथ किया जा सके।

कालिकश्रुत और उत्कालिकश्रुत की भेद-रेखा करने वाली कोई स्पष्ट परिभाषा आगमों में उपलब्ध नहीं है। किन्तु नन्दीसूत्र में कालिक और उत्कालिक सूत्रों की सूची उपलब्ध है। उससे यह तो स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि कौन से आगम कालिक हैं और कौनसे उत्कालिक हैं। किन्तु ये आगम उत्कालिक या कालिक क्यों हैं, इसका कारण वहां स्पष्ट नहीं किया गया है।

उपलब्ध ३२ आगमों में ९ सूत्र उत्कालिक हैं यथा—

१. उववाईसूत्र, २. रायपसेणियसूत्र, ३. जीवाजीवाभिगमसूत्र, ४. प्रज्ञापनासूत्र, ५. सूर्यप्रज्ञप्तिसूत्र, ६. दशवैकालिकसूत्र, ७. नन्दीसूत्र, ८. अनुयोगद्वारसूत्र, ९. आवश्यकसूत्र। शेष ग्यारह अंग आदि २३ आगम कालिकसूत्र हैं।

नन्दीसूत्र में २९ उत्कालिकसूत्रों के नाम हैं और ४२ कालिकसूत्रों के नाम हैं। आवश्यक सूत्र मिलाने से कुल ७२ सूत्र होते हैं।

आवश्यकसूत्र को अनुयोगद्वारसूत्र में उत्कालिकसूत्र कहा है। नन्दीसूत्र में १२ उपांग सूत्रों में से ५ को उत्कालिक और सात को कालिक कहा है तथा चन्द्रप्रज्ञप्ति एवं सूर्यप्रज्ञप्ति में से भी क्रमशः एक को कालिक और एक को उत्कालिक कहा है। अतः इससे भी कोई परिभाषा निश्चित नहीं की जा सकती है।

गणधरों द्वारा रचित आगम तो कालिक ही होते हैं और दृष्टिवाद आदि अंगसूत्रों में से भाषा-परिवर्तन के बिना ज्यों का त्यों उद्धृत किया गया आगम भी कालिकश्रुत कहा जाता है, क्योंकि वह तो उन अंग सूत्रों का मौलिक रूप ही होता है। किन्तु अन्य पूर्वधरों के द्वारा अपनी शैली में रचित आगम को उत्कालिकश्रुत समझना चाहिए। क्योंकि इसमें अर्थ की मौलिकता रह सकती है किन्तु सूत्र की मौलिकता नहीं रहती है।

आगमों की ३२ या ४५ संख्या मानने की परम्परा भी अलग-अलग अपेक्षा से तथा किसी क्षेत्र-काल में की गई कल्पना मात्र ही समझनी चाहिए। वास्तव में नन्दीसूत्र में ७२ सूत्रों के जो नाम हैं, वह नन्दीसूत्र की रचना के समय उपलब्ध आगमों की सूची है। उसमें स्वयं नन्दीसूत्र का भी नाम है जो एक पूर्वधर श्री देवर्द्धिगणी क्षमा श्रमण (देव वाचक) द्वारा रचित है। तथा अन्य भी एक पूर्वधर द्वारा रचित अनेक आगमों के नाम वहाँ दिए गये हैं।

अनेक आगमों के रचनाकाल या रचनाकार का कोई प्रामाणिक इतिहास भी नहीं मिलता है। नन्दीसूत्र में कहे गए महानिशीथ आदि सूत्रों के खण्डित हो जाने पर उन्हें पूरक पाठों से पूरा किया गया है।

ग्रन्थों में आगमों की परिभाषा इस प्रकार कही गई है—

सुत्तं गणहर रइयं, तहेव पत्तेय बुद्ध रइयं च।
सुय केवलिणा रइयं, अभिन्न दस पुव्विणा रइयं ॥१५४॥
—बृहत्संग्रहणी

इस गाथा के अनुसार प्रत्येक बुद्ध, गणधर, १४ पूर्वी तथा सम्पूर्ण दस पूर्वधरों की रचना-संकलना को सूत्र या आगम कहा जा सकता है।

नन्दीसूत्र के अनुसार भी भिन्न दस पूर्वधरों का श्रुत, सम्यक् भी हो सकता है और असम्यक् भी। किन्तु १० पूर्व सम्पूर्ण धारण करने वालों का श्रुत (उपयोगयुक्त होने पर) सम्यक् ही होता है।

उपलब्ध आगमों में चार छेदसूत्र, दशवैकालिकसूत्र तथा प्रज्ञापनासूत्र के रचनाकार ज्ञात हैं जो १० पूर्व तथा १४ पूर्वधर माने जाते हैं। आवश्यकसूत्र एवं ग्यारह अंगसूत्र गणधर रचित माने जाते हैं तथापि प्रश्नव्याकरणसूत्र आदि में गणधर रचित सम्पूर्ण विषय हटाकर अन्य विषय ही रख दिए गए हैं, जिनका नन्दीसूत्र में निर्देश भी नहीं है। अन्य अनेक उपलब्ध सूत्रों के कर्त्ता अज्ञात हैं

इस प्रकार आगम(सूत्र) की परिभाषा में आने वाला श्रुत बहुत ही अल्प है। वर्तमान में ३२ आगम अथवा ४५ आगम कहने की परम्परा प्रचलित है, जिसमें सूत्र की परिभाषा के अतिरिक्त अनेक आगम सम्मिलित किए जाते हैं और इनमें किसी-किसी व्याख्या ग्रन्थ को भी सूत्र गिन लिया गया है यथा—ओघनिर्युक्ति पिंडनिर्युक्ति आदि।

दस पूर्व से कम यावत् एक पूर्व तक के ज्ञानी द्वारा रचित श्रुत भी सम्यग् हो सकता है और उसे आगम कहा जा सकता है। यह नन्दीसूत्र के उत्कालिकश्रुत एवं कालिकश्रुत की सूची से स्पष्ट होता है। नन्दीसूत्र की रचना के समय उपलब्ध ७२ सूत्रों को नन्दीसूत्र के रचनाकार ने आगम रूप में स्वीकार किया है। उनमें कई एक पूर्वधारी बहुश्रुतों के द्वारा रचित या संकलित श्रुत भी हैं।

अतः इन ७२ सूत्रों में से जितने सूत्र उपलब्ध हैं और जिनमें कोई अत्यधिक परिवर्तन या क्षति नहीं हुई है, उन्हें आगम न मानना केवल दुराग्रह है, एवं उससे नन्दीसूत्रकर्ता की आसातना भी स्पष्ट है। इन ७२ सूत्रों में से उपलब्ध जिन सूत्रों में अहिंसादि मूल सिद्धान्तों के विपरीत प्ररूपण प्रक्षिप्त कर दिया है उन्हें शुद्ध आगम मानना भी उचित नहीं है।

इन ७२ सूत्रों के सिवाय अन्य सूत्र, ग्रन्थ, टीका, भाष्य, निर्युक्ति, चूर्णी, निबन्धग्रन्थ या सामाचारी-ग्रन्थ आदि को आगम या आगम तुल्य मानने का आग्रह करना तो सर्वथा अनुचित है।

नन्दीसूत्र की रचना के समय ७२ सूत्रों के अतिरिक्त अन्य कोई भी पूर्वधरों द्वारा रचित सूत्र, ग्रन्थ या व्याख्या-ग्रन्थ उपलब्ध नहीं थे यह निश्चित है। यदि कुछ उपलब्ध होते तो उन्हें श्रुत-सूची में अवश्य समाविष्ट किया जाता, क्योंकि इस सूची में अज्ञात रचनाकारों के तथा एक पूर्वधारी बहुश्रुतों के रचित श्रुत को भी स्थान दिया गया है। तो अनेक पूर्वधारी या १४ पूर्वधारी आचार्यों द्वारा रचित और उपलब्ध श्रुत का किसी भी रूप में उल्लेख नहीं करने का कोई कारण ही नहीं हो सकता। अतः शेष सभी सूत्र, व्याख्याएं, ग्रन्थ आदि नन्दीसूत्र की रचना के बाद में रचित हैं यह स्पष्ट है। फिर भी इतिहास सम्बन्धी वर्णनों के दूषित हो जाने से व्याख्या ग्रन्थ भी चौदह पूर्वी आदि द्वारा रचित होने की भ्रांत धारणाएं प्रचलित हैं।

प्रस्तुत प्रायश्चित्त सूत्र में नन्दीसूत्र में निर्दिष्ट आगमों में से उपलब्ध कालिकसूत्रों के स्वाध्याय के विषय में तीन पृच्छाओं अर्थात् ९ श्लोक का प्रमाण समझना चाहिए।

दृष्टिवाद नामक बारहवें अंगसूत्र का अभी विच्छेद है। अतः ७ पृच्छा अर्थात् २१ श्लोक का प्रमाण वर्तमान में उपलब्ध किसी भी सूत्र के लिये नहीं समझना चाहिए। जो सूत्र दृष्टिवाद में से निर्यूढ (उद्धृत-संकलित) किये गये हैं और वे कालिकसूत्र हैं तो उनके लिए भी स्वतन्त्र लघुसूत्र बन जाने से तीन पृच्छा [९ श्लोक] का प्रमाण ही समझना चाहिए।

इन सूत्रों के मूलपाठ का उत्काल में उच्चारण करना आवश्यक हो तो एक साथ ९ श्लोक प्रमाण उच्चारण करने पर प्रायश्चित्त नहीं आता है। इससे अधिक पाठ का उच्चारण करने पर सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है।

महामहोत्सवों में स्वाध्याय करने का प्रायश्चित्त

११. जे भिक्खू चउसु महामहेसु सज्झायं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ। तं जहा—१. इंदमहे, २. खंदमहे, ३. जक्खमहे, ४. भूयमहे।

१२. जे भिक्खू चउसु महापाडिवएसु सज्झायं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ। तंजहा—१. आसोय-पाडिवए, २. कत्तिय-पाडिवए, ३. सुगिम्हग-पाडिवए, ४. आसाढी-पाडिवए।

११. जो भिक्षु इन्द्रमहोत्सव, स्कन्दमहोत्सव, यक्षमहोत्सव, भूतमहोत्सव, इन चार महोत्सवों में स्वाध्याय करता है या स्वाध्याय करने वाले का अनुमोदन करता है।

१२. जो भिक्षु आश्विन प्रतिपदा, कार्तिक प्रतिपदा, चैत्री प्रतिपदा और आषाढी प्रतिपदा इन चार महाप्रतिपदाओं में स्वाध्याय करता है या स्वाध्याय करने वाले का अनुमोदन करता है। [उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।]

विवेचन—आषाढी पूर्णिमा, आसोजी पूर्णिमा, कार्तिकी पूर्णिमा और चैत्री पूर्णिमा के दिन और उसके दूसरे दिन की प्रतिपदा [एकम] इन आठ दिनों में स्वाध्याय करने का इन दो सूत्रों में प्रायश्चित्त कहा गया है।

ठाणांग अ. ४ में चार प्रतिपदा को स्वाध्याय करने का निषेध किया गया है। वहाँ उनके नाम इस क्रम से कहे हैं—

"आसाढ पाडिवए, इंदमह पाडिवए, कत्तिय पाडिवए, सुगिम्हग पाडिवए।"

निशीथभाष्य की गाथा ६०६५ में भी ऐसा ही क्रम कहा गया है, यथा—

१ आसाढी, २ इंदमहो, ३ कत्तिय, ४ सुगिम्हओ य बोद्धव्वो।
एते महा महा खलु, एतेसिं चेव पाडिवया॥

ठाणांग सूत्र और निशीथभाष्य की इस गाथा में कहा गया क्रम समान है। इनमें इन्द्र महोत्सव का द्वितीय स्थान है जो आषाढ के बाद क्रम से प्राप्त आसोज की पूनम एवं एकम का होना स्पष्ट है।

प्रस्तुत सूत्र ११ में कहे शेष स्कन्द, यक्ष और भूत तीन महोत्सव क्रमशः कार्तिक, चैत्र और आषाढ इन तीन पूनम-एकम को समझ लेना उचित प्रतीत होता है। किन्तु इसका स्पष्टीकरण ठाणांग टीका एवं निशीथचूर्णि दोनों में नहीं किया गया है।

प्रस्तुत सूत्रों के मूल पाठ में उपलब्ध प्रतियों में महामहोत्सवों में इन्द्र महोत्सव का क्रम पहला कहा है और महाप्रतिपदा में आसोजी पूनम (इन्द्र महोत्सव) और एकम का क्रम तीसरा कहा है, जबकि उपर्युक्त भाष्य-गाथा में ठाणांग सूत्र के पाठ के अनुसार व्याख्या की गई है। अतः निशीथ सूत्र का मूल पाठ भी ठाणांग के अनुसार ही रहा होगा। इस प्रकार सूत्र में इन्द्र महोत्सव—आसोज की पूनम के दिन का प्रथम स्थान है यह स्पष्ट है और स्कन्द महोत्सव कार्तिक पूनम का द्वितीय स्थान माना जा सकता है क्योंकि स्कन्द को कार्तिकेय कहा जाता है। शेष यक्ष और भूत महोत्सव

का दिन निश्चित करने का कोई आधार नहीं मिलता है तथापि क्रम के अनुसार यक्ष महोत्सव चैत्र की पूनम एवं भूत महोत्सव आषाढ की पूनम का माना जा सकता है।

आचा. श्रु. २, अ. १, उ. २ में अनेक महोत्सवों का कथन है। प्रस्तुत ग्यारहवें सूत्र में कहे गये चारों महोत्सवों के नाम भी वहां है किन्तु क्रम भिन्न है, यथा—

१. इंद महेसु वा, २. खंद महेसु वा, ३. रुद्द महेसु वा, ४. मुगुंद महेसु वा, ५. भूय महेसु वा, ६. जक्ख महेसु वा, ७. नाग महेसु वा।

यहां भी महोत्सव कथन में इन्द्र और स्कन्ध महोत्सव को प्रथम एवं द्वितीय स्थान में कहा गया है। अतः निष्कर्ष यह है कि ग्यारहवें सूत्र के इन्द्र, स्कन्ध, यक्ष और भूत महोत्सव के अनुसार बारहवें सूत्र के शब्दों का क्रम इस प्रकार होना चाहिए।

आसोजी प्रतिपदा, कार्तिकी प्रतिपदा, चैत्री प्रतिपदा और आषाढी प्रतिपदा।

इसलिए प्रस्तुत सूत्र १२ में यही क्रम स्वीकार किया है।

ये चारों महोत्सव क्रमशः इन्द्र से, कार्तिकेय देव से, यक्ष एवं भूत व्यन्तर जाति के देवों से सम्बन्धित हैं अर्थात् इन्हें प्रसन्न रखने के लिए लोग इनकी पूजा-प्रतिष्ठा करते हुए दिन भर खाना-पीना, गाना-बजाना, नाचना-घूमना, मद्यपान करना आदि मौज शौक करते हुए प्रमोद पूर्वक रहते हैं। ये महोत्सव पूनम के दिन होते हैं। देवों का आवागमन भी इन दिनों में बना रहता है तथा अनेक लोगों का भी इधर-उधर आवागमन रहता है। प्रतिपदा के दिन भी इन महोत्सवों का कुछ कार्यक्रम शेष रह जाता है अतः उसे भी महामहोत्सव की प्रतिपदा का दिन कहा गया है।

स्वाध्याय-निषेध का कारण यह है कि उन दिनों में भ्रमण करने वाले देव छोटे-बड़े अनेक प्रकार के होते हैं तथा भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले एवं कौतूहली भी होते हैं। वे देव स्वाध्याय में स्खलना हो जाने पर उपद्रव कर सकते हैं। स्खलना न होने पर भी अधिक ऋद्धिसम्पन्न देव उपद्रव कर सकते हैं।

मौज-शौक मनोरंजन आनन्द के दिन शास्त्रवाचन लोक में अव्यावहारिक समझा जाता है। लोग भी अनेक प्रकार के नशे में भ्रमण करते हुए कुतूहल या द्वेषवश उपद्रव कर सकते हैं। इत्यादि कारणों से इन आठ दिनों में स्वाध्याय करने की आगम आज्ञा नहीं है।

इन चार महोत्सवों के निर्देश से आचारांगसूत्र कथित अन्य अनेक महोत्सव, जो सर्वत्र प्रचलित हों उनके प्रमुख दिनों में भी स्वाध्याय नहीं करना चाहिए या उच्चस्वर से नहीं करना चाहिए।

सूत्र १२ में जो 'आषाढी प्रतिपदा' आदि शब्द है उनका अर्थ आषाढी पूनम के बाद आने वाली प्रतिपदा अर्थात् श्रावण वदी एकम ऐसा समझना ही उपयुक्त है। किन्तु 'आषाढी पूनम के बाद पुनः आषाढ वदी एकम हो' ऐसा नहीं समझना चाहिए। इसी प्रकार शेष तीनों प्रतिपदा भी उस महोत्सव की पूनम के बाद आने वाली प्रतिपदा को ही मानना उचित है।

आगमों में अनेक स्थलों में कथित तीर्थंकर आदि के वर्णनों में स्पष्ट रूप से प्रत्येक मास में प्रथम कृष्णपक्ष और द्वितीय शुक्लपक्ष कहा जाता है। यथा—आचारांग श्रु. २, अ. १५ में—

"गिम्हाणं पढमे मासे दोच्चे पक्खे चेत्त सुद्धे, तस्सणं चेत्त सुद्धस्स तेरसी पक्खेणं"……।

यहाँ चैत्र सुदी तेरस को भगवान् महावीर का जन्म बताते हुए ग्रीष्म ऋतु के प्रथम मास का द्वितीय पक्ष चैत्र सुद्ध (सुदि) कहा है। इसी तरह अन्यत्र भी वर्णन है। अतः पूनम के बाद अगले महीने को एकम समझना ही शास्त्रसम्मत है।

लौकिक प्रचलन में अमावस्या के लिए (३०) तीस का अंक लिखा जाता है और इसे ही मास का अन्तिम दिन माना जाता है। किन्तु यह मान्यता शास्त्रसम्मत नहीं है। कई विद्वान् प्रस्तुत सूत्र (१२) के आधार से भी इस लौकिक मान्यता का निर्देश मानते हैं किन्तु इस सूत्र से ऐसा अर्थ समझना भ्रमपूर्ण है। क्योंकि ठाणांग टीका व निशीथ चूर्णी में भी वैसा अर्थ नहीं किया गया है, तथा उक्त आचारांग अ. १५ के पाठ से भी ऐसा अर्थ करना आगम विरुद्ध है।

अतः आषाढ, आसोज, कार्तिक और चैत्र की पूनम एवं श्रावण, कार्तिक, मार्गशीर्ष और वैशाख की एकम ये आठ दिन ही अस्वाध्याय के समझने चाहिये।

यद्यपि इन्द्र महोत्सव के लिये आसोज की पूनम जैनागमों की व्याख्याओं में तथा जैनेतर शास्त्रों में भी कही गई है तथापि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में कुछ भिन्न-भिन्न परम्पराएं भी कालान्तर से प्रचलित हो जाती हैं। यथा—लाट देश में श्रावण की पूनम को इन्द्र महोत्सव होना चूर्णिकार ने बताया है। ऐसे ही किसी कारण से भादवा की पूनम को भी महोत्सव का दिन मानकर अस्वाध्याय मानने की परम्परा प्रचलित है। जिससे कुल १० दिन महोत्सव सम्बन्धी अस्वाध्याय के माने जाते हैं। किन्तु इसे केवल परम्परा ही समझना चाहिए क्योंकि इसके लिए मौलिक प्रमाण कुछ भी नहीं है।

प्रस्तुत सूत्र में उपर्युक्त वर्णन के अनुसार आठ दिन ही कहे गये हैं उनमें स्वाध्याय करने पर सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है।

स्वाध्यायकाल में स्वाध्याय नहीं करने का प्रायश्चित्त

१३. जे भिक्खू चाउकालं उपाइणावेइ, उपाइणावेंतं वा साइज्जइ।

१३. जो भिक्षु चारों स्वाध्यायकाल को स्वाध्याय किये बिना व्यतीत करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—दिन की प्रथम व अन्तिम पोरुषी और रात्रि की प्रथम और अन्तिम पोरुषी, ये चार पोरुषियां कालिकश्रुत की अपेक्षा से स्वाध्यायकाल हैं। इन चारों काल में स्वाध्याय नहीं करना और अन्य विकथा प्रमाद आदि में समय व्यतीत कर देना यह ज्ञान का अतिचार है, यथा—"काले न कओ सज्झाओ, सज्झाए न सज्झाइयं"। आव. अ. ४

इस अतिचार के सेवन करने पर सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है। तात्पर्य यह है कि भिक्षु को [आ]वश्यक सेवाकार्य के सिवाय चारों ही पोरुषियों में स्वाध्याय करना आवश्यक होता है।

स्वाध्याय न करने से होने वाली हानि

१. स्वाध्याय नहीं करने से पूर्वग्रहीत [illegible] जाता है।
२. नए श्रुत का ग्रहण एवं उसकी [illegible]

३. विकथाओं तथा अन्य प्रमादों में संयम का अमूल्य समय व्यतीत होता है।
४. संयम गुणों का नाश होता है।
५. स्वाध्याय-तप और निर्जरा के लाभ से वंचित होना पड़ता है। परिणामतः भव-परम्परा नष्ट नहीं हो सकती है। अतः स्वाध्याय करना भिक्षु का परम कर्तव्य समझना चाहिए।

स्वाध्याय करने से होने वाले लाभ—

१. स्वाध्याय करने से विपुल निर्जरा होती है।
२. श्रुतज्ञान स्थिर एवं समृद्ध होता है।
३. श्रद्धा, वैराग्य, संयम एवं तप में रुचि बढ़ती है।
४ आत्म गुणों की पुष्टि होती है।
५. मन एवं इन्द्रिय निग्रह में सफलता मिलती है।
६. स्वाध्याय धर्म ध्यान का आलम्बन कहा गया है एवं इससे चित्त की एकाग्रता सिद्ध होती है। फलतः धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान की प्राप्ति होती है।

स्वाध्याय के लिए प्रेरक आगम वाक्य

१. सज्झायम्मि रओ सया—भिक्षु सदा स्वाध्याय में रत रहे। —दशवै. अ. ८, गा. ४
२. भोच्चा सज्झायरए जे स भिक्खू—प्राप्त निर्दोष आहार करके जो स्वाध्याय में रत रहता है वह भिक्षु है। —दशवै. अ. १०, गा. ९
३. सज्झाय-सज्झाणरयस्स ताइणो—स्वाध्याय और सद्ध्यान में रत रहने वाले छः काय रक्षक का कर्ममल शुद्ध हो जाता है। —दशवै. अ. ८, गा. ६२
४. सुत्तत्थं च वियाणइ जे स भिक्खू—जो सूत्र और अर्थ का विशेष ज्ञान करता है वह भिक्षु है। —दशवै. अ. १० गा. १५
५. णाणं एगग्गचित्तो य ठिओ य ठावई परं।
सुयाणि य अहिज्जित्ता रओ सुय समाहिए॥

ज्ञान से चित्त एकाग्र होता है, ज्ञानी स्वयं धर्म में स्थिर होता है और अन्य को भी धर्म में स्थिर करता है अतः श्रुतों का अध्ययन करके श्रुत समाधि में लीन रहना चाहिए। —दशवै. अ. ९. उ. ४, गा. ३

६. उत्तरा. अ. २९ में स्वाध्याय से तथा वांचना आदि पांचों भेदों से होने वाले फल की पृच्छा के उत्तर में निर्जरा आदि अनेक लाभ बताए हैं।
७. उत्तरा. अ. २६ में साधु की दिनचर्या का वर्णन करते हुए अत्यधिक समय स्वाध्याय में ही व्यतीत करने का विधान है। उसी का विश्लेषण निशीथ चूर्णि में इस प्रकार किया है—

"दिवसस्स पढम चरिमासु, णिसीए य पढमचरिमासु य एयासु चउसु वि कालियसुयस्स गहणं गुणणं च करेज्ज। सेसासु त्ति—दिवसस्स बितीयाए उक्कालियसुयस्स गहणं करेति, अत्थं वा सुणेति, एसा चेव भयणा। ततियाए भिक्खं हिंडइ, अह ण हिंडइ तो उक्कालियं पढइ, पुव्वगहियं

उक्कालियं वा गुणेइ, अत्थं वा सुणेइ। णिसिस्स बितियाए एसा चेव भयणा, सुवइ वा। णिसि ततियाए णिद्दाविमोक्खं करेइ, उक्कालियं गेण्हइ गुणेइ वा, कालियं वा सुत्तं अत्थं वा करेइ।

भावार्थ—चारों काल में कालिकश्रुत का स्वाध्याय करना तथा अन्य प्रहरों में उत्कालिक का स्वाध्याय करना या अर्थग्रहण करना अर्थात् वांचणी लेना। दिन के तीसरे प्रहर में भिक्षा लाना हो तो उत्कालिकश्रुत के स्वाध्याय आदि में लगे रहना। रात्रि के दूसरे प्रहर में भी स्वाध्याय करे या सोये। रात्रि के तीसरे प्रहर में निद्रा लेकर उससे निवृत्त हो जाए और उस का समय शेष हो तो उत्कालिकश्रुत आदि का स्वाध्याय करे। फिर चौथे प्रहर में कालिकश्रुत स्वाध्याय करे।

यह साधु की दिनचर्या एवं रात्रिचर्या का वर्णन स्वाध्याय से ही परिपूर्ण है। उत्काल पौरुषी में सूत्रों का स्वाध्याय, सूत्रों का अर्थ, आहार, निद्रा आदि प्रवृत्ति की जा सकती है। कि चारों काल, पौरुषी—में केवल स्वाध्याय ही किया जाता है। उत्तरा. अ. २६ के अनुसार स्वाध्याय के समय में यदि गुरु आदि कोई सेवा का कार्य कहें तो करना चाहिए और न कहें स्वाध्याय में ही लीन रहना चाहिए।

यह स्वाध्याय कालिकश्रुत का है। इसमें नया कठस्थ करना या उसी का पुनरावर्तन क आदि समाविष्ट है। जब नया कंठस्थ करना पूर्ण हो जाय तब उसकी केवल पुनरावृत्ति करना होता है।

व्यव. उ. ४ में साधु-साध्वी को सीखे हुए ज्ञान को कंठस्थ रखना आवश्यक बताया है। भूल जाने पर कठोरतम प्रायश्चित्त कहा गया है अर्थात् प्रमाद से भूल जाने पर उसे जीवन भ लिए किसी भी प्रकार की पदवी नहीं दी जाती है और पदवीधर हो तो उसे पदवी से हटा दि जाता है। केवल वृद्ध स्थविरों को यह प्रायश्चित्त नहीं आता है।

अतः श्रुत कंठस्थ करना और उसे स्थिर रखना, निरन्तर स्वाध्याय करते रहने से ही सकता है।

उत्तरा. अ. २६ में स्वाध्याय को संयम का उत्तरगुण बताया है। सर्व दुःखों से मुक्त क वाला तथा सर्वभावों की शुद्धि करने वाला कहा है।

इन सब आगम वर्णनों को हृदय में धारण करके भिक्षु सदा स्वाध्यायशील रहे और सूत्रो प्रायश्चित्त स्थान का सेवन न करे अर्थात् स्वाध्याय के सिवाय विकथा प्रमाद आदि में समय बिताये।

अस्वाध्याय के समय स्वाध्याय करने का प्रायश्चित्त

१४. जे भिक्खू असज्झाइए सज्झायं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

१४. जो भिक्षु अस्वाध्याय के समय स्वाध्याय करता है या स्वाध्याय करने वाले का अनुमोदन करता है। [उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।]

विवेचन—दिन में तथा रात्रि में स्वाध्याय करना आवश्यक होते हुए भी आगमों में जब जहाँ स्वाध्याय करने का निषेध किया गया है उस अस्वाध्यायकाल का सदा ध्यान रखना चाहिए।

निम्न आगमों में अस्वाध्याय स्थानों का वर्णन है—

१. ठाणांग सूत्र अ. ४ में—४ प्रतिपदाओं और ४ संध्याओं में स्वाध्याय करने का निषेध किया है।

२. ठाणांग सूत्र अ. १० में—१० आकाशीय अस्वाध्याय और १० औदारिक अस्वाध्याय कहे हैं।

३. यहाँ प्रस्तुत उद्देशक में ४ महा महोत्सव ४ प्रतिपदा और ४ संध्या में स्वाध्याय करने का प्रायश्चित्त कहा है।

४. व्यव. उ. ७ में स्वशरीर सम्बन्धी अस्वाध्याय करने का निषेध किया है।

इन सभी निषेध स्थानों का संग्रह करने से कुल ३२ अस्वाध्याय स्थान होते हैं। यथा—

आकाश सम्बन्धी	—	१०
औदारिक सम्बन्धी	—	१०
महोत्सव एवं प्रतिपदा सम्बन्धी	—	८
सन्ध्याकाल सम्बन्धी	—	४
	कुल	३२

इनमें से १२ अस्वाध्यायों का विवेचन पूर्व सूत्रों में किया जा चुका है। शेष २० अस्वाध्याय इस प्रकार है—

१. उल्कापात—तारे का टूटना अर्थात् स्थानान्तरित होना। तारा विमान के तिर्यक् गमन करने पर या देव के विकुर्वणा आदि करने पर आकाश में तारा टूटने जैसा दृश्य होता है। यह कभी लम्बी रेखायुक्त गिरते हुए दिखता है, कभी प्रकाशयुक्त गिरते हुए दिखता है। सामान्यतः आकाश में तारे टूटने जैसा क्रम प्रायः सदा बना रहता है, अतः विशिष्ट प्रकाश या रेखायुक्त हो तो अस्वाध्याय समझना चाहिए। इसका एक प्रहर तक अस्वाध्याय होता है।

२. दिग्दाह—पुद्गल परिणमन से एक या अनेक दिशाओं में कोई महानगर जलने जैसी अवस्था दिखाई दे उसे दिग्दाह समझना चाहिए। यह भूमि से कुछ ऊपर दिखाई देता है। इसका एक प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

३. गर्जन—बादलों की ध्वनि। इसका दो प्रहर का अस्वाध्याय होता है। किन्तु आर्द्रानक्षत्र से स्वातिनक्षत्र तक के वर्षा-नक्षत्रों में अस्वाध्याय नहीं गिना जाता।

४. विद्युत्—बिजली का चमकना। इसका एक प्रहर का अस्वाध्याय होता है। किन्तु उपर्युक्त वर्षा के नक्षत्रों में अस्वाध्याय नहीं होता है।

५. निर्घात—दारुण—[घोर] ध्वनि के साथ बिजली का चमकना। इसे बिजली कड़कना या बिजली गिरना भी कहा जाता है। इसका आठ प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

६. यूपक—शुक्ल पक्ष की एकम, बीज और तीज के दिन सूर्यास्त होने एवं चन्द्र अस्त होने के समय की मिश्र अवस्था को यूपक कहा जाता है। इन दिनों के प्रथम प्रहर में अस्वाध्याय होता है। इसे बालचन्द्र का अस्वाध्याय भी कहा जाता है।

७. यक्षादीप्त—आकाश में प्रकाशमान पुद्गलों की अनेक आकृतियों का दृष्टिगोचर होना। इसका एक प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

८. धूमिका—अंधकारयुक्त धुंअर का गिरना। यह जब तक रहे तब तक इसका अस्वाध्याय-काल रहता है।

९. महिका—अंधकार रहित सामान्य धुंअर का गिरना। यह जब तक रहे तब तक इसका भी अस्वाध्याय रहता है। इन दोनों अस्वाध्यायों के समय अप्काय की विराधना से बचने के लिए प्रतिलेखन आदि कायिक-वाचिक कार्य भी नहीं किए जाते। इनके होने का समय कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष और माघ मास है। अर्थात् इन गर्भमासों में कभी-कभी, कहीं-कहीं धुंअर या महिका गिरती है। किसी वर्ष किसी क्षेत्र में नहीं भी गिरती है।

पर्वतीय क्षेत्रों में बादलों के गमनागमन करते रहने के समय भी ऐसा दृश्य होता है। किन्तु उनका स्वभाव धुंअर से भिन्न होता है अतः उनका अस्वाध्याय नहीं होता है।

१०. रज-उद्घात—आकाश में धूल का आच्छादित होना और रज का गिरना। यह जब तक रहे तब तक अस्वाध्याय होता है। भाष्य में बताया है कि तीन दिन सचित्त रज गिरती रहे तो उसके बाद स्वाध्याय के सिवाय प्रतिलेखन आदि भी नहीं करना चाहिए क्योंकि सर्वत्र सचित्त रज व्याप्त हो जाती है। ये दस आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय है।

११-१२-१३. हड्डी-मांस-खून—तिर्यंच की हड्डी या मांस ६० हाथ और मनुष्य की १०० हाथ के भीतर दृष्टिगत हो तो अस्वाध्याय होता है। हड्डियां जली हुई या धुली हुई हों तो उसका अस्वाध्याय नहीं होता है। अन्यथा उसका १२ वर्ष तक अस्वाध्याय होता है। इसी तरह दांत के लिए भी समझना चाहिए।

खून जहाँ दृष्टिगोचर हो या गंध आवे तो उसका अस्वाध्याय होता है अन्यथा अस्वाध्याय नहीं होता है। अर्थात् ६० हाथ या १०० हाथ की मर्यादा इसके लिए नहीं है। तिर्यंच पंचेन्द्रिय के खून का तीन प्रहर और मनुष्य के खून का अहोरात्र तक अस्वाध्याय होता है।

उपाश्रय के निकट के गृह में लड़की उत्पन्न हो तो आठ दिन और लड़का हो तो ७ दिन अस्वाध्याय रहता है। इसमें दीवाल से संलग्न सात घर की मर्यादा मानी जाती है। तिर्यंच सम्बन्धी प्रसूति हो तो जरा गिरने के बाद तीन प्रहर तक अस्वाध्याय समझना चाहिए।

१४. अशुचि—मनुष्य का मल जब तक सामने दीखता हो या गंध आती हो तब तक वहाँ अस्वाध्याय समझना चाहिए। तिर्यंच के मल की दुर्गंध आती हो तो अस्वाध्याय होता है, अन्यथा नहीं। मनुष्य के मूत्र की जहाँ दुर्गंध आती हो ऐसे मूत्रालय आदि के निकट अस्वाध्याय होता है। जहाँ पर नगर की नालियां-गटर आदि की दुर्गंध आती हो वहाँ भी अस्वाध्याय होता है। अन्य कोई भी मनुष्य तिर्यंच के शारीरिक पुद्गलों की दुर्गंध आती हो तो उसका भी अस्वाध्याय समझना चाहिए।

१५. श्मशान—श्मशान के निकट चारों तरफ अस्वाध्याय होता है।

१६. सूर्यग्रहण—अपूर्ण हो तो १२ प्रहर और पूर्ण हो तो १६ प्रहर तक अस्वाध्याय होता है, सूर्यग्रहण के प्रारम्भ से अस्वाध्याय का प्रारम्भ समझना चाहिए। अथवा जिस दिन हो उस पूरे दिन-रात तक अस्वाध्याय होता है, दूसरे दिन अस्वाध्याय नहीं रहता है।

१७. चन्द्रग्रहण—अपूर्ण हो तो आठ प्रहर और पूर्ण हो तो १२ प्रहर तक अस्वाध्याय रहता है। यह ग्रहण के प्रारम्भ काल से समझना चाहिए। अथवा उस रात्रि में चन्द्रग्रहण के प्रारम्भ से अगले दिन जब तक चन्द्रोदय न हो तब तक अस्वाध्याय समझना चाहिए। उसके बाद अस्वाध्याय नही रहता है।

१८. पतन—राजा मन्त्री आदि प्रमुख व्यक्ति की मृत्यु होने पर उस नगरी में जब तक शोक रहे और नया राजा स्थापित न हो तब तक अस्वाध्याय समझना और उसके राज्य में भी एक अहोरात्र का अस्वाध्याय समझना चाहिए।

१९. राज-व्युद्ग्रह—जहाँ राजाओं का युद्ध चल रहा हो उस स्थल के निकट या राजधानी में अस्वाध्याय रहता है। युद्ध के समाप्त होने के बाद एक अहोरात्र तक अस्वाध्याय काल रहता है।

२०. औदारिक कलेवर—उपाश्रय में मृत मनुष्य का शरीर पड़ा हो तो १०० हाथ के भीतर अस्वाध्याय होता है। तिर्यंच का शरीर हो तो ६० हाथ तक अस्वाध्याय होता है। किन्तु परम्परा से यह मान्यता है कि औदारिक कलेवर जब तक रहे तब तक उस उपाश्रय की सीमा में अस्वाध्याय रहता है। मृत या भग्न अंडे का तीन प्रहर तक अस्वाध्याय रहता है।

ये दस औदारिक सम्बन्धी अस्वाध्याय है। इन सभी (२० ही) अस्वाध्यायों का विवेचन प्रायः भाष्य के आधार से किया गया है अतः प्रमाण के लिए देखें—निशीथ भाष्य गा. ६०७८-६१६२; व्यव. उ. ७ भाष्य गा. २७२-३८६; अभि. रा. कोष भाग १ पृ. ८२७ 'असज्झाइय' शब्द।

इन ३२ प्रकार के अस्वाध्यायों में स्वाध्याय करने पर जिनाज्ञा का उल्लंघन होता है और कदाचित देव द्वारा उपद्रव भी हो सकता है। तथा ज्ञानाचार की शुद्ध आराधना नहीं होती है अपितु अतिचार का सेवन होता है।

धूमिका, महिका में स्वाध्याय आदि करने से अप्काय की विराधना भी होती है।

औदारिक सम्बन्धी दस अस्वाध्याय में स्वाध्याय करने पर लोक व्यवहार से विरुद्ध आचरण भी होता है तथा सूत्र का सम्मान भी नहीं रहता है।

युद्ध समय और राज मृत्यु-समय में स्वाध्याय करने पर राजा या राज कर्मचारियों को साधु के प्रति अप्रीति या द्वेष उत्पन्न हो सकता है।

अस्वाध्याय में स्वाध्याय के निषेध करने का प्रमुख कारण यह है कि भग. श. ५, उ. ४ में देवों की अर्धमागधी भाषा कही है और यही भाषा आगम की भी है। अतः मिथ्यात्वी एवं कौतुहली देवों के द्वारा उपद्रव करने की सम्भावना बनी रहती है।

अस्वाध्याय के इन स्थानों से यह भी ज्ञात होता है कि स्पष्ट घोष के साथ उच्चारण करते हुए आगमों की पुनरावृत्ति रूप स्वाध्याय करने की पद्धति होती है। इसी अपेक्षा से ये अस्वाध्याय कहे

हैं। किन्तु इनकी अनुप्रेक्षा में या भाषांतरित हुए आगम का स्वाध्याय करने में अस्वाध्याय नहीं होता है।

अस्वाध्याय के सम्बन्ध में विशेष विधान यह है कि आवश्यक सूत्र के पठन-पाठन में अस्वाध्याय नहीं होता है क्योंकि यह सदा उभयकाल संध्या समय में ही अवश्य करणीय होता है। अतः 'नमस्कार मन्त्र', "लोगस्स" आदि आवश्यक सूत्र के पाठ भी सदा सर्वत्र पढ़े या बोले जा सकते हैं।

किसी भी अस्वाध्याय की जानकारी होने के बाद शेष रहे हुए अध्ययन या उद्देशक को पूर्ण करने के लिए स्वाध्याय करने पर प्रायश्चित्त आता है।

तिर्यंच पंचेंद्रिय या मनुष्य के रक्त आदि की जल से शुद्धि करना हो तो स्वाध्याय स्थल से ६० हाथ या १०० हाथ दूर जाकर करनी चाहिए। त्रिन्द्रिय चतुरिंद्रिय के खून या कलेवर का अस्वाध्याय नहीं गिना जाता है।

औदारिक सम्बन्धी अशुचि पदार्थों के बीच में राजमार्ग हो तो अस्वाध्याय नहीं होता है। उपाश्रय में तथा बाहर ६० हाथ तक अच्छी तरह प्रतिलेखन करके स्वाध्याय करने पर भी कोई औदारिक अस्वाध्याय रह जाय तो सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नहीं आता है।

अतः भिक्षु दिन में सभी प्रकार के अस्वाध्यायों का प्रतिलेखन एवं विचार करके स्वाध्याय करे और रात्रि में स्वाध्यायकाल प्रतिलेखन करने योग्य अर्थात् जहां पर खड़े होने पर सभी दिशाएं एवं आकाश स्पष्ट दिखें ऐसी तीन भूमियों का सूर्यास्त पूर्व प्रतिलेखन करे। वर्षा आदि के कारण से कभी मकान में रहकर भी काल प्रतिलेखन किया जा सकता है।

बहुत बड़े श्रमण समूह में दो साधु आचार्य की आज्ञा लेकर काल प्रतिलेखन करते हैं, फिर सूचना देने पर सभी साधु स्वाध्याय करते हैं। बीच में अस्वाध्याय का कारण ज्ञात हो जाने पर उसका पूर्ण निर्णय करके स्वाध्याय बन्द कर दिया जाता है।

स्वाध्याय आभ्यन्तर तप एवं महान् निर्जरा का साधन होते हुए भी अस्वाध्याय में स्वाध्याय करने पर जिनाज्ञा का उल्लंघन होता है, मर्यादा भंग आदि से कर्मबन्ध होता है, कभी अपयश भी होता है इसलिए संयम विराधना की एवं प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। —निशीथचूर्णि प्रस्तुत सूत्र।

अतः स्वाध्याय-प्रिय भिक्षु को अस्वाध्यायों के सम्बन्ध में भी सदा सावधानी रखनी चाहिए।

स्वकीय अस्वाध्याय में स्वाध्याय करने का प्रायश्चित्त—

१५. जे भिक्खू अप्पणो असज्झाइए सज्झायं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ।

१५. जो भिक्षु अपनी शारीरिक अस्वाध्याय में स्वाध्याय करता है या स्वाध्याय करने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—स्वयं का अस्वाध्याय दो प्रकार का होता है—१. व्रण सम्बन्धी २. ऋतुधर्म सम्बन्धी। इनमें भिक्षु के एक प्रकार का एवं भिक्षुणी के दोनों प्रकार का अस्वाध्याय होता है।

शरीर में फोड़े-फुन्सी, भगंदर, मसा आदि से जब रक्त या पीव बाहर आता है तब उसका अस्वाध्याय होता है। उसकी शुद्धि करके १०० हाथ के बाहर परठकर स्वाध्याय किया जा सकता

है। शुद्धि करने के बाद भी रक्त आदि निकलता रहे तो स्वाध्याय नहीं किया जा सकता। किन्तु उसके एक-दो उत्कृष्ट तीन पट वस्त्र के बांधकर परस्पर आगम की वांचनी ली-दी जा सकती है, तीन तट के बाहर पुन: खून दीखने लग जाए तो फिर उन्हें शुद्ध करना आवश्यक होता है।

ऋतुधर्म का अस्वाध्याय तीन दिन तक रहता है। किन्तु व्यवहार सूत्र के उद्देशक ७, सूत्र १७ में अपने अस्वाध्याय में परस्पर वांचणी लेने-देने का विधान किया गया है। उसकी भाष्य में विधि इस प्रकार बताई है कि—रक्त आदि की शुद्धि करके आवश्यकतानुसार एक-दो अथवा उत्कृष्ट सात वस्त्र पट लगाकर साधु-साध्वी परस्पर आगमों की वांचणी दे-ले सकते हैं। प्रमाण के लिए देखें—व्यव. उ. ७, भाष्य गा. ३९०-३९४ तथा निशीथभाष्य गा. ६१६७-६१७०. तथा अभि. राजेन्द्र कोश भाग १ पृ. ८३३ "असज्झाइय" शब्द।

सूत्र १४ और १५ में वर्णित सभी अस्वाध्याय आगमों के देव वाणी में होने से उसके मूल-पाठ के उच्चारण से ही सम्बन्धित जानने चाहिए।

अत: मासिक धर्म आदि अवस्था में आगमों के अर्थ वांचना या अनुप्रेक्षा, पृच्छा, व्याख्यान श्रवण आदि करने का निषेध नहीं है तथा गृहस्थ को सामायिक आदि संवर प्रवृत्ति एवं नित्य नियम तथा प्रभु-स्तुति-स्मरण करने का निषेध भी नहीं है।

आगम स्वाध्याय के नियम यदि सामायिक प्रतिक्रमण आदि धर्म प्रवृत्तियों के लिए भी लागू किए जावें तो यह प्ररूपणा का अतिक्रमण होता है एवं समस्त धर्मक्रियाओं में अंतराय होता है। एक विषय के नियम को अन्य विषय में जोड़ना अनुचित प्रयत्न है।

व्यव. उद्देशक ७ में जब स्वयं आगमकार मासिक धर्म आदि के अपने अस्वाध्याय में आगम की वांचणी लेने का भी विधान करते हैं तो फिर किसी भी आचार्य के द्वारा सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रभुस्मरण, नमस्कार मन्त्र एवं लोगस्स आदि के उच्चारण का निषेध किया जाना कदापि उचित नहीं कहा जा सकता है।

क्योंकि इस प्रकार की आगम विपरीत मान्यता रखने पर संवत्सरी महापर्व के दिन भी सामायिक, पौषध, प्रतिक्रमण, व्याख्यानश्रवण, मुनि दर्शन एवं नमस्कार मन्त्रोच्चारण आदि सभी धार्मिक प्रवृत्तियों से वंचित रहना पड़ता है। सभी प्रकार की धर्म प्रवृत्तियों से वंचित गृहस्थ पर्व दिनों में भी सावद्य प्रवृत्ति एवं प्रमाद में ही संलग्न होता है इसलिए ऐसी प्ररूपणा करना सर्वथा अनुचित है।

अत: स्वकीय अस्वाध्याय में श्रावक श्राविका विवेकपूर्वक सामायिक प्रतिक्रमण आदि क्रिया करें तो इसमें कोई दोष नहीं समझना चाहिए और गृह कार्यों से निवृत्ति के इन तीन दिनों में उनको संवर आदि धर्मक्रिया में ही अधिकतम समय व्यतीत करना चाहिये। साध्वियों को भी अन्य अध्ययन, श्रवण, सेवा, तप, आत्मचिन्तन, ध्यान आदि में समय व्यतीत करना चाहिये।

विपरीत क्रम से आगमों की वांचना देने का प्रायश्चित्त

१६. जे भिक्खू हेट्ठिल्लाइं समोसरणाइं अवाएत्ता उवरिल्लाइं समोसरणाइं वाएइ वायंतं वा साइज्जइ।

१७. जे भिक्खू णव बंभचेराइं अवाएत्ता उत्तम-सुयं वाएइ वाएंतं वा साइज्जइ।

अलग-अलग सूत्र न होने से संक्षेप में वाचनासूत्र से मूल एवं अर्थ दोनों ही प्रकार की वाचना विषयक यह प्रायश्चित्त है ऐसा समझ लेना चाहिए।

इन दोनों सूत्रों से एवं उनके विवेचन से वाचना का क्रम इस प्रकार से समझा जा सकता है—

१. आवश्यक सूत्र
२. दशवैकालिक सूत्र
३. उत्तराध्ययन सूत्र
४. आचारांगसूत्र
५ निशीथसूत्र
६. सूयगडांगसूत्र
७. तीन छेदसूत्र (दशाश्रुतस्कन्धसूत्र, बृहत्कल्पसूत्र, व्यवहार सूत्र)
८. ठाणांग सूत्र, समवायांग सूत्र
९. भगवती सूत्र

शेष कालिक या उत्कालिकसूत्र इस अध्ययन क्रम के मध्य में या बाद में कहीं भी गीतार्थ मुनि की आज्ञा से अध्ययन करना या कराना चाहिए। इस क्रम से ही मूल और अर्थरूप आगम को कंठस्थ करने की आगम प्रणाली समझनी चाहिए।

अयोग्य को वाचना देने एवं योग्य को न देने का प्रायश्चित्त

१८. जे भिक्खू अपत्तं वाएइ, वाएंतं वा साइज्जइ।

१९. जे भिक्खू पत्तं ण वाएइ, ण वाएंतं वा साइज्जइ।

२०. जे भिक्खू अव्वत्तं वाएइ, वाएंतं वा साइज्जइ।

२१. जे भिक्खू वत्तं ण वाएइ, ण वाएंतं वा साइज्जइ।

१८. जो भिक्षु अपात्र (अयोग्य) को वाचना देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

१९. जो भिक्षु पात्र (योग्य) को वाचना नहीं देता है या नहीं देने वाले का अनुमोदन करता है।

२०. जो भिक्षु अव्यक्त को वाचना देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

२१. जो भिक्षु व्यक्त को वाचना नहीं देता है या नहीं देने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—पूर्व सूत्रों में, सूत्रों की तथा अध्ययन, उद्देशक आदि को क्रमपूर्वक वाचना न देने का प्रायश्चित्त कहा गया है। क्योंकि आगम निर्दिष्ट प्राथमिक सूत्र, अध्ययन या उद्देशक आदि की वाचना ले लेने से ही आगे के सूत्र अध्ययन या उद्देशक आदि के वाचना की योग्यता प्राप्त होती है एवं

क्रमशः योग्यता की वृद्धि भी होती है। अतः उन सूत्रों में भी अपेक्षा से वाचना के योग्यायोग्य का ही विषय है।

प्रस्तुत चार सूत्रों में भी "पात्र" और "व्यक्त" शब्द से दो प्रकार की योग्यता सूचित की गई है।

१. पात्र—जिसने कालिकसूत्रों की वाचना ग्रहण करने की पूर्ण योग्यता प्राप्त करली है अर्थात् जो वाचना के योग्य गुणों से युक्त है उसे "पात्र" कहा गया है और जो वाचना के योग्य गुणों से युक्त नहीं है उसे "अपात्र" कहा गया है।

बृहत्कल्प सूत्र के चतुर्थ उद्देशक मे तीन गुणों से युक्त को वाचना देने का विधान है और तीन अवगुण वाले को वाचना देने का निषेध है—

तीन गुण	तीन अवगुण
१. विनीत।	१. अविनीत
२. विगयों का त्याग करने वाला।	२. विगय त्याग नहीं करने वाला।
३. कषाय क्लेश को शीघ्र उपशान्त कर देने वाला।	३. कषाय क्लेश को उपशान्त नहीं करने वाला।

इन तीन गुणों में प्रथम विनय गुण अत्यन्त विशाल है एवं धर्म का मूल भी कहा गया है। फिर भी कम से कम वाचनादाता के प्रति पूर्ण श्रद्धा भक्ति निष्ठा हो, उनके प्रति विनय का व्यवहार हो, उनसे वाचना ग्रहण करने में पूर्ण रुचि एव प्रसन्नता हो तथा उनकी आज्ञा शिरोधार्य करते हुए अध्ययन करने का विवेक हो, ऐसा विनयी शिष्य वाचना के योग्य होता है।

नवदीक्षित शिष्यों को सर्वप्रथम प्रवर्तक मुनिराज संयम सम्बन्धी समस्त प्रवृत्तियों का ज्ञान, विनय व्यवहार एवं सामान्य ज्ञान कराते हैं। स्थविर मुनिवर उन्हें संयम गुणों से स्थिर करते हैं। इस प्रकार प्रारम्भिक शिक्षा के बाद जो उपर्युक्त योग्यताप्राप्त पात्र होते है उन्हें उपाध्याय के नेतृत्व में अध्ययन करने के लिए नियुक्त किया जाता है। जो योग्यता प्राप्त नहीं कर पाते हैं वे प्रवर्तक एवं स्थविर के नेतृत्व में क्रमशः ज्ञान ध्यान की वृद्धि करते रहते हैं।

उपाध्याय के पास शुद्ध उच्चारण एवं घोषशुद्धि के साथ मूल पाठ का अध्ययन पूर्ण किया जाता है, साथ ही आचार्य उन्हें योग्यतानुसार अर्थ-परमार्थयुक्त सूत्रार्थ की वाचना देते हैं।

व्यवहार भाष्य उद्देशक १ में बताया गया है कि प्रत्येक गच्छ में पांच पदवीधरों का होना आवश्यक है, जिनमें चार उपरिवर्णित एवं पांचवें गणावच्छेदक होते हैं। ये गणावच्छेदक गण सम्बन्धी सभी प्रकार की सेवा आदि की व्यवस्था करने वाले होते हैं तथा आचार्य के महान् सहयोगी होते हैं। इन पांच पदवीधरों से युक्त गच्छवासी साधुओं के ज्ञान दर्शन चारित्रादि के आराधन की समुचित व्यवस्था हो सकती है। अतः संयम समाधि के इच्छुक भिक्षु को ऐसी व्यवस्था से युक्त गच्छ में ही रहने की प्रेरणा करते हुए वहां भाष्य में विस्तार से उदाहरण सहित समझाया गया है।

अपात्र के लक्षणों को संग्राहक भाष्य-गाथा इस प्रकार है—

तितिणिए चलचित्ते, गाणंगणिए य दुब्बल चरित्ते।
आयरिय परिभासी, वामावट्टे य पिसुणे य।

आहार, उपकरण, शय्या एवं स्थान आदि में आसक्ति होने के कारण मनोनुकूल लाभ न होने पर उसके लिए लालायित रहने वाला एवं न मिलने पर तिनतिनाट करने वाला, खड़े रहने में बैठने में, भाषा और विचार में चंचल वृत्ति रखने वाला, आगमोक्त कारणों के बिना गच्छ परिवर्तन करने वाला, चारित्र पालन में मंद उत्साह वाला, आचार्य आदि पदवीधरों के तथा रत्नाधिक के सामने बोलने वाला अर्थात् उनका तिरस्कार करने वाला, उनकी आज्ञा एवं इच्छा के विपरीत आचरण करने वाला तथा दूसरों की निन्दा चुगली करके उनका पराभव करने में आनन्द मानने वाला इत्यादि अवगुणों से युक्त भिक्षु वाचना के लिए अपात्र होता है।

घमण्डी, अपशब्द भाषी तथा कृतघ्न आदि भी अपात्र कहे गये हैं।

बृहत्कल्प उद्दे. ४ में कहे गए विधि-निषेध का उल्लंघन करने पर प्रस्तुत प्रथम सूत्रद्विक से प्रायश्चित्त आता है। अर्थात् पात्र को वाचना न देने वाले और अपात्र को वाचना देने वाले दोनों ही वाचनादाता प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

पात्र को वाचना न देने पर श्रुत का ह्रास होता है और अपात्र को वाचना देने का श्रुत का दुरुपयोग होता है। अतः दोनों प्रकार का विवेक रखना आवश्यक है।

२. व्यक्त—पूर्व सूत्रद्विक में भाव व्यक्त अर्थात् गुणों से व्यक्त का वर्णन "पात्र" शब्द से किया गया है और बाद के सूत्रद्विक में द्रव्य से व्यक्त अर्थात् शरीर से व्यक्त का कथन किया गया है।

"जाव कक्खादिसु रोमसंभवो न भवति ताव अव्वत्तो, तस्संभवे वत्तो। अहवा जाव सोल-सवरिसो ताव अव्वत्तो, परतो वत्तो।" —चूर्णि

कांख, मूंछ आदि के बालों की उत्पत्ति होने पर व्यक्त कहा जाता है और उसके पूर्व अव्यक्त कहा जाता है। अथवा १६ वर्ष की उम्र तक अव्यक्त कहा जाता है उसके बाद व्यक्त कहा जाता है।

ऐसे अव्यक्त भिक्षु को कालिकश्रुत (अंगसूत्र तथा छेदसूत्र) की वाचना नहीं दी जाती है।

इसका कारण स्पष्ट करते हुए भाष्य में बताया है कि अल्प वय में पूर्ण रूप से श्रुत ग्रहण करने की एवं धारण करने की शक्ति अल्प होती है तथा भाष्यकार ने कच्चे घड़े का दृष्टान्त देकर भी समझाया है। जिस प्रकार कच्चे घड़े को अग्नि में रखा जाता है और पकाया जाता है किन्तु उसमें पानी नहीं डाला जाता है, उसी प्रकार अल्पवय वाले शिष्य को शिक्षा अध्ययन आदि में परिपक्व बनाया जाता है किन्तु उक्त आगमों की वाचना व्यक्त एवं पात्र होने पर दी जाती है।

इस सूत्रद्विक में आए "पत्त" शब्द के पात्र या प्राप्त ऐसे दो शब्दार्थ होते हैं, तथा "व्यक्त" के भी "वय प्राप्त" एवं "पर्याय प्राप्त" ऐसे दो अर्थ होते हैं, १६ वर्ष वाला "वय प्राप्त व्यक्त" होता है और तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय अथवा संयम गुणों में स्थिर भिक्षु "पर्याय व्यक्त" होता है। इस प्रकार से वैकल्पिक अर्थ चूर्णि में किये हैं। इन वैकल्पिक अर्थों के कारण से अथवा अन्य किसी प्राप्त परम्परा से इन चार सूत्रों के स्थान पर कहीं छः और कहीं आठ सूत्र प्रतियों में मिलते हैं। यहाँ "पत्त—वत्त" के सूत्रद्विक का दुबारा या तिबारा उच्चारण किया गया है एवं वैकल्पिक अर्थों को अलग-अलग सूत्रों में सम्बन्धित किया है।

वास्तव में चार सूत्र ही उपयुक्त हैं क्योंकि एक समान सूत्रों का एक ही प्रकरण में एक साथ पुनः पुनः उच्चारण किया जाना सूत्र रचना के योग्य नहीं होता है।

अर्थ की दृष्टि से विनय आदि योग्यता का कथन प्रथम सूत्रद्विक में एवं वय आदि की योग्यता का कथन द्वितीय सूत्रद्विक में हो जाता है। अन्य सूत्र-क्रम-प्राप्त आदि विषय का कथन पूर्व सूत्रों में हो गया है। अतः यहाँ छः या आठ सूत्रों के विकल्प वाले पाठ स्वीकार नही किये गए हैं।

इस प्रकार सूत्र १६ से २१ तक दो-दो सूत्रों मे तीन विषय क्रम से कहे गये हैं—१. सूत्र आदि को क्रम से ही वाचना देना, २. वह भी विनय गुण आदि से योग्य को ही देना, ३. योग्य में भी वयः प्राप्त को ही वाचना देना। इन विधानों से विपरीत आचरण करने पर प्रायश्चित्त आता है।

वाचना देने से पक्षपात करने का प्रायश्चित्त

२२. जे भिक्खू दोण्हं सरिसगाणं एक्कं संचिक्खावेइ, एक्कं न संचिक्खावेइ, एक्कं वाएइ, एक्कं न वाएइ, तं करंतं वा साइज्जइ।

जो भिक्षु दो समान योग्यता वाले शिष्यों में से एक को शिक्षित करता है और एक को नहीं करता है, एक को वाचना देता है और एक को नही देता है अथवा ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—पूर्व सूत्रों में कहे गये पात्रता के एवं व्यक्तता के गुणों से युक्त तथा सूत्र का सही परिणमन करने के शुभ लक्षणों से युक्त शिष्यों को निष्पक्ष होकर समभाव से वाचना देना चाहिए।

योग्यता या अयोग्यता के निर्णय में विवेक के अतिरिक्त पदवीधरों की सभी शिष्यों के प्रति समान दृष्टि भी होनी चाहिए। किसी के साथ पूर्व या पश्चात् का कुछ सम्बन्ध हो तो राग-भाव से पक्षपात हो सकता है अथवा किसी के साथ या पश्चात् का अप्रिय सम्बन्ध हो तो द्वेष-भाव भी हो सकता है किन्तु पद प्राप्त एवं अध्यापन का दायित्व प्राप्त बहुश्रुत ऐसे रागद्वेष से युक्त व्यवहार न करे, यह इस सूत्र का तात्पर्य है।

ऐसा करने में शिष्यों में वैमनस्य एवं गच्छ में अशान्ति-अव्यवस्था की वृद्धि होती है। अतः ऐसा करने पर वाचनादाता को सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है। ऐसे प्रायश्चित्तों के देने की व्यवस्था आचार्य या गणावच्छेदक करते हैं।

अदत्त वाचना ग्रहण करने का प्रायश्चित्त

२३. जे भिक्खू आयरिय—उवज्झाएहिं अविदिण्णं गिरं आइयइ, आइयंतं वा साइज्जइ।

जो भिक्षु आचार्य और उपाध्याय के दिए बिना वाचना लेता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन—निर्धारित क्रम के कारण किसी सूत्रादि की वाचना न देने पर, वाचना देने के अयोग्य होने से वाचना न देने पर; व्यक्त वय के अभाव में वाचना न देने पर अथवा पक्षपात की

भावना से वाचना न देने पर या कभी किसी गच्छ में योग्य वाचना देने वाला न होने पर भिक्षु को स्वयं सूत्रार्थ का अध्ययन करना नहीं कल्पता है। अथवा आचार्य उपाध्याय के निषेध कर देने पर हठपूर्वक वाचना ग्रहण करना भी नहीं कल्पता है। यदि किसी विशेष कारण से आचार्य या उपाध्याय ने मूल पाठ या अर्थ की वाचना लेने के लिए मना किया हो तो उनकी आज्ञा प्राप्त होने के बाद ही आगम की वाचना लेनी चाहिए। जब तक आचार्यादि की आज्ञा न मिले तब तक योग्यता की प्राप्ति के लिए तप संयम में वृद्धि करनी चाहिए।

यदि आचार्यादि ने द्वेष भाव से निषेध किया हो तो उन्हें विनय के द्वारा प्रसन्न करने का प्रयत्न करना चाहिए अथवा गच्छ के अन्य गीतार्थ गणावच्छेदक आदि से निवेदन करना चाहिए। किन्तु जब तक आज्ञा न मिले तब तक अविधि से श्रुत ग्रहण नहीं करना चाहिए। सामान्य या विशेष स्थिति में भी अदत्त श्रुत ग्रहण करने पर सूत्रोक्त प्रायश्चित्त तो आता ही है।

सूत्र में "गिरं" शब्द से जिनवाणी को ही आगम माना गया है, तथा आचार्य-उपाध्याय दोनों का निर्देश इसलिए किया गया है कि दोनों वाचना देने वाले होते हैं। उपाध्याय मूल सूत्रों की वाचना देने वाले होते हैं एवं आचार्य सूत्रार्थ-परमार्थ की वाचना देने वाले होते हैं।

वर्तमान में कई गच्छ और कई सम्प्रदाय ऐसे हैं जिनमें कोई आचार्य एवं उपाध्याय ही नहीं हैं और जो हैं उनमें बहुश्रुत एवं उत्सर्ग अपवादों के विशेषज्ञ अल्प हैं। वे भी सामाजिक व्यवस्थाओं में व्यस्त रहने से योग्य शिष्यों को आगमों की नियमित वाचना दे नहीं पाते। इसलिए योग्य शिष्यों को गुरुदेवों से आज्ञा प्राप्त करके आगमों का वाचन-चिन्तन-मनन करना श्रेयस्कर है। क्योंकि आगमों के आधुनिक प्रकाशनों में शब्दार्थ, भावार्थ एवं विस्तृत विवेचन होते हैं इसलिए उन सूत्रों का स्वतः अध्ययन करने से विशेष लाभ ही संभव है।

अतः गुरुदेवों से आज्ञा प्राप्त करके अध्ययन क्रम के अनुसार सूत्रों का वाचन विवेकपूर्वक करना चाहिए।

गुरुदेवों की आज्ञा लेने के बाद स्वतः वाचन करने पर सूत्रोक्त "अदत्त वाचना" का प्रायश्चित्त भी नहीं आता है एवं श्रुत परिचय तथा स्वाध्याय का लाभ भी हो जाता है।

गृहस्थ के साथ वाचना के आदान-प्रदान का प्रायश्चित्त

२४. जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा सज्झायं वाएइ, वाएंतं वा साइज्जइ।

२५. जे भिक्खू अण्णउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा वायणं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ।

२४. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ को वाचना देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

२५. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक से या गृहस्थ से वाचना लेता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है। [उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।]

विवेचन—जिस प्रकार दूसरे उद्देशक में गृहस्थ एवं अन्यतीर्थिक शब्द का 'भिक्षाचर गृहस्थ

एवं भिक्षाचर अन्यतीर्थिक' ऐसा विशिष्ट अर्थ किया गया है अर्थात् उनके साथ गोचरी आदि में गमनागमन करने पर प्रायश्चित्त कहा है, उसी प्रकार प्रस्तुत सूत्रों में भी मिथ्यात्वभावित गृहस्थ एवं अन्यतीर्थिक लिंगधारी के साथ वाचना के आदान-प्रदान का प्रायश्चित्त समझना चाहिए।

भाष्यकार ने बताया है कि—उनके पास से वाचना ग्रहण करने पर इस प्रकार से निन्दा होती है कि—"इनके धर्म में शास्त्र-ज्ञान नहीं है इस कारण से दूसरों के पास ज्ञान लेने जाते हैं और उन्हें वाचना देने पर वे विवाद पैदा कर सकते हैं, अनुचित्त आक्षेप करके जिनधर्म के विरुद्ध प्रचार कर सकते हैं, कई आगम विषयों को विकृत करके प्रचार कर सकते हैं अथवा वे अपने मिथ्यात्व को और अधिक पुष्ट कर सकते हैं तथा उस वाचना लेन-देन के व्यवहार का कथन करके लोगों को मिथ्यात्वी बना सकते हैं।

भाष्य कथित इन कारणों से भी यही स्पष्ट होता है कि यह निषेध सम्यग्दृष्टि या श्रमणोपासक के लिए नहीं है किन्तु मिथ्यादृष्टि के लिए है।

नन्दीसूत्र एव समवायांगसूत्र में श्रमणोपासकों के श्रुत अध्ययन करने का एवं सूत्रों के उपधान [तप] का कथन है यथा—

उवासगदसासु णं उवासगाणं नगराइं जाव पोसहोववास पडियज्जणयाओ सुय परिग्गहा, तवोवहाणा, पडिमाओ ………। —सम.

इसी प्रकार का पाठ नन्दीसूत्र में भी है तथा आगमों में श्रमणोपासक के लिए बहुश्रुत एवं जिनमत में कोविद आदि विशेषण भी आए हैं। चार तीर्थ में और चार प्रकार के श्रमण संघ में उन्हें समाविष्ट किया गया है अतः यह प्रायश्चित्त श्रमणोपासक की अपेक्षा नहीं समझना चाहिए।

मिथ्यादृष्टि यदि धर्म के सन्मुख होने योग्य हो तो उसे योग्य उपदेश अथवा आगम वर्णन बताने एवं समझाने में भी दोष नहीं समझना चाहिए किन्तु यह कार्य गीतार्थ एवं विचक्षण भिक्षु के योग्य है, अन्यथा परिचय सम्पर्क करना भी सम्यक्त्व का अतिचार कहा गया है।

श्रमण वर्ग में वाचनादाता के अभाव में अथवा कभी आवश्यक होने पर बहुश्रुत श्रमणोपासक से वाचना ग्रहण करना भी प्रायश्चित्त योग्य नहीं है, क्योंकि इसमें दोष का कोई कारण नहीं है तथा ठाणांग सूत्र के "चउव्विहे समणसंघे" इस पाठ में श्रमणोपासक का बहुत सम्माननीय स्थान कहा गया है।

अतः प्रसंगानुकूल अर्थ करते हुए यहाँ मिथ्यात्व भावित गृहस्थ आदि के साथ वाचना के आदान-प्रदान का प्रायश्चित्त समझना चाहिए।

पार्श्वस्थ के साथ वाचना के आदान-प्रदान का प्रायश्चित्त

२६. जे भिक्खू पासत्थस्स वायणं देइ, देंतं वा साइज्जइ।

२७. जे भिक्खू पासत्थस्स वायणं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ।

२८. जे भिक्खू ओसण्णस्स वायणं देइ, देंतं वा साइज्जइ।

२९. जे भिक्खू ओसण्णस्स वायणं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ।

३०. जे भिक्खू कुसीलस्स वायणं देइ, देंतं वा साइज्जइ ।

३१. जे भिक्खू कुसीलस्स वायणं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ।

३२. जे भिक्खू संसत्तस्स वायणं देइ, देंतं वा साइज्जइ ।

३३. जे भिक्खू संसत्तस्स वायणं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ।

३४. जे भिक्खू णितियस्स वायणं देइ, देंतं वा साइज्जइ ।

३५. जे भिक्खू णितियस्स वायणं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ।
तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं ।

२६. जो भिक्षु पार्श्वस्थ को वाचना देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

२७. जो भिक्षु पार्श्वस्थ से वाचना लेता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

२८. जो भिक्षु अवसन्न को वाचना देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

२९. जो भिक्षु अवसन्न से वाचना लेता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

३०. जो भिक्षु कुशील को वाचना देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

३१. जो भिक्षु कुशील से वाचना लेता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

३२. जो भिक्षु संसक्त को वाचना देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

३३. जो भिक्षु संसक्त से वाचना लेता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

३४. जो भिक्षु नित्यक को वाचना देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

३५. जो भिक्षु नित्यक से वाचना लेता है या लेने वाले अनुमोदन करता है ।
इन ३५ सूत्रों में वर्णित दोष स्थानों का सेवन करने पर लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है ।

विवेचन—जिस प्रकार मिथ्यात्वी गृहस्थ से वाचना लेने-देने में दोषों की सम्भावना पूर्व सूत्र में कही है उसी प्रकार पार्श्वस्थ आदि के साथ भी समझना चाहिए किन्तु यहां मिथ्यात्व के स्थान पर शिथिलाचार का पोषण एवं प्रसार करने सम्बन्धी दोष समझने चाहिए । पूर्व उद्देशों में भी इनके साथ वन्दन, आहार, शय्या आदि के सम्पर्क करने सम्बन्धी प्रायश्चित्त कहे हैं । अतः विशेष विवेचन एवं दोषों का वर्णन उद्देशक ४, १० तथा १३ से जान लेना चाहिए । यदि कभी कोई गीतार्थ मुनि पार्श्वस्थ आदि को संयम में उद्यत होने की सम्भावना से वाचना दे तो प्रायश्चित्त नहीं समझना चाहिए ।

उन्नीसवें उद्देशक का सारांश—

सूत्र १-७	औषध के लिए क्रीत आदि दोष लगाना, विशिष्ट औषध की तीन मात्रा (खुराक) से अधिक लाना, औषध को विहार में साथ रखना तथा औषध के परिकर्म सम्बन्धी दोषों का सेवन करना,
८	चार संध्या में स्वाध्याय करना,
९-१०	कालिकसूत्र की ९ गाथा एवं दृष्टिवाद की २१ गाथाओं से ज्यादा पाठ का अस्वाध्याय काल में (अर्थात् उत्काल में) उच्चारण करना,
११-१२	चार महामहोत्सव एवं उनके बाद की चार महा प्रतिपदा के दिन स्वाध्याय करना,
१३	कालिकसूत्र का स्वाध्याय करने के चार प्रहरों को स्वाध्याय किए बिना ही व्यतीत करना,
१४	३२ प्रकार के अस्वाध्याय के समय स्वाध्याय करना,
१५	अपने शारीरिक अस्वाध्याय के समय स्वाध्याय करना,
१६	सूत्रों की वाचना आगमोक्त क्रम से न देना,
१७	आचारांग सूत्र की वाचना पूर्ण किए बिना छेदसूत्र या दृष्टिवाद की वाचना देना,
१८-२१	अपात्र को वाचना देना और पात्र को न देना, अव्यक्त को वाचना देना और व्यक्त को वाचना न देना।
२२	समान योग्यता वालों को वाचना देने में पक्षपात करना,
२३	आचार्य उपाध्याय द्वारा वाचना दिए बिना स्वयं वाचना ग्रहण करना,
२४-२५	मिथ्यात्व भावित गृहस्थ एवं अन्यतीर्थिकों को वाचना देना एवं उनसे लेना,
२६-३५	पार्श्वस्थादि को वाचना देना एवं उनसे लेना,

इत्यादि प्रवृत्तियों का लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

उपसंहार—इस उद्देशक के प्रारम्भ में औषध विषयक कथन किया गया है। शेष सभी सूत्रों में स्वाध्याय एवं अध्ययन-अध्यापन सम्बन्धी विषयों का कथन है। एक साथ इतनी स्पष्टता के साथ किए गए प्रायश्चित्त विधान से यहां पर श्रुत स्वाध्याय एवं अध्यापन सम्बन्धी पूर्ण विधियों का क्रमिक एवं स्पष्ट निर्देश किया गया है। इस प्रकार कुल दो विषयों में उद्देशक पूर्ण हो जाता है। इसमें स्वाध्याय सम्बन्धी अन्य आगमों में उक्त या अनुक्त सामग्री का एक साथ अनुपम संग्रह हुआ है, यह इस उद्देशक की विशेषता है।

इस उद्देशक के १२ सूत्रों के विषयों का कथन निम्न आगमों में है, यथा—

सूत्र ६	ग्लान के लिए औषध की तीन दत्ति से अधिक लेने का निषेध	—ठाणं अ. ३
८	चार संध्या में स्वाध्याय नहीं करना	—ठाणं अ. ४
१२	चार प्रतिपदा में स्वाध्याय नहीं करना,	—ठाणं. अ. ४

१३	चारों कालों में स्वाध्याय नहीं करना अतिचार कहा है	—आव. अ. ४
१४	अस्वाध्याय में स्वाध्याय करने का निषेध	—व्यव. उ. ७
१५	अपनी शारीरिक अस्वाध्याय में स्वाध्याय करने का निषेध	—व्यव. उ. ७
१६-१७	आगमों के वाचना-क्रम का विधान	—व्यव. उ. १०
१८-१९	अपात्र को वाचना देने का निषेध एवं पात्र को वाचना देने का विधान	—बृहत्कल्प उ. ४
२०-२१	अव्यक्त को वाचना देने का निषेध और व्यक्त को वाचना देने का विधान	—व्यव. उ. १०

इस उद्देशक के २३ सूत्रों के विषय का कथन अन्य आगमों में नहीं है, यथा—

सूत्र १-५, ७	औषध सम्बन्धी उक्त समस्त वर्णन अन्यत्र नहीं है।
९-१०	कालिकश्रुत की ९ गाथाओं एवं दृष्टिवाद की २१ गाथाओं को उच्चारण करने का विधान
११	चार महामहोत्सवों में स्वाध्याय करने का निषेध
२२	वाचना देने में पक्षपात नहीं करना
२३	अदत्त वाचना ग्रहण नहीं करना
२४-३५	मिथ्यात्व भावित गृहस्थों को एवं पार्श्वस्थादि को वाचना नहीं देना और उनसे वाचना नहीं लेना।

॥ उन्नीसवां उद्देशक समाप्त ॥

बीसवां उद्देशक

कपट-सहित तथा कपट-रहित आलोचक को प्रायश्चित्त देने की विधि

१. जे भिक्खू मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स मासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स दोमासियं।

२. जे भिक्खू दो मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स दो मासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स तेमासियं।

३. जे भिक्खू तेमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स तेमासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स चाउम्मासियं।

४. जे भिक्खू चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स चाउम्मासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स पंचमासिय।

५. जे भिक्खू पंचमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा अपलिउंचिय आलोएमाणस्स पंचमासियं पलिउंचिय आलोएमाणस्स छम्मासियं।

तेणं परं पलिउंलिए वा, अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा।

६. जे भिक्खू बहुसो वि मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा-अपलिउंचिय आलोएमाणस्स मासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स दो मासियं।

७. जे भिक्खू बहुसो वि दो मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिए आलोएमाणस्स दो मासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स तेमासियं।

८. जे भिक्खू बहुसो वि तेमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स तेमासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स चाउम्मासियं।

९. जे भिक्खू बहुसो वि चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स चाउम्मासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स पंचमासियं।

१०. जे भिक्खू बहुसो वि पंचमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स पंचमासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स छम्मासियं।

तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा।

११. जे भिक्खू मासियं वा जाव पंचमासियं वा एएसिं परिहारट्ठाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा अपलिउंचिय आलोएमाणस्स मासियं वा जाव पंचमासियं वा।

पलिउंचिय आलोएमाणस्स दो मासियं वा जाव छम्मासियं वा।

तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा।

१२. जे भिक्खू बहुसो वि मासियं वा जाव बहुसो वि पंचमासियं वा एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा—

अपलिउंचिय आलोएमाणस्स मासियं वा जाव पंचमासियं वा,

पलिउंचिय आलोएमाणस्स दो मासियं वा जाव छम्मासियं वा।

तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा।

१३. जे भिक्खू चाउम्मासियं वा, साइरेग-चाउम्मासियं वा, पंचमासियं वा साइरेग-पंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा।

अपलिउंचिय आलोएमाणस्स चाउम्मासियं वा, साइरेग-चाउम्मासियं वा पंचमासियं वा साइरेग-पंचमासियं वा,

पलिउंचिय आलोएमाणस्स पंचमासियं वा, साइरेग पंचमासियं वा, छम्मासियं वा,

तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा।

१४. जे भिक्खू बहुसो वि चाउम्मासियं वा, बहुसो वि साइरेग-चाउम्मासियं वा, बहुसो वि पंचमासियं वा, बहुसो वि साइरेग-पंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा—

अपलिउंचिय आलोएमाणस्स चाउम्मासियं वा, साइरेग-चाउम्मासियं वा, पंचमासियं वा, साइरेग-पंचमासियं वा,

पलिउंचिय आलोएमाणस्स पंचमासियं वा, साइरेग-पंचमासियं वा छम्मासियं वा।

तेण परं पलिउंचिए वा, अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा।

१. एक भिक्षु एक बार मासिक-परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे माया-रहित आलोचना करने पर एक मास का प्रायश्चित्त आता है और माया-सहित आलोचना करने पर दो मास का प्रायश्चित्त आता है।

रहित आलोचना करने पर त्रैमासिक प्रायश्चित्त आता है और माया-सहित आलोचना करने पर चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

४. जो भिक्षु एक बार चातुर्मासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे माया-रहित आलोचना करने पर चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है और माया-रहित आलोचना करने पर पंचमासिक प्रायश्चित्त आता है।

५. जो भिक्षु एक बार पंचमासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे माया-रहित आलोचना करने पर पंचमासिक प्रायश्चित्त आता है और माया-सहित आलोचना करने पर पाण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

इसके उपरान्त मायासहित या मायारहित आलोचना करने पर भी वही पाण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

६. जो भिक्षु अनेक बार मासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे मायारहित आलोचना करने पर एक मास का प्रायश्चित्त आता और मायासहित आलोचना करने पर द्वैमासिक प्रायश्चित्त आता है।

७. जो भिक्षु अनेक बार द्वैमासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे मायारहित आलोचना करने पर द्वैमासिक प्रायश्चित्त आता है और मायासहित आलोचना करने पर त्रैमासिक प्रायश्चित्त आता है।

८. जो भिक्षु अनेक बार त्रैमासिक परिहारस्थान की प्रतिवेदना करके आलोचना करे तो उसे मायारहित आलोचना करने पर त्रैमासिक प्रायश्चित्त आता है और मायासहित आलोचना करने पर चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

९. जो भिक्षु अनेक बार चातुर्मासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे मायारहित आलोचना करने पर चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है और मायासहित आलोचना करने पर पंचमासिक प्रायश्चित्त आता है।

१०. जो भिक्षु अनेक बार पंचमासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे मायारहित आलोचना करने पर पंचमासिक प्रायश्चित्त आता है और मायासहित आलोचना करने पर पाण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

इसके उपरान्त मायासहित या मायारहित आलोचना करने पर भी वही पाण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

११. जो भिक्षु मासिक यावत् पंचमासिक इन परिहारस्थानों में से किसी परिहारस्थान की एक बार प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे मायारहित आलोचना करने पर आसेवित परिहारस्थान के अनुसार मासिक यावत् पंचमासिक प्रायश्चित्त आता है और मायासहित आलोचना करने पर आसेवित परिहारस्थान के अनुसार द्वैमासिक यावत् पाण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

इसके उपरान्त मायासहित या मायारहित आलोचना करने पर वही पाण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

१२. जो भिक्षु मासिक यावत् पंचमासिक इन परिहारस्थानों में से किसी एक परिहारस्थान की अनेक बार प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे मायारहित आलोचना करने पर आसेवित परिहारस्थान के अनुसार मासिक यावत् पंचमासिक प्रायश्चित्त आता है और मायासहित आलोचना करने पर आसेवित परिहारस्थान के अनुसार द्वैमासिक यावत् पाण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

इसके उपरान्त मायासहित या मायारहित आलोचना करने पर वही पाण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

१३. जो भिक्षु चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक, पंचमासिक या कुछ अधिक पंचमासिक—इन परिहारस्थानों में से किसी एक परिहारस्थान की एक बार प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे मायारहित आलोचना करने पर आसेवित परिहारस्थान के अनुसार चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक, पंचमासिक या कुछ अधिक पंचमासिक प्रायश्चित्त आता है और मायासहित आलोचना करने पर आसेवित परिहारस्थान के अनुसार पंचमासिक या कुछ अधिक पंचमासिक या पाण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

इसके उपरान्त मायासहित या मायारहित आलोचना करने पर वही पाण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

१४. जो भिक्षु अनेक बार चातुर्मासिक या अनेक बार कुछ अधिक चातुर्मासिक, अनेक बार पंचमासिक या अनेक बार कुछ अधिक पंचमासिक परिहारस्थान में से किसी एक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे मायारहित आलोचना करने पर आसेवित परिहारस्थान के अनुसार चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक, पंचमासिक या कुछ अधिक पंचमासिक प्रायश्चित्त आता है और मायासहित आलोचना करने पर पंचमासिक या कुछ अधिक पंचमासिक या छमासिक प्रायश्चित्त आता है।

इसके उपरांत मायासहित या मायारहित आलोचना करने पर वही छमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन—उन्नीस उद्देशकों में कहे हुए दोषों के सेवन करने के बाद आलोचक को आलोचना के अनुसार प्रायश्चित्त देने के विभिन्न विकल्पों का वर्णन इन चौदह सूत्रों में किया गया है।

आलोचना करने वाला एक प्रायश्चित्त स्थानों को एक बार या अनेक बार तथा अनेक प्रायश्चित्त स्थानों को एक बार या अनेक बार सेवन करके उनकी एक साथ भी आलोचना कर सकता है और कभी अलग-अलग भी।

कोई आलोचक निष्कपट यथार्थ आलोचना करनेवाला होता है और कोई कपटयुक्त आलोचना करने वाला भी होता है अतः ऐसे आलोचकों को दिए जाने वाले प्रायश्चित्त देने की विधि यहां कही गई है।

उन्नीस उद्देशकों में मासिक, चौमासी और इनके गुरु या लघु यों चार प्रकार के प्रायश्चित्त का कथन है तथापि कुछ विशेष दोषों के प्रायश्चित्तों में पांच दिन, दस दिन की वृद्धि भी होती है। इसीलिए सूत्र १३-१४ में चार मास या चार मास साधिक, पांच मास या पांच मास साधिक ऐसा कथन है, किन्तु चौमासी प्रायश्चित्त स्थानों के समान पंचमासी या छमासी प्रायश्चित्त स्थानों का स्वतंत्र निर्देश आगमों में नहीं है। प्रस्तुत उद्देशक में भी उनका केवल संकेत मिलता है।

इन प्रायश्चित्त स्थानों में से किसी एक प्रायश्चित्त स्थान का एक बार या अनेक बार सेवन करके एक साथ आलोचना करने पर प्रायश्चित्त स्थान वही रहता है किन्तु तप की हीनाधिकता हो जाती है।

यदि प्रायश्चित्त स्थान अनेक हों तो उन सभी स्थानों के प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है और उन सभी प्रायश्चित्त स्थानों के अनुसार यथा योग्य तप प्रायश्चित्त दिया जाता है।

सरल मन से आलोचना करने पर प्रायश्चित्त स्थान के अनुरूप प्रायश्चित्त आता है और कोई कपट युक्त आलोचना करे तो कपट की जानकारी हो जाने पर उस प्रायश्चित्त स्थान से एक मास अधिक प्रायश्चित्त आता है अर्थात् कपट करने का एक गुरु मास का प्रायश्चित्त और संयुक्त कर दिया जाता है।

९ पूर्वो से लेकर १४ पूर्व तक के श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, केवलज्ञानी ये आगम-विहारी भिक्षु आलोचक के कपट को अपने ज्ञान से जान लेते हैं अतः इनके सन्मुख ही आलोचना एवं प्रायश्चित्त करना चाहिये। इनके अभाव में श्रुतव्यवहारी साधु तीन बार आलोचना सुनकर भाषा तथा भावों से कपट को जान सकते हैं क्योंकि वे भी अनुभवी गीतार्थ होते हैं।

यदि कपटयुक्त आलोचना करने वाले का कपट नहीं जाना जा सके तो उसकी शुद्धि नहीं होती है। इसलिए आगमों में आलोचना करने वाले की एवं सुनने वाले की योग्यता कही गई है तथा आलोचना संबंधी अन्य वर्णन भी है। यथा—

१. ठाणांग अ. १० में आलोचना करने वाले को १० गुणयुक्त होना अनिवार्य कहा गया है। यथा—

१. जातिसंपन्न, २. कुलसपन्न, ३. विनयसंपन्न, ४. ज्ञानसपन्न, ५. दर्शनसंपन्न, ६. चारित्र-संपन्न, ७. क्षमावान्, ८. दमनेन्द्रिय, ९. अमायी, १०. आलोचना करके पश्चाताप नहीं करने वाला।

२. ठाणांग अ. १० में आलोचना सुनने वाले के १० गुण इस प्रकार कहे हैं यथा—

१. आचारवान्, २. समस्त दोषों को समझ सकने वाला, ३. पांच व्यवहारों के क्रम का ज्ञाता, ४. संकोच-निवारण में कुशल, ५. आलोचना कराने में समर्थ, ६. आलोचना को किसी के पास प्रकट न करने वाला, ७. योग्य प्रायश्चित्त दाता, ८. आलोचना न करने के या कपटपूर्वक आलोचना करने के अनिष्ट परिणाम बताने में समर्थ। ९. प्रियधर्मी, १०. दृढधर्मी।

उत्तरा. अ. ३६ गा. २६२ में आलोचना सुनने वाले के तीन गुण कहे हैं—

१. आगमों का विशेषज्ञ, २. समाधि उत्पन्न कर सकने वाला, ३. गुणग्राही।

३. ठाणांग अ. १० में आलोचना के १० दोष इस प्रकार कहे हैं—

१. सेवा आदि से प्रसन्न करने के बाद उसके पास आलोचना करना।

२. मेरे को प्रायश्चित्त कम देना इत्यादि अनुनय करके आलोचना करना।

३. दूसरों के द्वारा देखे गये दोषों की आलोचना करना,

४. बड़े-बड़े दोषों की आलोचना करना,

५. छोटे-छोटे दोषों की आलोचना करना,

६. अत्यंत अस्पष्ट बोलना,

७. अत्यन्त जोर से बोलना,

८. अनेकों के पास एक ही दोष की आलोचना करना।

९. अगीतार्थ के पास आलोचना करना,

१०. अपने समान दोषों का सेवन करने वाले के पास आलोचना करना।

उपरोक्त स्थानों का योग्य विवेक रखने पर ही आलोचना शुद्ध होती है। यदि आलोचना सुनने वाला योग्य न मिले तो अनुक्रम से स्वगच्छ, अन्य गच्छ या श्रावक आदि के पास भी आलोचना की जा सकती है, अंत में अरिहंत-सिद्धों की साक्षी से भी आलोचना करने का विधान व्यव. उ. १ में किया गया है।

ठाणांग अ. ३ में कहा है कि ज्ञान-दर्शन-चारित्र की शुद्ध आराधना के लिये आलोचना-प्रायश्चित्त किया जाता है। दोषों की आलोचना एवं प्रायश्चित्त नहीं करने वाला इहलोक और परलोक दोनों ही बिगाड़ता है और वह विराधक होकर आत्मा को अधोगति का भागी बनाता है।

आलोचना नहीं करने के अनेक कारणों में मुख्य कारण अपमान एवं अपयश के होने का होता है किन्तु यह विचारों की अज्ञानदशा है। क्योंकि आलोचना करके शुद्ध होने वाला इस भव में और परभव में पूर्ण समाधि को प्राप्त करता है और आलोचना नहीं करने वाला इस भव में अंदर ही अंदर खिन्न होता है एवं उभयलोक में असमाधि को प्राप्त करता है और आलोचना न करके असमाधि मरण से दीर्घसंसारी होता है।

जो भिक्षु मूलगुणों में अथवा उत्तरगुणों में एक बार या अनेक बार दोष लगाकर उन्हें छिपावे, लगे हुए दोषों की न आलोचना करे और न प्रायश्चित्त ले तो गणनायक उसे लगे हुए दोषों के संबंध में पूछे।

यदि वह असत्य बोले, अपने आपको निर्दोष सिद्ध करे तो दोष सेवन करते हुए उसे देखने के लिए किसी को नियुक्त करे और प्रमाणपूर्वक उसके दोष सेवन का उसी के सामने सिद्ध करवाकर प्रायश्चित्त दे।

इसीस उद्देशकों में ऐसे मायावी को दिए जाने वाले प्रायश्चित्तों का विधान नहीं है। इनमें केवल स्वेच्छा से आलोचना करने वालों को दिए जाने वाले प्रायश्चित्तों का विधान है। उक्त मायावी भिक्षु लगे हुए दोषों को सरलता से स्वीकार न करे तो गच्छ से निकाल देना चाहिए।

यदि वह लगे हुए दोषों को सरलता से स्वीकार कर ले, गच्छ प्रमुख को उसकी सरलता पर विश्वास हो जावे तो उसे निम्न प्रायश्चित्त देकर गच्छ में रखा जा सकता है।

१. यदि उसने अनेक बार दोष सेवन न किए हों, अनेक बार मृषा भाषण करके उसने अपने

दोप न छिपाये हों और उसके दोप-सेवन की जानकारी जनसाधारण को न हुई तो उसे दीक्षा छेद का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

२. यदि उसने वार-वार ब्रह्मचर्य आदि महाव्रत भंग किया हो, वार-वार माया-मृपा भाषण किया हो, उसके वार-वार ब्रह्मचर्य आदि भग की जानकारी जनसाधारण को हो गई हो तो उसे मूल अर्थात् नई दीक्षा देने का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

उत्तराध्ययन सूत्र अ. २९ में दोपों की आलोचना निंदा एवं गर्हा का अत्यंत शुभ एवं श्रेष्ठ फल कहा है।

ठाणं० अ० १०, भगवती श० २५ उ० ७, उव० सूत्र० ३० और उत्तरा० अ० ३० में १० प्रकार के प्रायश्चित्त कहे हैं उनमें आलोचना करना प्रथम प्रायश्चित्त स्थान कहा गया है।

प्रायश्चित्त—चारित्र के मूल गुणों में या उत्तर गुणों में की गई प्रतिसेवनाओं अर्थात् दोप सेवन का प्रायश्चित्त किया जाता है। निशीथसूत्र में तप-प्रायश्चित्त के चार मुख्य विभाग कहें हैं और भाष्य में उसी की विस्तार से व्याख्या करते हुए पाँच दिन के तप से लेकर छः मास तक तप तथा छेद मूल अनवस्थाप्य एवं पाराचिक प्रायश्चित्त तक का कथन किया है।

प्रतिसेवना के भावों के अनुसार एक ही दोप-स्थान के प्रायश्चित्तों की वृद्धि या कमी की जाती है।

भगवती श० २५ उ० ७ एवं ठाणांग अ० १० में प्रतिसेवना दस प्रकार की कही है। यथा—

१. दर्प से (आशक्ति एव धृष्टता से), २. आलस्य से, ३. असावधानी से, ४. भूख प्यास आदि की आतुरता से, ५. संकट आने पर ६ क्षेत्र आदि की संकीर्णता से, ७. भूल से, ८. भय से, ९. रोप से या द्वेप से, १०. शिष्य आदि की परीक्षा के लिए।

प्रत्येक दोप-सेवन के पीछे इनमें से कोई भी एक या अनेक कारण होते हैं।

इन कारणो में से किसी कारण से लगे दोप की केवल आलोचना से ही शुद्धि हो सकती है तो किसी की आलोचना और प्रतिक्रमण से शुद्धि होती है और किसी की तप छेद आदि से शुद्धि होती है।

दोप-सेवन के वाद आत्मशुद्धि का इच्छुक आलोचना कर प्रायश्चित्त ग्रहण करता है। जिस प्रकार वस्त्र में लगे मैल की शुद्धि धोने से हो जाती है उसी प्रकार आत्मा के (संयमादि में) लगे दोपों की शुद्धि प्रायश्चित से हो जाती है।

उतरा० अ० २९ में कहा है कि प्रायश्चित्त करने से दोषों की विशुद्धि हो जाती है, चरित्र निरतिचार हो जाता है, तथा सम्यग् प्रायश्चित्त स्वीकार करने वाला मोक्षमार्ग एवं आचार का आराधक होता है।

दस प्रकार का प्रायश्चित्त—

१. आलोचना के योग्य—क्षेत्रादि के कारण आपवादिक व्यवहार प्रवृत्ति आदि की केवल आलोचना से शुद्धि होती है।

२. प्रतिक्रमण के योग्य—असावधानी से होने वाली अयतना की शुद्धि केवल प्रतिक्रमण से (मिच्छामि दुक्कड़ से) होती है।

३. ठाणांग अ. १० में आलोचना के १० दोष इस प्रकार कहे हैं—

१. सेवा आदि से प्रसन्न करने के बाद उसके पास आलोचना करना।
२. मेरे को प्रायश्चित्त कम देना इत्यादि अनुनय करके आलोचना करना।
३. दूसरों के द्वारा देखे गये दोषों की आलोचना करना,
४. बड़े-बड़े दोषों की आलोचना करना,
५. छोटे-छोटे दोषों की आलोचना करना,
६. अत्यंत अस्पष्ट बोलना,
७. अत्यन्त जोर से बोलना,
८. अनेकों के पास एक ही दोष की आलोचना करना।
९. अगीतार्थ के पास आलोचना करना,
१०. अपने समान दोषों का सेवन करने वाले के पास आलोचना करना।

उपरोक्त स्थानों का योग्य विवेक रखने पर ही आलोचना शुद्ध होती है। यदि आलोचना सुनने वाला योग्य न मिले तो अनुक्रम से स्वगच्छ, अन्य गच्छ या श्रावक आदि के पास भी आलोचना की जा सकती है, अंत में अरिहंत-सिद्धों की साक्षी से भी आलोचना करने का विधान व्यव. उ. १ में किया गया है।

ठाणांग अ. ३ में कहा है कि ज्ञान-दर्शन-चारित्र की शुद्ध आराधना के लिये आलोचना-प्रायश्चित्त किया जाता है। दोषों की आलोचना एवं प्रायश्चित्त नहीं करने वाला इहलोक और परलोक दोनों ही बिगाड़ता है और वह विराधक होकर आत्मा को अधोगति का भागी बनाता है।

आलोचना नहीं करने के अनेक कारणों में मुख्य कारण अपमान एवं अपयश के होने का होता है किन्तु यह विचारों की अज्ञानदशा है। क्योंकि आलोचना करके शुद्ध होने वाला इस भव में और परभव में पूर्ण समाधि को प्राप्त करता है और आलोचना नहीं करने वाला इस भव में अंदर ही अंदर खिन्न होता है एवं उभयलोक में असमाधि को प्राप्त करता है और आलोचना न करके सशल्य मरण से दीर्घसंसारी होता है।

जो भिक्षु मूलगुणों में अथवा उत्तरगुणों में एक बार या अनेक बार दोष लगाकर उन्हें छिपावे, लगे हुए दोषों की न आलोचना करे और न प्रायश्चित्त ले तो गणनायक उसे लगे हुए दोषों के संबंध में पूछे।

यदि वह असत्य बोले, अपने आपको निर्दोष सिद्ध करे तो दोष सेवन करते हुए उसे देखने के लिए किसी को नियुक्त करे और प्रमाणपूर्वक उसके दोष सेवन का उसी के सामने सिद्ध करवाकर प्रायश्चित्त दें।

उन्नीस उद्देशकों में ऐसे मायावी को दिए जाने वाले प्रायश्चित्तों का विधान नहीं है। इनमें केवल स्वेच्छा से आलोचना करने वालों को दिए जाने वाले प्रायश्चित्तों का विधान है। उक्त मायावी भिक्षु लगे हुए दोषों को सरलता से स्वीकार न करे तो गच्छ से निकाल देना चाहिए।

यदि वह लगे हुए दोषों को सरलता से स्वीकार कर ले, गच्छ प्रमुख को उसकी सरलता पर विश्वास हो जावे तो उसे निम्न प्रायश्चित्त देकर गच्छ में रखा जा सकता है।

१. यदि उसने अनेक बार दोष सेवन न किए हों, अनेक बार मृषा भाषण करके उसने अपने

दोप न छिपाये हों और उसके दोप-सेवन की जानकारी जनसाधारण को न हुई तो उसे दीक्षा छेद का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

२. यदि उसने बार-बार ब्रह्मचर्य आदि महाव्रत भंग किया हो, बार-बार माया-मृषा भापण किया हो, उसके बार-बार ब्रह्मचर्य आदि भंग की जानकारी जनसाधारण को हो गई हो तो उसे मूल अर्थात् नई दीक्षा देने का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

उत्तराध्ययन सूत्र अ. २९ में दोपों की आलोचना निंदा एवं गर्हा का अत्यंत शुभ एवं श्रेष्ठ फल कहा है।

ठाणं० अ० १०, भगवती श० २५ उ० ७, उव० सूत्र० ३० और उत्तरा० अ० ३० में १० प्रकार के प्रायश्चित्त कहे हैं उनमें आलोचना करना प्रथम प्रायश्चित्त स्थान कहा गया है।

प्रायश्चित्त—चारित्र के मूल गुणों में या उत्तर गुणों में की गई प्रतिसेवनाओं अर्थात् दोप सेवन का प्रायश्चित्त किया जाता है। निशोथसूत्र में तप-प्रायश्चित्त के चार मुख्य विभाग कहे हैं और भाष्य में उसी की विस्तार से व्याख्या करते हुए पांच दिन के तप से लेकर छः मास तक तप तथा छेद मूल अनवस्थाप्य एवं पारांचिक प्रायश्चित्त तक का कथन किया है।

प्रतिसेवना के भावों के अनुसार एक ही दोप-स्थान के प्रायश्चित्तों की वृद्धि या कमी की जाती है।

भगवती श० २५ उ० ७ एवं ठाणांग अ० १० में प्रतिसेवना दस प्रकार की कही है। यथा—

१. दर्प से (आशक्ति एवं धृष्टता से), २. आलस्य से, ३. असावधानी से, ४. भूख प्यास आदि की आतुरता से, ५. संकट आने पर ६. क्षेत्र आदि की संकीर्णता से, ७. भूल से, ८. भय से, ९. रोप से या द्वेप से, १०. शिष्य आदि की परीक्षा के लिए।

प्रत्येक दोप-सेवन के पीछे इनमें से कोई भी एक या अनेक कारण होते हैं।

इन कारणों में से किसी कारण से लगे दोष की केवल आलोचना से ही शुद्धि हो सकती है तो किसी की आलोचना और प्रतिक्रमण से शुद्धि होती है और किसी की तप छेद आदि से शुद्धि होती है।

दोप-सेवन के बाद आत्मशुद्धि का इच्छुक आलोचना कर प्रायश्चित्त ग्रहण करता है। जिस प्रकार वस्त्र में लगे मैल की शुद्धि धोने से हो जाती है उसी प्रकार आत्मा के (संयमादि में) लगे दोपों की शुद्धि प्रायश्चित से हो जाती है।

उत्तरा० अ० २९ में कहा है कि प्रायश्चित्त करने से दोपों की विशुद्धि हो जाती है, चरित्र निरतिचार हो जाता है, तथा सम्यग् प्रायश्चित्त स्वीकार करने वाला मोक्षमार्ग एवं आचार का आराधक होता है।

दस प्रकार का प्रायश्चित्त—

१. आलोचना के योग्य—क्षेत्रादि के कारण आपवादिक व्यवहार प्रवृत्ति आदि की केवल आलोचना से शुद्धि होती है।

२. प्रतिक्रमण के योग्य—असावधानी से होने वाली अयतना की शुद्धि केवल प्रतिक्रमण से (मिच्छामि दुक्कडं से) होती है।

३. तदुभय योग्य—तप प्रायश्चित्त के अयोग्य समिति आदि के अत्यन्त अल्प दोष की शुद्धि आलोचना एवं प्रतिक्रमण से हो जाती है।

४. विवेक योग्य—भूल से ग्रहण किये गए दोषयुक्त या अकल्पनीय आहारादि के ग्रहण किये जाने पर अथवा क्षेत्रकाल सम्बन्धी आहार की मर्यादा का उल्लंघन होने पर उसे परठ देना ही विवेक प्रायश्चित्त है।

५. व्युत्सर्ग के योग्य—किसी साधारण भूल के हो जाने पर निर्धारित श्वासोच्छ्वास के कायोत्सर्ग का प्रायश्चित्त दिया जाय यह व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है। उभय काल प्रतिक्रमण में पांचवां आवश्यक भी इसी प्रायश्चित्त रूप है। ये पांचों प्रायश्चित्त तपरहित हैं।

६. तप के योग्य—मूल गुण या उत्तर गुण में दोष लगाने पर पुरिमड्ढ से लेकर ६ मासी तप तक का प्रायश्चित्त होता है। यह दो प्रकार का है—

१. शुद्ध तप, २. परिहार तप।

७. छेद के योग्य—दोषों के वार-वार सेवन से, अकारण अपवाद सेवन से या अधिक लोक निंदा होने पर आलोचना करने वाले को एक दिन से लेकर छः मास तक की दीक्षा-पर्याय का छेदन करना।

८. मूल के योग्य—छेद के योग्य दोषों में उपेक्षा भाव या स्वच्छन्दता होने पर पूर्ण दीक्षा छेद करके नई दीक्षा देना।

९–१०. अनवस्थाप्य पारांचिक प्रायश्चित्त—वर्तमान में इन दो प्रायश्चित्तों का विच्छेद होना माना जाता है। नई दीक्षा देने के पूर्व कठोर तपमय साधना करवाई जाती है, कुछ समय समूह से अलग रखा जाता है फिर एक बार गृहस्थ का वेष पहनाकर पुनः दीक्षा दी जाती है इन दोनों में विशिष्ट तप एव उसके काल आदि का अन्तर है और इनका अन्य विवेचन बृहत्कल्प उद्देशक ४ में तथा व्यव. उ. २ में देखें।

इन सूत्रों में लघुमासिक आदि तप प्रायश्चित्तों का कथन है। भाष्य गाथा ६४९९ में कहा है कि १९ उद्देशकों में कहे गये प्रायश्चित्त ज्ञानदर्शन चारित्र के अतिक्रम व्यतिक्रम अतिचार एवं अनाचार के हैं। इनमें से स्थविरकल्पी को किसी अनाचार का आचरण करने पर ही ये प्रायश्चित्त आते हैं और जिनकल्पी को अतिक्रम आदि चारों के ये प्रायश्चित्त आते हैं।

१. अतिक्रम—दोष सेवन का संकल्प।
२. व्यतिक्रम—दोष सेवन के पूर्व की तैयारी का प्रारम्भ।
३. अतिचार—दोष सेवन के पूर्व की प्रवृत्ति का लगभग पूर्ण हो जाना।
४. अनाचार—दोष का सेवन कर लेना।

जैसे कि—१. आधाकर्मी आहार ग्रहण करने का संकल्प, २. उसके लिये जाना, ३. लाकर रखना, ४. खा लेना।

स्थविरकल्पी को अतिक्रमादि तीन से व्युत्सर्ग तक के पांच प्रायश्चित्त आते हैं एवं अनाचार सेवन करने पर उन्हें आगे के पांच प्रायश्चित्तों में से कोई एक प्रायश्चित्त आता है।

पावुदान श्री महावीर कुमार बोथरा

परिहार तप एवं शुद्ध तप किन-किन को दिया जाता है यह वर्णन भाष्य गाथा—६५८६ से ९१ तक में है। वहाँ पर यह भी कहा है कि साध्वी को एवं अगीतार्थ, दुर्बल और अंतिम तीन संघयण वाले भिक्षु को शुद्ध तप प्रायश्चित्त ही दिया जाता है।

२० वर्ष की दीक्षा पर्यायवाले को, २९ वर्ष की उम्र से अधिक वय वाले को, उत्कृष्ट गीतार्थ अर्थात् ९ पूर्व के ज्ञानी को, प्रथम संहनन वाले को तथा अनेक अभिग्रह तप साधना के अभ्यासी को परिहार तप दिया जाता है। भाष्य गाथा. ६५९२ में परिहार तप देने की पूर्ण विधि का वर्णन किया गया है।

सूत्र १ से ५ तक एक मासिक प्रायश्चित्त स्थान से लेकर पांच मासिक प्रायश्चित्त स्थान के एक बार सेवन का तथा सूत्र ६ से १० तक अनेक बार सेवन का सामान्य प्रायश्चित्त कहा गया है साथ ही कपटयुक्त आलोचना का एक गुरुमास प्रायश्चित्त विशेष देने का कहा गया है।

सूत्र ११ से १४ में इन्हीं प्रायश्चित्त स्थानों में से अनेक स्थानों के सेवन से द्विसंयोगी आदि भंगयुक्त अनेक सूत्रों की सूचना की गई है, भाष्य चूर्णि में भंग-विस्तार से करोड़ों सूत्रों की गणना बताई गई है।

सूत्र ५, १० तथा ११ से १४ तक के सूत्रों में "तेण परं—पलिउंचिय अपलिउंचिय ते चेव छम्मासा" यह वाक्य है। इसका आशय यह समझना चाहिए कि—इसके आगे कोई ६ मास या ७ मास के योग्य प्रायश्चित्त का पात्र हो—अथवा कपटसहित या कपटरहित आलोचना करने वाला हो तो भी यही छः मास का प्रायश्चित्त आता है, इससे अधिक नहीं आता है।

सुबहुहिं वि मासेहिं, छण्हं मासाण परं ण दायव्वं ॥ ६५२४ ॥

चूर्णि—तवारिहेहिं बहुहिं मासेहिं छम्मासा परं ण दिज्जइ, सव्वस्सेव एस णियमो, एत्थ कारणं जम्हा अम्हं वद्धमाण सामिणो एवं चेव परं पमाणं ठवितं।

भावार्थ—वर्द्धमान महावीर स्वामी के शासन में इतने ही प्रायश्चित्त की मर्यादा निर्धारित है और सभी साधु-साध्वी के लिए यह नियम है।

अगीतार्थ, अतिपरिणामी, अपरिणामी साधु-साध्वी को ६ मास का तप ही दिया जाता है, छेद प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता है। किन्तु दोष को पुनः पुनः सेवन करने पर या आकुट्टी बुद्धि अर्थात् मारने के संकल्प से पंचेन्द्रिय की हिंसा करने पर या दर्प से कुशील के सेवन करने पर इन्हें छेद प्रायश्चित्त दिया जा सकता है तथा छेद के प्रति उपेक्षावृत्ति रखने वालों को "मूल प्रायश्चित्त" दिया जाता है।

अन्य अनेक छोटे बड़े दोषों के सेवन करने पर प्रथम बार में छेद या मूल प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता है, किन्तु जिसे एक बार इस प्रकार की चेतावनी दे दी गई है कि "हे आर्य! यदि बारंबार यह दोष सेवन किया तो छेद या मूल प्रायश्चित्त दिया जायेगा।" उसे ही छेद या मूल प्रायश्चित्त दिया जा सकता है। जिसे इस प्रकार की चेतावनी नहीं दी गई है उसे छेद या मूल प्रायश्चित्त नहीं दिया जा सकता है। भाष्य में चेतावनी दिये गये साधु को 'विकोवित' एवं चेतावनी नहीं दिये गये साधु को "अविकोवित" कहा गया है। विकोवित को भी प्रथम बार लघु, दूसरी बार गुरु एवं तीसरी बार छेद प्रायश्चित्त दिया जाता है।

छेद प्रायश्चित्त भी उत्कृष्ट छः मास का होता है तथा तीन बार तक दिया जा सकता है उसके बाद मूल प्रायश्चित्त दिया जाता है।

यथा— छम्मासोवरि जइ पुणो आवज्जइ तो तिण्णि वारा लहु चेव छेदो दायव्वो। एस अविसिट्ठो वा तिण्णि वारा छल्लहु छेदो।

अहवा—जं चेव तव तियं तं छेदतिय पि—मासब्भंतरं, चउमासब्भंतरं, छम्मासब्भंतरं च, जम्हा एवं तम्हा भिण्णमासादि जाव छम्मासं, तेसु छिण्णेसु छेय तियं अतिक्कंतं भवति। ततो वि जति परं आवज्जति तो तिण्णि वारा मूलं दिज्जति। —चूर्णि भा. ४ पृ. ३५१-५२

इससे यह स्पष्ट होता है कि वर्धमान महावीर स्वामी के शासन में तप और छेद प्रायश्चित्त छः मास से अधिक देने का विधान नहीं है। अतः किसी भी दोष का छः मास तप या छेद से अधिक प्रायश्चित्त नहीं देना चाहिये। क्योंकि अधिक प्रायश्चित्त देने पर 'तेण परं…' इस सूत्रांश से एवं भाष्योक्त परम्परा से विपरीत आचरण होता है। मूल (नई दिक्षा) प्रायश्चित्त भी तीन बार दिया जा सकता है और छः मास का तप और छः मास का छेद भी तीन बार ही दिया जा सकता है। उसके बाद आगे का प्रायश्चित्त दिया जाता है। अन्त में गच्छ से निकाल दिया जाता है।

प्रस्थापना में प्रतिसेवना करने पर आरोपण

१५. जे भिक्खू चाउम्मासियं वा, साइरेग-चाउम्मासियं वा, पंचमासियं वा साइरेग-पंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा—

अपलिउंचिय आलोएमाणे ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं।

ठविए वि पडिसेवित्ता, से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया।

१. पुव्विं पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं,

२. पुव्विं पडिसेवियं पच्छा आलोइयं,

३. पच्छा पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं,

४. पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं,

१. अपलिउंचिए अपलिउंचिय,

२. अपलिउंचिए पलिउंचियं,

३. पलिउंचिए अपलिउंचियं,

४. पलिउंचिए पलिउंचियं,

आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकयं साहणिय आरुहेयव्वे सिया,

जे एयाए पट्ठवणाए पट्ठविए निव्विसमाणे पडिसेवेइ, से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया।

१६. जे भिक्खू चाउम्मासियं वा, साइरेग-चाउम्मासियं वा, पंचमासियं वा, साइरेग-पंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,

पलिउंचिय आलोएमाणे ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं ।
ठविए वि पडिसेवित्ता, से वि कसिणे तत्थेव आरूहेयव्वे सिया ।

१. पुव्विं पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं,
२. पुव्विं पडिसेवियं पच्छा आलोइयं,
३. पच्छा पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं,
४. पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं ।

१. अपलिउंचिए अपलिउंचियं,
२. अपलिउंचिए पलिउंचियं,
३. पलिउंचिए अपलिउंचियं,
४. पलिउंचिए पलिउंचियं ।

आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकयं साहणिय आरूहेयव्वे सिया ।
जे एयाए पट्ठवणाए पट्ठविए निव्विसमाणे पडिसेवेइ, से वि कसिणे तत्थेव आरूहेयव्वे सिया ।

१७. जे भिक्खू बहुसो वि चाउम्मासियं वा, बहुसो वि साइरेग-चाउम्मासियं वा, बहुसो वि पंचमासियं वा, बहुसो वि साइरेग-पंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अन्नयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,

अपलिउंचिय आलोएमाणे ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं ।
ठविए वि पडिसेवित्ता से वि कसिणे तत्थेव आरूहेयव्वे सिया ।

१. पुव्विं पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं,
२. पुव्विं पडिसेवियं पच्छा आलोइयं,
३. पच्छा पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं,
४. पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं ।

१. अपलिउंचिए अपलिउंचियं,
२. अपलिउंचिए पलिउंचियं,
३. पलिउंचिय अपलिउंचियं,
४. पलिउंचियए पलिउंचियं ।

आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकयं साहणिय आरूहेयव्वे सिया ।
जे एयाए पट्ठवणाए पट्ठविए निव्विसमाणे पडिसेवेइ, से वि कसिणे तत्थेव आरूहेयव्वे सिया ।

१८. जे भिक्खू बहुसो वि चाउम्मासियं वा, बहुसो वि साइरेग-चाउम्मासियं वा, बहुसो वि पंचमासियं वा, बहुसो वि साइरेग पंचमासियं वा एएसिं परिहारट्ठाणाणं अन्नयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,

छेद प्रायश्चित्त भी उत्कृष्ट छः मास का होता है तथा तीन बार तक दिया जा सकता है उसके बाद मूल प्रायश्चित्त दिया जाता है।

यथा—छम्मासोवरि जइ पुणो आवज्जइ तो तिण्णि वारा लहु चेव छेदो दायव्वो। एस अविसिट्ठो वा तिण्णि वारा छल्लहु छेदो।

अहवा—जं चेव तव तियं तं छेदतिय पि—मासब्भंतरं, चउमासब्भंतरं, छम्मासब्भंतरं च, जम्हा एवं तम्हा भिण्णमासादि जाव छम्मासं, तेसु छिण्णेसु छेय तियं अतिक्कंतं भवति। ततो वि जति परं आवज्जति तो तिण्णि वारा मूलं दिज्जति। —चूर्णि भा. ४ पृ. ३५१-५२

इससे यह स्पष्ट होता है कि वर्धमान महावीर स्वामी के शासन में तप और छेद प्रायश्चित्त छः मास से अधिक देने का विधान नहीं है। अतः किसी भी दोष का छः मास तप या छेद से अधिक प्रायश्चित्त नहीं देना चाहिये। क्योंकि अधिक प्रायश्चित्त देने पर 'तेण परं ···' इस सूत्रांश से एवं भाष्योक्त परम्परा से विपरीत आचरण होता है। मूल (नई दिक्षा) प्रायश्चित्त भी तीन बार दिया जा सकता है और छः मास का तप और छः मास का छेद भी तीन बार ही दिया जा सकता है। उसके बाद आगे का प्रायश्चित्त दिया जाता है। अन्त में गच्छ से निकाल दिया जाता है।

प्रस्थापना में प्रतिसेवना करने पर आरोपण

१५. जे भिक्खू चाउम्मासियं वा, साइरेग-चाउम्मासियं वा, पंचमासियं वा साइरेग-पंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा—

अपलिउंचिय आलोएमाणे ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं।

ठविए वि पडिसेवित्ता, से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया।

१. पुव्विं पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं,

२. पुव्विं पडिसेवियं पच्छा आलोइयं,

३. पच्छा पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं,

४. पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं,

१. अपलिउंचिए अपलिउंचियं,

२. अपलिउंचिए पलिउंचियं,

३. पलिउंचिए अपलिउंचियं,

४. पलिउंचिए पलिउंचियं,

आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकयं साहणिय आरुहेयव्वे सिया,

जे एयाए पट्ठवणाए पट्ठविए निव्विसमाणे पडिसेवेइ, से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया।

१६. जे भिक्खू चाउम्मासियं वा, साइरेग-चाउम्मासियं वा, पंचमासियं वा, साइरेग-पंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,

पलिउंचिय आलोएमाणे ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं ।
ठविए वि पडिसेवित्ता, से वि कसिणे तत्थेव आरूहेयव्वे सिया ।

१. पुव्विं पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं,
२. पुव्विं पडिसेवियं पच्छा आलोइयं,
३. पच्छा पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं,
४. पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं ।

१. अपलिउंचिए अपलिउंचियं,
२. अपलिउंचिए पलिउंचियं,
३. पलिउंचिए अपलिउंचियं,
४. पलिउंचिए पलिउंचियं ।

आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकयं साहणिय आरूहेयव्वे सिया ।
जे एयाए पट्ठवणाए पट्ठविए निव्विसमाणे पडिसेवेइ, से वि कसिणे तत्थेव आरूहेयव्वे सिया ।

१७. जे भिक्खू बहुसो वि चाउम्मासियं वा, बहुसो वि साइरेग-चाउम्मासियं वा, बहुसो वि पंचमासियं वा, बहुसो वि साइरेग-पंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अन्नयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,

अपलिउंचिय आलोएमाणे ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं ।
ठविए वि पडिसेवित्ता से वि कसिणे तत्थेव आरूहेयव्वे सिया ।

१. पुव्विं पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं,
२. पुव्विं पडिसेवियं पच्छा आलोइयं,
३. पच्छा पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं,
४. पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं ।

१. अपलिउंचिए अपलिउंचियं,
२. अपलिउंचिए पलिउंचियं,
३. पलिउंचिय अपलिउंचियं,
४. पलिउंचियए पलिउंचियं ।

आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकयं साहणिय आरूहेयव्वे सिया ।
जे एयाए पट्ठवणाए पट्ठविए निव्विसमाणे पडिसेवेइ, से वि कसिणे तत्थेव आरूहेयव्वे सिया ।

१८. जे भिक्खू बहुसो वि चाउम्मासियं वा, बहुसो वि साइरेग-चाउम्मासियं वा, बहुसो वि पंचमासियं वा, बहुसो वि साइरेग पंचमासियं वा एएसिं परिहारट्ठाणाणं अन्नयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,

पलिउंचिय आलोएमाणे ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं।

ठविए वि पडिसेवित्ता से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया।

१. पुव्विं पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं,

२. पुव्विं पडिसेवियं पच्छा आलोइयं,

३. पच्छा पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं,

४. पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं।

१. अपलिउंचिए अपलिउंचियं,

२. अपलिउंचिए पलिउंचियं,

३. पलिउंचिए अपलिउंचियं,

४. पलिउंचिए पलिउंचियं।

आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकयं साहणिय आरुहेयव्वे सिया।

जे एयाए पट्ठवणाए पट्ठविए निव्विसमाणे पडिसेवेइ, से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया।

१५. जो भिक्षु चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक, पंचमासिक या कुछ अधिक पंचमासिक—इन परिहारस्थानों में से किसी एक परिहारस्थान की एक बार प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे मायारहित आलोचना करने पर आसेवित प्रतिसेवना के अनुसार प्रायश्चित्त रूप परिहार तप में स्थापित करके उसकी योग्य वैयावृत्य करनी चाहिये।

यदि वह परिहार तप में स्थापित होने पर भी किसी प्रकार की प्रतिसेवना करे तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त भी पूर्वप्रदत्त प्रायश्चित्त में सम्मिलित कर देना चाहिये।

१. पूर्व में प्रतिसेवित दोष की पहले आलोचना की हो,

२. पूर्व में प्रतिसेवित दोष की पीछे आलोचना की हो,

३. पीछे से प्रतिसेवित दोष की पहले आलोचना की हो,

४. पीछे से प्रतिसेवित दोष की पीछे से आलोचना की हो।

१. मायारहित आलोचना करने का संकल्प करके मायारहित आलोचना की हो।

२. मायारहित आलोचना करने का संकल्प करके मायासहित आलोचना की हो।

३. मायासहित आलोचना करने का संकल्प करके मायारहित आलोचना की हो।

४. मायासहित आलोचना करने का संकल्प करके मायासहित आलोचना की हो।

इनमें से किसी प्रकार के भंग से आलोचना करने पर उसके सर्व स्वकृत अपराध के प्रायश्चित्त को संयुक्त करके पूर्वप्रदत्त प्रायश्चित्त में सम्मिलित कर देना चाहिये।

जो इस प्रायश्चित्त रूप परिहार तप में स्थापित होकर वहन करते हुए भी पुनः किसी प्रकार की प्रतिसेवना करे तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त भी पूर्वप्रदत्त प्रायश्चित्त में आरोपित कर देना चाहिए।

१६. जो भिक्षु चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक, पंचमासिक या कुछ अधिक पंचमासिक इन परिहारस्थानों में से किसी एक परिहारस्थान को प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे मायासहित आलोचना करने पर आसेवित प्रतिसेवना के अनुसार प्रायश्चित्त रूप परिहार तप में स्थापित करके उनकी योग्य वैयावृत्य करनी चाहिए।

यदि वह परिहार तप में स्थापित होने पर भी किसी प्रकार की प्रतिसेवना करे तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त भी पूर्वप्रदत्त प्रायश्चित्त में सम्मिलित कर देना चाहिए।

१. पूर्व में प्रतिसेवित दोष की पहले आलोचना की हो,
२. पूर्व में प्रतिसेवित दोष की पीछे आलोचना की हो,
३. पीछे से प्रतिसेवित दोष की पहले आलोचना की हो,
४. पीछे से प्रतिसेवित दोष की पीछे आलोचना की हो।

१. मायारहित आलोचना करने का संकल्प करके मायारहित आलोचना की हो,
२. मायारहित आलोचना करने का संकल्प करके मायासहित आलोचना की हो,
३. मायासहित आलोचना करने का संकल्प करके मायारहित आलोचना की हो,
४. मायासहित आलोचना करने का संकल्प करके मायासहित आलोचना की हो।

इनमें से किसी भी प्रकार के भंग से आलोचना करने पर उसके सर्व स्वकृत अपराध के प्रायश्चित्त को संयुक्त करके पूर्वप्रदत्त प्रायश्चित्त में सम्मिलित कर देना चाहिए।

जो इस प्रायश्चित्त रूप परिहार तप में स्थापित होकर वहन करते हुए भी पुनः किसी प्रकार की प्रतिसेवना करे तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त भी पूर्वप्रदत्त प्रायश्चित्त में आरोपित कर देना चाहिए।

१७. जो भिक्षु चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक, पंचमासिक या कुछ अधिक पंचमासिक इन परिहारस्थानों में से किसी एक परिहारस्थान की अनेक बार प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे मायारहित आलोचना करने पर आसेवित प्रतिसेवना के अनुसार प्रायश्चित्त रूप परिहार तप में स्थापित करके उसकी योग्य वैयावृत्य करनी चाहिये।

यदि वह परिहार तप में स्थापित होने पर भी किसी प्रकार की प्रतिसेवना करे तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त भी पूर्वप्रदत्त प्रायश्चित्त में सम्मिलित कर देना चाहिये।

१. पूर्व में प्रतिसेवित दोष की पहले आलोचना की हो,
२. पूर्व में प्रतिसेवित दोष की पीछे आलोचना की हो,
३. पीछे से प्रतिसेवित दोष की पहले आलोचना की हो,
४. पीछे से प्रतिसेवित दोष की पीछे आलोचना की हो।

१. मायारहित आलोचना करने का संकल्प करके मायारहित आलोचना की हो,
२. मायारहित आलोचना करने का संकल्प करके मायासहित आलोचना की हो,
३. मायासहित आलोचना करने का संकल्प करके मायारहित आलोचना की हो,
४. मायासहित आलोचना करने का संकल्प करके मायासहित आलोचना की हो।

इनमें से किसी भी प्रकार के भंग से आलोचना करने पर उसके सर्व स्वकृत अपराध के प्रायश्चित्त को संयुक्त करके पूर्व प्रदत्त प्रायश्चित्त में सम्मिलित कर देना चाहिए।

जो इस प्रायश्चित्त रूप परिहार तप में स्थापित होकर वहन करते हुए भी पुनः किसी प्रकार की प्रतिसेवना करे तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त भी पूर्वप्रदत्त प्रायश्चित्त में आरोपित कर देना चाहिये।

१८. जो भिक्षु चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक, पंचमासिक या कुछ अधिक पंचमासिक—इन परिहारस्थानों में से किसी एक परिहारस्थान की अनेक बार प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे मायासहित आलोचना करने पर आसेवित प्रतिसेवना के अनुसार प्रायश्चित्त रूप परिहार तप में स्थापित करके उसकी योग्य वैयावृत्य करनी चाहिये।

यदि वह परिहार तप में स्थापित होने पर भी किसी प्रकार की प्रतिसेवना करे तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त भी पूर्वप्रदत्त प्रायश्चित्त में सम्मिलित कर देना चाहिये।

१. पूर्व में प्रतिसेवित दोष की पहले आलोचना की हो,
२. पूर्व में प्रतिसेवित दोष की पीछे आलोचना की हो,
३. पीछे से प्रतिसेवित दोष की पहले आलोचना की हो,
४. पीछे से प्रतिसेवित दोष की पीछे आलोचना की हो।

१. मायारहित आलोचना करने का संकल्प करके मायारहित आलोचना की हो,
२. मायारहित आलोचना करने का संकल्प करके मायासहित आलोचना की हो,
३. मायासहित आलोचना करने का संकल्प करके मायारहित आलोचना की हो,
४. मायासहित आलोचना करने का संकल्प करके मायासहित आलोचना की हो।

इनमें से किसी भी प्रकार के भंग से आलोचना करने पर उसके सर्व स्वकृत अपराध के प्रायश्चित्त को संयुक्त करके पूर्वप्रदत्त प्रायश्चित्त में सम्मिलित कर देना चाहिए।

जो इस प्रायश्चित्त रूप परिहार तप में स्थापित होकर वहन करते हुए भी पुनः किसी प्रकार की प्रतिसेवना करे तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त भी पूर्वप्रदत्त प्रायश्चित्त में आरोपित कर देना चाहिए।

विवेचन—पूर्व सूत्रों में प्रायश्चित्त देने संबंधी वर्णन है और इन आगे के सूत्रों में प्रायश्चित्त वहन कराने संबंधी वर्णन है। इनमें चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आदि का कथन किया गया है फिर भी अन्त के कथन से आदि का ग्रहण कर लेना चाहिए और मासिक आदि सभी असंयोगी-संयोगी विकल्पों वाले प्रायश्चित्तों के वहन करने की भी विधि इसी प्रकार समझ लेनी चाहिए।

यहाँ सर्वप्रथम प्रायश्चित्त वहन करने को 'स्थापन करना' कहा गया है और उस वहन-काल में दिए गये प्रायश्चित्त को 'प्रस्थापन करना' कहा गया है। प्रस्थापनाकाल में लगाये जाने वाले दोषों के प्रायश्चित्त को भी उसमें संयुक्त करने के लिए कहा गया है। इस प्रकार प्रायश्चित्त संयुक्त करने का कथन इन सूत्रों में है।

प्रथम सूत्र में प्रायश्चित्त की स्थापना एक बार लगाये गये दोष के कपटरहित आलोचना की है और दूसरे सूत्र में कपटसहित आलोचना की है। आगे के दो सूत्रों में प्रायश्चित्त की स्थापना

अनेक बार लगाये गये कपटरहित एवं कपटसहित आलोचना की है। प्रायश्चित्त वहन के बीच में लगाये गए दोषों की आलोचना के सम्बन्ध में चार-चार भंग कहे गए हैं उनमें से किसी भी प्रकार से आलोचना की गई हो वह सब प्रायश्चित्त उसमें अंतर्निहित कर दिया जाता है।

प्रायश्चित्त वहनकाल में प्रायश्चित्त तप करने वाले की वैयावृत्य करने का भी इन सूत्रों में निर्देश किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि उस तप काल में सेवा करना यदि आवश्यक हो तो सेवा की जाती है। प्रायश्चित्त वहनकर्ता स्वयं अपना कार्य कर सके तब तक सेवा नही करवाता है। यह प्रायश्चित्त वहन विधि परिहार तप की अपेक्षा से कही गई है। इससे संबंधित विशेष विवेचन चौथे उद्देशक से जानना चाहिए।

शुद्ध तप रूप प्रायश्चित्त करने वाला प्रायश्चित्त में प्राप्त हुए उपवास आदि को प्रायश्चित्त दाता द्वारा निर्दिष्ट अवधि में कभी भी पूर्ण कर सकता है। अन्य दोषों की पुन: कभी आलोचना करने पर भी उसी प्रकार प्रायश्चित्त पूर्ण करता है।

लघुमासिक, गुरुमासिक, लघुचौमासी, गुरुचौमासी, लघुछ:मासी और गुरु छ:मासी प्रायश्चित्त स्थानों के शुद्ध तप से प्रायश्चित्त देने की विधि प्रथम उद्देशक के पूर्व में तालिका द्वारा दी गई है, उसके अनुसार सभी प्रायश्चित्त विभाग समझ लेने चाहिए।

इस बीसवें उद्देशक के इन सूत्रों में तथा आगे के सभी सूत्रों में जो वर्णन है वह परिहार तप प्रायश्चित्त सम्बन्धी है ऐसा समझना चाहिये। इस वर्णन से या अन्य छेदसूत्रों में आये वर्णनों से इसके विच्छेद होने का फलितार्थ नहीं निकलता है, तथापि व्याख्याकार इस परिहार तप प्रायश्चित्त को आगमविहारी के लिए कहकर वर्तमान में इसका विच्छेद बताते हैं।

अत: यह प्रायश्चित्त की परम्परा वर्तमान नही है।

दो मास प्रायश्चित्त की स्थापिता आरोपणा

१९. छम्मासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा दो मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा—अहावरा वीसइराइया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणम-इरित्तं तेणं परं सवीसइराइया दोमासा।

२०. पंचमासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा दो मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा—अहावरा वीसइराइया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं तेणं परं सवीसइराइया दो मासा।

२१. चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा दोमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा—अहावरा वीसइराइया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं तेणं परं सवीसइराइया दो मासा।

२२. तेमासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा दोमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता

आलोएज्जा—अहावरा वीसइराइया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं तेण परं सवीसइराइया दो मासा।

२३. दो मासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा दोमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा—अहावरा वीसइराइया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं तेणं परं सवीसइराइया दो मासा।

२४. मासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा दोमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा—अहावरा वीसइराइया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं तेण परं सवीसइराइया दो मासा।

१९. छः मासिक प्रायश्चित्त वहन करनेवाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ में मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से दो मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक बीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है, उसके बाद पुनः दोष सेवन करले तो दो मास और बीस रात्रि का प्रायश्चित्त आता है।

२०. पंचमासिक प्रायश्चित्त वहन करनेवाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से दो मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक बीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है, उसके बाद पुनः दोष सेवन करले तो उसे दो मास और बीस रात्रि का प्रायश्चित्त आता है।

२१. चातुर्मासिक प्रायश्चित्त वहन करनेवाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से दो मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक बीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है, उसके बाद पुनः दोष सेवन करले तो दो मास और बीस रात्रि का प्रायश्चित्त आता है।

२२. त्रैमासिक प्रायश्चित्त वहन करनेवाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन हेतु या कारण से दो मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक बीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है, उसके बाद पुनः दोष सेवन करले तो दो मास और बीस रात्रि का प्रायश्चित्त आता है।

२३. दो मासिक प्रायश्चित्त वहन करनेवाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से दो मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक बीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है, उसके बाद पुनः दोष सेवन कर ले तो दो मास और बीस रात्रि का प्रायश्चित्त आता है।

२४. मासिक प्रायश्चित्त वहन करनेवाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन हेतु या कारण से दो मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके

लोचना करे तो उसे न कम न अधिक बीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है, उसके बाद नः दोष सेवन करले तो दो मास और बीस रात्रि का प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन—इन सूत्रों में एक मास से लेकर छः मास तक किसी भी प्रायश्चित्त को वहन करते मय लगाये गये दो मास प्रायश्चित्त स्थान रूप दोष की सानुग्रह एवं निरनुग्रह आरोपण प्रायश्चित्त ने की विधि कही गई है।

प्रायश्चित्त वहन काल में किसी कारण से प्रथम बार दोष लगाने पर उस पर अनुग्रह करके ल्प प्रायश्चित्त दिया जाता है। वह सानुग्रह आरोपणा प्रायश्चित्त कहा जाता है। पुनः वही दोष वन करने पर अनुग्रह न करके पूर्ण प्रायश्चित्त दिया जाता है वह निरनुग्रह आरोपणा प्रायश्चित्त कहा जाता है।

इन सूत्रों का तात्पर्य यह है कि प्रायश्चित्त वहन काल में दिये गये सानुग्रह प्रायश्चित्त को ारोपित करने के पूर्व यदि फिर प्रायश्चित्त दिया जाए तो वह निरनुग्रह होता है।

सानुग्रह प्रायश्चित्त की आरोपणा को वहन किये जाने वाले प्रायश्चित्त में संयुक्त न करने से पूर्व की सानुग्रह बीस दिन और बाद की निरनुग्रह दो मास आरोपणा को संयुक्त करके दो मास और बीस दिन की आरोपणा सूत्र में कही गई है।

सानुग्रह आरोपणा प्रायश्चित्त के दिनों की संख्या निकालने की विधि—

प्रायश्चित्त स्थान के मास संख्या में दो जोड़कर पांच से गुणा करने पर जो संख्या आवे उतने दिन का प्रायश्चित्त होता है। यथा—दो मास में दो जोड़ने से चार हुए, उसे पांच से गुणा करने पर बीस हुए इस प्रकार दो मास के सानुग्रह दिन २० होते हैं। अथवा एक मास का १५ दिन, दो मास का २० दिन, तीन मास का २५ दिन, इत्यादि सानुग्रह प्रायश्चित्त के दिन समझने चाहिए।

ठाणांग सूत्र अ. ५ में आरोपणा प्रायश्चित्त पांच प्रकार के कहे गये हैं—

१. प्रस्थापिता—प्रायश्चित्त वहन करते समय अन्य प्रायश्चित्त के दिनों को जोड़ दिए जाने वाली आरोपणा।

२. स्थापिता—वहन किये जाने वाले प्रायश्चित्त से अन्य प्रायश्चित्त के दिनों को अलग रखी जाने वाली आरोपणा।

३. कृत्स्ना—वहन काल में लगे दोष के प्रायश्चित्त स्थान के संपूर्ण दिनों की दी जाने वाली निरनुग्रह आरोपणा।

४. अकृत्स्ना—वहन काल में लगे दोष के प्रायश्चित्त स्थान के दिनों को कम कर दी जाने वाली सानुग्रह आरोपणा।

५. हाडहडा—तत्काल ही वहन कराई जाने वाली आरोपणा।

इन सूत्रों में एक साथ चार प्रकार की आरोपणा से संबंधित विषय का कथन किया गया है।

दो मास प्रायश्चित्त की प्रस्थापिता आरोपणा एवं वृद्धि

२५. सवीसइराइयं दोमासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा दोमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा—अहावरा वीसइराइया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं तेण परं सदसराया तिण्णिमासा।

२६. सदसराइय-तेमासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा दोमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा—अहावरा वीसइराइया आरोवणा, आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं तेण परं चत्तारि मासा।

२७. चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा दोमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा—अहावरा वीसइराइया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं तेण परं सवीसइराइया चत्तारि मासा।

२८. सवीसइराइय-चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं पट्ठवीए अणगारे अंतरा दोमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा—अहावरा वीसइराइया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं तेण परं सदसराया पंचमासा।

२९. सदसराइय-पंचमासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा दोमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा—अहावरा वीसइराइया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं तेण परं छम्मासा।

२५. दो मास और बीस रात्रि का प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से दो मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक बीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे संयुक्त करने पर तीन मास और दस रात्रि की प्रस्थापना होती है।

२६. तीन मास और दस रात्रि का प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से दो मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक बीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे संयुक्त करने पर चार मास की प्रस्थापना होती है।

२७. चातुर्मासिक प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन हेतु या कारण से दो मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक बीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे संयुक्त करने से चार मास और बीस रात्रि की प्रस्थापना होती है।

२८. चार मास और बीस रात्रि का प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त

वहन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से दो मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक बीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे संयुक्त करने से पांच मास और दस रात्रि की प्रस्थापना होती है।

२९. पांच मास और दस रात्रि का प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से दो मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक बीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे संयुक्त करने से छः मास की प्रस्थापना होती है।

विवेचन—पूर्व के सूत्रों में वहन काल के भीतर लगे दो मास के प्रायश्चित्त स्थान की स्थापिता आरोपणा कही गई है उसी को वहन किये जाने वाले प्रायश्चित्त के पूर्ण कर लेने के बाद में अलग से वहन कराने की विधि इन सूत्रों में कही गई है और क्रमशः प्रस्थापना-आरोपणा वृद्धि की विधि बताई गई है।

इसमें पूर्व प्राप्त दो मास के प्रायश्चित्त को वहन कराते हुए पुनः दो मास के प्रायश्चित्त स्थान का सेवन एवं उसके सानुग्रह आरोपणा का वर्णन किया गया है।

क्रमशः प्रस्थापित करके दिये गये प्रायश्चित्त में पुनः पुनः सानुग्रह आरोपणा हो सकती है यह इन सूत्रों में कहा गया है। किन्तु स्थापिता आरोपणा प्रायश्चित्त में एक बार ही सानुग्रह आरोपणा होती है यह पूर्व छः सूत्रों में कहा गया है।

इस उद्देशक के पांचवें, दसवें, उन्नीसवें आदि सूत्रों में "तेण परं" शब्द का स्वाभाविक ही प्रसंग संगत अर्थ हो जाता है, किन्तु इन सूत्रों में "तेण परं" शब्द का सीधा अर्थ करना प्रसंग-संगत नहीं होता है क्योंकि यह प्रस्थापिता आरोपणा है और इसमें आगे से आगे प्रायश्चित्त दिन जोड़कर कुल छः मास तक का योग किया गया है।

चूर्णिकार ने भी यही बताया है कि यहां क्रमशः पूर्व और पश्चात् के प्रायश्चित्त को जोड़ा गया है अतः इन सूत्रों में "तेण परं" शब्द से "जिसे संयुक्त करने पर"—ऐसा अर्थ करना आवश्यक हो जाता है।

संभवतः इन सूत्रों में कभी लिपि दोष से पूर्व सूत्रों के समान पाठ बन गया होगा जिसका मौलिक रूप कभी उपरोक्त किये गये अर्थ का सूचक ही रहा होगा। क्योंकि इस सूत्रांश का चूर्णिकार ने भी उपरोक्त अर्थ ही किया है।

एक मास प्रायश्चित्त की स्थापिता आरोपणा

३०. छम्मासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा—अहावरा पक्खिया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं तेण परं दिवड्ढो मासो।

३१. पंच मासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता

आलोएज्जा—अहावरा पक्खिया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं तेण परं दिवड्ढो मासो ।

३२. चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा—अहावरा पक्खिया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं तेण परं दिवड्ढो मासो ।

३३. तेमासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा—अहावरा पक्खिया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं तेण परं दिवड्ढो मासो ।

३४. दो मासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा—अहावरा पक्खिया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं तेण परं दिवड्ढो मासो ।

३५. मासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा—अहावरा पक्खिया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं तेण परं दिवड्ढो मासो ।

३०. छः मासिक प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है उसके बाद पुनः दोष सेवन कर ले तो डेढ मास का प्रायश्चित्त आता है ।

३१. पंच मासिक प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है । उसके बाद पुनः दोष सेवन कर ले तो डेढ मास का प्रायश्चित्त आता है ।

३२. चातुर्मासिक प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है । उसके बाद पुनः दोष सेवन कर ले तो डेढ मास का प्रायश्चित्त आता है ।

३३. तीन मास प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है । उसके बाद पुनः दोष सेवन कर ले तो डेढ मास का प्रायश्चित्त आता है ।

३४. दो मास प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। उसके बाद पुनः दोष सेवन कर ले तो डेढ मास का प्रायश्चित्त आता है।

३५. मासिक प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से एक मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। उसके बाद पुनः दोष सेवन कर ले तो डेढ मास का प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन—इसका विवेचन सूत्र १९-२४ के समान समझना चाहिए। अन्तर यह है कि वहाँ प्रायश्चित्त वहन के मध्य में 'दो मास' के प्रायश्चित्त की स्थापिता आरोपणा का कथन है और यहाँ प्रायश्चित्त वहन के मध्य में एक मास के प्रायश्चित्त की स्थापिता-आरोपणा का कथन है।

एक मास प्रायश्चित्त की प्रस्थापिता आरोपणा एवं वृद्धि

३६. दिवड्ढ-मासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा-अहावरा पक्खिया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं तेण परं दो मासा।

३७. दो मासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा-अहावरा पक्खिया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं तेण परं अड्ढाइज्जा मासा।

३८. अड्ढाइज्ज-मासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा-अहावरा पक्खिया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं तेण परं तिण्णिमासा।

३९. तेमासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा-अहावरा पक्खिया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं तेण परं अद्धुट्ठा मासा।

४०. अद्धुट्ठमासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा-अहावरा पक्खिया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं तेण परं चत्तारिमासा।

४१. चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता

आलोएज्जा-अहावरा पक्खिया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं तेण परं अड्डपंचमासा।

४२. अड्ड-पंचमासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा-अहावरा पक्खिया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं तेण परं पंचमासा।

४३. पंच-मासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा-अहावरा पक्खिया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं तेण परं अद्धछट्ठामासा।

४४. अद्धछट्ठमासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा-अहावरा पक्खिया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं तेण परं छम्मासा।

३६. डेढ मास प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहनकाल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे संयुक्त करने से दो मास की प्रस्थापना होती है।

३७. दो मास प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहनकाल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे संयुक्त करने से ढाई मास की प्रस्थापना होती है।

३८. ढाई मास प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहनकाल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे संयुक्त करने से तीन मास की प्रस्थापना होती है।

३९. तीन मास प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहनकाल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे संयुक्त करने से साढे तीन मास की प्रस्थापना होती है।

४०. साढे तीन मास प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहनकाल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे संयुक्त करने से चार मास की प्रस्थापना होती है।

४१. चार मास प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त-वहनकाल के प्रारम्भ, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे संयुक्त करने से साढ़े चार मास की प्रस्थापना होती है।

४२. साढे चार मास प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहनकाल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे संयुक्त करने से पांच मास की प्रस्थापना होती है।

४३. पांच मास प्रायश्चित वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहनकाल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे संयुक्त करने से साढ़े पांच मास की प्रस्थापना होती है।

४४. साढ़े पांच मास प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहनकाल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे संयुक्त करने से छः मास की प्रस्थापना होती है।

विवेचन—इनका विवेचन सूत्र २५ से २९ के समान समझना चाहिए अन्तर केवल यह है कि दो मास के प्रायश्चित्त स्थान की प्रस्थापिता आरोपणा के स्थान पर यहां एक मास के प्रायश्चित्त स्थान की प्रस्थापित आरोपणा समझना चाहिए।

मासिक और दो मासिक प्रायश्चित्त की प्रस्थापिता आरोपणा एवं वृद्धि

४५. दो मासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा-अहावरा पक्खिया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं तेण परं अड्ढाइज्जा मासा।

४६. अड्ढाइज्ज-मासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा दो मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा-अहावरा वीसइराइया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं, तेण परं संपचराइया तिण्णिमासा।

४७. संपचराइय-तेमासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा-अहावरा पक्खिया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं, तेण परं सवीसइराइया तिण्णि मासा।

४८. सवीसइराइय-तेमासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा दो मासियं परिहारट्ठाणं

पडिसेवित्ता आलोएज्जा-अहावरा वीसइराइया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं, तेण परं सदसराइया चत्तारि मासा।

४९. सदसराइय-चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा-अहावरा पक्खिया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं, तेण परं पंचूणा पंचमासा।

५०. पंचूण-पंच-मासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा दो मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा-अहावरा वीसइराइया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं, तेण परं अद्धछट्ठमासा।

५१. अद्धछट्ठमासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा-अहावरा पक्खिया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं तेण परं छम्मासा।

४५. दो मास प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे संयुक्त करने से ढाई मास की प्रस्थापना होती है।

४६. ढाई मास प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से दो मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक बीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे संयुक्त करने से तीन मास और पांच रात्रि की प्रस्थापना होती है।

४७. तीन मास और पांच रात्रि प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से एक मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे संयुक्त करने से तीन मास और बीस रात्रि की प्रस्थापना होती है।

४८. तीन मास और बीस रात्रि प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से दो मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक बीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे संयुक्त करने से चार मास और दस रात्रि की प्रस्थापना होती है।

४९. चार मास और दस रात्रि प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से एक मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे संयुक्त करने से पांच मास में पांच रात्रि कम की प्रस्थापना होती है।

५०. पांच मास में पांच रात्रि कम प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से दो मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक बीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे संयुक्त करने से साढ़े पांच मास की प्रस्थापना होती है।

५१. साढ़े पांच मास प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से एक मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे संयुक्त करने से छः मास की प्रस्थापना होती है।

विवेचन—इन सूत्रों में मासिक और दो मासिक प्रायश्चित्त स्थानों की संयुक्त प्रस्थापिता आरोपणा कही गई है। शेष विवेचन पूर्व सूत्रों के समान समझ लेना चाहिये।

एक मास और दो मास के समान ही अन्य अनेक मास सम्बन्धी प्रस्थापना आरोपणा आदि के विकल्प भी यथा योग्य समझ लेने चाहिए।

बीसवें उद्देशक का सारांश—

सूत्र १-५ एक मास प्रायश्चित्त स्थान से लेकर पांच मास तक के प्रायश्चित्त स्थान की निष्कपट आलोचना का उतने-उतने मास का प्रायश्चित्त आता है।
कपट युक्त आलोचना करने पर एक गुरु मास का प्रायश्चित्त अधिक आता है। छह मास या उससे अधिक प्रायश्चित्त स्थान की आलोचना सकपट या निष्कपट करने पर भी केवल छह मास ही प्रायश्चित्त आता है। इसके आगे प्रायश्चित्त विधान नही है, जिस प्रकार राज्य-व्यवस्था में २० वर्ष से अधिक जेल की सजा नही है।

६-१० अनेक वार सेवन किए गए प्रायश्चित्त स्थान की आलोचना के विषय में पूर्व सूत्रवत् प्रायश्चित्त समझना चाहिए।

११-१२ मासिक आदि प्रायश्चित्त स्थानों की द्विक संयोगी भंगों से युक्त आलोचना के प्रायश्चित्त भी पूर्व सूत्रवत् समझना चाहिए।

१३-१४ पूरे मास या साधिक मास स्थानों की आलोचना का प्रायश्चित्त कपट सहित या कपटरहित आदि पूर्व सूत्र के समान समझना चाहिए।

१५ एक वार सेवित दोष स्थान की कपट रहित आलोचना के प्रायश्चित्त को वहन करते हुए पुनः लगाये जाने वाले दोषों की दो चौभंगी के किसी भी भंग से आलोचना करने पर प्रायश्चित्त की आरोपणा की जाती है।

१६ एक वार सेवित स्थान की कपटयुक्त आलोचना का प्रायश्चित्त वहन एवं उसमें आरोपणा, पूर्व सूत्रों के समान समझ लेना चाहिए।

१७-१८ अनेक वार सेवित स्थान सम्बन्धी सम्पूर्ण वर्णन उक्त दोनों सूत्र के समान ही इन दो सूत्रों का समझ लेना चाहिए।

१९-२४ एक मास से लेकर छह मास तक किसी भी प्रायश्चित्त के वहनकाल में लगे दो मास स्थान की सानुग्रह स्थापिता आरोपणा बीस दिन की तथा पुनः उस स्थान की निरनुग्रह स्थापिता आरोपणा दो मास की एवं कुल दो मास और बीस दिन की स्थापिता आरोपणा दी जाती है।

२५-२९ स्थापिता आरोपणा के दो मास और बीस दिन के प्रायश्चित्त को वहन करते हुए पुनः-पुनः दो मास के प्रायश्चित्त की बीस-बीस दिन की प्रस्थापिता आरोपणा बढ़ाते हुए छह मास तक की आरोपणा की जाती है।

३०-३५ सूत्र १९-२४ के समान सानुग्रह और निरनुग्रह स्थापिता आरोपणा जानना किन्तु दो मास प्रायश्चित्त स्थान की जगह एक मास एवं २० दिन की आरोपणा की जगह १५ दिन तथा दो मास बीस दिन की जगह डेढ़ मास समझना चाहिए।

३६-४४ सूत्र २५-२९ तक के समान प्रस्थापिता आरोपणा जानना किन्तु यहाँ प्रारम्भ में दो मास बीस दिन की जगह डेढ़ मास की प्रस्थापना है और २० दिन की आरोपणा की जगह एक मास प्रायश्चित्त स्थान की १५ दिन की आरोपणा वृद्धि करते हुए छह मास तक की आरोपणा का वर्णन समझना चाहिए।

४५-५१ दो मास के प्रायश्चित्त को वहन करते हुए दोष लगाने पर एक मास स्थान की १५ दिन की आरोपणा वृद्धि की जाती है। तदनन्तर दो मास स्थान की २० दिन की आरोपणा वृद्धि की जाती है। इस तरह दोनों स्थानों से आरोपणा वृद्धि करते हुए छह मास तक की प्रस्थापिता आरोपणा समझ लेनी चाहिये।

इस प्रकार इस उद्देशक में प्रायश्चित्त स्थानों की आलोचना पर प्रायश्चित्त देने का एवं उसके वहनकाल में सानुग्रह, निरनुग्रह, स्थापिता एवं प्रस्थापिता आरोपणा का स्पष्ट कथन किया गया है।

उपसंहार—लघुमासिक आदि प्रायश्चित्त स्थानों के चार विभागों में जो-जो दोष स्थानों का वर्णन है तदनुसार उसके समान अन्य भी अनुक्त दोषों को समझ लेना चाहिये। दोष सेवन के भाव एवं प्रायश्चित्त ग्रहण करने वाले की योग्यता आदि कारणों से इन स्थानों में दिये जाने वाले शुद्ध तप आदि के अनेकों विकल्प होते हैं जिन्हें गीतार्थ मुनि की निश्रा से या परम्परा से समझना चाहिये तथा प्रथम उद्देशक के पूर्व दी गई प्रायश्चित्त-तालिका से भी समझने का प्रयत्न करना चाहिये।

विस्तृत विकल्पों युक्त प्रायश्चित्त विधि को समझने के लिये निशीथ पीठिका का तथा बीसवें उद्देशक के भाष्य चूर्णि का अध्ययन करना चाहिये अथवा बृहत्कल्पसूत्र, व्यवहारसूत्र एवं निशीथसूत्र का निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका युक्त पूर्ण अध्ययन करना चाहिये।

निर्युक्ति एवं भाष्य के अनुसार निशीथ की सूत्र संख्या २०२२ (दो हजार बावीस) होती है। प्रस्तुत संस्करण में १४०१ सूत्र हैं। यद्यपि उपलब्ध प्रतियों में सूत्र संख्या भिन्न-भिन्न अवश्य है तो भी वह अन्तर अधिक नहीं है। किन्तु निर्युक्ति एवं भाष्य में कही गई सूत्र संख्या से प्रस्तुत संस्करण की सूत्र संख्या का अन्तर ६२१ सूत्रों का है। मूल सूत्रों में इतना अधिक अन्तर विचारणीय है।

प्रस्तुत संस्करण के सूत्रों का विवेचन प्रायः भाष्य एवं चूर्णि का आधार लेकर किया गया

, फिर भी इसके सूत्रों की संख्या भाष्यगाथा ६४६९ से ७३ तक में कही गई पूरे निशीथ के सूत्रों की वं लघु, गुरु, मासिक, चौमासिक एवं आरोपणा सूत्रों की संख्या से भिन्न है। उपलब्ध सूत्र-संख्या से नका समन्वय करना भी अशक्य है। यथा—

प्रथम उद्देशक में सूत्र संख्या ५८ उपलब्ध है, भाष्यचूर्णि में भी इतने ही सूत्रों की व्याख्या है, फर भी इस उद्देशक की सूत्र संख्या उक्त गाथाओं में २५२ कही गई है। अतः २०२२ सूत्रों का कथन हुश्रुत गम्य है। वर्तमान के तो स्वाध्यायप्रेमियों को १४०१ सूत्रों से ही सन्तोष करना पड़ेगा। न्वेषक चिन्तनशील आगमप्रेमी बहुश्रुत इस विषय में प्रयत्न करके समाधान प्रकट कर सकते हैं।

ीस उद्देशकों के सूत्रों की तालिका—

उद्देशक	प्रायश्चित्त-स्थान	सूत्र-संख्या	
१	गुरुमासिक	५८	
२	लघुमासिक	५७	३१७
३	लघुमासिक	८०	
४	लघुमासिक	१२८	
५	लघुमासिक	५२	
६	गुरुचौमासी	७८	३४५
७	गुरुचौमासी	९२	
८	गुरुचौमासी	१८	
९	गुरुचौमासी	२५	
१०	गुरुचौमासी	४१	
११	गुरुचौमासी	९१	
१२	लघुचौमासी	४४	६३०
१३	लघुचौमासी	७८	
१४	लघुचौमासी	४१	
१५	लघुचौमासी	१५४	
१६	लघुचौमासी	५०	
१७	लघुचौमासी	१५५	
१८	लघुचौमासी	७३	
१९	लघुचौमासी	३५	
२०	आरोपणा	५१	
	योग	१४०१	(चौदह सौ एक)

प्रस्तुत संस्करण के सूत्रों की और भाष्य निर्दिष्ट सूत्रों की तालिका

नोट—(भाष्य में प्रत्येक उद्देशक की अलग-अलग सूत्र संख्या नहीं दी गई है।)

उद्देशक	प्रायश्चित्तस्थान	भाष्य निर्दिष्ट सूत्र संख्या	प्रस्तुत संस्करण की सूत्र संख्या	अन्तर
१	गुरुमासिक	२५२	५८	१९४
२-५	लघुमासिक	३३२	३१७	१५
६-११	गुरुचौमासी	६४४	३४५	२९९
१२-१९	लघुचौमासी	७२४	६३०	९४
२०	आरोपणा	७०	५१	१९
	योग	२०२२	१४०१	६२१

॥ बीसवाँ उद्देशक समाप्त ॥

॥ निशीथसूत्र समाप्त ॥

अनध्यायकाल

[स्व० आचार्यप्रवर श्री आत्मारामजी म० द्वारा सम्पादित नन्दीसूत्र से उद्धृत]

स्वाध्याय के लिए आगमों में जो समय बताया गया है, उसी समय शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए। अनध्यायकाल में स्वाध्याय वर्जित है।

मनुस्मृति आदि स्मृतियों में भी अनध्यायकाल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। वैदिक लोग भी वेद के अनध्यायों का उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार अन्य आर्ष ग्रन्थों का भी अनध्याय माना जाता है। जैनागम भी सर्वज्ञोक्त, देवाधिष्ठित तथा स्वरविद्या संयुक्त होने के कारण, इनका भी आगमों में अनध्यायकाल वर्णित किया गया है, जैसे कि—

दसविधे अंतलिक्खिते असज्झाए पण्णत्ते, तं जहा—उक्कावाते, दिसिदाघे, गज्जिते, निग्घाते, जुवते, जक्खालित्ते, धूमिता, महिता, रयउग्घाते।

दसविहे ओरालिते असज्झातिते, तं जहा—अट्ठी, मंसं, सोणित्ते, असुतिसामंते, सुसाणसामंते, चंदोवराते, सूरोवराते, पडने, रायवुग्गहे, उवस्सयस्स अंतो ओरालिए सरीरगे।

—स्थानाङ्गसूत्र, स्थान १०

नो कप्पति निग्गंथाण वा, निग्गंथीण वा चउहिं महापाडिवएहिं सज्झायं करित्तए, तं जहा—आसाढपाडिवए, इंदमहापाडिवए, कत्तिअपाडिवए, सुगिम्हपाडिवए। नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा, चउहिं संझाहिं सज्झायं करेत्तए, तं जहा—पडिमाते, पच्छिमाते, मज्झण्हे, अड्ढरत्ते। कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीण वा, चाउक्कालं सज्झायं करेत्तए, तं जहा—पुव्वण्हे, अवरण्हे, पओसे, पच्चूसे।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान ४, उद्देश २

उपरोक्त सूत्रपाठ के अनुसार, दस आकाश से सम्बन्धित, दस औदारिक शरीर से सम्बन्धित, चार महाप्रतिपदा, चार महाप्रतिपदा की पूर्णिमा और चार सन्ध्या इस प्रकार बत्तीस अनध्याय माने गये हैं। जिनका संक्षेप में निम्न प्रकार से वर्णन है, जैसे—

आकाश सम्बन्धी दस अनध्याय

१. उल्कापात-तारापतन—यदि महत् तारापतन हुआ है तो एक प्रहर पर्यन्त शास्त्र-स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

२. दिग्दाह—जब तक दिशा रक्तवर्ण की हो अर्थात् ऐसा मालूम पड़े कि दिशा में आग-सी लगी है, तब भी स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

३-४.—गर्जित-विद्युत्—गर्जन और विद्युत प्रायः ऋतु स्वभाव से ही होता है। अतः आर्द्रा से स्वाति नक्षत्र पर्यन्त अनध्याय नहीं माना जाता।

५. निर्घात—बिना बादल के आकाश में व्यन्तरादिकृत घोर गर्जन होने पर या बादलों सहित आकाश में कड़कने पर दो प्रहर तक अस्वाध्यायकाल है।

६. यूपक—शुक्ल पक्ष में प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया को सन्ध्या की प्रभा और चन्द्रप्रभा के मिलने को यूपक कहा जाता है। इन दिनों प्रहर रात्रि पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

७. यक्षादीप्त—कभी किसी दिशा में बिजली चमकने जैसा, थोड़े थोड़े समय पीछे जो प्रकाश होता है वह यक्षादीप्त कहलाता है। अतः आकाश में जब तक यक्षाकार दीखता रहे तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

८. धूमिका कृष्ण—कार्तिक से लेकर माघ तक का समय मेघों का गर्भमास होता है। इसमें धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुंध पड़ती है। वह धूमिका-कृष्ण कहलाती है। जब तक यह धुंध पड़ती रहे, तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

९. मिहिकाश्वेत—शीतकाल में श्वेत वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुन्ध मिहिका कहलाती है। जब तक यह गिरती रहे, तब तक अस्वाध्याय काल है।

१०. रज उद्घात—वायु के कारण आकाश में चारों ओर धूलि छा जाती है। जब तक यह धूलि फैली रहती है, स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

उपरोक्त दस कारण आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय के हैं।

औदारिक सम्बन्धी दस अनध्याय

११-१२-१३. हड्डी मांस और रुधिर—पंचेन्द्रिय तिर्यंच की हड्डी, मांस और रुधिर यदि सामने दिखाई दें, तो जब तक वहाँ से यह वस्तुएं उठाई न जाएं जब तक अस्वाध्याय है। वृत्तिकार आस पास के ६० हाथ तक इन वस्तुओं के होने पर अस्वाध्याय मानते हैं।

इसी प्रकार मनुष्य सम्बन्धी अस्थि मांस और रुधिर का भी अनध्याय माना जाता है। विशेषता इतनी है कि इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक तथा एक दिन रात का होता है। स्त्री के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन तक। बालक एवं बालिका के जन्म का अस्वाध्याय क्रमशः सात एवं आठ दिन पर्यन्त का माना जाता है।

१४. अशुचि—मल-मूत्र सामने दिखाई देने तक अस्वाध्याय है।

१५. श्मशान—श्मशानभूमि के चारों ओर सौ-सौ हाथ पर्यन्त अस्वाध्याय माना जाता है।

१६. चन्द्रग्रहण—चन्द्रग्रहण होने पर जघन्य आठ, मध्यम बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

१७. सूर्यग्रहण—सूर्यग्रहण होने पर भी क्रमशः आठ, बारह और सोलह प्रहर पर्यन्त अस्वाध्यायकाल माना गया है।

१८. पतन—किसी बड़े मान्य राजा अथवा राष्ट्र पुरुष का निधन होने पर जब तक उसका दाहसंस्कार न हो तब तक स्वाध्याय न करना चाहिए। अथवा जब तक दूसरा अधिकारी सत्तारूढ न हो तब तक शनैः शनैः स्वाध्याय करना चाहिए।

१९. राजव्युद्ग्रह—समीपस्थ राजाओं में परस्पर युद्ध होने पर जब तक शान्ति न हो जाए, तब तक उसके पश्चात् भी एक दिन-रात्रि स्वाध्याय नहीं करें।

२०. औदारिक शरीर—उपाश्रय के भीतर पचेन्द्रिय जीव का वध हो जाने पर जब तक कलेवर पड़ा रहे, तब तक तथा १०० हाथ तक यदि निर्जीव कलेवर पड़ा हो तो स्वाध्याय नही करना चाहिए।

अस्वाध्याय के उपरोक्त १० कारण औदारिक शरीर सम्बन्धी कहे गये हैं।

२१-२८ चार महोत्सव और चार महाप्रतिपदा—आषाढपूर्णिमा, आश्विन-पूर्णिमा, कार्तिक-पूर्णिमा और चैत्र-पूर्णिमा ये चार महोत्सव हैं। इन पूर्णिमाओं के पश्चात् आने वाली प्रतिपदा को महाप्रतिपदा कहते हैं। इसमें स्वाध्याय करने का निषेध है।

२९-३२. प्रातः सायं मध्याह्न और अर्धरात्रि—प्रातः सूर्य उगने से एक घड़ी पहिले तथा एक घड़ी पीछे। सूर्यास्त होने से एक घड़ी पहिले तथा एक घड़ी पीछे। मध्याह्न अर्थात् दोपहर में एक घड़ी आगे और एक घड़ी पीछे एवं अर्धरात्रि में भी एक घड़ी आगे तथा एक घड़ी पीछे स्वाध्याय नही करना चाहिए।



३-४.—गर्जित-विद्युत्—गर्जन और विद्युत प्रायः ऋतु स्वभाव से ही होता है। अतः आर्द्रा से स्वाति नक्षत्र पर्यन्त अनध्याय नहीं माना जाता।

५. निर्घात—बिना बादल के आकाश में व्यन्तरादिकृत घोर गर्जन होने पर या बादलों सहित आकाश में कड़कने पर दो प्रहर तक अस्वाध्यायकाल है।

६. यूपक—शुक्ल पक्ष में प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया को सन्ध्या की प्रभा और चन्द्रप्रभा के मिलने को यूपक कहा जाता है। इन दिनों प्रहर रात्रि पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

७. यक्षादीप्त—कभी किसी दिशा में बिजली चमकने जैसा, थोड़े थोड़े समय पीछे जो प्रकाश होता है वह यक्षादीप्त कहलाता है। अतः आकाश में जब तक यक्षाकार दीखता रहे तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

८. धूमिका कृष्ण—कार्तिक से लेकर माघ तक का समय मेघों का गर्भमास होता है। इसमें धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुंध पड़ती है। वह धूमिका-कृष्ण कहलाती है। जब तक यह धुंध पड़ती रहे, तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

९. मिहिकाश्वेत—शीतकाल में श्वेत वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुन्ध मिहिका कहलाती है। जब तक यह गिरती रहे, तब तक अस्वाध्याय काल है।

१०. रज उद्घात—वायु के कारण आकाश में चारों ओर धूलि छा जाती है। जब तक यह धूलि फैली रहती है, स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

उपरोक्त दस कारण आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय के हैं।

औदारिक सम्बन्धी दस अनध्याय

११-१२-१३. हड्डी मांस और रुधिर—पंचेंद्रिय तिर्यंच की हड्डी, मांस और रुधिर यदि सामने दिखाई दें, तो जब तक वहां से यह वस्तुएं उठाई न जाएं जब तक अस्वाध्याय है। वृत्तिकार आस पास के ६० हाथ तक इन वस्तुओं के होने पर अस्वाध्याय मानते हैं।

इसी प्रकार मनुष्य सम्बन्धी अस्थि मांस और रुधिर का भी अनध्याय माना जाता है। विशेषता इतनी है कि इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक तथा एक दिन रात का होता है। स्त्री के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन तक। बालक एवं बालिका के जन्म का अस्वाध्याय क्रमशः सात एवं आठ दिन पर्यन्त का माना जाता है।

१४. अशुचि—मल-मूत्र सामने दिखाई देने तक अस्वाध्याय है।

१५. श्मशान—श्मशानभूमि के चारों ओर सौ-सौ हाथ पर्यन्त अस्वाध्याय माना जाता है।

१६. चन्द्रग्रहण—चन्द्रग्रहण होने पर जघन्य आठ, मध्यम बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

१७. सूर्यग्रहण—सूर्यग्रहण होने पर भी क्रमशः आठ, बारह और सोलह प्रहर पर्यन्त अस्वाध्यायकाल माना गया है।

१८. पतन—किसी बड़े मान्य राजा अथवा राष्ट्र पुरुष का निधन होने पर जब तक उसका दाहसंस्कार न हो तब तक स्वाध्याय न करना चाहिए। अथवा जब तक दूसरा अधिकारी सत्तारूढ न हो तब तक शनैः शनैः स्वाध्याय करना चाहिए।

१९. राजव्युद्ग्रह—समीपस्थ राजाओं में परस्पर युद्ध होने पर जब तक शान्ति न हो जाए, तब तक उसके पश्चात् भी एक दिन-रात्रि स्वाध्याय नहीं करें।

२०. औदारिक शरीर—उपाश्रय के भीतर पचेन्द्रिय जीव का वध हो जाने पर जब तक कलेवर पड़ा रहे, तब तक तथा १०० हाथ तक यदि निर्जीव कलेवर पड़ा हो तो स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

अस्वाध्याय के उपरोक्त १० कारण औदारिक शरीर सम्बन्धी कहे गये हैं।

२१-२८ चार महोत्सव और चार महाप्रतिपदा—आषाढपूर्णिमा, आश्विन-पूर्णिमा, कार्तिक-पूर्णिमा और चैत्र-पूर्णिमा ये चार महोत्सव हैं। इन पूर्णिमाओं के पश्चात् आने वाली प्रतिपदा को महाप्रतिपदा कहते हैं। इसमें स्वाध्याय करने का निषेध है।

२९-३२. प्रातः सायं मध्याह्न और अर्धरात्रि—प्रातः सूर्य उगने से एक घड़ी पहिले तथा एक घड़ी पीछे। सूर्यास्त होने से एक घड़ी पहिले तथा एक घड़ी पीछे। मध्याह्न अर्थात् दोपहर में एक घड़ी आगे और एक घड़ी पीछे एवं अर्धरात्रि में भी एक घड़ी आगे तथा एक घड़ी पीछे स्वाध्याय नही करना चाहिए।

अर्थसहयोगी सदस्यों की शुभ नामावली

महास्तम्भ

१. श्री सेठ मोहनमलजी चोरड़िया, मद्रास
२. श्री गुलाबचन्दजी मांगीलालजी सुराणा, सिकन्दराबाद
३. श्री पुखराजजी शिशोदिया, ब्यावर
४. श्री सायरमलजी जेठमलजी चोरड़िया, बैंगलोर
५. श्री प्रेमराजजी भंवरलालजी श्रीश्रीमाल, दुर्ग
६. श्री एस. किशनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
७. श्री कंवरलालजी बैताला, गोहाटी
८. श्री सेठ खींवराजजी चोरड़िया मद्रास
९. श्री गुमानमलजी चोरड़िया, मद्रास
१०. श्री एस. बादलचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
११. श्री जे. दुलीचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१२. श्री एस. रतनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१३. श्री जे. अन्नराजजी चोरड़िया, मद्रास
१४. श्री एस. सायरचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१५. श्री आर. शान्तिलालजी उत्तमचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१६. श्री सिरेमलजी हीराचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१७. श्री जे. हुक्मीचन्दजी चोरड़िया, मद्रास

स्तम्भ सदस्य

१. श्री अगरचन्दजी फतेचन्दजी पारख, जोधपुर
२. श्री जसराजजी गणेशमलजी संचेती, जोधपुर
३. श्री तिलोकचंदजी, सागरमलजी संचेती, मद्रास
४. श्री पूसालालजी किस्तूरचंदजी सुराणा, कटंगी
५. श्री आर. प्रसन्नचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
६. श्री दीपचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
७. श्री मूलचन्दजी चोरड़िया, कटंगी
८. श्री वर्द्धमान इण्डस्ट्रीज, कानपुर
९. श्री मांगीलालजी मिश्रीलालजी संचेती, दुर्ग

संरक्षक

१. श्री बिरदीचंदजी प्रकाशचंदजी तलेसरा, पाली
२. श्री ज्ञानराजजी केवलचन्दजी मूथा, पाली
३. श्री प्रेमराजजी जतनराजजी मेहता, मेड़ता सिटी
४. श्री श० जड़ावमलजी माणकचन्दजी बेताला, बागलकोट
५. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपड़ा, ब्यावर
६. श्री मोहनलालजी नेमीचन्दजी ललवाणी, चांगाटोला
७. श्री दीपचंदजी चन्दनमलजी चोरड़िया, मद्रास
८. श्री पन्नालालजी भागचन्दजी बोथरा, चांगाटोला
९. श्रीमती सिरेकुंवर बाई धर्मपत्नी स्व. श्री सुगनचन्दजी झामड़, मदुरान्तकम्
१०. श्री बस्तीमलजी मोहनलालजी बोहरा (K. G. F.) जाड़न
११. श्री थानचन्दजी मेहता, जोधपुर
१२. श्री भैरुदानजी लाभचन्दजी सुराणा, नागौर
१३. श्री खूबचन्दजी गादिया, ब्यावर
१४. श्री मिश्रीलालजी धनराजजी विनायकिया ब्यावर
१५. श्री इन्द्रचन्दजी बैद, राजनांदगांव
१६. श्री रावतमलजी भीकमचन्दजी पगारिया, बालाघाट
१७. श्री गणेशमलजी धर्मीचन्दजी कांकरिया, टंगला
१८. श्री सुगनचन्दजी बोकड़िया, इन्दौर
१९. श्री हरकचन्दजी सागरमलजी बेताला, इन्दौर
२०. श्री रघुनाथमलजी लिखमीचन्दजी लोढ़ा, चांगाटोला
२१. श्री सिद्धकरणजी शिखरचन्दजी बैद, चांगाटोला

४०. श्री सरदारमलजी सुराणा, भिलाई
४१. श्री ओकचंदजी हेमराजजी सोनी, दुर्ग
४२. श्री सूरजकरणजी सुराणा, मद्रास
४३. श्री घीसूलालजी लालचंदजी पारख, दुर्ग
४४. श्री पुखराजजी बोहरा, (जैन ट्रान्सपोर्ट कं.) जोधपुर
४५. श्री चम्पालालजी सकलेचा, जालना
४६. श्री प्रेमराजजी मीठालालजी कामदार, बैंगलोर
४७. श्री भंवरलालजी मूथा एण्ड सन्स, जयपुर
४८. श्री लालचंदजी मोतीलालजी गादिया, बैंगलोर
४९. श्री भंवरलालजी नवरत्नमलजी सांखला, मेट्टूपालियम
५०. श्री पुखराजजी छल्लाणी, करणगुल्ली
५१. श्री आसकरणजी जसराजजी पारख, दुर्ग
५२. श्री गणेशमलजी हेमराजजी सोनी, भिलाई
५३. श्री अमृतराजजी जसवन्तराजजी मेहता, मेड़तासिटी
५४. श्री घेवरचंदजी किशोरमलजी पारख, जोधपुर
५५. श्री मांगीलालजी रेखचंदजी पारख, जोधपुर
५६. श्री मुन्नीलालजी मूलचंदजी गुलेच्छा, जोधपुर
५७. श्री रतनलालजी लखपतराजजी, जोधपुर
५८. श्री जीवराजजी पारसमलजी कोठारी, मेड़ता सिटी
५९. श्री भंवरलालजी रिखबचंदजी नाहटा, नागौर
६०. श्री मांगीलालजी प्रकाशचन्दजी रूणवाल, मैसूर
६१. श्री पुखराजजी बोहरा, पीपलिया कलां
६२. श्री हरकचंदजी जुगराजजी बाफना, बैंगलोर
६३. श्री चन्दनमलजी प्रेमचंदजी मोदी, भिलाई
६४. श्री भींवराजजी बाघमार, कुचेरा
६५. श्री तिलोकचंदजी प्रेमप्रकाशजी, अजमेर
६६. श्री विजयलालजी प्रेमचंदजी गुलेच्छा, राजनांदगांव
६७. श्री रावतमलजी छाजेड़, भिलाई
६८. श्री भंवरलालजी डूंगरमलजी कांकरिया, भिलाई
६९. श्री हीरालालजी हस्तीमलजी देशलहरा, भिलाई
७०. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावकसंघ, दल्ली-राजहरा
७१. श्री चम्पालालजी बुद्धराजजी बाफणा, ब्यावर
७२. श्री गंगारामजी इन्द्रचंदजी बोहरा, कुचेरा
७३. श्री फतेहराजजी नेमीचंदजी कर्णावट, कलकत्ता
७४. श्री बालचंदजी थानचन्दजी भरट, कलकत्ता
७५. श्री सम्पतराजजी कटारिया, जोधपुर
७६. श्री जवरीलालजी शांतिलालजी सुराणा, बोलारम
७७. श्री कानमलजी कोठारी, दादिया
७८. श्री पन्नालालजी मोतीलालजी सुराणा, पाली
७९. श्री माणकचंदजी रतनलालजी मुणोत, टंगला
८०. श्री चिम्मनसिंहजी मोहनसिंहजी लोढा, ब्यावर
८१. श्री रिद्धकरणजी रावतमलजी भुरट, गोहाटी
८२. श्री पारसमलजी महावीरचंदजी बाफना, गोठ
८३. श्री फकीरचंदजी कमलचंदजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
८४. श्री मांगीलालजी मदनलालजी चोरड़िया, भैरूंद
८५. श्री सोहनलालजी लूणकरणजी सुराणा, कुचेरा
८६. श्री घीसूलालजी, पारसमलजी, जंवरीलालजी कोठारी, गोठन
८७. श्री सरदारमलजी एण्ड कम्पनी, जोधपुर
८८. श्री चम्पालालजी हीरालालजी बागरेचा, जोधपुर
८९. श्री पुखराजजी कटारिया, जोधपुर
९०. श्री इन्द्रचन्दजी मुकनचन्दजी, इन्दौर
९१. श्री भंवरलालजी बाफणा, इन्दौर
९२. श्री जेठमलजी मोदी, इन्दौर
९३. श्री बालचन्दजी अमरचन्दजी मोदी, ब्यावर
९४. श्री कुन्दनमलजी पारसमलजी भंडारी, बैंगलोर
९५. श्रीमती कमलाकंवर ललवाणी धर्मपत्नी श्री स्व. पारसमलजी ललवाणी, गोठन
९६. श्री अगेचंदजी लूणकरणजी भण्डारी, कलकत्ता
९७. श्री सुगनचन्दजी संचेती, राजनांदगांव

२२. श्री सागरमलजी नोरतमलजी पींचा, मद्रास
२३. श्री मोहनराजजी मुकनचन्दजी बालिया, अहमदाबाद
२४. श्री केशरीमलजी जंवरीलालजी तलेसरा, पाली
२५. श्री रतनचन्दजी उत्तमचन्दजी मोदी, ब्यावर
२६. श्री धर्मीचन्दजी भागचन्दजी बोहरा, झूंठा
२७. श्री छोगमलजी हेमराजजी लोढ़ा डोंडीलोहारा
२८. श्री गुणचंदजी दलीचंदजी कटारिया, वेल्लारी
२९. श्री मूलचन्दजी सुजानमलजी संचेती, जोधपुर
३०. श्री सी० अमरचन्दजी बोथरा, मद्रास
३१. श्री भंवरलालजी मूलचंदजी सुराणा, मद्रास
३२. श्री बादलचंदजी जुगराजजी मेहता, इन्दौर
३३. श्री लालचंदजी मोहनलालजी कोठारी, गोठन
३४. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चोपड़ा, अजमेर
३५. श्री मोहनलालजी पारसमलजी पगारिया, बैंगलोर
३६. श्री भंवरीमलजी चोरड़िया, मद्रास
३७. श्री भंवरलालजी गोठी, मद्रास
३८. श्री जालमचंदजी रिखबचंदजी बाफना, आगरा
३९. श्री घेवरचंदजी पुखराजजी भुरट, गोहाटी
४०. श्री जवरचन्दजी गेलड़ा, मद्रास
४१. श्री जड़ावमलजी सुगनचन्दजी, मद्रास
४२. श्री पुखराजजी विजयराजजी, मद्रास
४३. श्री चेनमलजी सुराणा ट्रस्ट, मद्रास
४४. श्री लूणकरणजी रिखबचंदजी लोढ़ा, मद्रास
४५. श्री सूरजमलजी सज्जनराजजी महेता, कोप्पल

सहयोगी सदस्य

१. श्री देवकरणजी श्रीचन्दजी डोसी, मेड़तासिटी
२. श्रीमती छगनीबाई विनायकिया, ब्यावर
३. श्री पूनमचन्दजी नाहटा, जोधपुर
४. श्री भंवरलालजी विजयराजजी कांकरिया, विल्लीपुरम्
५. श्री भंवरलालजी चोपड़ा, ब्यावर
६. श्री विजयराजजी रतनलालजी चतर, ब्यावर
७. श्री बी. गजराजजी बोकड़िया, सेलम
८. श्री फूलचन्दजी गौतमचन्दजी कांठेड, पाली
९. श्री के. पुखराजजी बाफणा, मद्रास
१०. श्री रूपराजजी जोधराजजी मूथा, दिल्ली
११. श्री मोहनलालजी मंगलचंदजी पगारिया, रायपुर
१२. श्री नथमलजी मोहनलालजी लूणिया, चण्डावल
१३. श्री भंवरलालजी गौतमचन्दजी पगारिया, कुशालपुरा
१४. श्री उत्तमचंदजी मांगीलालजी, जोधपुर
१५. श्री मूलचन्दजी पारख, जोधपुर
१६. श्री सुमेरमलजी मेड़तिया, जोधपुर
१७. श्री गणेशमलजी नेमीचन्दजी टांटिया, जोधपुर
१८. श्री उदयराजजी पुखराजजी संचेती, जोधपुर
१९. श्री बादरमलजी पुखराजजी बंट, कानपुर
२०. श्रीमती सुन्दरबाई गोठी W/o श्री ताराचंदजी गोठी, जोधपुर
२१. श्री रायचन्दजी मोहनलालजी, जोधपुर
२२. श्री घेवरचन्दजी रूपराजजी, जोधपुर
२३. श्री भंवरलालजी माणकचंदजी सुराणा, मद्रास
२४. श्री जंवरीलालजी अमरचन्दजी कोठारी, ब्यावर
२५. श्री माणकचन्दजी किशनलालजी, मेड़तासिटी
२६. श्री मोहनलालजी गुलाबचन्दजी चतर, ब्यावर
२७. श्री जसराजजी जंवरीलालजी धारीवाल, जोधपुर
२८. श्री मोहनलालजी चम्पालालजी गोठी, जोधपुर
२९. श्री नेमीचंदजी डाकलिया मेहता, जोधपुर
३०. श्री ताराचंदजी केवलचंदजी कर्णावट, जोधपुर
३१. श्री आसूमल एण्ड कं०, जोधपुर
३२. श्री पुखराजजी लोढा, जोधपुर
३३. श्रीमती सुगनीबाई W/o श्री मिश्रीलालजी सांड, जोधपुर
३४. श्री बच्छराजजी सुराणा, जोधपुर
३५. श्री हरकचन्दजी मेहता, जोधपुर
३६. श्री देवराजजी लाभचंदजी मेड़तिया, जोधपुर
३७. श्री कनकराजजी मदनराजजी गोलिया, जोधपुर
३८. श्री घेवरचन्दजी पारसमलजी टांटिया, जोधपुर
३९. श्री मांगीलालजी चोरड़िया, कुचेरा

४०. श्री सरदारमलजी सुराणा, भिलाई
४१. श्री ओकचंदजी हेमराजजी सोनी, दुर्ग
४२. श्री सूरजकरणजी सुराणा, मद्रास
४३. श्री घीसूलालजी लालचंदजी पारख, दुर्ग
४४. श्री पुखराजजी बोहरा, (जैन ट्रान्सपोर्ट कं.) जोधपुर
४५. श्री चम्पालालजी सकलेचा, जालना
४६. श्री प्रेमराजजी मीठालालजी कामदार, बैंगलोर
४७. श्री भंवरलालजी मूथा एण्ड सन्स, जयपुर
४८. श्री लालचंदजी मोतीलालजी गादिया, बैंगलोर
४९. श्री भंवरलालजी नवरत्नमलजी सांखला, मेट्टूपालियम
५०. श्री पुखराजजी छल्लाणी, करणगुल्ली
५१. श्री आसकरणजी जसराजजी पारख, दुर्ग
५२. श्री गणेशमलजी हेमराजजी सोनी, भिलाई
५३. श्री अमृतराजजी जसवन्तराजजी मेहता, मेड़तासिटी
५४. श्री घेवरचंदजी किशोरमलजी पारख, जोधपुर
५५. श्री मांगीलालजी रेखचंदजी पारख, जोधपुर
५६. श्री मुन्नीलालजी मूलचंदजी गुलेच्छा, जोधपुर
५७. श्री रतनलालजी लखपतराजजी, जोधपुर
५८. श्री जीवराजजी पारसमलजी कोठारी, मेड़ता सिटी
५९. श्री भंवरलालजी रिखबचंदजी नाहटा, नागौर
६०. श्री मांगीलालजी प्रकाशचन्दजी रूणवाल, मैसूर
६१. श्री पुखराजजी बोहरा, पीपलिया कलां
६२. श्री हरकचंदजी जुगराजजी बाफना, बैंगलोर
६३. श्री चन्दनमलजी प्रेमचंदजी मोदी, भिलाई
६४. श्री भींवराजजी बाघमार, कुचेरा
६५. श्री तिलोकचंदजी प्रेमप्रकाशजी, अजमेर
६६. श्री विजयलालजी प्रेमचंदजी गुलेच्छा, राजनांदगांव
६७. श्री रावतमलजी छाजेड़, भिलाई
६८. श्री भंवरलालजी डूंगरमलजी कांकरिया, भिलाई
६९. श्री हीरालालजी हस्तीमलजी देशलहरा, भिलाई
७०. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावकसंघ, दल्ली-राजहरा
७१. श्री चम्पालालजी बुद्धराजजी बाफणा, ब्यावर
७२. श्री गंगारामजी इन्द्रचंदजी बोहरा, कुचेरा
७३. श्री फतेहराजजी नेमीचंदजी कर्णावट, कलकत्ता
७४. श्री बालचंदजी थानचन्दजी भुरट, कलकत्ता
७५. श्री सम्पतराजजी कटारिया, जोधपुर
७६. श्री जंवरीलालजी शांतिलालजी सुराणा, बोलारम
७७. श्री कानमलजी कोठारी, दादिया
७८. श्री पन्नालालजी मोतीलालजी सुराणा, पाली
७९. श्री माणकचंदजी रतनलालजी मुणोत, टंगला
८०. श्री चिम्मनसिंहजी मोहनसिंहजी लोढा, ब्यावर
८१. श्री रिद्धकरणजी रावतमलजी भुरट, गौहाटी
८२. श्री पारसमलजी महावीरचंदजी बाफना, गोठ
८३. श्री फकीरचंदजी कमलचंदजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
८४. श्री मांगीलालजी मदनलालजी चोरड़िया, भैरूंदा
८५. श्री सोहनलालजी लूणकरणजी सुराणा, कुचेरा
८६. श्री घीसूलालजी, पारसमलजी, जंवरीलालजी कोठारी, गोठन
८७. श्री सरदारमलजी एण्ड कम्पनी, जोधपुर
८८. श्री चम्पालालजी हीरालालजी बागरेचा, जोधपुर
८९. श्री धुखराजजी कटारिया, जोधपुर
९०. श्री इन्द्रचन्दजी मुकनचन्दजी, इन्दौर
९१. श्री भंवरलालजी बाफणा, इन्दौर
९२. श्री जेठमलजी मोदी, इन्दौर
९३. श्री बालचन्दजी अमरचन्दजी मोदी, ब्यावर
९४. श्री कुन्दनमलजी पारसमलजी भंडारी, बैंगलौर
९५. श्रीमती कमलाकंवर ललवाणी धर्मपत्नी श्री स्व. पारसमलजी ललवाणी, गोठन
९६. श्री अखेचंदजी लूणकरणजी भण्डारी, कलकत्ता
९७. श्री सुगनचन्दजी संचेती, राजनांदगांव

९८. श्री प्रकाशचंदजी जैन, नागोर
९९. श्री कुशालचंदजी रिखबचन्दजी सुराणा, बोलारम
१००. श्री लक्ष्मीचंदजी अशोककुमारजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
१०१. श्री गूदड़मलजी चम्पालालजी, गोठन
१०२. श्री तेजराजजी कोठारी, मांगलियावास
१०३. सम्पतराजजी चोरड़िया, मद्रास
१०४. श्री अमरचंदजी छाजेड़, पादु बड़ी
१०५. श्री जुगराजजी धनराजजी बरमेचा, मद्रास
१०६. श्री पुखराजजी नाहरमलजी ललवाणी, मद्रास
१०७. श्रीमती कंचनदेवी व निर्मलादेवी, मद्रास
१०८. श्री दुलेराजजी भंवरलालजी कोठारी, कुशालपुरा
१०९. श्री भंवरलालजी मांगीलालजी बेताला, डेह
११०. श्री जीवराजजी भंवरलालजी चोरड़िया, भैरूंदा
१११. श्री मांगीलालजी शांतिलालजी रूणवाल, हरसोलाव
११२. श्री चांदमलजी धनराजजी मोदी, अजमेर
११३. श्री रामप्रसन्न ज्ञानप्रसार केन्द्र, चन्द्रपुर
११४. श्री भूरमलजी दुलीचंदजी बोकड़िया, मेड़ता सिटी
११५. श्री मोहनलालजी धारीवाल, पाली
११६ श्रीमती रामकुंवरबाई धर्मपत्नी श्री चांद लोढा, बम्बई
११७. श्री मांगीलालजी उत्तमचंदजी बाफणा, बैं
११८. श्री सांचालालजी बाफणा, औरंगाबाद
११९. श्री भीखमचन्दजी माणकचन्दजी खाबिया, (कुडालोर) मद्रास
१२०. श्रीमती अनोपकुंवर धर्मपत्नी श्री चम्पालाल संघवी, कुचेरा
१२१. श्री सोहनलालजी सोजतिया, थांवला
१२२. श्री चम्पालालजी भण्डारी, कलकत्ता
१२३. श्री भीखमचन्दजी गणेशमलजी चौधरी, धूलिया
१२४. श्री पुखराजजी किशनलालजी तातेड़, सिकन्दराबाद
१२५. श्री मिश्रीलालजी सज्जनलालजी कटारिया सिकन्दराबाद
१२६. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ, बगड़ीनगर
१२७. श्री पुखराजजी पारसमलजी ललवाणी, बिलाड़ा
१२८. श्री टी. पारसमलजी चोरड़िया, मद्रास
१२९. श्री मोतीलालजी आसूलालजी बोहरा एण्ड कं., बैंगलोर
१३०. श्री सम्पतराजजी सुराणा, मनमाड़ □□